CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant

RajGuru-Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalandhar

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
२१८

शालाक्यतन्त्र

(निमितन्त्र)

[Comprehensive and Comparative study of the Diseases of the Eye, Ear, Nose, Throat, Head and Nasal accessary sinuses based on classical Medical Literature]

लेखक—
आयुर्वेदवृहस्पति
श्री रमानाथ द्विवेदी
ए. एम. एस., एम. ए.
चिकित्सक, सर सुन्दरलाल आतुरालय,
अध्यापक, आयुर्वेद कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० सं० २०१९
मूल्य : ९-००

© Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Varanasi.
1962

Phone : 3145

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योगीन्द्रनाथ शर्मा

आमुख

द्वितीय संस्करण

मंगलमय भगवान् विश्वेश्वर की अनुकम्पा से आज 'शालाक्य-तंत्र'
द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष रखते हुये अतीव हर्ष हो रहा है।
संस्करण में यथास्थान, यथावश्यक संशोधन, परिवर्तन एवं संवर्धन
ते हुये पुस्तक का उत्कृष्ट स्वरूप देने तथा विषय को अधिक बोधगम्य
ने का प्रयास किया गया है। आशा है पाठकवृन्द पूर्व की भाँति
ना कर मुझे कृतार्थ करेंगे।

नवमी
. २०१६

लेखक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भूमिका

यत्कीर्त्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भागवत)

कामानां पूरयित्रीं त्रिभुवनशरणां मूर्ध्नि गङ्गां निधाय
ध्यायन् रामं हनूमत्सहितमतितरां प्रीतमानन्दकन्दम्।
खेलन् लम्बोदरेण प्रियजनमुदितां सन्दधानेन साकम्
आत्मारामोऽपि गौरीरमण उरुशिवं शङ्करो नस्तनोतु॥

या सौश्रुती विरचिता ललिता मयास्ति
शल्याधिकारसरला सुखबोधनाय।
तत्पूरणाय निमिराजकृतं यदङ्गं
शालाक्यतन्त्रमधुना क्रियतेऽखिलं तत्॥

आयुर्वेद के आठ अङ्ग बताए गए हैं—(१) शल्य (२) शालाक्य (३) कायचिकित्सा (४) अगदतन्त्र (५) भूतविद्या (६) कौमारभृत्य (७) रसायन और (८) वाजीकरण। इनमें शालाक्यतन्त्र ही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषयहै। इसमें जत्रु (Clavicle) के ऊपर पाए जाने वाले शरीरावयवों के रोग, उनके हेतु और निदान, उनकी साध्यासाध्यता और उनकी प्रतिषेधक विधियों का विचार किया गया है। जत्रु के ऊपर वाले अङ्गों की विवेचना होने के कारण ही इस विषय का नाम 'ऊर्ध्व जत्रुचिकित्सा' भी दिया गया है। जत्रु के ऊपर वाले अङ्गों के श्रेष्ठ होने के कारण या ऊपर अवस्थित होने के कारण 'उतमाङ्ग' कहा जाता है। यही कारण, है कि कुछ विद्वानों ने इस विद्या को 'उत्तमाङ्ग चिकित्सा' नाम भी दिया है। इस तन्त्र के आदि कर्ता विदेहाधिप निमि बतलाए गए हैं। अत एव उन्हीं के नाम पर यह तन्त्र 'निमितन्त्र' भी कहा जाता है।

शास्त्र में इस तन्त्र के नामकरण, उद्देश्य और लक्षण आदि के प्रसंग में निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) 'शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयनवदनघ्राणादिसंश्रि तानां व्याधीनामुपशमनार्थम्... ।' अर्थात् जत्रु के ऊपर वाले कान, आँख, मुँह, नाक आदि में होने वाली व्याधियों के उपशमन के लिये प्रयुक्त होने वाले अङ्ग 'शालाक्य तंत्र' कहा जाता है। (सु. सूत्र. १)

(२) 'शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रधानं तन्त्रमपि शालाक्यम्।' अर्थात् जिस तंत्र में शलाका (Rods सलाई) का प्रयोग वहुलता से होता है उस तंत्र को शालाक्यतन्त्र कहते हैं। (डल्हण)

(३) 'दृष्टिविशारदाः शालाकिनः।' अर्थात् नेत्रविद्या के पण्डितों को शालाकी कहते हैं एवं शालाक्य विद्या के ज्ञाता को भी शालाकी कहते हैं। (डल्हण)

(४) जिस तन्त्र में स्थूलतया निम्नलिखित उत्तमाङ्गगत रोगों की संख्या लक्षण और चिकित्सा का वर्णन मिले उसकी संज्ञा शालाक्य तंत्र है—

षट्सप्तति नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजाः
एकत्रिंशत् घ्राणगताः शिरस्येकादशैव तु।
संहितायामभिहिताः सप्तषष्टिर्मुखामयाः
एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमाङ्गताः गदाः
अस्मिच्छास्त्रे निगदिताः संख्यारूपचिकित्सितैः॥ (सु. ३-२७)

'अर्थात् जिस तंत्र में उत्तमाङ्ग में पाये जाने वाले ७६ नेत्र रोग, २८ कर्ण रोग, ३१ नाक के रोग, ११ शिरोरोग, ६७ मुख के रोगों का स्थूलतः संख्या रूप तथा चिकित्सा के साथ वर्णन पाया जाता है; उस तन्त्र को शालाक्यतन्त्र कहते हैं।'

शालाक्यतन्त्र नामक विषय का विशद वर्णन पाश्चात्य या आधुनिक चिकित्सा ग्रंथों में मिलता है। यद्यपि उसका कई अंगों में विभाजन भी हो चुका है; तथापि व्यवहार में तीन बड़े समुदायों में उसका विभाजित रूप देखने को मिलता है— एक नेत्रविज्ञान में, दूसरा कर्ण, नासिका एवं गले में और तीसरा दन्तचिकित्सा में। इन व्यावहारिक विभाजनों के समुदाय का बोध शालाक्यतन्त्र से होता है। अस्तु, शालाक्यतन्त्र का आधुनिक विज्ञान-सम्मत पर्याय कथन बड़ा कठिन है क्योंकि इस कोटि का कोई ऐसा उत्कृष्ट शब्द अंग्रेजी में नहीं मिलता, जिससे कि समुदाय रूप से इन विशेष शल्यक्रियाओं (Special surgery) का बोध हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सके। किसी शास्त्रीय परिभाषा के अभाव में एक बड़े वाक्यांश के व्यवहार के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार शालाक्यतन्त्र शब्द का अंग्रेजी अनुवाद Treatment of the diseases of the part above the clavicle or special surgery of Eye, Ear, Nose, throat and Dentistry. होगा। 'वस्तुतः यह कोई नाम नहीं है बल्कि आधुनिक पद्धति से चिकित्साविद्या के अभ्यास करने वालों के लिये इस तन्त्र की विशेषताओं को समझने का एक सूत्र मात्र है।

इस अङ्ग पर पुराने संहिताग्रन्थों में बहुत सामग्री बिखरी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्हें संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ संहिता ग्रंथों में इस सम्बन्ध में बहुत ही संक्षिप्त रूप में कहा गया है। वहाँ उन स्थलों पर विषय को बोधगम्य बनाने के लिये इस पुस्तक में विस्तार से समझाया गया है। कभी-कभी कुछ प्रसंगों में अनावश्यक विस्तार भी मिलता है उन स्थानों पर सार ग्रहण करके संक्षेप में कह दिया गया है। इस प्रकार इस पुस्तक का प्रधान उद्देश्य प्राचीन आचार्यों की बातों को नवीन रूप में उपस्थित करना है। यह प्राचीनों की पद्धति के प्रतिकूल नहीं है। पुराने संस्कर्ता आचार्यों ने भी ऐसा किया है—

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तंत्र पुराणं च पुनर्नवम्॥

इस प्रकार 'पुराण का पुनर्नवीकरण' इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य है। दूसरा उद्देश्य संहिताओं में उल्लिखित प्रसंगों का-अर्थात् शालाक्यतन्त्र के अन्तर्गत आने वाले विविध रोग, उनके हेतु, सम्प्राप्ति, निदान, विकृतिविज्ञान, साध्यासाध्य विवेक तथा प्रतिषेधों का वैज्ञानिक परिभाषाओं में वर्णन करना है। इस अभिनव विज्ञान के युग में जब तक उन प्राचीन प्रसंगों का भाष्य इस नवीन परिभाषा में नहीं हो जाता, तब तक उसका मापदण्ड स्थिर नहीं होता और विद्वानों को भी सत्य की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती तथा शास्त्र भी आप्तजन-सेवित नहीं हो पाता।

प्राचीनों ने अपने शास्त्र को 'आगम' कहा है आगम का अर्थ है आप्तजनों से सेवित शास्त्र और आप्त की परिभाषा तत्त्वार्थदर्शी है। इस प्रकार शास्त्र या आगम की यही सामूहिक परिभाषा है कि जो प्रचलित या सिद्ध हुए प्रमाणों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कसौटी पर ठीक साबित होता हो, जो तत्त्वार्थदर्शियों की दृष्टि में शुद्ध हो तथा जो इह और परलोक दोनों के लिये हितकर हो।

'सिद्धं सिद्धैः प्रमाणैस्तु हितं चात्र परत्र च।
आगमः शास्त्रमाप्तानामाप्तास्तत्त्वार्थदर्शिनः॥' (ड. उ. १९)

फलतः, सिद्ध प्रमाणों के आधारों पर अपने प्राचीन विषयों की पुष्टि करने का लक्ष्य भी साथ ही साथ रहा है। अतएव आधुनिक युग के सर्वमान्य पाश्चात्य ग्रन्थों के आधार पर मैंने प्राचीन सूत्रों की सत्यता और उसके अन्तर्निहित गूढार्थों या चिकित्साबीजों का बहुत प्रकार से प्ररोहण करने का प्रयास किया है। आवश्यकतानुसार प्राचीन वर्णनों के साथ आधुनिक ग्रन्थों के आश्रित रह कर भी मैंने इस रचना में बहुत कुछ संग्रह कर रखा है। आचार्य सुश्रुत ने भी अपने कुछ सूत्रों में इसी ओर को इंगित किया है—

तदिदं बहुगूढार्थं चिकित्साबीजमीरितं
कुशलेनाभिपन्नं तद्बहुधाऽभिप्ररोहति।
तस्मान्मतिमता नित्यं नानाशास्त्रार्थनर्शिना
सर्वमूह्यमगाधार्थं शास्त्रमागमबुद्धिना॥ (सु. उ. १९)

सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान—आयुर्वेद को आठ अंगों वाला शास्त्र कहा गया है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर को छः अङ्गों (उत्तमांग, मध्यमांग एवं शाखाओं) से युक्त होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में भी चिकित्सा के लिये आठों अङ्गों का ज्ञाता होना वांछनीय है। इसके विपरीत होने पर अर्थात् किसी अङ्गों के अभाव में मनुष्य को जैसे हीनाङ्ग या विकलाङ्ग होना पड़ता है उसी प्रकार आयुर्वेद के ज्ञाता को भी किसी अङ्गविशेष के अज्ञान से अपूर्ण मानते हैं। फलतः प्रत्येक वैद्य को अष्टाङ्गों का पूर्ण ज्ञाता होना अपेक्षित है।

इसी विचार को ध्यान में रखते हुए, प्रत्येक आयुर्वेद के अभ्यासी को प्राचीन काल से लेकर अब तक विशुद्ध शिक्षण की दृष्टि से इन सभी अङ्गों का शास्त्रीय तथा प्रयोगात्मक अथवा केवल शास्त्रीय ज्ञान कराने की परिपाटी चली आरही है। प्राचीन वैद्यक के किसी एक संहिता ग्रन्थ का, आद्यन्त पाठ करा देने से पढ़ने वाले के लिये कोई भी अङ्ग अछूता नहीं रह जाता, उसको सभी अङ्गों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न्यूनाधिक सामान्य ज्ञान हो जाता है और संहिता पाठ कराने का उद्देश्य भी सम्भवतः यही रहता है।

सामान्य ज्ञान हो जाने के पश्चात् दूसरा प्रश्न उठता है विशिष्ट ज्ञान का। विशिष्ट ज्ञान का अर्थ है किसी अङ्गविशेष की अधिक जानकारी प्राप्त करना। इसके लिये व्यक्तिविशेष की रुचि, कार्यक्षेत्र, मनन प्रभृति बातों की आवश्यकता है। अपने दृष्टिकोण को एक-निष्ठ बनाकर, दत्तचित्त होकर, किसी अङ्ग में पूर्ण निष्णात होने से व्यक्ति विशेषज्ञ हो जाता है। यह विशिष्ट ज्ञान, सामान्य ज्ञान हो जाने के अनन्तर ही संभव है प्रारंभ से ही नहीं। इस प्रकार से उत्पन्न हुए ज्ञान को ही विशिष्ट ज्ञान, तथा ज्ञाता को विशेषज्ञ कहते हैं। इस प्रकार के विशेषज्ञों का सदैव मान होता है 'अधिकस्तत्र पूज्यते'।

वर्त्तमान शिक्षाप्रणाली का उद्देश्य भी प्रायः उसी प्रकार का है जिस प्रकार का प्राचीनों का था। एक बालक की शिक्षा का जब प्रारंभ करते हैं, तब उसको आदि में बहुविध विषयों को पढ़ाना पड़ता है। जैसे जैसे वह आगे को प्रगति करता है, विषयों की संख्या सीमित होती जाती है और अंत में जाकर वह किसी एक ही विषय का विशेषज्ञ या पंडित बनता है।

आधुनिक युग के चिकित्सा-विद्यालयों में भी ठीक ऐसा ही क्रम रहता है। विद्यार्थी को बहुत तरह के विषय, जिनमें उनकी अभिरुचि भी नहीं रहती, बलात् उनको पढना और पढ़कर परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है। परन्तु बाद में जाकर उन्हें अपनी रुचि के अनुसार या उपलब्ध होने वाले क्षेत्र या साधनों के अनुसार किसी एक ही विषय में संलग्न होकर रहना पड़ता है। परिणामस्वरूप बहुतेरे कायचिकित्सा में, कुछ शल्यविद्या में, कतिपय शालाक्यतंत्र अथवा तंत्र के अन्यान्य अंगों में प्रवीण बनते हैं तथा कार्य करते हैं। आजकल तो इस विशिष्ट ज्ञान का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि यह युग ही विशेषज्ञों का युग कहलाता है।

इसी प्रकार की स्थिति प्राचीन तंत्रों की भी है। प्राचीन शास्त्रों में वर्णित उक्तियों पर ध्यान दिया जाय तो आयुर्वेद के प्रत्येक अंग के ऊपर विशेषज्ञों तथा तंत्रप्रणेताओं के नाम आते हैं। एक-एक अंग पर उनके स्वतंत्र-स्वतंत्र तंत्र बने मिलते हैं—इस प्रकार के तंत्रप्रणेता या आदि आचार्यों के बहुत से नाम पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शल्यतंत्र—काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि-आचार्य ऋषि

तंत्रकार

औपधेनव
वैतरण
औरभ्र
पौष्कलावत
करवीर्य
गोपुर रक्षित
सुश्रुत-प्रभृति ।

शालाक्यतंत्र—विदेहाधिप निमि-आचार्य ऋषि

तंत्रकार

कराल
भद्रक
शौनक
चक्षुष्येण
विदेह
सात्यकि
भोज-प्रभृति ।

इनके अतिरिक्त जिनका नामोल्लेख नहीं मिलता ऐसे अन्य तंत्रकारों का टीकाओं में 'इति तंत्रान्तरे' करके पाठ मिलता है ।

कायचिकित्सा, रसायन, वाजीकरण—

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय और भरद्वाज आचार्य ऋषि

तंत्रकार

अग्निवेश
भेल
पाराशर
क्षारपाणि
जतुकर्ण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हारीत
चरक प्रभृति ।

भूत विद्या, कौमारभृत्य, (कुमाराबाध)—
तंत्रकार
जीवक
बंधक प्रभृति ।

तंत्रकारों के तंत्र-ग्रंथ—ऊपर की सूची में जितने तंत्रकारों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें कायचिकित्सा से सम्बद्ध कुछ तन्त्रों को छोड़कर शेष सभी अनुपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में शालाक्यतंत्रविषय का ज्ञान किसी स्वतंत्र तंत्र के आधार पर कैसे संभव है। वास्तव में विशिष्ट तंत्रों के अभाव में केवल संहिता एवं संग्रह ग्रंथ ही बच रहते हैं, जिनके तत्त्वावधान में शालाक्य तंत्र के संबंध में कुछ लिख सकना संभव है।

आयुर्वेद संहिताग्रंथों में सामान्यतया आठों अंगों से सम्बन्धित पदार्थों का वर्णन मिलता है, फिर भी उनका प्रणयन विशिष्ट ज्ञान कराने के उद्देश्य से ही संभवतः हुआ है। उदाहरण के लिये सुश्रुतसंहिता में स्पष्टतया भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को शल्यतंत्र के विशिष्ट ज्ञान की ओर ही इंगित किया है—शिष्यों का भी मूलभूत उद्देश्य शल्यज्ञान प्राप्त करना ही रहा—जैसा कि निम्नलिखित सूत्र स्पष्ट है।

एवमायुर्वेदोऽष्टाङ्गमुपदिश्यते अत्र कस्मै किमुच्यतामिति।
अस्माकं तु सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भवानिति।
स उवाचैवमस्त्विति। (सु० सूत्र० १)

जिस प्रकार शल्यतन्त्र का विशेष ज्ञान सुश्रुतसंहिता के आधार पर हो जाता है, उसी प्रकार शालाक्यतन्त्र का ज्ञान कराने वाली कोई भी अन्य संहिता आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती। फलतः शालाक्यतन्त्र का यत् किंचित् परिचय प्राप्त करने के लिये केवल आचार्य सुश्रुत कृत संहिता ही सम्बल रह जाती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक है, कि जिस संहिता का प्रणयन शल्य प्रधान व्याख्या के उद्देश्य से हुआ है; उसमें शालाक्यतन्त्र का वर्णन गौण रूप से ही आया होगा। जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानर्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे ॥ (सु. क. ८)
२. अध्यायानां शते विंशे यदुक्तमसकृन्मया
वक्ष्याम्युत्तरे सम्यगुत्तरेऽर्थानिमानिति ।
इदानीं तत्प्रवक्ष्यामि तन्त्रमुत्तरमुत्तमम् ॥

यत् यस्मात्कारणात् विंशत्यधिकेऽध्यायशते पुनः पुनरुक्तं मया 'इमानर्थान् बहुधोत्तरे वक्ष्यामि' इति तत्तस्मात्कारणाद् अधुनोत्तरं तन्त्रं प्रवक्ष्यामि । (डल्हण सु. उ. १)

३. अथातः औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः । (सु. उ. प्रथमसूत्र)

अत उपद्रवचिकित्साधिकारिसामान्यात् सर्वोपद्रवचिकित्सार्थमुत्तरतंत्रारम्भः । अथवा सविंशमध्यायशतं परिसमाप्य परिशिष्टत्वादुत्तरतंत्रं प्रतिपाद्यं भवति । तस्य च तन्त्रस्योपद्रवानधिकृत्य प्रवृत्तत्वान्निरुक्त्या औपद्रविकत्वं प्राप्तमध्याये व्यवस्थितम् । उपद्रवान् रोगानधिकृत्यकृतोऽध्यायः औपद्रविकः । (डल्हण)

ऊपर के सूत्रों के आधार पर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि सुश्रुत संहिता में आया हुआ शालाक्यतन्त्र का संकलन गौण रूप का ही है । 'औपद्रविक अध्याय' नाम से भी इसी तथ्य का ही द्योतन होता है । क्योंकि यह नाम ही सूचित करता है कि इस अध्याय की बातें इस लिये लिखी गई हैं कि रोग की चिकित्सा करते समय उपद्रव रूप में उत्पन्न हुए अन्य रोगों की चिकित्सा आसानी से की जा सके । उदाहरणार्थ 'यदि वैद्य कायचिकित्सा का ज्ञाता हो, ज्वर से पीड़ित रोगी की चिकित्सा कर रहा हो एवं रोगी में नेत्राभिष्यन्द (शालाक्य रोग) का उपद्रव हो जाय तो वह एक ही चिकित्सक उस अभिष्यन्द की भी चिकित्सा कर सके । अस्तु, चिकित्सक को विशेषज्ञ होते हुए भी सामान्य उपद्रवों की चिकित्सा में पटु होना चाहिये । परिणाम स्वरूप संहिताकार ने औपद्रविक अध्यायों का स्थूल रूप से परिचय करा दिया है । इन अध्यायों में न केवल शालाक्य का ही अपितु कुमाराबाध, भूतविद्या, कायचिकित्सा प्रभृति अधिकारों का भी वर्णन प्रस्तुत किया हुआ मिलता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शालाक्यतन्त्र प्रभृति शल्येतर अंगों के वर्णनों का दूसरा उद्देश्य संहिता का पूरण (अष्टाङ्ग पूर्ण) करना रहा। अतएव परिशिष्ट रूप में संहिताकार ने इन औपद्रविक रोगों का भी वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त संहिताकार का तीसरा उद्देश्य पूर्व के वर्णनों में आये हुए, नाम मात्र से अभिहित हुए, विषयों या पदार्थों के सम्बन्ध में पाठक को विशद रूप से अवगत करा देना भी रहा है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि सुश्रुततंत्र का प्रधान लक्ष्य शल्यतन्त्र का उपदेश करना ही था, शालाक्यतन्त्र का वर्णन प्रासंगिक है अतएव अप्रधान है। उसकी व्याख्या या तो पूरण के निमित्त या परिशिष्ट रूप में अथवा शालाक्य अधिकार के उपद्रवों में पाठक को विशेषतया अवगत कराने के उद्देश्य से ही है।

शालाक्यतन्त्र के अन्य कर्ता—प्राचीन संस्कृत टीकाओं में कई शालाक्य विदों के नाम पाये जाते हैं। संहिताकार के सिद्धान्तों की पुष्टि करते हुए, अथवा अपने मतों की प्रामाणिकता घोषित करते हुए प्रायः टीकाकारों ने इन आचार्यों के वचनों का संग्रह किया है। इनमें कराल, भद्रक, शौनक, चक्षुष्येण, विदेह सात्यकि, भोज प्रभृति प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त टीकाओं में 'तन्त्रान्तरे' कहकर अन्य तन्त्रों के वचनों का संग्रह भी मिलता है। ग्रंथकार का नाम न होने से संभव है पूर्वोक्त आचार्यों के अतिरिक्त कुछ दूसरे तन्त्रकार भी थे जिनकी कृतियाँ उस युग में तो प्राप्य थीं किन्तु अब कालक्रम से उनके नाम भी लुप्त हो गये हैं।

शालाक्य विषय का मूल स्रोत—आयुर्वेद के उपलब्ध संहिता ग्रन्थों में जो शालाक्य का थोड़ा बहुत वर्णन पाया जाता है वह गौण रूप का ही है। इस विषय का प्रधान रूप से विस्तृत वर्णन शालाक्यतंत्र नामक किसी प्राचीन तंत्र में ही प्राप्त होता था, जिसके कर्ता कोई विदेहाधिपति निमि थे। यही इस तंत्र का आश्रयभूत मौलिक ग्रन्थ था, जिसके संक्षिप्त रूप के वर्णनों का संग्रह संहिताकारों ने अपनी संहिताओं में किया है। इन संहिताओं में चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रधान हैं-जिन्हें वृहत्त्रयी कहते हैं। इस वृहत्त्रयी में सुश्रुत में शालाक्यतंत्र का विषद वर्णन मिलता है-यही मौलिक एवं प्रामाणिक भी ज्ञात होता है। इसकी तुलना में अष्टाङ्ग-संग्रह और अष्टाङ्ग-हृदय का प्रसंग हीन जान पड़ता है। अतएव शालाक्यतंत्र का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकमात्र सुश्रुतसंहिता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही श्रेष्ठ उतरती है। इस संहिता में उत्तर तन्त्र के प्रारम्भ के सत्ताईस अध्यायों में क्रमशः नेत्र, कर्ण और शिरोरोगों का वर्णन मिलता है। मुखरोगों का वर्णन निदानस्थान के अंतिम तथा चिकित्सास्थान के बाईसवें अध्याय में प्राप्त होता है।

प्रस्तुत पुस्तक का मूलभूत स्रोत भी यही है। प्रस्तुत रचना में मैंने संहिता के क्रमों को बदल कर रखा है। जैसे पहले नासिका और फिर उससे सम्बन्धित अंग सिर तदन्तर कर्ण और उससे संलग्न अंग मुख और गला एवं सबसे अन्त में नेत्रगत रोगों का स्वतन्त्र वर्णन किया है। इस क्रम का रखना प्रत्यक्ष शरीर की दृष्टि से अधिक समुचित और वैज्ञानिक जान पड़ा, अतएव पुस्तक में परिवर्त्तित क्रम को ही रखा है।

✓ **निमि और उनके तन्त्र की महत्ता**—शालाक्य तन्त्र के आदि प्रणेता आचार्य विदेह के नरेश निमि हो चुके हैं। आचार्य सुश्रुत ने जो कुछ भी संग्रह अपने उत्तर तन्त्र में किया है, वह उन्हीं के आधारभूत ग्रन्थ 'निमितन्त्र' के अश्रित होकर किया है।

उन्होंने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि उत्तर तन्त्र में जो कुछ भी शालाक्य अङ्ग का वर्णन है, वह विदेहाधिप निमिकृत शालाक्यतन्त्र में कथित नाना प्रकार के रोगों, उनके लक्षण और प्रतिषेधों के अनुसार ही है—

निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथक्विधाः
शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः।

विदेह या निमिकृत होने से ही शालाक्यतन्त्र का दूसरा नाम विदेहतन्त्र या निमितन्त्र है।

आचार्य सुश्रुत ने निमितन्त्र को महान् तथा समुद्र के समान अगाध कहकर स्तुति की है, एवं उसी के क्रमों के अनुसार उन्होंने अपनी संहिता में रोगों की संख्या, लक्षण, साध्यासाध्यविवेक तथा चिकित्सा भी बतलाई है।

महतस्तस्य तन्त्रस्य दुर्गाधस्याम्बुधेरिव
आदावेवोत्तमाङ्गस्थां रोगानभिदधाम्यहम्।
संख्यया लक्षणैश्चापि साध्यासाध्यक्रमेण च। (सु. उ. १)

इतना ही नहीं इस शालाक्यतन्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य ने यह भी लिखा है कि समुद्र के समान गम्भीर इस तन्त्र का सम्यक् ज्ञान और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वर्णित रोगों की उचित चिकित्सा प्रभृति कर्मों का निरवशेष या पूर्णतया कथन या व्याख्यान लाखों श्लोकों में भी शक्य नहीं है। अल्प बुद्धि, अपण्डित अथवा जिनकी बुद्धि ग्रन्थार्थ तर्कों से रहित है–उनके लिये तो इस तन्त्रार्थ का ग्रहण सहस्रों लक्ष सूत्रों से भी संभव नहीं है।

समुद्र इव गम्भीरं नैव शक्यं चिकित्सितं
वक्तुं निरवशेषेण श्लोकानामयुतैरपि
सहस्रैरपि वा प्रोक्तमर्थमल्पमतिर्नरः
तर्कग्रन्थार्थरहितो नैव गृह्णात्यपण्डितः। (सु. उ. २०)

इस प्रकार सुश्रुताचार्य ने अपनी संहिता में अति संक्षिप्त रूप का ही वर्णन प्रस्तुत किया है जो प्रखर बुद्धि के विद्वानों के लिये ही कार्यकर है।

अब प्रश्न उठता है कि वह आदि शालाक्यतन्त्र कौन सा था। इस महत्तन्त्र के प्रणेता कौन आचार्य रहे, किस कालमें रहे, उनका ग्रन्थ कौन सा है और कैसा है। कालक्रम से न आज निमितन्त्र नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है और न परम्परया शालाक्यतन्त्र के विशेषज्ञ ही मिलते हैं, जो प्राचीन वर्णनों के आधार पर जत्रुगत रोगों में कर्म–निपुण हों। ऐसी स्थिति में निमितन्त्र नामक तन्त्र की विद्यमानता का प्रमाण ही क्या है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वह ग्रन्थ वास्तव में प्राप्त नहीं है तथापि उसके उद्धरण विभिन्न संग्रहों और टीकाओं में यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं। डल्हणाचार्य ने शालाक्य रोगों के प्रसंग में अपनी टीका में अनेक स्थलों पर निमि या विदेह के वचनों को उद्धृत किया है—जिनमें प्रायः सभी का संग्रह इस पुस्तक की टिप्पणियों में यथास्थान कर दिया गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके युग में संभवतः यह ग्रन्थ उपलब्ध था और उसी के आधार पर उन्होंने अनेकानेक उद्धरण दे रखा है। इतिहासकार, निबन्धसंग्रहकार डल्हणाचार्य का समय ईसा की बारहवीं शती मानते हैं–फलतः बहुत सम्भव है कि उस काल तक वह निमितन्त्र सुलभ रहा हो।

प्रणेता आचार्य निमि—इतना तो निर्विवाद है कि शालाक्यतन्त्र के आचार्य निमि मुनि हैं। ये एक पौराणिक ऋषि हैं। पुराणों में इनकी पर्याप्त चर्चा मिलती है। इनके सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के तेरहवें अध्याय में पाई जाती है। इस प्रसंग में इनको राजा इक्ष्वाकु का पुत्र कहा गया है। कथा इस प्रकार है—

'हे राजन्, राजा इक्ष्वाकु के पुत्र महाराज निमि ने यज्ञ आरम्भ करके उसके लिये जब गुरु वशिष्ठ जी को ऋत्विज नियत किया तब वशिष्ठ जी ने कहा 'मेरा इन्द्र ने पहले से ही वरण कर लिया है, इसलिये जब तक मैं उनका यज्ञ समाप्त करके न आ जाऊँ तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करते रहना।' वशिष्ठ जी का यह वचन सुनकर यजमान निमि चुप हो गये और वशिष्ठ जी ने इन्द्र का यज्ञ आरम्भ कर दिया। (कुछ काल तक प्रतीक्षा करके) आत्मज्ञानी निमि ने सोचा जीवन बहुत चञ्चल है और गुरु जी लौट कर नहीं आये, अब क्या करें, यह सोच कर अन्य ऋत्विजों द्वारा यज्ञ आरम्भ कर दिया। इन्द्र का यज्ञ कराके लौटने पर जब गुरु वशिष्ठ जी ने अपने शिष्य को अपनी आज्ञा का उल्लंघन करते देखा तो शाप दे दिया कि अपने को पण्डित मानने वाला इस राजा निमि की देह नष्ट हो जाय। निमि ने भी अधर्म में प्रवृत्त गुरु वशिष्ठ जी को उस शाप के बदले यह शाप दे दिया कि आपने लोभवश अपना धर्म नहीं पहचाना, इसलिये आपका शरीर भी नष्ट हो जाय। यों कह कर आत्मविद्या में निपुण राजा निमि ने अपना शरीर त्याग दिया और वृद्ध प्रपितामह वशिष्ठ जी ने अपना शरीर त्याग कर उर्वशी के गर्भ से मित्रावरुण के वीर्य द्वारा जन्म ग्रहण किया। पश्चात् राजा निमि की देह को उनके ऋत्विज मुनियों ने सुगन्धित वस्तुओं में रखवा दिया और उस सत्र याग के पूर्ण होने पर वहाँ आये हुए देवताओं से कहा 'हे देवताओ यदि इस यज्ञ से आपलोग प्रसन्न हों तो राजा निमि का यह शरीर सजीव हो उठे।' देवताओं के 'तथास्तु' कहने पर जीवित होते ही निमि ने कहा मुझे देह का बन्धन प्राप्त न हो क्योंकि सभी भगवत्परायण मुनिजन इसके वियोग से डर कर इसका संयोग नहीं चाहते इसी कारण वे सर्वदा श्री भगवच्चरणारविन्दों का भजन किया करते हैं। इसलिये दुःख, शोक तथा भय प्रात कराने वाली इस देह को ग्रहण करने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है। क्योंकि जल में रहने वाली मछली की भाँति इसकी सर्वत्र मृत्यु हो सकती है। देवताओं ने कहा—'हे मुनिजनो ये राजा निमि अपनी इच्छानुसार बिना शरीर के ही सब देह धारियों के नेत्रों की पलकों पर निवास करेंगे। ये सबके नेत्रों में स्थिर रहते हुए उनके खोलने, मूँदने से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षित होंगे। राजा के विना मनुष्यों में अराजकता फैल जाने के डर से महर्षियों ने निमि की देह को मथा तब उनके शरीर से एक बालक उत्पन्न हुआ वह जन्म से 'जनक' और विदेह से उत्पन्न होने के कारण 'वैदेह' मन्थन करके उत्पन्न होने से 'मिथिल' कहलाया और इसी ने मिथिलापुरी बसायी।'

इस पौराणिक निमि का पलकों पर निवास करने वाले देव के रूप में बहुत से स्थलों पर प्रसंग आता है। 'निमेष' शब्द ही निमि परक है जिसका अर्थ है पलकों का गिरना। तुलसीकृत रामायण में एक स्थल पर जानकीजी का रामचन्द्र जी को अनुरागविभोर होकर निर्निमेष नेत्रों से देखने का प्रसंग मिलता है। उसमें ऊपर के कथानक की ही चर्चा है। जानकी जी परम्परया विदेहाधिप निमि की बहुत आगे की पीढ़ी की कन्या है। वे स्थिर नेत्रों से एक टक रामचन्द्र जी की ओर देख रही हैं—मानो निमि वृद्ध पुरुष ने संकोच वश अपनी जानकी के पलकों पर का वास ही छोड़ दिया है। क्योंकि उनके आँखों के पलक नहीं गिर रहे हैं—

'भये विलोचन चारु अचञ्चल मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।'

निमि की ऐतिहासिकता—उपर्युक्त पौराणिक गाथाओं के आधार पर इनको कोई ऐतिहासिक पुरुष न मानकर एक काल्पनिक तन्त्रप्रणेता स्वीकार कर लिया जाय तो कार्य सरलता से चल सकता है। क्योंकि पौराणिक कथानक प्रायः रूपक (Allegorical) का आश्रय लिये रहते हैं। उदाहरण के लिये शालाक्यतन्त्रप्रणेता आदि आचार्य धन्वन्तरि को ही लें। ये वैद्यकविद्या के आदि देव हैं; इनकी उत्पत्ति समुद्र के मंथन से हुई है। अद्भुत कथा है—समुद्र का मन्थन हो और उस से उद्भव हो एक विज्ञान की शाखा के जन्मदाता आचार्य का। इस प्रकार यह एक ऐसा विचित्र रूपक है जिसका समझना तज्ज्ञों का ही काम है।

इसी प्रकार की विचित्रता निमि मुनि के कथानक में भी मिलती है। इनके मृत शरीर के मंथन से एक महापुरुष की उत्पत्ति हुई है। धन्वन्तरि और निमि मुनि दोनों आचार्यों के साथ मंथन क्रिया का सम्बन्ध पाया जाता है। एक की उत्पत्ति समुद्र-मंथन से और दूसरे की शरीर-मंथन से। संभवतः इस मंथन क्रिया साम्य के कारण ही ये इस दूसरी शाखा (शालाक्य तंत्र) के प्रणेता आचार्य हुए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि निमि मुनि को ऐतिहासिक व्यक्ति ही मानना लक्ष्य हो तो उसका भी एक ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। निमि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा हुआ कोई भी लेख किसी भी वर्त्तमान इतिहास के पुस्तकों में नहीं मिलता। 'पर्जिटर' नामक एक पाश्चात्य विद्वान् ने पुराणों को प्राचीन भारत का सच्चा इतिहास माना है। उसने किसी भी पौराणिक ऋषि को अनैतिहासिक नहीं समझा है। यद्यपि उसने निमि के सम्बन्ध में कोई विशेष लेख नहीं दिया है तथापि उसने बड़े परिश्रम से पौराणिक राजवंशों की तालिका दी है। उसके सहारे हम निमि को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मान सकते हैं और उसका एक इतिवृत्तात्मक रूप दे सकते हैं।

पुराणों की इस वंशानुक्रमणिका के अनुसार महाराज निमि; काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि के बहुत पूर्व के होते हैं। महाराज निमि जो विदेह देश के राजा रहे, अयोध्या के राजा विकुक्षि शशाद तथा ऐल राजा पुरुरवा के समकालीन थे। अयोध्या के राजाओं की वंशपरम्परा पुराणों में विस्तार के साथ दी हुई है। विकुक्षि शशाद की सोलहवीं पीढ़ी में प्रसेनजित हुए, जो यादव राजा चित्ररथ, हैहय राजा कुन्ति, कान्यकुब्ज राजा सुहोत्र, पौरव राजा मतिनार, काशीराज धन्वन्तरि और आणव राजा पुरंजय के समकालीन थे।

इस से अनुमान किया जा सकता है कि यदि एक राजा का औसत काल बीस वर्ष का रहा—तो निमि मुनि धन्वन्तरि से लग भग ३२० वर्ष पूर्व रहे होंगे।

पुराणों में दिवोदास नाम के दो और काशिराजों का पता चलता है जिनमें प्रथम प्रसेनजित के बाद छठी पीढ़ी में अनारण्य नामक अयोध्या के राजा के समकालीन और दूसरे प्रसेनजित से बारहवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध राजा सगर के समकालीन थे। इस प्रकार धन्वन्तरि और प्रथम तथा द्वितीय दिवोदास के समयों में लगभग १२० और २२० वर्षों का अन्तर पड़ता है। इस प्रकार मूल धन्वन्तरि से जहाँ निमि लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व के होते हैं वहाँ द्वितीय और तृतीय से क्रमशः साढ़े चार और साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं। इनमें अधिक सम्भावना प्रथम धन्वन्तरि की है/यही काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि रहे जिन्होंने सुश्रुत प्रभृति शिष्यों को सुश्रुतसंहिता के रूप में शल्यतंत्र का श्रीमुख से उपदेश दिया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाश्चात्य इतिहासकार मूल सुश्रुततन्त्र तथा आचार्य सुश्रुत का समय महाभारत काल के बहुत पूर्व का मानते हैं। महाभारत का काल अधिकतर लोगों ने सहस्र वर्ष ईसापूर्व का माना है। यदि सुश्रुत का काल दो सहस्र वर्ष ईसा के पूर्व का माने तो धन्वन्तरि का भी समय यही मानना होगा। ऊपर के वंशानुक्रमणिका के आधार पर अनुमानतः यह सिद्ध हो चुका है कि निमि मुनि का समय धन्वन्तरि से कम से कम साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व का है। फलतः इन नवीन ऐतिहासिक पंडितों के मत से निमि अथवा निमितंत्र का समय भी ईसा पूर्व साढ़े तेइस सौ वर्ष मानना उचित होगा।

सहायक तथा आधार ग्रंथ—

इस ग्रन्थ की रचना में मुझे प्रधानतया सुश्रुत, अष्टाङ्गहृदय का उत्तर तन्त्र तथा गौणरूप से चरकसंहिता, योगरत्नाकर, भावप्रकाश, गदनिग्रह और शार्ङ्गधर प्रभृति आयुर्वेद ग्रंथों से संकलन करना पड़ा है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कई हिन्दी तथा अंग्रेजी ग्रंथों से भी मुझे पर्याप्त सहायता मिली है जिसके लिये मैं उनके प्रकाशक तथा रचनाकार दोनों के प्रति अपनी कृतज्ञता-ज्ञापन कर देना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। इनमें आयुर्वेदपञ्चानन श्रद्धेय पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल की ऊर्ध्वाङ्गचिकित्सा नामक पुस्तक से मुझे बहुत सहायता मिली है· इसके पश्चात् स्वर्गीय डा· हंसराज जी मेहता का भी मैं परम आभारी हूँ जिनकी नेत्ररोगविज्ञान नामक अनुपम कृति से मैंने बहुत से प्रसंग उद्धृत किए हैं। अंग्रेजी ग्रंथों में 'मे एण्डवर्थ' के नेत्ररोग तथा 'आई-सिम्प-सनहाल' की सुन्दर कृति के आधार पर कर्ण, नासिका तथा गले के रोगों का विवेचन किया है। एतदर्थ में इनका भी आभारी हूँ। कई स्थलों पर अखिल-रंजन मजूमदार की प्रसिद्ध कृति 'बेड साइड मेडिसिन' से भी मैंने सहायता ली है—तदर्थ मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त आयुर्वेद के कई सामयिक पत्र पत्रिकाओं का भी मैं आभारी हूँ तथा उन उन लेखकों के प्रति निःसंकोच अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनसे कई उद्धरणों का संकलन इस रचना में किया है। इनमें दो मासिक पत्रिकायें विशेष कर 'धन्वन्तरि' तथा 'आयुर्वेद कालेज पत्रिका' (का· वि· वि·) के नाम उल्लेखनीय है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्त में अपने गुरुजनों, सहयोगियों तथा साधुजनों के प्रति अपनी प्रणति निवेदित करता हूँ, जिनसे मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष में बहुत सा ज्ञान प्राप्त हुआ और जिससे प्रेरित होकर इस कृति को लेकर मैं पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा हूँ।

पुस्तक में रोगों की तुलनात्मक विवेचना करते समय मैंने अधिकतर विद्वानों के मतों का ही अनुसरण किया है तथापि जहाँ तहाँ अपनी बुद्धि लगा कर भी पर्याय कथन किया है। मेरी अल्पज्ञता के कारण इस कार्य में त्रुटि हो जाने की पूरी संभावना है। अपनी ओर से मैंने यथा संभव उन्हें ठीक रूप में उपस्थित करने का भरपूर प्रयत्न किया है। फिर भी यदि कहीं प्रमादवश कोई त्रुटि रह गई हो तो उसे सुधारने के लिये भविष्य में सदा ही मैं तत्पर रहूँगा। आशा है पुस्तक के द्वारा सज्जनों का रंजन होता रहेगा।

इसके बाद मैं ग्रंथ के प्रकाशकों को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता जिन्होंने मेरी आकांक्षा के अनुरूप ही अल्प काल में बड़ी शीघ्रता से पुस्तक को प्रकाश में ला दिया है।

सब के अन्त में पुनः भगवान् धन्वन्तरि की स्तुति करते हुए, प्राक्कथन को समाप्त करता हूँ—

धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्त्तिर्नाम्ना नृणां पुरुरुजां रुज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागममृतायुरवावरुन्ध आयुश्च वेदमनुशास्त्यवतीर्य लोके॥

(श्रीमद्भागवत)

मार्गशीर्ष पूर्णिमा
वि० सं० २००८

रमानाथ द्विवेदी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विषय सूची

(१) नासारोगाध्याय

नासा-रोग की सामान्य व्याख्या तथा नासा-शरीर १
नासारोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति ८
नासारोगों की संख्या सूची १६
नासारोगों के लक्षणों का विश्लेषण १८
बहिर्नासिका या नासापुट (नथुनों) के रोग २२
नासाजवनिका के रोग २५
नासागुहा के रोग २८
दोषभेद से प्रतिश्याय की चिकित्सा ३९
दीप्ति या दीप्तरोग ४३
पीनस या अपीनस और पूतिनस्य तथा नासाशोथ ४७
प्रतिषेधक उपक्रमों की विश्लेषण ५४
भ्रंशथु या क्षवथु ५८
भ्रंशथु ६३
नासार्शः ६७
नासार्बुद ७०
पूयशोणित ७१
नासागत रक्तपित्त ७३
नासाशल्य ७७
नासासहायक या नासासम्बन्धी विवर तथा उनका शोथ ७८
चिरकालीन या जीर्ण विवर-शोथ की चिकित्सा ८७

(२) शिरोरोगाध्याय

शिरोरोग ९१
सामान्य प्रतिषेध १०५
शिरोरोग में प्रयुक्त होनेवाले कुछ सामान्य योग ११५
वातिक शिरोरोग १२२
पैत्तिक शिरःशूल या शिरोरोग १२६
कफज शिरोरोग १२९
त्रिदोषज शिरोरोग १३२
रक्तज शिरोरोग १३४
क्षयज शिरोरोग १३५
कृमिज शिरोरोग १३९
शीर्षक रोग १४३
सूर्यावर्त या सूर्यापवर्त या भास्करावर्त „
अर्धावभेदक १५१
शंखक १५९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनन्तवात १६६

वाग्भटोक्त कुछ अन्य शिरोरोग १७१

उपशीर्षक १७३

(३) मुखरोगाध्याय

मुख-रोग १७७

मुखरोगों की साध्यासाध्यता एवं सामान्य प्रतिषेध १८२

धूमोपयोग १८९

ओष्ठगत रोग २००

दन्तमूलगत रोग २०५

तन्तवेष्ट या पायोरिया एल्वीयोरिस २१०

दन्तगत रोग २३१

जिह्वागत रोग २४१

तालुगत रोग २४७

गलगत या कण्ठगत रोग २५३

कण्ठशालूक २६२

तीव्र उत्तुण्डिका शोथ या तुण्डिकेरी २६५

तीव्र शोथ के लक्षण व चिह्न २६७

जीर्ण उत्तण्डिका शोथ या तुण्डिकेरी २६९

समस्त मुख रोग २७९

(४) कर्णरोगाध्याय

कर्ण-रोग २८७

कान में होनेवाले रोग, उनकी संख्या एवं प्रकार २९०

कर्णरोगों के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति २९६

कर्णशूल ३०४

कर्णशूलहर योग ३११

कर्णनाद या प्रणाद ३१२

कर्णक्ष्वेड ३१३

कर्णविट्क या कर्णगूथ ३१५

कर्णकण्डु ३२२

कर्णविद्रधि ३२४

कर्णार्बुद ३२५

कर्णार्श ३३२

कृमिकर्ण या जन्तुकर्ण ३३४

कर्णप्रतीनाह ३४०

कर्ण-शोथ ३४६

कर्ण-पाक „

कर्णसंस्राव ३४७

प्रतिकर्ण ३४८

मध्यकर्णशोथ ३५९

जीर्ण मध्यकर्णशोथ ३६१

जीर्ण कर्णस्राव के सम्बन्ध में विचारणीय „

कर्ण-बाधिर्य ३६८

बालोत्थ लाधिर्य या सबाधिर्यमूकता ३७०

(५) नेत्ररोगाध्याय

नेत्ररोगों के सामान्य विवरण ३७५

संहितोक्त नेत्ररोगों की विवरण-तालिका ३९७

दोषभेद से नेत्ररोगों की संख्या एवं साध्यासाध्यता ४०२

नेत्ररोगों का सामान्य निदान ४०४

नेत्ररोगों की सामान्य सम्प्राप्ति ४१२

नेत्ररोगों की सामान्य चिकित्सा ४१७

नेत्ररोगों के स्थानिक उपचार ४२३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शार्ङ्गधरोक्त अंजनों के योग	४५५
नेत्ररोगों में व्यवहृत होनेवाले स्थानिक उपचारों के विवेचन	४५९
संधिगत रोग	४६३
वर्त्मगत रोग	४७१
पोथकी रोहे-ट्रकोमा	४८९
आगत बाधा-प्रतिषेध या रोग शामक चिकित्सा	४९४
वर्त्मगतरोग	४९६
शुक्लगत रोग	५१०
कृष्णगत रोग	५२४
सर्वगत रोग	५४५
नेत्रश्लेष्मावरण शोथ या अभिष्यन्द की चिकित्सा	५४९
अधिमन्थ	५६०
अधिमन्थ की सामान्य हेतु तथा सन्प्राप्ति	५७०
अधिमन्थ की चिकित्सा	५७५
दृष्टिगत रोग	५८३
विशिष्टार्थ में सुश्रुतोक्त दृष्टि का वर्णन	,,
शोधन एवं संशमन	५९८
अन्तःप्रयोज्य औषधियां	६०२
श्लैष्मिक लिंगनाशका शस्त्रकर्म	६०७
लिंगनाशवेधनी शलाका के दोष तथा उसके कारण होने वाले उपद्रव एवं प्रतिषेध	६१२
तिमिर, लिंगनाश, काच, मोतियाबिन्दु	६१४
दृष्टिगत अन्य रोग	६३१
दिवान्ध्य और नक्तान्ध्य का सुश्रुतोक्त प्रतिषेध	६३५
नयनाभिघात तथा प्रतिषेध	६४०
शिशु-पूयमेह नेत्र-श्लेष्मावरण शोथ	६४८
वाग्भटोक्त पिल्लरोग के लेखनांजन	६५०
परिशिष्ट	६५१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शालाक्यतन्त्र

नासारोगाध्याय

DISEASES OF THE NOSE

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'द्वारं हि शिरसो नासा'

उत्तमाङ्ग या सिर में पहुँचने के लिये प्रथम और प्रधान द्वार नासिका है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१

नासा-शारीर

घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका है। शालाक्य तंत्र में अधिकतर ज्ञानेन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठानों का वर्णन पाया जाता है। साथ ही अधिष्ठान गत रोगों तथा प्रतिषेध का भी प्रसंग आता है। यहाँ पर नासिका या घ्राणेन्द्रियाधिष्ठान में होने वाले रोगों का वर्णन सर्व प्रथम किया जा रहा है। नासारोगों का तुलनात्मक (प्राचीन एवं अर्वाचीन) अध्ययन करने के लिये इस अधिष्ठान की रचना एवं क्रिया का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। फलतः नासारोगाधिकार में सर्व प्रथम इसी विषय का वर्णन दिया जा रहा है।

नासा-शारीर—नाक के दो भाग होते हैं जो भाग बाहर से दिखाई पड़ता है—जिसे साधारणतः नाक कहते हैं, वह वहिर्नासिका कहलाता है। दूसरा भीतरी भाग जो नासाछिद्रों से दिखलाई पड़ता है, उसे अंतर्नासिका या नासिकागुहा कहते हैं। वाह्यकर्ण की रचना में कुछ भाग तरुणास्थि (Cartilage) और कुछ भाग अस्थि (Bone) का बना रहता है। इसमें अस्थिमय भाग पार्श्व नासास्थि से (दोनों ओर के मिलने से) बना है। तरुणास्थिमय भाग कई मृद्वस्थियों से बना है जिससे नासा का आकार बनता है और नासाछिद्रों को ठीक रखता है इन मृद्वस्थियों से पेशियाँ लगी रहती हैं जो नासा को विवृत करती हैं।

नासा-जवनिका (Septum)—नासारंध्रों से देखने पर एक नलिका सी दिखाई देती है, इसे नासागुहा कहा जाता है। इनके बीच में एक खड़ा पर्दा लगा रहता है जिससे गुहा दो भागों में विभाजित हो जाती है। इस पर्दे का कुछ हिस्सा अस्थि से एवं कुछ तरुणास्थि या मृद्वस्थि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का बना होता है। आगे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि से नासा जवनिका बनी रहती है। पीछे की ओर जवनिका की बनावट में भाग लेने वाली अस्थियाँ होती हैं जैसे—झर्झरास्थि (Ethmoid) का मध्य फलक, उससे पीछे जतुकास्थि का तुण्ड (रास्ट्रम) आ जाता है नीचे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि ऊर्ध्व हन्वस्थि कंटक (Maxillary Spine) तथा सीरिकास्थि (Vomer) से जुड़ती है। नीचे वाले धारा के साथ दो और तरुणास्थियों के छोटे-छोटे भाग आ जाते हैं जिनको सीरिक नासिका तरुणास्थि (Vomer Nasal cartilage कहते हैं।

जवनिका का तरुणास्थिमय भाग परि तरुणास्थि (Perichondrium), अस्थिमय भाग, पर्यस्थि (Periosteum) और उसके बाहर श्लैष्मिक कला से ढका रहता है।

पार्श्व की दीवाल में कई क्रमबद्ध उभार पाये जाते हैं, जिन्हें शुक्तिका (Conchae or Turbinates) कहते हैं। उभारों के बीच में कई एक खात होते हैं जिन्हें सुरंगा (Meatus) कहते हैं।

शुक्तिकायें तीन हैं—अधः शुक्तिका, मध्य शुक्तिका और ऊर्ध्व शुक्तिका। इनमें अधः शुक्तिका स्वयं एक अस्थि का रूप ले लेती है और नासिका के पार्श्व की दीवाल से लगी रहती है। मध्य और अधः शुक्तिकायें झर्झरास्थि के ही भाग हैं। शुक्तिकाओं के ऊपर श्लेष्मल कला चढ़ी रहती है। श्लेष्मलकला के नीचे प्रहर्षणक धातु (Erectile tissues रहता है जो अधिकतर अधोशुक्तिका के निचले किनारे तथा अग्रिमान्त और पश्चादन्त (Ant. & post. ends) में मिलते हैं। ये मध्य शुक्तिका के अग्रिमान्त में भी पाये जाते हैं।

नासा सुरंगायें बड़ी महत्त्व की रचनायें हैं, क्योंकि इन नलिकाओं के मार्ग से सहायक वायुविवरों का स्राव बाहर आता है। नासासुरंगा में पूय का दिखाई देना, नासा और वायु विवरों में विकृतियों का द्योतक होता है और इसी चिह्न के ऊपर निदान भी किया जाता है।

नासा के ऊर्ध्व सुरंगा द्वारा पश्चाद् समुदाय के नासासहायक वायु विवरों के स्राव का बहाव होता रहता है। मध्यसुरंगा में अग्रिम वायु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवर समुदाय तथा अधः सुरंगा में नासाश्रुवाही स्रोत खुलता है। (Naso Lacrymal duct) ।

मध्य सुरंगा में कई एक महत्त्व की रचनायें हैं। इसके अग्रान्त (Ant. end) की ओर एक वृद्धि होती है जिसे झर्झरास्थिप्रवर्द्धन (Uncinate process) कहते हैं। यह झर्झरास्थि का ही एक भाग है। थोड़ी सी दूर हट कर एक और उत्थान दिखलाई पड़ता है उसे झर्झरीय स्फोट (Bulla Ethmoidatis) कहते हैं। यह झर्झरास्थि के कान्तारिक (Ethmoidal labryinth) के उभार के कारण होता है। इन दोनो वृद्धियों के मध्य में एक खात होती है जो अर्द्धचंद्रापारिखा (Hiatus seminularis) कहा जाता है—जहाँ पर ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर का छिद्र खुलता है। अर्ध चंद्रपरिखा के साथ ऊपर की ओर बढ़ने पर एक सँकरा स्थान (Infundibulum) पाया जाता है जो ऊपर जाकर पुरः नासास्रोत (Fronto-Nasal duct) हो जाता है।

नासागुहा की सीमा—गुहा का फर्श ताल्वस्थि (Palatebones) और दाँत के कोटरों (Alveolus) से बनता है। नासागुहा की छत आगे की ओर पार्श्वनासास्थि से, पीछे की ओर झर्झरपटल (Cribriform plate) से (जो झर्झरास्थि का ही अस्थिमय भाग है जिसके छिद्रों से घ्राणवहनाड़ी के सूत्र जाया करते हैं, उससे) और जतुकस्थि से बनता है।

नासा-कार्य—नासिका के निम्न चार प्रधान कार्य होते हैं—

१. गंधग्रहण—गंधग्रहण करने वाले अंगों द्वारा।

२. निःस्यंदन (नितरण)—उच्छ्वसित वायु से धूल तथा अन्य चीजों को छानकर पृथक् करना।

३. ऊष्णी और आर्द्रीकरण (Warming and moistening) उस वायु का जो फुफ्फुस में प्रविष्ट हो रहा है।

४. स्वर को निनादित करना (Giving resonance to the voice)·

गंध—कई कारणों से प्रभावित हो सकता है। *अवरोध*—आस-पास की चारों ओर की रचनाओं के भार के कारण या व्रणशोथजन्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूजन हो जाने की वजह से अवरोध होकर वायु का गंध ग्राही कक्ष तक पहुँचना संभव नहीं रहता जिससे गंध विपर्यय हो सकता है। कई बार वातवह नाड़ियों तथा *नाड़ी विशेष* के परिवर्त्तनजन्य भी ऐसा परिणाम देखने को मिलता है। यह परिवर्त्तन उपसर्ग या विषजनित हो सकता है।

नितरण—छनने का कार्य इस प्रकार होता है कि धूल तृणाणु और अन्य द्रव्य श्लैष्मिक कला के सतह पर चिपक जाते और शुद्ध वायु फुफ्फुस के भीतर चली जाती है। फिर कला पर चिपके पदार्थ अन्न-नलिका द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं।

ऊष्मी एवं आर्द्रीकरण—परस्पर सम्बन्धित क्रियायें हैं। कला में जितनी सूजन और रक्ताधिक्य होगा उतना ही नासारन्ध्र संकुचित होगा और श्लेष्मलकला को गर्म करनेवाली सतह उतनी बढ़ जायगी। इससे वाष्पीभवन भी अधिक होगा और गाढ़ा कफ-स्राव होने लगेगा। इन कार्यों के सुचारु रूप से चलने में कई परिस्थितियों की विद्यमानता आवश्यक है। काफी वायु का मार्ग, रक्तसंवहन का अविकृत होना, ग्रन्थियों का ठीक होना (Intact) और उनका उचित रूप से कार्यक्षम होना। (श्लेष्मलकला में श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ, लसीकाणु कोष रहते हैं जिनसे स्राव होता है।)

कोषाङ्कुर क्रिया—(Ciliary action) नासाकी श्लेष्मल के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें लोमवत् कोषाङ्कुर (Cilia) होते हैं। इनके द्वारा श्लेष्मलकला विजातीय पदार्थों से अपनी सफाई करती रहती है। एवं किसी भी विजातीय द्रव्य को ये भीतर जाने नहीं देते। नासा को स्वस्थ और सुखी रखने के लिये इन लोमवत् कोषाङ्कुरों का प्राकृतिक अवस्था में रहना बहुत आवश्यक है। इनकी क्रिया में कमी का होना या अनियमित क्रिया का होना बहुत प्रकार के दुःखदायी लक्षणों को पैदा करता है।

इन अङ्कुरों के जीवन और ठीक क्रिया को चालू रखने के लिये एक अनुरूप माध्यम की आवश्यकता पड़ती है और यह माध्यम श्लेष्म

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Mucous) है जिसका संहनन (Consistency) ठीक होना आवश्यक है। बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो इन अङ्कुरों की ठीक क्रिया में बाधक होती हैं। जैसे क्षोभ, अत्यन्त शुष्कता, शस्त्रक्रिया, आघात तथा व्रणशोफ।

कोषाङ्कुरों के अधिक कार्यशील होने से बहुत नासास्राव और कम क्रियाशील होने से स्राव का संचय होना या नसागूथ (पपड़ी Crust) का बनना पाया जाता है, जो नाक को बन्द करके स्रोत में अवरोध पैदा कर सकता है।

कोषाङ्कुर जब तक कार्यक्षम रहते हैं वे नासा स्राव को पीछे नहीं जाने देते और आगे या सामने की ओर से उसे बाहर फेंकते रहते हैं। जब ये पूर्ण रूपेण कार्य-शील नहीं होते तो गाढ़े स्राव या कफ को बाहर नहीं फेंक पाते और वह स्राव नासिका के पश्चात् भाग से होता हुआ गले में चला जाता है; फिर वहाँ से वह मुख द्वारा बाहर निकलता है। इस व्यथा (Complaint) का वास्तविक हेतु कोषाङ्कुरों के कार्य की अक्षमता ही है।

कई परिस्थियों में श्लेष्मलकला की प्रतिक्रिया स्वतंत्रनाड़ीमण्डल के इड़ा भाग के (Sympthtic System) ऊपर निर्भर करती है क्योंकि यह उसी के नियन्त्रण में रहती है। इस तरह इस नाड़ीसंस्थान की विकृति भी कई प्रकार के रोगों को, जैसे अवरोध, स्राव या शिरःशूल पैदा कर सकती हैं।

फलतः इन अवस्थाओं में यही चिकित्सा होनी चाहिये कि जिससे नासागत वायुमार्ग (यदि विकृत हो तो) प्रकृत अवस्था में आ जाय अथवा कोशाङ्कुर क्रिया का पुनः संस्थापन हो सके। इस कार्य में नासा में पूरण या प्रक्षालन कार्य में कई प्रकार के घोल व्यवहृत होते हैं। समवल लवण जल या कई प्रकार के जीवाणु निरोधी द्रव। इनमें समवल लवण जल से प्रक्षालन उत्तम रहता है, जीवाणु निरोधी (Anti Septic) द्रव्यों का उपयोग बहुधा निरर्थक होता हैं।

जब तक कि आवश्यक न हो अथवा शास्त्रीय निर्देश न हो तब तक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तैल और नस्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, इसका विशेष वर्ण विस्तृत रूप से आगे प्राप्त होगा।

सोम (Ehhedrine) का लवण विलयन में तीन प्रतिशत शक्ति का बनाया घोल बड़ा लाभप्रद होता है। श्लेष्मलकला पर इसकी क्रि हानिप्रद नहीं होती।

सहायक वायु विवरों की क्रिया का ज्ञान भी नासाक्रिया के सा ही साथ कर लेना अपेक्षित है। इनका प्रधान कार्य वायुभार को ठी रखना और स्वर के उच्चारण को निनादित करके लाना है।

इस प्रकार नासा, कोषाङ्कुर तथा नासा संबन्धित वायुविवरों के क्रिय का ज्ञान विषय को तुलनात्मक ढंग से समझने के लिये अथवा बुद्धि पूर्वक नसारोगों की चिकित्सा करने के लिये आवश्यक है।

२

नासारोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति एवं प्रतिषेध

हेतु एवं *सम्प्राप्ति*—आचार्य वाग्भट ने एक सूत्र में नासारोगों क उत्पत्ति के कारण और सम्प्राप्ति का वर्णन किया है।[1] आवश्या (ओस) या वर्फीली हवा में घूमना, बहुत ज्यादा धूलि, रजःकण, धू प्रभृति युक्त वायुमण्डल में काम करना, अधिक भाषण करना, अधि सोना या दिवास्वाप करना, अधिक काल तक रात्रि जागरण करना ठंढी हवा या तेज हवा के झोकों के समय नाक की रक्षा नहीं करना सोते समय सिर के नीचे तकिया नहीं लगाना या सिर को बहुत नी

१. अवश्यानिलरजो भाष्यातिस्वप्नजागरैः
नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनान्येन वारिणा।
अत्यम्बुपानरमणच्छर्दिवाष्पनिग्रहात्
क्रुद्धावातोल्वणा दोषा नासायां स्त्यानतांगताः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करके रखना अथवा अत्यधिक ऊँची तकिया का लगाना, प्रवासया यात्रा में विभिन्न स्थानों का पानी पीना, अधिक पानी पीना, अधिक स्त्रीप्रसङ्ग करना, वमन के वेगों का या आंसू के वेगों का रोकना, प्रभृति कारणों से वायु का कोप होता है और वह कुपित वायु अन्य दोषों का संसर्ग करके नासा में संचित होकर पश्चात् नासारोगों की उत्पत्ति करता है ।

ये सभी कारण उत्तेजक या प्रत्यक्ष रूप से (Direct Causes) नासारोग की उत्पत्ति में भाग लेते हैं । इन कारणों से नासागत श्लैष्मिकावरण में क्षोभ (Irritation) होता है और उसके परिणामस्वरूव श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य होकर शोफ हो जाता है और प्रतिश्याय प्रभृति लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त अन्य भी शारीरिक भीतरी कारण नासारोग की उत्पत्ति में सहायभूत होते हैं, जैसे शारीरिक दुःस्वाध्य, दुर्बलता चिरकालीन रोग (फिरङ्ग, क्षय प्रभृति) अभिघात, अनूर्जता (Allergy) जिससे नासाकला की रोगनिवारण क्षमता (Immunity) बहुत कम हो जाती है और थोड़े से प्रकोपक कारणों से रोग की उत्पत्ति हो जाती है ।

नासारोगों में सामान्य चिकित्सा—

पथ्य (नातिरुक्ष नातिस्निग्ध द्रव्य)—स्नेहन, स्वेदन तथा अभ्यंग पथ्य हैं । भोजन में प्रधानतया गेहूँ, जौ, चने की रोटी तथा दाल में कुलथी, अरहर, मसूर एवं चने का व्यवहार करना चाहिये । चावल रोगी को सात्म्य हो तो भोजन में पुराने चावल का प्रयोग किया जा सकता है । घी, दूध, खीर आदि उत्क्लेदकारी पदार्थ पुराने नासारोग में हितकर हैं । इनके द्वारा दोष बाहर निकलने में प्रवृत्त होते हैं । दधि यद्यपि अभिष्यन्दी है फिर भी जीर्ण नासारोगों में गुड़ और मरिच के साथ मिलाकर सेवन करना हितकर है । भोजन हल्का, गर्म एवं लवण और घृतयुक्त करना चाहिये । भोजन में अधिकतर गुड़, दूध, चना, सोंठ, मरिच, पीपल, जाङ्गल जीवों का मांस, जौ, गेहूँ, दधि, अनार, मूली का शोरवा प्रभृति द्रव्यों का व्यवहार करना चाहिए ।[1]

---

१. स्नेहः स्वेदो तथाभ्यजंगः पुराणाः यवशालयः कुलित्थमुद्गयोर्यूषः ग्राम्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शाक तरकारी में मूंग की मूंगौरी, ककड़ी, लौकी, परवल, नेनुआं, पालक, चौलाई जैसे शाक उबालकर साधारण छौंक देकर लेना चाहिए मसालों में जीरा, हींग, मेथी, हल्दी, काली मिर्च, लौंग, इलायची, तेज-पात, दालचीनी, धनियाँ का उपयोग हो सकता है। पके टमाटर, पपीता अधिक लेना चाहिए। संक्षेप में बैगन, सहजन, मेथी, लहसुन, ककोड़ा, त्रिकटु प्रभृति शाक, जाङ्गल जीवों का मांसरस, मुद्गयूष तिक्त शाक हितकर हैं। नमक में सैंधव का प्रयोग दाल और शाक में होना चाहिए।

कटु और अम्ल पदार्थ प्रायः खाने में प्रशस्त हैं विशेषतः कागजी नीबू नमक मिर्च मिलाकर आलू बुखारा, आँवला, अदरक, पुदीना, हरी धनियाँ, जीरा डालकर चटनी बनाई जा सकती है। यह नासारोगों में हितकर होगी। कटु, अम्ल, लवण और स्निग्ध नासा रोग में पथ्य है।

फलों में सन्तरा, सेब, अञ्जीर, नासपाती, पपीता, पक्व आम, खीरा, खरबूजा, गाजर कच्चा या तरकारी के रूप में लिया जा सकता है। अन्य गीले फलों को खाना हो तो त्रिकटु, सैंधव, अदरख या सोंठ मिला कर लिया जा सकता है।

मिष्ठान्नों में मालपुआ, मूंग या वेसन के लड्डू, गाजर का हलुआ, मिश्री या बताशा लिया जा सकता है। प्रातःकाल इन द्रव्यों से जलपान किया जा सकता है। बादाम और पोस्तादाने को भिंगोकर, सवेरे धो पीसकर घी, काली मिर्च, मिश्री डालकर हलुआ बनाकर लेना भी हितकर है।

पानी में कच्चा पानी नासारोगियों में अहितकर है। अतः हमेशा गर्म करके ठंढा किया हुआ जल लेना चाहिए। बर्षा मध्य काल का (गाङ्ग जल) ठंढा भी लिया जा सकता है। सामान्यतया उष्ण जल का सेवन हितकर होता है। नीबू का रस छोड़कर गर्म पानीं पीना हितकर है। वात-पित्तात्मक प्रतिश्याय या जीर्ण प्रतिश्याय में रात में सोते समय ढंढे पानी का पीना हितकर माना गया है।

जाङ्गलजाः रसाः। वार्ताकं कुलकं शिग्रुकर्कोटं वालमूलकं लशुनं दधि तप्ताम्बु वारुणी च कटुत्रयम्। कट्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णञ्च लघु भोजनम्। नासारोगे पीनसादौ सेव्यमेतद्यथा वलम्। (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोगी को अधिकतर खुले निर्वात स्थान में रहना चाहिए, हल्का व्यायाम करना चाहिए। विशेषकर ठंढी हवा, पूर्वी हवा, झड़ी एवं वर्षा की हवा और झंझावात से पूर्णतया बचना चाहिए। मोटे गरम कपड़े पहनना उचित है। सिर पर मोटा कपड़ा लपेटे रहना चाहिए। मोटे कपड़े की पगड़ी सिर पर बाँधना चाहिए।[1]

सहपान में भोजनोपरान्त पुरानी वारुणी या दशमूलारिष्ट लिया जा सकता है।

अपथ्य—ऐसे द्रव्य जो पित्त को उत्तेजित एवं कफ को सुखायें वे नासारोगों में अहितकर होते हैं—जैसे शराब, काफी, चाय, तम्बाकू, सिरका, नमक का अति सेवन, पूय रक्त या नासापाक में ये द्रव्य अधिक हानिकारक होते हैं। क्योंकि पित्तवर्द्धक उष्ण द्रव्यों से रोग की वृद्धि होती है। अति रुक्ष पदार्थों का सेवन भी हानिप्रद होता है, जैसे—मैदे का आटा, मटर प्रभृति द्रव्य। वैसे ही अधिक श्लेष्मल और अभिष्यंदी द्रव्य जो स्रोतस को रुद्ध करें—हानिप्रद होते हैं, जैसे—आनूप मांस, मछली, खोआ, रबड़ी, मलाई, उड़द की दाल, उड़द के बड़े, कचौड़ी आदि। तैल का भी प्रयोग शास्त्र में निषिद्ध है परन्तु संस्कार (ओषधियों के योग से) करके दिया जा सकता है।

शाकसब्जियों में कटहल, केला, सेम, कच्ची मूली, आलू, शकरकंद भिण्डी और कुम्हड़ा हानिकर हैं। फलों में बेर, तरबूज, फूट, केला, कच्चे आम, लीची तथा अन्य अम्ल फल अहितकर हैं।

पेयों में शीतल जल, विभिन्न स्थानों का जल (बिना गर्म किये), बरसाती पानी, तालाब का जल, शर्बत और बरफ तथा अन्य शीतलपेय हानिप्रद होते हैं।

विहार—अधिक बैठे रहना, दिवास्वाप, रात में जागना, सोये में उठकर तुरन्त पानी पीना, अधिक परिश्रम से स्वेदाधिक्य हो उसमें हठात् पानी का पीना अहित है। खुले शरीर या हल्के कपड़े पहन कर शीत ऋतुओं में घूमना, सिर पर से स्नान करना, शोक, क्रोध, अधिक

१. स्थितिर्निवातनिलये प्रगाढोष्णीषधारणम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निद्रा, भूमि पर सोना, मल, मूत्र प्रभृति अधारणीय वेगों का धारण करना नासारोगों में अपथ्य हैं।[1]

नासारोगों में इसके विपरीत आचरण पथ्य होते हैं। जैसे—निर्वात स्थान में रहना या शयन करना, मोटे वस्त्र से शरीर को आवृत रखना, पगड़ी का बाँधना या मफलर से कानों को बाँधकर रखना, रात्रि या शीत के समय टोपी या फेल्ट कैप आदि का सिर पर रखना उत्तम रहता है। इससे शीत लगने (Cold exposure) का भय कम रहता है, फलतः प्रतिश्यायादि नासारोगों से बचाव होता रहता है।[2]

प्रायः सभी नासारोगों में (१) स्नेहन (२) स्वेदन (३) शिरोऽभ्यंग (४) वमन (५) धूम (६) घृतपान (७) नस्य तथा (८) नासाप्रक्षालन, ये स्थानिक तथा कई आभ्यंतर प्रयोग प्रशस्त हैं। इन्हीं उपक्रमों के अनुसार कुछ सामान्य योगों का उल्लेख किया जा रहा है जिनका सर्वसाधारण प्रयोग नाक के रोगों में किया जा सकता है। विशेष उपक्रमों या योगों का वर्णन प्रसंगानुसार तत्तद् रोगों में किया जायगा।

स्नेहन—(Nasal drops or oil drops) षड् *विन्दु तैल*—भृङ्गराज, लौह, मधुयष्टि कड़ुवा कूष्ट समान भाग में (एक छटाँक की मात्रा में) लेकर कल्क करे और एक सेर पानी में घोल कर सवा सेर तेल में डालकर, चार सेर भृङ्गराजस्वरस डालकर तैल को विधिवत् सिद्ध करे। इस तैल का नाक के छिद्रों में छः छः बूंद छोड़ने से समस्त नासारोग और शिरोरोग नष्ट होते हैं।

हिंग्वादितैल—हिंगु, त्रिकटु, विडङ्ग, कायफर, बचा, लशुन, लाक्षा, श्वेत पुनर्नवा, नागरमोथा, कुटज और तुलसीपुष्प इन द्रव्यों को समान

१. स्नानं क्रोधं शकृन्मूत्र वातवेगांशुचं द्रवं।
भूमिशय्याञ्च यत्नेन नासारोगी परित्यजेत् ॥ (यो. र.)

२. निर्वातेयेगुणा प्रोक्तास्ते गुणाः कर्णावंधते। (वा.)
वासोगुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम्।
लघूष्णं लवणस्निग्धं उष्णं भोजनमद्रवम् ॥ (भै. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाग में लेकर कल्क बना कर तैलपाकविधि से सर्षपतैल को सिद्ध कर लेना चाहिए। इस तैल को नासाद्वारा पूरण करने से यावतीय नासा रोग नष्ट करते हैं। केवल तिल तैल या सरसों के तैल का नस्य लेना भी उत्तम रहता है।

धूम्रयोग—(Inhalation) १. घी, तैल और सत्तू को एकत्र जला-कर उसका धूम्र पीने से सब प्रकार के प्रतिश्याय, कास, हिक्का प्रभृति रोग दूर होते हैं। २. सम्पूर्ण गंधद्रव्य, दालचीनी, तेजपात, बड़ी इलायची और नागकेसर का धूम्रपान करना। धूम्रपान की विधि यह है कि नासा के द्वारा धुएं को खींच कर मुख के रास्ते निकाले या मुख के द्वारा खींचकर मुख के रास्ते ही निकालना चाहिए। ३. तेजपात, दालचीनी, इलायची, नागकेसर, गुग्गुल, घोड़वच, कड़वा कूठ, बेल का गूदा, सहिजन का बीज, लौंग, कलौंजी और तम्बाकू को समान भाग में लेकर कुचल पीस कर किसी कागज या पत्ते में लपेट कर बीड़ी जैसे बना ले और इसका धूम्रपान पूर्वोक्त बिधि से करे। ४. इङ्गुदीवर्ति (बीड़ी Cigar) इङ्गुदी वृक्ष के फल की मज्जा, दारुहल्दी, दन्तीमूल, अपामार्ग के बीज या पत्र, तुलसी के बीज या पत्र समान भाग में लेकर सील पर महीन पीस कर तैल मिला कर कल्क बना ले। पुनः एक बारह अंगुल लंबे सरकंडे को लेकर उस पर कल्क का मोटा लेप करके बत्ती बना कर छाया में सुखा ले। जब वह सूख जाय तो सरकंडे को साव-धानी से खींच कर बाहर निकाल ले। फिर सोलह अंगुल पोली नली में उस बत्ती को फंसा कर बत्ती के ऊपरी सिरे पर आग लगा दे। नली के द्वारा धुवाँ नाक से पीकर मुख से निकाले और मुख से पिया हुआ मुख से ही निकाले—नाक से नहीं। इसके प्रयोग से नासारोगों में लाभ होता है।

नस्य (Snuffs or Nasal Spray) १. अर्कक्षीर में मुलतानी मिट्टी सात बार भिगोकर छाया में सुखा कर बारीक पीस कर शीशी में भर कर रख लिया जाय और नासारोग में छींक ले आने की आवश्यकता हो तो नस्य देना चाहिये। इस से नासागत रक्तसंचार ठीक होकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कला का शोफ शान्त हो जाता है। २. कट्फलचूर्ण कायफर को बारी पीसकर कपड़छान चूर्ण बना कर उसका नस्य लेना। ३. सुंघनी का प्रयोग। ४. छिक्का नामक बनस्पति का प्रयोग भी हितकर होता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—१. शट्यादि चूर्ण, भूम्यामलकी, कचूर और त्रिक समान भाग में लेकर चूर्ण करे। बल तथा कालानुसार ३ माशे से ६ माशे तक की मात्रा में घी और गुड़ के साथ सेवन करे।

लवङ्गादि चूर्ण—लौंग, शुद्ध कपूर, इलायची, दालचीनी, नागकेशर, जायफल, खस, सोंठ, स्याह जीरा, अगर, वंशलोचन, जटामांसी, कमल-गट्टा, पिप्पली, सफेद चन्दन, तगर, सुगन्धबाला, कंकोल या शीतल-चीनी, सभी को समान भाग में लेकर चूर्ण करे और चूर्ण की आधी मिश्री लेकर मिला ले। इसके सेवन से सभी नासारोग नष्ट होते हैं।

निदिग्धिकादि कषाय—छोटी भटकटैया, गिलोय और शुंठी का काढ़ा बना कर पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप डाल कर पीना। इसी प्रकार कट्फलादि चूर्ण या कट्फलादि कषाय का सेवन भी सामान्य सभी नासारोगों में कराया जाता है। एवं इस से उत्तम लाभ होता है।[1]

व्योषादि वटी, अगस्त्य हरीतकी या चित्रक हरीतकी[2]—का उपयोग भी लाभप्रद होता है। व्योषादि वटी के निर्माण में त्रिकटु, तालीशपत्र, चव्य, तिंतिड़ीक, अम्लवेत, चित्रक और जीरा (आठ-आठ तोले) दालचीनी, इलायची के बीज और तेजपात (दो दो तोले) और गुड़ (दो सौ तोले) मिलाकर गोलियां बनाई जाती हैं। इसका उपयोग मु

१. कट्फलं पौष्करं शृङ्गी व्योषं यासश्च कारवी एषां चूर्णं कषायं वा दद्यादार्द्रकजैः रसैः पीनसे स्वरभेदे च तमके सहलीमके सन्निपाते कफे वाते कासे श्वासे च शस्यते ॥ यो.

२. चित्रकस्यामलकयाश्च गुडूच्यो दशमूलजम्
शतं शतं रसं दत्त्वा पथ्या चूर्णाढकं गुडात्।
शतं पचेद्घनीभूते पलद्वादशकं क्षिपेत्
व्योषत्रिजातयोः क्षारात् पलार्द्धमपरेहनि ॥
प्रस्थार्द्धं मधुनो दत्त्वा यथाग्न्यद्यादयंत्रणः। (भै.र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में रखकर चूसने में होता है। सामान्यतया सभी नासारोगों में विशेषतः प्रतिश्याय और कास में इसका उपयोग लाभ प्रद रहता है।

चित्रक-हरीतकी—चित्रक की छाल ५० पल, जल ४०० पल, क्वथित करके १०० पल शेष रखे। फिर आँवले का स्वरस १०० पल। गुडूची और दशमूल ५०-५० पल लेकर अष्ट गुण जल में क्वथित करके चतुर्थांशविशिष्ट क्वाथ १००-१०० पल बनावे। इन क्वाथों को मिलाकर उसमें १०० पल पुराना गुड़ छोड़े। गुड़ को घोलकर छान ले। अब एक कड़ाही में इस जल को अग्नि पर चढ़ावे और उसमें ६४ पल हरीतकी चूर्ण छोड़कर पाक करे। पाक के घनीभूत होने पर उसमें त्रिकटु, दालचीनी, तेजपात एवं छोटी इलायची को बराबर मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बनाकर कुल १२ पल तथा यवक्षार आधा पल मिला कर अग्नि से नीचे उतार ले। ठंढा होने पर उसमें शहद ८ पल मिला ले। मात्रा-६माशा २ तोला अनुपान-गर्मदूध। दुःसाध्य नासारोग तथा गले की खराबी में यह योग उत्तम लाभ प्रद है।

पञ्चामृत रस—शुद्ध पारद एक भाग, गन्धक दो भाग, टंकण तीन भाग, शुद्ध विष (वत्सनाभ) चार भाग और मरिच पाँच भाग। इन द्रव्यों को अदरक के रस में घोट कर पाँच रत्ती की गोलियाँ बना ली जाँय। इस योग को योग्य अनुपान के साथ सभी नासारोगों में व्यवहार किया जा सकता है।

नारदीय लक्ष्मी विलासरस—अभ्र भस्म ४ तोले, पारा, गन्धक, कपूर, जावित्री और जायफल प्रत्येक २-२ तोले, विधारा, धतूर एवं भाँग के बीज, विदारीकन्द, शतावर, गंगेरन, कंघी, गोखरु बीज, समुद्र फल प्रत्येक का १-१ तोला पान के रस में घोटकर तीन तीन रत्ती की गोलियाँ बनावें। यथानुपान प्रतिश्याय में प्रयोग लाभ प्रद होता है।

महालक्ष्मी विलासरस—सुवर्ण, अभ्रक, चाँदी, ताम्र, वंग, तीक्ष्ण लौह, मुण्ड लौह, कान्त लौह, नाग इन द्रव्यों के भस्म शुद्ध वत्सनाभ और मुक्ता भस्म, प्रत्येक का १-१ भाग तथा पारद एवं गंधक सब को बराबर मात्रा में लेकर एकत्र करके शहद में घोंट कर दो तीन दिनों तक सुखाकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'कुक्कुट पुट' में पकाकर स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाले। पश्चात् चित्रक क्वाथ में भावित कर रख ले। एक रत्ती की मात्रा में प्रयोग करे।

अणुतैल—चन्दन, अगुरु, तेजपात, दारुहल्दी, मधुयष्टी, बलामूल कमल, छोटी इलायची, वायविडङ्ग, बेल, नील कमल, अभया, दाल चीनी, मोथा, सारिवा, स्थिरा, जीवन्ती, पृश्णिपर्णी, देवदारु, शतावरी हरेणु, बृहती, व्याघ्री, सुरभी, पद्मकेसर, इन द्रव्यों को सौ गुने 'वर्षा जल' में पकावे। फिर इस कषाय को तैल दस गुनी मात्रा में लेकर तिल तैल का पाक दसबार करे। दसवीं बार के पके तैल को छानकर उसमें पुनः बराबर मात्रा में बकरी का दूध डाल कर पकावे। इस प्रकार से बना तैल 'अणु तैल' है इसका नस्य कर्म में यथाविधि प्रयोग करे। (च. सू. ५)

आजकल के (Nasal drop, Nasal spray, Alkaline doush) प्रभृति उपचार प्राचीन स्निग्धनस्य, विन्दु, प्रधमन, ऊर्ध्ववस्ति के ही प्रतिनिधि हैं। यद्यपि गुण एवं क्रिया की दृष्टि से इनमें पर्याप्त भेद है।

—o—

३

नासारोगों की संख्यासूची

आचार्य सुश्रुत ने नासा में होने वाले रोगों की संख्या ३१ बतलाई है; परन्तु योगरत्नाकर और भावप्रकाश ने अपने वर्णनों में ३४ रोगों की सूची दी है।[1] इनमें सभी नासागुहा में होने वाले रोग हैं; परन्तु नासाशोथ और नासापाक वाह्य नासिका (Vestibule) के जान पड़ते हैं

१. आदौ च पीनसः प्रोक्तः पूतिनासस्ततः परं, नासापाकोऽत्र गणितः पूयः शोणितमेव क्षवथुः भ्रंशथुः दीप्तिः प्रतिनाहः परिस्रवः नासाशोषाः प्रतिश्यायाः पंचसप्तार्बुदानि च चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोथाश्चत्वारितानि च रक्तपित्तानि नासायां चतुस्त्रिंशद् गदाः स्मृताः (यो. र.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोग	अधिष्ठानभेद	दोषप्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय
नासाशोथ	बहिर्नासिका या नासापुट (Vestible)	१ वा. २ पि. ३ श्ले. ४ सन्निपात	Dermititis Fissures Boils in the vestible Due to infection of the Hair follicles
नासापाक	”	पित्त रक्तज	Deviation of septum
नासानाह प्रतिनाह	नासाजवनिका (Septum)	वात कफज	
प्रतिश्याय	नासागतश्लेष्मलकला नासागुहा (Cavity)	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. र. ५. सन्नि.	Acute Rhinitis
दुष्टप्रतिश्याय	”	”	Chronic or Hyper trophic Rhinitis
पीनस	”	वा० श्लैष्मिक	Atrophic Rhinitis, Ozaena (Atrophic Rhinitis)
पूतिनास	”	”	Rhinitis Sicca (Atrophic Rhinitis)
नासाशोष	”	वातपित्तज	Obstructivecrust (Atrophic Rhinitis)
पुटक	”	पित्त श्लैष्मिक	Severe burning irritation
दीप्ति	”	पित्त	A. Coryza.
क्षवथु	”	वा.	Vasomotor Rhinorrhoea
भ्रंशथु	”	वा. पित्तज	Mucoid discharge of the Thickered lining membarane of the sinus
परिस्राव	”	श्लैष्मिक	Rhinorrhoea. (Acute or chronic)
नासार्श	”	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. स०	Nasal polypi
नासार्बुद	”	१. वा. २. पै. ३. श्लै. ४. मे. ५. मांस. ६. रक्त. ७. त्रिदोषज	Newgrouths in the Nose (Benign or Malignant)
नासागत-रक्त पित्त	”	१. वा. २. पि. ३. श्लै. ४. र. ५. त्रि	Epistaxis.
पूयशोणित	”	त्रिदोषज	Lupus in the Nose.
नासाकृमि	”	... ...	Magates in nose
नासाशल्य	”	... ...	Foreign body in the Nose
नासाविवरशोथ	(Accessary of the Nose)	... ...	Sinusitis

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४

नासारोगगत लक्षणों का विश्लेषण

नासावरोध—नाक का बन्द होना जिससे साँस लेने में कठिनाई होती है, यह एक प्रधान लक्षण नासारोगों में मिलता है। इस लक्षण की प्राचीन संज्ञा 'नासाप्रतीनाह' (Nasal obstruction) है। इस अवस्था की उत्पत्ति अनेक कारणों से हो सकती है। इनमें प्रधान तीन हैं—

१. नासा की रचना सम्बन्धी या विकास सम्बन्धी (Anatomical or developmental) अस्वाभाविकता। जैसे नासा जवनिका का विमार्ग गमन (Deviation), अथवा नासाछिद्रों का सहज संकोच (Congenital narrowing), अथवा एक या दो शुक्तिकावों का सहज या जन्मोत्तर निरोध (Atresia) होना।

२. नासागुहा की श्लेष्मलकला की विकृतिजन्य उत्पन्न अस्वाभाविकता (Pathologioal Changes of the Mucous membrane)। इस वर्ग में निम्नलिखित विकारों का ग्रहण हो सकता है।

(क) कला की वृद्धि—ऐसी अवस्था बार बार नासाकला शोथ होने के कारण आ जाती है। (ख) नासार्शों (Polypi) के कारण। (ग) अधिक स्राव का संग्रह। इस विकार की प्राचीन संज्ञा 'नासाशोष' है।

३. नासाकला की वातनाडी समुदाय का अधिक उत्तेजित होना (Hyper Sensitivity of nervous Mechanism of the nasal Mucous membrane) इस कारण से नासाकला में शोथ हो कर नासावरोध हो जाता है और 'प्रतीनाह' या 'शोष' की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

नासागत स्राव—(परिस्रव) नासारोगों में स्राव का निकलना 'नाक का बहना' दूसरा प्रमुख लक्षण पाया जाता है। यह स्राव कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षोभ पैदा करने वाले द्रव्य के नासा सम्पर्क में आने से या नासागत श्लेष्मलकला के तीव्र शोथ के बार बार दौरे होते रहने से हो सकता है। इस अवस्था में यह स्राव पतला (तनु) पानी जैसा (जलीय) (Thin and watery) होता है, यदि यह स्राव अधिक हुआ तो नासावरोध भी साथ ही साथ रहता है। जीर्णावस्था में गाढ़ा (घन) होता है और इसकी उपस्थिति का अनुभव गले में पीछे की ओर होता है। तीव्रावस्था में स्राव या 'परिस्रव' नासागत श्लेष्मलकला के शोथजन्य प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप रहता है और कुछ अंशों में तत्रस्थ श्लेष्मलकला का रक्षण करता है। दूसरी अवस्था में (जीर्ण में) जीर्णस्राव—श्लेष्मलकला की वृद्धिजन्य होता है। यह कला की वृद्धि भी कला के रक्षानिमित्त ही होती है। लम्बे अर्से तक शोथ के चलते रहने की वजह से प्रकृति, कला को मोटी (Hyper trophied) कर देती है, जिससे कला का संक्षय न हो पावे। इस तरह जीर्ण स्राव इस वृद्धि युक्त कला का ही उद्रेचन होता है।

इस स्राव की तनुता या घनता के अनुसार कई प्रकार के चिह्न रोगियों में देखने को मिलते हैं—जितना ही अधिक श्लेष्मा का भाग बढ़ेगा और स्राव की घनता बढ़ेगी उतना ही स्राव चिपचिपा और गाढ़ा होता जायगा। साथ ही कोषाङ्कुरक्रिया (Ciliary mechanism) में भी बाधा उत्पन्न होती है। ऐसा दो कारणों से होता है १. कोषाङ्कुर रोगावस्था में स्वयं विकारग्रस्त हो जाते हैं। २. दूसरा कारण यह है कि कोषाङ्कुर अधिक गाढ़े स्राव के बाहर फेंकने में असमर्थ हो जाते हैं। यही वजह है कि यदि प्रकृत भाव से नासागत स्राव सामने से नहीं निकल पाता तो उसका स्राव नासा पश्चात् भाग में इकट्ठा होता है और वह नीचे की ओर नासाप्रसनिका में आकर मुख द्वारा फेंका जाता है। यह लक्षण कोषाङ्कुर क्रिया की विगुणता का द्योतक है।

कभी कभी पूय की उपस्थिति भी नासास्रावों में हो सकती है। नासागत शोथ की जितनी भी अवस्थायें मिलती हैं उनमें प्रायः सभी का परिणाम 'पूयाभ' श्लेष्मलस्राव (Mucopurulent discharge) का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप ले लेता है। इस प्रकार के पूयकोषाणु श्लेष्मलकला के स्तर की नासास्राव के रूप में बाहर निकलते हैं।

विभिन्न प्रकार के स्रावों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थकारों के 'परिस्र नामक व्याधि के एक सूत्र में ही आ जाता है। उसमें चार प्रकार स्रावों का प्रसंग आता है। इसी का साम्य रखता हुआ एक अन्य व्या भी मिलता है, जिसे 'भ्रंशथु' की संज्ञा दी गई मिलती है। (अ) प्र स्राव या (ब) तनु और सित (सफेद) स्राव (Thin and watery secretion or copious watery secretion)—इस प्रकार का स्राव प्रतिश्याय या श्लेष्मलकला का तीव्र शोथ या अनूर्जता (Allergy) कारण (Due to derangement of sympathetic N. System termed as Vasomotor Rhinorrhoea) मिलता है। अनूर्जता की अवस्था में हठात् रोग का दौरा होकर स्राव शुरू हो जाता और अचानक बन्द भी हो जाता है। इसका विशेष चिह्न जल परिस्रव ही है। (स) घन स्राव (द) घन और पीत स्राव इस प्रकार परिस्रव कई कारणों से हो सकता है (Thick and sticky or Mucopurulent Discharge) नासाकला का जीर्ण शोथ जिस परिणाम स्वरूप कलावृद्ध होकर मोटी हो गई हो अथवा अनव पीतवर्ण के स्राव का होना प्रायः नासा वायुविवर या नासा कोटर विकारों का द्योतन करता है। इस स्राव के भीतर ही 'परिस्रव' 'भ्रंशथु' नामक विकार द्वय का समावेश हो जाता है। परिस्रव पतला एवं भ्रंशथु में गाढ़ा स्राव पाया जाता है।

पीड़ा—नासागत व्याधियों में पीड़ा का होना कोई विशेष ल नहीं है। दो ही प्रधान वेदनायें होती हैं नासा का अवरोध और परि (Nasal obstruction & Discharge)। एक प्रकार की जिसका अनुभव नासारोगियों में होता है वह है क्षोभ के कारण हुआ दाह (Burning Irritation), जो तीव्र प्रतिश्याय में मिलता है। जब यह बहुत तीव्र होता है तब उस अवस्थाविशे 'दीप्ति' कहते हैं। यह प्राचीनों की दी हुई संज्ञा है जो तीव्र प्रति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की अवस्था विशेष (Acute coryza) का द्योतन करता है। वायु तथा धूलि के कारण भी क्षोभ पैदा होकर पीड़ा हो सकती है।

स्थानिक पीड़ा की अधिकता नासागत अरुषिका (Furunculosis) अथवा नासाछिद्रों (Vestible) के रोमकूपों के उपसर्ग में हो सकती है। इस रोग को 'नासिका पाक' नाम से प्राचीनों ने बतलाया है। इस प्रकार की अवस्था कक्षा (Herpes) या विचर्चिका (Eczymatous erruptions) के कारण भी हो सकती है। नासापाक की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था 'नासाशोथ' की रहती है। इन दोनों अवस्थाओं ('नासाशोथ' या 'नासापाक') में रोगी को नाक की पीड़ा का अनुभव होता रहता है। कई बार नासा छिद्रों की ऊपरी दीवाल में (Outer and lower border) छोटे छोटे विदार (Fissures) होने की वजह से भी पीड़ा होती है।

कई बार नासागत पीड़ा का अनुभव झर्झरास्थिविवर अथवा पुरः कपाल विवरशोथ (Frontal & Ethmoidal) के कारण भी होता है। इन अवस्थाओं में पीड़ा संवाहित होकर नाक तक आती है।

बहुधा वातिक नाडियों के विकारों (पंचम शिरस्का एवं त्रिधारा) या दन्तरोगों के कारण भी नासा में पीडा का अनुभव होता है।

वाह्यवैरूप्य (External deformities)—नासा के बाहरी भाग की विरूपता वैकासिक (Developmental) या वैकारिक अथवा अभिघातज हो सकती है। विरूपता के कारण नासा एक ओर या दूसरी ओर सरक जाती है। (असमान वृद्धि के कारण) अथवा नाक बहुत संकरी अथवा अविकसित रह जाती है। ऐसा अधिकतर उस समय होता है जब नाक को भर पूर काम में नहीं लाया जाता।

अभिघात के कारण भी नासा में इसी प्रकार की अस्वाभाविकता आ सकती है जैसे नाक का धस जाना (नासा सेतु के बैठ जाने से) अथवा नासा एक ओर या दूसरी ओर को स्थानभ्रष्ट हो जाय अथवा नासास्थियों का भ्रंश हो जाय।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोगों में फिरंग और क्षय ऐसे रोग हैं जिनके कारण उपरोक्त ना की विरूपता आ जाती है। आचार्य सुश्रुत ने इस विषय का विस वर्णन शल्यतन्त्रान्तर्गत कर्णव्यधबंध नामक अध्याय में किया है अस्तु इसका वर्णन शालाक्य में अप्रासंगिक है।[1]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यावतीय नासारोगों प्रायः तीन ही व्यथायें मिलती हैं। नासावरोध (प्रातीनाह) स्राव (प स्रव या भ्रंशथु) दाह एवं पीड़ा।

अब स्थान भेद से संहितोक्त नासारोगों के अवस्थान दोष प्राव हेतु तथा सम्प्राप्ति, पर्याय और चिकित्सा प्रभृति अङ्गों का विस्तृत वर्ण किया जायगा। साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषा के आलोक उनका समन्वयात्मक उल्लेख भी होता चलेगा।

५

बहिर्नासिका या नासापुट (नथुनों) के रोग

(Diseases of the Vestible)

नासशोथ तथा नासापाक—नासिकागत पित्त जब वहाँ पर अरुंषि (छोटी छोटी फुन्सियों या पिडिकाओं) को पैदा कर देता है अथ जब पूयोत्पत्ति हो कर नासिका पक जाती है अथवा नाक पर स सड़ान और गीलापन (कोप एवं विक्लेद) होने लगता है, तब विकार को नासापाक कहते हैं।[2]

आचार्य चरक के मत से केवल पित्त ही नहीं, वल्कि रक्त अं पित्त दोनों की विकृति नासापाक में कारण होती है। पाक के (व्रण

१. विशेष वर्णन लेखक की 'सौश्रुती' में संधानीयाध्याय में देखें।

२. घ्राणाश्रितं पित्तमरुंषिकुर्यात् यस्मिन्विकारे वलवांश्च पाकः।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावपि यत्र दृष्टौ॥ (सु.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण नथुने लाल होते हैं एवं उनमें दाह होता है। पहले दाह और लालिमा के साथ शोथ होता है (नासाशोथ), फिर वह शोथ पक जाता है (नासापाक)।"[1]

आचार्य वाग्भट ने भी लिखा है कि पित्त नासापुट के चमड़े और मांस को पका देता है जिससे वहाँ पर दाह, शोथ और वेदना होती रहती है।

चिकित्सा—'नासाशोथ' की शल्यतन्त्रोक्त शोथचिकित्सा के विधानों के अनुसार व्रण शोथवत् चिकित्सा करनी चाहिये। सामान्य व्रण शोथवत्[2] नासाशोथ के भी चार प्रकार हैं वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक। फलतः दोषों के विभेद से यथायोग्य औषधियों के द्वारा स्नेह, स्वेद, सेक, आलेप, लेप, रक्तावसेचन, उपनाह, पाचन प्रभृति उपक्रमों को वरतना चाहिये।[3] नासाशोथ की चिकित्सा में शालाक्य विद् (१) दूध और घृत की प्रधानता से पका हुआ और अणुतैल के कल्क से सिद्ध हुए तैल का विधान करते हैं। (२) घृतपान, (३) जाङ्गल मांसरस (४) स्वेद, (५) स्नैहिकधूम्र का प्रयोग करते हैं।[4]

'नासापाक' की चिकित्सा में (१) पित्तनाशन का विधान इसके लिये वाह्य तथा आभ्यान्तर पित्तघ्न विधानों को रखना चाहिये। (२) रक्त का मोक्षण (३) क्षीरी वृक्षों की त्वचा के कषाय से सेक (४) तथा घृतमिश्रित लेपों का प्रयोग करना चाहिये।[5]

---

१. स दाहरागश्वयथुः सपाकः स्याद घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात्। (चरक)

२. शल्यतन्त्र में व्रणशोथ के छः प्रकार वतालाये गये हैं—संसर्गज होने पर अधिक भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ पर नासाशोथ के चार ही प्रकार हैं।

३. रक्तपित्तानि शोथाश्च तथार्शांस्यर्वुदानि च।
नासिकायां स्युरेतेषां स्वं स्वं कुर्याच्चिकित्सितम् ॥ (यो. र.)

४. नासशोफे क्षीरसर्पिः प्रधानं तैलं सिद्धं चाणुकल्केन नस्यम्।
सर्पिःपानं भोजनं जाङ्गलैश्च स्नेहस्वेदैः स्नैहिकाश्चात्र घूमाः ॥ (यो. र.)

५. नासापाके पित्तनाशं विधानं कार्यं सर्वं वाह्यमाभ्यान्तरञ्च।
हरेद्रक्तं क्षीरिवृक्षत्वचश्च योज्या सर्वेसघृताश्चप्रलेपाः ॥ (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योग—१. शतधौत घृत का लोप २. पचक्षीरी वृक्ष के कषाय प्रक्षालन ३. खाने के लिये रक्तशोधक योगों का प्रयोग जैसे, कैशे गुग्गुल, मञ्जिष्ठादि क्वाथ का प्रयोग, प्रवाल, मुक्ता, शुक्ति, गैरिक प्रभृ औषधियों का आभ्यन्तर प्रयोग भी हितकर होता है।

विवेचन—उपर्युक्त लक्षणों एवं चिकित्सा के आधार पर यदि विच क्रिया जाता है तो स्पष्ट हो जाता है कि नासाशोथ या नासाप बहिर्नासागत या नासापुटगत दृष्टविकार है जिसमें नाक की त्वच और मांस फूले हुए या पके हुये दीख पड़ते हैं। ऐसे रोगी बहुताय से दिखलाई पड़ते हैं। कई बार यह विकार नासात्वक्‌शोफ (Dermiti of the vestibule) के रूप में, कई बार नासाछिद्र विदार (Fissures के रूप में और कई बार नासापिडिका या अरुंषिका के रूप में (Boil in the nose) दिखलाई पड़ता है। फलतः चिकित्सा के क्रमों में थोड़ा अन्तर आ जाता है।

त्वक् शोफ—की अवस्थामें १. पूर्ण स्वच्छता आवश्यक है २. खु ण्डको साबुन और पानी या गरम जैतून के तेल से साफ कर ले चाहिये। ३. पश्चात् इक्थियाल सोल्युशन ३०% को लगाना, या गन्धक द्यमलहर या सैलिसिलिक मलहर का प्रयोग करना चाहिये।

विदार—(Fissure)—रजत नाइट्रेट घोल (१०%) का लगान पश्चात् कोई भी स्निग्ध पदार्थ या मल्हम के द्वारा नासापुट को भ देना चाहिये जिससे विदार पूरित हो सके।

नासापिडिका या विद्रधि—यह रोमकूपों (Hair Follicles) उपसर्ग से होने वाला रोग है एवं एक रोमकूप से दूसरे रोमकूपों फैलता हुआ विस्तृत उपसर्ग या विद्रधि पैदा कर देता है। यह ए प्रकार के रोग (Boil in the vestible or floor of th nose) की गम्भीर स्थिति है क्योंकि इसका उपसर्ग ऊपर की ओ होकर मस्तिष्कगत उपद्रवों को पैदा कर देता है। प्रारम्भ में इसक

सर्जार्जुनोदुम्बरवत्सकानां त्वचाकषायं परिधावनेन ।
कषायकल्कैरपि चैभिरेवं सिद्धं घृतं घ्राणविपाकनाशी ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भेदन नहीं करना चाहिये, बल्कि किसी प्रकार पीडन के द्वारा (Squeezing or evacuation) बहा देना चाहिये। स्वेदन के द्वारा 'मैगनेशियम् सल्फेट' या 'एल्युमिनम एसिटेट' को वेसिलीन में मल्हम बनाकर प्रयोग करना चाहिए। पेनीसिलीन या शुल्व (Sulpha) अधिकार की ओषधियों का प्रयोग रोग की बढ़ती को रोकने के लिये हितकर है। कई बार रोमाङ्कुरों को (Hair Follicles) खींच कर सावधानी से निकालना, पश्चात् 'जेनेशियन वायलेट' २% घोल का लेप करना चाहिये। कई बार क्षकिरण का स्थानिक प्रयोग हितकर होता है नासा को स्निग्ध रखना चाहिये।

६

नासाजवनिका के रोग

(Diseases of the septum)

प्रतिनाह या नासानाह—(Deviation of the Nasal septum) "कफ वायु के साथ संयुक्त होकर उच्छ्वासमार्ग (नासामार्ग) को रुद्ध कर देता है। उस व्याधि को प्रतिनाह कहते हैं।"[1]

आचार्य वाग्भट ने इसी विकार को नासानाह की संज्ञा दी है "वायु के द्वारा प्रेरित हुआ कफ नासामार्ग को नद्ध (अवरुद्ध) कर देता है, जिससे नाक भर जाती है इससे न तो बाहर की सांस भीतर खींची जा सकती है और न भीतर की बाहर छोड़ी जा सकती है। ऐसा मालूम पड़ता है मानों नाक के छिद्र बन्द हो गये हैं।"[2]

आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है कि "उदान नामक वायु कफ से आवृत होकर जब अपने मार्ग में विगुण हो जाता है तो नासामार्ग अवरुद्ध

१. उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुंध्यात्प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्। (मा. नि.)

२. नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धे च वायुना निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात् स्रोतसी संवृते इव।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो जाता है, नाक बिल्कुल सट जाती है। अस्तु, नासा में आनाह पै होता है, आनाह पैदा होने के कारण इस विकार को नासानाह कहते हैं

नासानाह—नासास्रोतों का अवरोध होना एक लक्षण मात्र है जिसका स्वतन्त्र व्याधि के रूप में इस अधिकार में उल्लेख मिलता है यह लक्षण या उपद्रव जैसा पहले कहा जा चुका है नाना प्रकार के नासा रोगों में मिल सकता है बल्कि इसे एक नासारोग का प्रधान लक्ष कहा जा सकता है मामूली सर्दी या जुकाम में भी आनाह होता है- अल्पकालीन होता है। नासान्तर्गत श्लैष्मिककला के मोटे हो जाने श्लैष्मिककला बढ़ जाती है और नासा सटी सी रहती है, नासार्श कारण, नासार्बुद, नासाविद्रधि, नासागत अभिघात, नासागत गट (Lupus), नासाजवनिका का रक्तार्बुद (Heamatoma) नास जवनिकाविद्रधि (Abscess of the Nasal septum), नासाजव निका-विमार्गगमन (Diviation), नासागुहागत शल्य अथवा शुक्ति कास्थि की वृद्धि होने पर इस प्रकार का आनाह संभव है।

यहाँ पर शास्त्रीय वर्णन नासाजवनिका पथच्युति या विमार्गगम (Deviation) का ही द्योतक है। क्योंकि शास्त्रीय वर्णनों के आध पर स्रोतस का संवृत (Blockage of the part of the meatus एक विशिष्ट लक्षण मिलता है। यह पथच्युति दो प्रकार की हो सकत है—वैकासिक या आभिघातिक। पुनः स्थानभेद से दो प्रकार होती है ऊपर की अस्थिमय जवनिका (Bony deviation) की अथवा नीं की या तरुणास्थिमय जवनिका (Cartilaginous deviation) की

Bony deviation for the most part cause what ar known as "spurs." Spurs are out growths or ridges enco untered in the lower part of the nose, these cause bloc kage of the part of the Meatus which they occupy Spurs may be anterior or they may be posterior. In a

---

१. कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात्।
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगी नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

examination of the nose a septum which is seen to be straight anteriorly may possibly present appearances posteriorly which are sufficient to account for nasal obstruction and chronic nasal disease. The ceartilaginous deviation on the other hand are antorior in position and very frequently involve the upper part of the quaditateral cartilage.

अर्थात् नासाजवनिका के अस्थिमय भाग के विमार्ग गमन से खुरण्डों की उत्पत्ति होती है। ये खुरण्ड नाक के अधोभाग की वृद्धि या उभार के रूप में पैदा होते हैं ये निकल कर नासा स्रोत में जहाँ पर पैदा होते हैं उस भाग को रुद्ध कर देते हैं। ये खुरण्ड नासिका के अग्र भाग में या पीछे के भाग में भी हो सकते हैं। नासा की परीक्षा करते हुए जवनिका की स्थिति सामने से सीधी दिखलाई पड़ने पर पीछे की ओर टेढ़ी हो सकती है जिससे पर्याप्त मात्रा में नासा का अवरोध संभव रहता है और नाक में कोई जीर्ण स्वरूप का रोग पैदा हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि कहीं जवनिका तरुणास्थिमय भाग की, जो आगे की ओर रहता है, स्थान-च्युति हुई तो उसका प्रभाव बहुधा चतुष्कोणाकार तरुणास्थिमय भाग के ऊपरी हिस्से पर पड़ता है।

यदि यह नासाजवनिका की च्युति होना बहुत बढ़ी हुई अवस्था में हो तो उसके कारण उसके उभार से मध्यशुक्तिका के ऊपर दबाव या भार पड़ कर वायुविवारों के छिद्र भी बन्द हो जाते हैं। यह अवरोध विशुद्ध रूप से यान्त्रिक (Mechanical) होता है अथवा कई बार नासागत श्लेष्मलकला के रक्ताधिक्य के परिणाम स्वरूप भी होता है। इसका परिणाम यह होता है कि नासा का श्वासमार्ग (Nasal air ways) अस्वाभाविक रूप से संकरा हो जाता है।

इसी अवस्था की पुष्टि प्राचीनों के "नद्धत्वमिव नासायाः" उच्छ्वास मार्गावरोध "घ्राणं वृणोति" प्रभृति वाक्यों से होता है। अस्तु, नासानाह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या प्रतिनाह नाम से वर्णित व्याधि निश्चित रूप से" सेप्टलडेवियेशन नामक व्याधि का ही द्योतक है, ऐसा समझना चाहिये ।

नासानाह चिकित्सा—१. स्नेहपानं, २. स्निग्ध-धूम्रपान ३. शिरोवस्ति ४. वला तैल के द्वारा नासा पूरण ५. स्निग्ध स्वेद ५. भोजन में मांसरस का प्रयोग ७. बलातैल का पीने के लिये प्रयोग ८. गोघृत का पिलाना नासानाह की चिकित्सा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि घनीभूत दोष पतले पड़ कर बाहर निकालें। इसके लिये नारायण तैल, वला तैल, प्रभृति तैलों का प्रयोग करना चाहिये। कई बार तीव्र अवपीडन नस्य देने से भी लाभ होता है ।[२]

आधुनिक युग में इसकी चिकित्सा करते हुए कई एक द्रव्य जो स्रोत के विस्फारक होते हैं प्रयोग में आते हैं—जैसे 'एड्रेनैलीन' या 'एफेड्रीन' के दो प्रसिद्ध योग बहुत प्रचलित हैं। 'एण्ड्रिन ड्राप' (Encrindrop) तथा (Prothricine) 'प्रोथ्राइसिन' के प्रयोग से तथा लेखन क्रिया के लिये "सिल्वर नाइट्रेट" या 'कास्टिक' का प्रयोग भि हितकर हैं। यदि इन क्रियाओं से लाभ नजर न आवे तो शस्त्रकर्म (Cure of Septal deformity by operation) के द्वारा नासा-जवनिका के विकार को दूर किया जाता है ।

७

नासागुहा के रोग

(Diseases of the Nasal Cavity)

प्रतिश्याय नासाकला शोथ (Acute Rhinitis, Coryza, Common Cold सर्दी या जुकाम)

---

१. नासावनाहे कर्त्तव्यं पानं गव्यस्य सर्पिषः । (यो. र.)

२. नासानाहे स्नेहपानं विधानं स्निग्धोधूमोमूर्द्धवस्तिश्च नित्यम् ।
वलातैलं सर्वथैवोपयोज्यं वातव्याधावन्यदुक्तञ्च यद्यत् । (सु० उ० २३.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याख्या—शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—प्रति एवं श्याय दो शब्द हैं प्रति का अर्थ है अभिमुख और श्याय का अर्थ है गमन या निकलना प्रति उपसर्ग के साथ "शैङ् गतौ" धातु का योग है। समूह में अर्थ होता है वायु के प्रति या अभिमुख (ओर) कफादिक का गमन जिस रोग में हो उसे प्रतिश्याय कहते हैं। चरक में भी लिखा है "नासिका के मूल में स्थित कफ, रक्त तथा पित्त वायु से आध्मान सिर से वायु की ओर जाते हैं।"[1]

प्रतिश्याय को बोल चाल में सर्दी लगना या जुकाम होना कहते हैं। यह अवस्था नाक के रोगों में सर्व प्रथम तथा प्रधान है। साधारणतः नाक के रोगों में पहले प्रतिश्याय होता है और वही प्रतिश्याय पुराना होकर या बिगड़कर नाना प्रकार के नासारोगों में पीनस, पूतिनास आदि के रूपों में परिणत होता है। इतना ही नहीं आगे चलकर नासारोगों या प्रतिश्याय का परिणमन कास, श्वास, क्षय, श्वसनक प्रभृति रोगों में हो सकता है।[2]

आधुनिक व्याख्या के अनुसार 'राइनाइटिस' उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नासागत श्लेष्मलकला में तीव्र उपसर्ग पहुँचकर कला पूरी तौर से रक्ताधिक्ययुक्त एवं लाल हो जाती है और ग्रन्थि-उद्रेचन की क्रिया बढ़ जाती है, फलतः अत्यधिक स्राव होने लगता है।

हैतुकी—रोगोत्पादक हेतु दो प्रकार के होते हैं—१. सद्योजनक निदान और २. कालान्तर जनक या चयादिक्रम जनित निदान। इनमें प्रथम वर्ण में मल मूत्रादि के वेगों का रोकना, अजीर्ण, धूलि का सेवन, अत्यधिक भाषण करना, क्रोध करना, ऋतुओं की विषमता, शिरोभिताप, रात्रि जागरण, अधिक दिवा में सोना, जल के अधिक उपयोग, शीत का लगना, ओस, तुषार या वर्फ का ठंढ लगना, अधिक मैथुन, अश्रुपात

१. घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा
मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति।
२. प्रतिश्यायादथोकासः कासाम् संजायतेक्षयः (मा. नि.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और धूएं का सेवन प्रभृति कारणों से गाढ़ी भूत श्लेष्मा वाले सिर में बढ़ा हुआ वायु प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है।[1]

कालान्तर जनक हेतु—वातादिदोष व्यष्टिरूप से (एक एक करके) या समष्टिरूप से (सभी मिलकर) सिर में सञ्चित होकर, एवं रक्त भी सिर में सञ्चित होकर क्रोध आदि अनेक प्रकार के प्रकोपणों से प्रकुपित होते हुए प्रतिश्याय नामक रोग को उपजाते हैं।[2]

इस व्याख्यान पर यह शंका होती है कि संचय का अर्थ अपने अपने स्थान पर वृद्धि होना है; परन्तु वात, पित्त तथा रक्त का सिर में स्थान नहीं है तो फिर सिर में वातादिकों का संचय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि "वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देह धृक्" (सु० नि० १) इस सूत्र से वायु का स्थान सिर में कहा गया है। एवं पित्त के लिए "पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तञ्च" (सु० सू० २१) इस सूत्र के द्वारा पठित त्वक् तथा दृष्टि से सिर में दो स्थान बतलाया है। श्लेष्मा का सिर में स्थान है ही। शेष रहा रक्त तो उसका भी सिर में स्थान है क्योंकि रक्तवाहिनियों के सर्वत्र होने से सिर में उसका भी अवस्थान सिद्ध है। इस भाँति "सिर में सञ्चित दोष और रक्त" यह पाठ युक्त है और उससे चयादि क्रम जनित दूसरे वर्ग के प्रतिश्याय का होना भी संभव है। इसी "चयं गता मूर्धनि"

---

१. संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्त्तुवैषम्यशिरोभिघातैः।
प्रजागराति स्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुप्रतिश्यायमुदीरयेत्तु। (च० ६।२६)
नारीप्रसंगःशिरसोभितापो धूमो रजःशीतमतिप्रतापः
संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्। (सु०)
चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकराः भवन्ति हि।

२. नकेवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्
अन्यथापि हि कुप्यन्ति हेतुवाहुल्यतोरणात् (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नामक सूत्र में कालान्तर जनक हेतुओं के साथ साथ प्रतिश्याय रोग की संम्प्राप्ति भी हो जाती है ।

वास्तव में प्रतिश्याय के उत्पादन में दो ही हेतु भाग लेते हैं—उपसर्ग (Bacterial infection) या धूलि, रज, अवश्याय प्रभृति कारणों से श्लेष्मलकला का क्षोभ (Irritation) इनमें तृणाणु (Bacterias) तो साधारणतया नाक में रहते ही हैं। उनके द्वारा अचानक रोगोत्पत्ति हो जाने में हेतु हो जाता है, ठंडे या ओस के कारण नाक के तापक्रम का कम हो जाना। इस ठंड के कारण नासागत अंगों में रक्ताल्पता (Ischaemia) हो जाती है और तृणाणुओं को आक्रमण करने का मौका मिल जाता है। कई वार जीवाणु का उपसर्ग ही प्राथमिक या प्रधान कारण होकर भी रोग को उत्पन्न करता है।

पूर्वरूप—(The . earlier signs) नाक में सुरसुराहट (Tickling) या परिहृष्ट रोमता या रोमाञ्च, छीकों का आना (Irritation, sneezing or dryness) सिर का भारीपन (The sensation may not amount to actual pain), शरीर में जकड़ाहट अङ्ग मर्द, बदन में सिहरन सी मालूम होना, इसके सिवाय अन्य भी पृथक् पृथक् प्रकार के लक्षण तथा उपद्रव भी प्रतिश्याय के पूर्वरूप में होते हैं।[1]

आचार्य विदेह ने भी लिखा है कि नाक में धुवाँ-सा भरा मालूम होना, नाक में चिपचिपाहट, गले का बैठना, मुँह से लार या नाक से पानी का निकलना, छीक आना, सिर का भारीपन और तालु में फटने सी पीड़ा का होना ये लक्षण प्रतिश्याय के पूर्वरूप में होते हैं।[2]

१. क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता स्तंभोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता,
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्याय पुरःसराः स्मृताः।

२. पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति ।
घ्राणधूमायनं मंथः क्षवथुस्तालुदारणम् ॥
कंठध्वंसो मुखस्रावः शिरस पूरणं तथा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूप—रूप की अवस्था में उपर्युक्त चिह्न ही अधिक व्यक्त हो जाते हैं।

तीव्रावस्था—पूर्वरूप के बाद की अवस्था में स्रावाधिक्य होने लगता है, नासानाह का थोड़ा थोड़ा अनुभव होने लगता है, आँखों से अश्रुस्राव होने लगता है, तापक्रम बढ़ जाता है, रोगी को सुस्ती की अनुभूति (General malaise) होती है; और शिरःशूल अधिक व्यक्त हो जाता है।

उपशम की अवस्था (Stage of recovery)—नासास्राव अधिक गाढ़ा और चिपचिपा हो जाता है, नासा में अधिक अवरोध का अनुभव होने लगता है। परन्तु कुछ घण्टो से लेकर कुछ दिनों में नासास्रोत खुल जाता है और प्रकृतभाव से श्वसन कार्य स्थापित हो जाता है, धीरे-धीरे स्राव की अवस्था भी बन्द हो जाती है और स्राव भी स्वभाव में आ जाता है।

उपर्युक्त प्रतिश्याय के जो लक्षण या व्यक्तरूप बतलाये गये हैं वे दोष निरपेक्ष हैं। उन्हीं में दोषों की अंशांश कल्पना के द्वारा पाँच प्रकार हो जाते हैं—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज एवं सन्निपातज। रसरत्नसमुच्चय ने एक छठवाँ भेद भी मलसञ्चय जनित बतलाया है। आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार दोष भेद से प्रतिश्याय की चिकित्सा में भी भेद आ जाता है। अस्तु, इनके पृथक्-पृथक् लक्षणों का व्याख्यान किया जा रहा है। पाश्चात्य पद्धति में प्रतिश्याय की भेदकल्पना दोषों की दृष्टि से न हो कर स्थान भेद या अवस्थाभेद के कारण मानी जाती है—इन अवस्था भेदों को प्राचीनों ने स्वतन्त्र रोग ही मान कर चिकित्सा बतलायी हैं उनका विवेचन प्रतिश्याय की अवस्थाविशेषों के वर्णनों के साथ जी जायगी।

वातिक प्रतिश्याय—में मुख शोष, छींको का अधिक आना, नासावरोध, चुभन, दाँत, शङ्खप्रदेश और सिर में पीडा का अनुभव होना, भौहों में मानों कीड़े चल रहे हों (रेंगने) का अनुभव होना, आवाज का भारी होना, जुकाम का देर से पकना (Mucopurulent discharge)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ठण्डा, पतला एवं स्वच्छ कफ निकलना—प्रभृति चिह्न मिलते हैं।[1]

पैत्तिक प्रतिश्याय—पित्त विकृति के कारण जो प्रतिश्याय होता है उसमें रोगी में तृषाधिक्य, ज्वर, नासापिडिका, (Furunculosis), नासाग्र पाक, नासास्रोत उष्ण और रूक्ष (कफ स्राव की कमी से), ताम्र एवं पीत वर्ण (Yellow discharge) का कफस्राव और चक्कर आना ये लक्षण मिलते हैं।[2]

श्लैष्मिक प्रतिश्याय—कफज प्रतिश्याय में कास, अरुचि, श्वास, वमन की प्रवृत्ति, शरीर में भारीपन, मुख में मधुरता, शरीर में खुजली, स्निग्ध श्वेत वर्ण का घना स्राव होता है।[3] आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि श्लैष्मिक प्रतिश्याय में जो स्राव आता है वह श्वेत, ठण्डा और बार बार निकलने वाला होता है। शरीर सफेद, आँखों के पलकों और कपोल में सूजन हो जाती है और सिर तथा मुख भारी मालूम पड़ते हैं। सिर, गला ओष्ठ और तालु में खुजली होती है।[4]

रक्तज प्रतिश्याय—दुष्ट हुए दोष विशेष कर रक्त नासा की शिराओं में व्याप्त हो कर रक्तज प्रतिश्याय उत्पन्न करते हैं। इससे छाती में सुन्नता मालूम पड़ती है, नेत्रों में लाली और श्वास में गन्ध मालूम पड़ती है।

---

१. तत्र वातात्प्रतिश्याये मुखशोषो भृशं क्षवः ।
घ्राणोपरोधनिस्तोददन्तशंखशिरोव्यथाः ॥
कीटका इव सर्पन्ति मन्यते परितो भ्रुवौ ।
स्वरसादश्चिरात्पाकः शिशिराच्छकफस्रुतिः ॥ (वा.)

२. पित्तात्तृष्णाज्वरघ्राणपिटिकासम्भवभ्रमाः ।
नासाग्रपाको रूक्षोष्णस्ताम्रपीतकफस्रुतिः ॥ (वा.)

३. कफात्कासोऽरुचिः श्वासो वमथुर्गात्रगौरवम् ।
माधुर्यं वदने कण्डूः स्निग्धशुक्लघनास्रुतिः । (वा.)

४. कफः कफकृते घ्राणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः
शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद् गुरुशिरोमुखः
शिरोगलौष्ठतालूनां कण्डूयनमतीव च ॥ (सु.)

३ शाला०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कान और नाक में खुजली होती है तथा पित्तप्रतिश्याय के अन्य लक्ष
भी प्रकट होते हैं ।[१]

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रक्तज प्रतिश्याय में नाक से रक्त जा
है, छाती में दर्द मालूम होता है। उरोघात भी मिलता है।[२] ऐसे रो
के श्वास और मुख से दुर्गन्ध आती है एवं गन्धज्ञान नहीं रहता। नार
में सफेद, चिकनी छोटी कृमियाँ पड़ जाती हैं और नाक से गिरती हैं
इस अवस्था में कृमिज शिरोरोग के समान इसके लक्षण मिलते हैं।[३]

सान्निपातिक या त्रिदोषज प्रतिश्याय—सभी दोषों के प्रकोप से
प्रतिश्याय होता है, वह बार बार होता और अकस्मात् (बिना कारण
अच्छा हो जाता है, और पुनः होता है। वह जुखाम कभी पकता औ
कभी नहीं पकता है। इसमें सभी दोषों के चिह्न प्रकट होते हैं। इ
सर्व दोषजन्य प्रतिश्याय में पीनस के भी चिह्न मिलते हैं।[४] इस अ
स्थाविशेष की समता 'वैसोमोटर राइनोरिया' से हो सकती है।

विकृति विज्ञान—(Pathology of Rhinitis) प्रतिश्याय की प्रा
म्भिक तीव्रावस्था में नासास्थित ग्रंथियों की क्रिया बहुत बढ़ जाती
फलतः उपसर्ग की प्रतिक्रिया के रूप में बहुत सा उद्रेचन होने लग

---

१. दुष्टं नासाशिराः प्राप्य प्रतिश्यायं करोत्यसृक् ।
उरसः सुप्तता ताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ।
कण्डूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तञ्चात्र लक्षणम् ॥ (वा.)

२. उरःक्षतं गुरुस्तब्धं पूतिपूर्णकफोरसः । सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीन
(तन्त्रान्तरोक्ति डल्हण से

३. रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्त्तते ।
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ॥
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनस्तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।
कृमिमूर्धविकारेण समानश्चास्य लक्षणम् । (सु.)

४. भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो योऽकस्माद्विनिवर्तते ।
सम्पक्वो वाप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ॥
लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानाञ्च सर्वजे (सु.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। प्रारम्भिक अवस्था में कोषाङ्कुरों (Ciliary) की क्रिया भी बड़ी तेज रहती है। फलतः स्राव बहुत शीघ्रता से नाक से बाहर फेंक दिया जाता है। जितनी ही स्थिति में स्थिरता आती जाती है उस स्तर की श्लैष्मिक-कला का नाश भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; परन्तु कोषाङ्कुरों की क्रिया-शक्ति अधिकाधिक कम होती जाती है क्योंकि स्राव क्रमशः गाढ़ा होता चलता है और उसका बाहर निकलना कठिन हो जाता है। यही अवस्था प्रतिश्याय में नासावरोध की है। साथ ही स्राव का पीलापन तत्तत्स्थानगत नष्ट हुए कोषाणुओं (Cast of cells) के मिल जाने से आ जाता है। प्रतिश्याय या नासाकलाशोथ के उपशम की निश्चिति दो बातों से की जाती है। १. टूटे हुए नासाश्लेष्मलकला की मरम्मत या पुनर्निर्माण हो कर उसकी क्रिया प्रकृत रूप में होने लगे। तथा २. स्वाभाविक कोषाङ्कुर-क्रिया (Ciliary activity) प्रारम्भ हो जाय।

प्रतिश्याय चिकित्सा—प्रतिश्याय की सामान्य चिकित्सा में प्रथम यह विचारणीय होता है कि प्रतिश्याय की अवस्था अपक्व है या पक्व क्योंकि चिकित्सा के उपक्रमों में भेद होता है। अस्तु, इन दोनों विभेदों के लक्षणों का जान लेना आवश्यक है। वृद्ध सुश्रुत का पाठ है कि आम या अपक्व प्रतिश्याय में अरुचि, मुख की विरसता, शूल, अरति (किसी काम में मन का न लगना) सिर में भारीपन और ज्वर होता है। "उसी की पक्वावस्था में-आम लक्षणों की प्रबलता कम हो जाती है। सिर, नासा और मुख में लघुता आ जाती है तथा घने और पीले कफ का स्राव होने लगता है।" संक्षेप में कहना हो तो इसमें प्रथम को नव प्रतिश्याय (Acute Rhinitis) एवं दूसरे को जीर्ण प्रतीश्याय (Sub-acute Rhinitis) कहा जा सकता है।[1]

---

१ अरुचिर्विरसं वक्त्रं नासास्रावो रुजाऽरतिः।
शिरोगुरुत्वं क्षवथुर्ज्वरश्चामस्य लक्षणम्॥
तनुत्वमामलिङ्गानां शिरोनासास्यलाघवम्।
घनपीतकफत्वञ्च पक्वपीनसलक्षणम्॥

(वृद्धसुश्रुत)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. घृत पान—[1]नवप्रतिश्याय या आमावस्था को छोड़ कर प्रायः सं
प्रतिश्याय में कराना चाहिए। इससे शरीर की रोगप्रतिरोधकशक्ति
बढ़ती है।

२. *स्वेदन—नाना प्रकार के स्वेदन। विशेषतः अम्ल द्रव्यों के द्वारा
३. *वमन—वामक ओषधियों के प्रयोग से वमन कराना।
४. *अवपीडन या शिरो विरेचन—तीव्र नस्यों का देना।
५. अहिम अर्थात् उष्ण द्रव्यों का प्रयोग—आहार एवं विहार में उष्ण
द्रव्यों के सेवन का फल यह होता है कि नया प्रतिश्याय जल्दी पक
जाता है[2]—इसके लिए उष्ण जल का पीना, उष्णपेयों का सेवन
(Hot drinks), दूध में सोंठ, अदरक या गुड पका कर सेवन
करना, ग्राम्य एवं आनूप मांस, दधि, मद्य, उड़द, कुल्थी, लवण
कटु, अम्ल तथा कच्चीमूली का सेवन करने से तरुण स्राव घने
बदल जाता है।[3]

जब पक्वावस्था आगई हो कफ घना हो, कर नासा में लंटक
या चिपका रहता हो (Sub acute) तो[4]—

१. नवं प्रतिश्यायमपास्य सर्वमुपाचरेत्सर्पिष एव पानैः।
स्वेदैर्विचित्रैर्वमनैश्च युक्तैः कालोपपन्नैरवपीडनैश्च ॥

२. अपच्यमानस्य हि पाचनार्थं स्वेदो हितोऽम्लैरहिमश्च भोज्यम्।
निषेव्यमाणं पयसार्द्रकं वा सम्पाचयेदिक्षुविकारयोगैः ॥

* आमावस्था में स्वेदन, वमन एवं अवपीडन निषिद्ध है।

३. सोषणं गुडसंयुक्तं स्निग्धदध्यम्लभोजनम्। नवप्रतिश्यायहरं विशेषात्कफपाचनम्
प्रतिश्याये नवे शस्तो यूषश्चिञ्चाच्छदोद्भवः। (भै. र.)

४. पक्वं घनं चाप्यवलम्बमानं शिरोविरेकैरपकर्षयेत्तम्।
विरेचनास्थापनधूमपानैरवेक्ष्य दोषान् कवलग्रहैश्च ॥
निवातशय्यासनचेष्टनानि मूर्ध्नो गुरूष्णं च तथैव वासः।
तीक्ष्णा विरेकाः शिरसः सधूमा रूक्षं यवान्नं विजया च सेव्या ॥
शीताम्बुयोषिच्छिशिरावगाहचिन्तातिरूक्षाशनवेगरोधान्।
शोकञ्च मद्यानि नवानि चैव विवर्जयेत् पीनसरोगजुष्टः ॥ (सु.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

६. शिरोविरेचन के द्वारा उसका अपकर्षण करना चाहिए।
७. रोगी को निवातस्थान में, सोना, बैठना या टहलना चाहिये।
८. सिर पर मोटा और गर्म वस्त्र रख कर ढके रखना चाहिये।
९. रूक्ष अन्न जौ आदि का सेवन करना चाहिए।
१०. हरीतकी से बने पाक जैसे चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी आदि, का सेवन करना चाहिए। इसका उद्देश्य शरीर की संरक्षण शक्ति को दृढ़ करना ही है।

११. शीतल जल का पीना १२. स्त्रीप्रसंग करना १३. शीतल जल में अवगाहन (डुबकी लगाना) १४. अति रूक्ष अशन १५. अधिक चिन्ता करना १६. पुरीषमूत्र प्रभृति अधारणीय वेगों का रोकना १७. शोक करना १८. मद्य का सेवन और १९. नये अन्न का सेवन करना प्रतिश्याय के रोगियों को छोड़ देना चाहिये। क्योंकि इन क्रियाओं से शरीर की रोगनिरोधशक्ति विशेषतः नासा मार्ग एवं श्वसन संस्थान की संरक्षण-शक्ति का ह्रास (Immunity against respiratory infection) हो जाता है—जिससे रोग बढ़ जाता है।

यदि प्रतिश्याय के तीव्र उपसर्ग (Severer form of infection) के साथ ही साथ वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, गुरुता, अरुचि, अरति, अतिसार प्रभृति सार्वदैहिक उपद्रव होने लगें तो रोगी को २०. विरेचन २१. आस्थापन २२. धूम्रपान २३. कवल ग्रह २४. धूम्र प्रयोग (Steam inhalation) २५. लंघन, २६. पाचन और २७. दीपन ओषधियों का प्रयोग करना चाहिए तथा यदि वायु और कफ के तीव्र उपद्रव हों तो काफी मात्रा में द्रव पिला कर वमन करा देना चाहिए तथा अन्य उपद्रवों की तदनुकूल चिकित्सा करनी चाहिये।

विवेचन—ऊपर के चिकित्सा सूत्रों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि प्रतिश्याय की चिकित्सा में दो मूलभूत उद्देश्य दिखलाई पड़ते हैं १. अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis) तथा २. आगत बाधा को दूर करने के उपाय (Curative Measures)। प्रथमवर्ग में–सिर नासा, गले की शीत से रक्षा, उष्ण द्रव्यों का प्रयोग, चिन्ता, क्रोध,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शोक, रूक्षाशन प्रभृति का निषेध तथा पौष्टिक आहार, विहार, घृत-पान, चित्रक हरीतकी, अगस्त्य हरीतकी प्रभृति पौष्टिक द्रव्यों का सेवन। दूसरे वर्ग में स्थानिक पीडा-अवरोध, स्रावादि की सफाई प्रभृति कर्म किये जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन नासाकलाशोथ (Acute Rhinitis) की चिकित्सा के प्रसंग में आधुनिक ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

अनागतबाधा प्रतिषेध (Profilaxis)–बहुत से द्रव्य ऐसे बतलाये गये हैं जिनसे रोगियों की नासा के उपसर्गों से रक्षा होती है। प्रधान-तया जीवतिक्ति चिकित्सा, वैक्सीन चिकित्सा, खटिक ('Calcium) चिकित्सा और "अल्ट्रावायलेट" किरण प्रयोग। इनमें किस विशेष चिकित्सा से सर्वोत्तम लाभ होता है यह अभी तक एक मत होकर वैज्ञा-निक नहीं बता पाये हैं अर्थात् किस विशेष चिकित्साक्रम से हम श्वसन-संस्थान की संरक्षण शक्ति को बढ़ा सकते हैं जिससे उसमें रोग का उपसर्ग न हो सके यह तै नहीं हो पाया है। फिर भी जीवतिक्ति की पर्याप्त मात्रा इस कार्य में अधिक सहायक हो सकती है, ऐसा माना जाता है।

तीव्रप्रतिश्याय प्रतिषेध (Treatment or Acute Rhininitis) प्रारंभ में ही तत्परता से चिकित्सा की गई तो शीघ्र ही ठीक हो जाता है। यदि संभव हो तो रोगी को पूर्ण विश्राम, उष्ण पेय तथा मृदु रेचक देना चाहिए। इस मिश्रण का नासा द्वारा प्रयोग किया जा सकता है (कैम्फर) कर्पूर ½ प्रतिशत, पिपरमेण्ट (मेन्थल) ½ प्रतिशत तथा लिक्विड पैराफीन १ औंस। उपसर्ग के स्थिर हो जाने पर सोम सत्त्व (Epedrine) ½—२ प्रतिशत का लवण विलयन में बनाया घोल नाक में छोड़ा जा सकता है। वाष्प या धूम्र का आध्मापन (Steam inhalation) भी आराम देता है। साथ ही ज्वर तथा शिर-शूल के शमन के लिये (Aspirin, Phenacitin e. t.c.) ओषधियों का प्रयोग करे। साथ में शुल्वावर्ग (Sulphas) अधिकार के योगों का प्रयोग भी हितकर होता है।

दौरे के समाप्त होने पर कारण का ठीक अन्वेषण करके यदि 'एडी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नायडूस' या नासाजवनिका विकृति हो तो ठीक कर लेना चाहिये। कई बार उपसर्ग के तीव्र होने पर क्षारीय जल (Alkaline doushe) देकर नाक की दो तीन बार दिन में सफाई की जाती है तथा 'रजत विलयन' (Argerol) का पाँच से दशप्रतिशत का घोल बनाकर नासा में प्रक्षेप (Drop) किया जाता है।

व्यावहारिक चिकित्सा—सामान्यतया व्यवहार में शृङ्गभंस्म ४ रत्ती की मात्रा में और शुद्ध नरसार १½ माशे की मात्रा में मिलाकर चार मात्रायें करके दिन में चार बार या छः बार तक तीन घंटे के अंतर से गर्म जल से सेवन कराया जाता है। इससे रोगियों को अद्भुत लाभ होता है और यदि प्रारंभ से ही इस चिकित्सा के ऊपर रहा जाय तो प्रायः रोगी तीन दिन में ही अच्छा हो जाता है। यदि शिरःशूल अधिक हो तो दन्तीभस्म को प्रतिमात्रा में ४ रत्ती मिलाकर सेवन करना अथवा ज्वर हो तो संजीवनी वटी या मृत्युंजय वटी का योग करके सेवन करना हितकर होता है। 'यूकेलिप्टिस' के तेल के सूंघने से या सर्षप तैल के नस्य से नासावरोध में आराम मिलता है।

दोष-भेद से प्रतिश्याय की चिकित्सा

वातज प्रतिश्याय में—१. पंचलवणों से सिद्ध तथा २. विदार्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिये। ३. अर्दित रोग में कथित नस्यादि का उपयोग करे। शताह्वादि धूम्रपान-सौंफ दालचीनी, वला, स्योनाक, एरण्डमूल, विल्वत्वक्, अमल्ताश सबको मोम, चर्बी और घी मिलाकर वर्ति बनाकर उसका धूम्रपान करना। ४. घृतयुक्त शक्तुक (सत्तू) को जलाकर उसके धुँवे नाडीद्वारा नाक से पिलाने की क्रिया करनी चाहिये।

पैत्तिक प्रतिश्याय में—१. मधुरादिगण की ओषधियों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिये। २. शीतल परिषेक ३. शीतल प्रदेह रखना चाहिये ४. मधुर विरेचन (laxatives) ५. श्रीवेष्टकादि कल्क–श्रीवेष्टक राल, देवदारु, पतंग, लाल चंदन, प्रियंगु, मधु, शर्करा, मुनक्का, मुलेठी, गिलोय, बनगोभी, गम्भारी का फल इन द्रव्यों का काढ़ा बना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर मुँह में कवल धारण या कुल्ला भर कर फेंकना (Gargle) ६. धवादि
तैल का नस्य, धव की छाल, त्रिफला, त्रिवृत् लोध्र, मुलैठी, गम्भारी
हल्दी समान भाग में लेकर दसगुना दूध लेकर, तिलतैल का विधिवत्
पाक करे—इस तैल के नस्य से पैत्तिक प्रतिश्याय नष्ट होता है।
७. भृङ्गराज स्वरस—पुटपाक की विधि से निकाले स्वरस का नस्य
देना। पैत्तिक प्रतिश्याय की पूरी चिकित्सा रक्तज प्रतिश्याय में भी चलती
है। यदि रक्तज प्रतिश्याय में उपद्रव होकर क्रिमि पड़ गये हों तो क्रिमिज
शिरोरोगोक्त चिकित्सा करनी चाहिये। यदि रक्त प्रतिश्याय में रक्त
बहुत गिरता हो तो भुने हुए सरसों और आँवले को पीस कर सिर पर
लेप करना चाहिए।

क्रिमिघ्न उपाय—लाल आम के स्वरस (रक्ताम्रस्वरस) का तक्र के
साथ नस्य दें और नासिका के मुख पर उसी की पत्ती पीस कर बाँध दें।
इस योग से तीन दिनों के भीतर ही सभी कीट गिर जाते हैं और रोगी
पीनस से मुक्त हो जाता है। यह शतशोनुभूत वैद्यविलास ग्रन्थ का
योग है।[1] अन्य भी क्रिमिघ्न औषधियों का उपयोग किया जा सकता है।
गोमूत्र या गोपित्त में पीसकर क्रिमिघ्न ओषधियों का नस्य भी दिया जाता
है। सिर की सिरा का रक्तमोक्षण, धूम्रप्रयोग प्रभृति क्रियाओं को काम
में लाना चाहिये। या क्रिमिघ्न औषधियों के कषाय से नासिका प्रक्षालन
करना चाहिये।[2] 'फेनाक्स ड्राप' भी इस अवस्था में उत्तम कार्य करता है।

कफज—प्रतिश्याय में—१ तिल और माष से स्निग्ध घृत का पान
कराके पश्चात यवागू मिला कर वमन करावे तथा २. अन्य कफघ्न उपायों
को वरतना चाहिये ३. लङ्घन कर कफ को सुखावे ४. पीले सर्षप के

१. रक्ताम्रस्वरसः शुद्धस्तक्रेण सह नस्यतः।
तस्य पर्णानि पिष्ट्वा च बध्नीयाद् नासिकामुखे।
पतन्ति कीटकाः सद्यो योगोऽयं त्रिदिनैर्हितः।
पीनसान्मुच्यते रोगी शतशोऽनुमतं त्विदम् ॥ (वै. वि.)

२. समूत्रपित्ताश्चोपदिष्टाः क्रियाः क्रिमिषु योजयेत्।
यापनार्थं क्रिमिघ्नानि भेषजानि च बुद्धिमान् ॥ (सु. ३.२४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पीस कर लेप ५. सैन्धवादिनस्य का प्रयोग ६. बलादितैल-बला, अतिबला, छोटी और बड़ी भटकटैया, वायविडङ्ग, गोखरू, श्वेतविष्णुकान्ता, मुद्गपर्णी, रास्ना, पुनर्नवा इन द्रव्यों से सिद्ध तैल का नस्य कफज प्रतिश्याय में हितकर है। ७. त्रिवृतादि धूम्रपान—निशोथ, अपामार्ग, दन्ती, देवदारु और इङ्गुदी पीस कर वर्ति (बीडी) बना कर उसका धूम्रपान करना। ८. अगुरु धूम्र नस्य अगर, कूट, कलौंजी सिरके में भिगो कर आग में जलावें नाडीमार्ग से नाक के द्वारा उसका धुवाँ ग्रहण करने से श्लैष्मिक प्रतिश्याय में लाभ होता है। इसी प्रकार दार्व्यादि धूम्र पान का प्रयोग करें।[1]

त्रिदोषज—प्रतिश्याय में बहुत तत्परता से चिकित्सा करनी चाहिये अन्यथा इसके उपद्रव रूप में श्वसनसंस्थान के रोगों के होने का भय रहता है। अतएव इसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

१. कटु एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का आभ्यन्तर प्रयोग २. तीक्ष्ण धूम ३. कटु रस की ओषधियों को देना चाहिये। *रसाञ्जनतैल नस्य*—रसौंत, अतीस, नागर मोथा, देवदारु, नागर मोथा—समान मात्रा में लेकर चतुर्गुण तैल में सिद्ध कर ले और नस्यार्थ प्रयोग करे।

मुस्तादि कवल—नागर मोथा, तेजबल, पाठा, कायफर, कुटकी, वच, सरसों, पिप्पली, पिप्पली मूल, छोटी पिप्पली, सेंधानमक, अजमोदा, शुद्ध तूतिया, करञ्जबीज, देवदारु और सांभर नमक मिलाकर काढ़ा बनावे और इस काढ़े का मुँह में कुल्ला भरे (कवलधारण)। अथवा इन्हीं ओषधियों के कल्क से सिद्ध तैल से शिरोविरेचन करे। तिक्तद्रव्यों में परवल, त्रायमाण, चिरायता, निम्ब, कुटकी, करञ्ज, कुटज, नागर मोथा, अडूसा, गिलोय, जवासा, इन्द्रायण, अतीस, कंटकारी, वच, बृहत्पञ्चमूल मूर्वा प्रभृति ओषधियाँ हैं इनके योग से बने क्वाथ से कवल धारण करावे—अथवा इनसे सिद्ध घृत या तैल नस्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग करावे या इन्हीं द्रव्यों से वर्ति बना कर धूम्रपान करावे।

---

१. दार्वीङ्गुदनिकुम्भैश्च किणीह्वा सुरसेन (तरलेन) च ।
वर्तयोऽथ पृथग् योज्या धूम्रपाने यथाविधि ॥ (वृ. मा.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुरंग घृत या जाङ्गलमांस, घृत या तैल—जाङ्गल मृग-हिरण-कु प्रभृति पशुओं का और पक्षियों में तीतर बटेर आदि जाङ्गल पक्षियों मांस लेकर उसमें आठगुना दूध और दूध का आधा जल ले पकावे। कल्क के रूप में जल में पैदा होने वाले कमल, नीलोत प्रभृति वनस्पतियों तथा अन्य वातघ्न ओषधियों को डाल देना चाहि जब पाक करते हुए दूध शेष रह जाय अर्थात पानी का भाग जाय तो उतार कर ठण्डा कर ले और यत्न पूर्वक उसका मंथन कर घृत को निकाल ले। फिर इस घृत में सर्व गन्ध (एलादि गण दवायें), उत्पल, शर्करा, सारिवा, चन्दन, रक्त चन्दन और मुलेठी कल्क डालकर दसगुना दूध छोड़ के पाक कर ले। इस घृत का नस के द्वारा प्रयोग करने से दुष्ट प्रतिश्याय तथा अन्य बढ़े हुए प्रतिश्या में उत्तम लाभ होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त ओषधियों के योग तिल तैल भी सिद्ध किया जा सकता है।

प्रतिश्याय के विपरिणाम या उपद्रव—(Complications) य प्रतिश्याय की उपेक्षा की जाय, अर्थात् उसकी ठीक प्रकार से चिकित न हो पाये, या रोगी आहार विहार एवं आचार का मिथ्या आचर करता रहे, तो वही प्रतिश्याय रोग जनक हो कर; दुष्ट प्रतिश्या (Chronic rhinitis), अपीनस (Atrophic rhinitis), पू नस्य (Ozaena) तथा पूयरक्त (Ulcerative chronic Rhinitis प्रभृति विविध नासा रोगों को, आस पास की रचनाओं को विकृ करके पैदा करता है।

इसी उपसर्ग का सीधा प्रसार होकर प्रायः वायु विवरशोथ (Sin sitis) हो जाता है। नाक की बारंबार जोर-जोर से सफाई क समय श्रुति सुरंगा से उपसर्ग पहुँच कर मध्य कर्ण शोथ या वाधि पैदा हो सकता है। प्रतिश्याय के उपसर्ग का नीचे की ओर प्रस होने से स्वरयन्त्र शोथ, श्वासनलिका शोथ (कास, श्वास) एवं फुप्फु शोथ (Pnemonia) प्रभृति रोग पैदा होते हैं।

यही नहीं वधिरता, अन्धता, भयङ्कर नेत्ररोग, गन्धग्रहण की श

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नष्ट होना तथा अन्य सार्वदैहिक उपद्रव जैसे कास, अग्निमांद्य, शोफ, मस्तिष्क दौर्बल्य प्रभृति उपद्रव भी पीनस के कारण हो सकते हैं।

संक्षेप में प्रतिश्याय की सम्यक् चिकित्सा न हो रोग बढ़ता चले आगे चलकर उसके परिणाम स्वरूप पीनस, वधिरता (कान का बहरापन), दृष्टिनाश तथा घ्राणनाश आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।[1]

—०○○—

८

दीप्ति या दीप्तरोग

(Severe burning Irritation In A. Rhinitis)

जिस नासिका रोग में जलने के समान तीव्र दाह हो और नाक से धुएँ के समान वायु निकले तथा नाक जलती हुई प्रतीत हो उस रोग को नासा के प्रदीप्त होने से दीप्त रोग कहते हैं।[2] (सु.)

नासा जिसमें जलती हुई मालूम हो उस रोग को दीप्त कहते हैं।[3] (च)

नासाश्रित रक्त में विदाह होने के कारण नाक में जलन होती है और भीतर या बाहर से नाक स्पर्शासह हो जाती है—नाक से जो

१. सर्वं एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
कालेन रोगजननाः जायन्ते दुष्टपीनसाः।
बाधिर्यमांध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान्।
कासाग्निसादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः॥ (सु. ३. २४)

२. घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति।

३. नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साँस बाहर की ओर छोड़ी जाती है वह धुएँ के समान मालूम प
है उस रोग को भी दीप्त रोग कहते हैं। (वा.)[1]

नाक में धूमायन, कर्षण और जलन होती है। तथा उच्छ्वासके
समय आँखों के सामने अँधेरा मालूम होता है उसे दीप्त रोग क
हैं (विदेह)।[2]

प्रविचार—यह आयुर्वेद के अनुसार एक स्वतन्त्र रोग है। इस
मिलते जुलते लक्षण पैत्तिक प्रतिश्याय में पाये जाते हैं। इस रोग
पित्तदोष की ही प्रबलता रहती है। पाश्चात्य वर्णनों की दृष्टि से विच
किया जावे तो इसको तीव्र प्रतिश्याय (Acute Rhinitis) में प
जाने वाला एक प्रमुख लक्षण कहा जा सकता है। इस प्रकार का जल
का अनुभव नासाकला शोथ में रक्ताधिक्य होने का कारण होता
लिखा भी है:—

'A degree of burning irritation is a common acco
paniment to acute coryza and it may be severe.'

(I. Simson Ha

चिकित्सा—पैत्तिक प्रतिश्याय की चिकित्सा करनी चाहिये। १. बा
एवं आभ्यन्तर[3] पित्तनाशक उपचार तथा २. स्वादु (मधुर) औ
३. शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ४. सिर में अल्प स्वेद
करना ५. निम्बपत्र स्वरस में रसाञ्जन (रसौंत) घोलकर नस्य दे
६. नस्य करने के बाद क्षीर और जल का तरेरा (Doush) देना च
७. खाने के लिये मुद्गयूष देना चाहिये।[4]

१. रक्तेन नासादग्धेन बाह्यान्तःस्पर्शनासहा।
भवेद्धूमोपमोच्छ्वासा दीप्तिर्दहतीव च।

२. धूमायते यदा नासा चलत्कृष्यति दीप्यते।
निश्चरेत्तम उच्छ्वासं तं व्याधिं दीप्तमादिशेत्।

३. दीप्ते रोगे पैत्तिकं संविधानं कुर्यात्सर्वं स्वादु यच्छीतलञ्च। (सु.)

४. नस्यं हितं निम्बरसाञ्जनाभ्यां दीप्ते शिरःस्वेदनमल्पशस्तु।
नस्ये कृते क्षीरजलावसेकान् शंसन्ति भुञ्जीत च मुद्गयूषैः॥ (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण नासाकला शोथ (Chronic Rhinitis or Hypertrophic Rhinitis)—नव प्रतिश्याय के बार-बार दौरे होते रहने से यह अवस्था आ जाती है। प्रायः प्रतिश्याय होने पर नासाकला में शोफ हो जाता है और अच्छा होने पर उसका उपशम हो जाता है। परन्तु यदि किसी कारण से प्रतिश्याय में नासाकलाशोथ का शमन नहीं हुआ तो जीर्ण शोथ की अवस्था उपस्थित हो जाती है। नासाकला तथा शुक्तिका मोटी हो जाती है जिससे नासास्रोत में अवरोध हो जाता है।

नासाश्लेष्मलकला में अल्प परिवर्त्तन से बड़े परिवर्त्तन तक हो सकते हैं—जिसमें कला मोटी हो जाती है; इस अवस्था को (Hypertrophic Rhinitis) या दुष्ट प्रतिश्याय या जीर्ण प्रतिश्याय कहते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने इसका लक्षण निर्देश करते हुए कहा है—'कभी नासा में क्लेदाधिक्य और कभी नासास्राव का सूखना चलता रहता है। कभी नाक सूख जाती और कभी गीली होकर बहने लगती है। कभी नाक सट जाती है जिससे नासानाह हो जाता है और कभी बहुत खुल जाती है। (रोग के अधिक बढ़ जाने पर पश्चाद् काल में) निश्वास और उच्छ्वास में (सांस के साथ) बदबू आती है और रोगी को गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार की अवस्था दुष्ट प्रतिश्याय में होती है और चिकित्सा में कृच्छ्र साध्य होता है।' वाग्भट ने लिखा है कि इस अवस्था में स्राव, मवाद के समान, गाढ़ा, गाँठदार, लाल वर्ण का आता है और कृमियाँ भी गिरती हैं।[1]

Hyper Trophied Appearances—When the condition

---

१. प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ।
मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ।
निःश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेत्ति च ।
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात्कृच्छ्रसाधनम् । (सु. उ. २४)
अथवा—पूयोपमा सिता रक्तग्रथिता श्लेष्मसंस्रुतिः (वा.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

becomes more firmly established all the elements of
mucous membrane is involved. The ciliated epithe
is replaced by stratified or cuboidal epithelium. Th
is an increase in fibrous tissues aud an infiltration o
round cells and plasma Cells The gland elements
also hypertrophied. In very abvanced cases the
shares in the change and periosteum in thicken
'mulberried' (शहतूत के आकार की मुटाई) condition.

अतिवृद्धि का स्वरूप—जब विकार स्थिर हो जाता है तब श्ले
कला के सभी तत्त्व प्रभावित हो जाते हैं। कोषाङ्कुर युक्त अपि
स्तंभाकार या घनाकार अपिस्तर में परिणत हो जाता है। फिर
धातुओं की वृद्धि होती है एवं उनसें गोल कोषाणुओं तथा रस कोषा
का भरण हो जाता है। श्लेष्मल कलागत ग्रंथिमय रचना की भी
वृद्धि होती है। रोग की बढ़ी हुई अवस्थामें अस्थिमय भाग में परि
दिखलाई पड़ता है। अस्थ्यावृति मोटी होकर शहतूत की तरह हो
है। इस अवस्था को शहतूत की मुटाई की अवस्था कहते हैं।

लक्षण—

नासानाह या नासावरोध—पर्याय क्रम से कभी होना और कभी
होना, चिपकने वाला गाढ़ा नासास्राव, नासाकला की वृद्धि, शुक्ति
की घनता, शिरोगौरव एवं शिरःशूल, मुख के द्वारा साँस लेना,
बजना (Snoring) अनुनासिक स्वर (Nasal Voice) प्रभृति ल
उत्पन्न हो जाते हैं।

चिकित्सा—प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उस चिकित्साक्रम
रखना चाहिये जिस क्रम का व्यवहार त्रिदोषज प्रतिश्याय में होता
उसी प्रकार नस्य, कवलग्रह, नासातैल (Nasal drops), शिरोविरे
और धूम्रपान आदि करना चाहिये।

आधुनिक ग्रंथों के आधार पर प्रारम्भिक सभी उपचार नव प्र
श्यायवत् (Nasal drop, Nasalspray, Alkaline doush, G

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

ral treatment) ही किया जाता है। रोगी की बढ़ी हुई अवस्था में व इन उपक्रमों से लाभ नहीं होता तो शस्त्रक्रिया, दाहकर्म (Electro cautery, diathermy) अथवा सूचिकावेध (of sclerosing solutions) के द्वारा शुक्तिका की घनता दूर कर अवरोध को ठीक किया जाता है।

१

पीनस या अपीनस और पूतिनस्य तथा नासाशोष

(Atrophic Rhinitis or Ozæna & Rhinitis sicca)

व्याख्या—नासारोगो में पीनस एक प्रधान रोग है। यह स्वतन्त्र रूप से भी हो सकता है और प्रतिश्याय के परिणामस्वरूप भी हो जाता है। प्राचीन ग्रंथों में पीनस और प्रतिश्याय का पर्यायरूप में या समान अर्थ में भी व्यवहार पाया जाता है। सम्भव है प्रतिश्याय की एक अवस्थाविशेष होने से ऐसा कथन हुआ हो। कई आचार्य पीनस और अपीनस को पृथक्-पृथक् दो स्वतंत्र रोग मानते हैं—पीनस रोग को प्रतिश्याय की परिणतावस्था मानकर एक विकार और अपीनस को पीनसाभाव मानकर प्रतिश्याय के समान ही लक्षण वाला दूसरा विकार मानते हैं। फिर भी इन दोनों अवस्थाओं का स्पष्ट विभेद शास्त्रों में वर्णित नहीं मिलता। अस्तु, दोनों (पीनस और अपीनस) एक ही रोग है 'अवाप्योस्तं सन्नद्धादिषु वेति' सूत्र से विकल्प करके 'अ'कार का लोप हो जाता है अतएव पीनस या अपीनस एक ही रोग है ऐसा भावप्रकाश का मत है। आचार्य वाग्भट ने इस झगड़े को निपटाने का एक दूसरा ही तरीका अपनाया है। उन्होंने पीनस और अपीनस इस प्रकार के दो रोगों को माना है। अपीनस के स्थान पर स्वनिर्मित शब्द 'अवीनस' रखा है जिसका अर्थ होता है अवि—(भेड़) की नासा के समान कफ से भरी नासा की अवस्था। इनका एक तीसरा ही स्पष्टी-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करण का मार्ग है। अवीनस की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'नाक
कफ बढ़कर नासास्रोत को रोक देता है और अवीनस नाम का रोग
करता है। श्वास में घुर-घुर शब्द सुनाई देता है। पीनस की अ
इसमें वेदना अधिक होती है। भेड़ की नाक के समान उसमें से
होता रहता है जिससे नासा हमेशा क्लिन्न रहती है एवं नाक से अज
(अनवरत) पिच्छिल, शीत, पका हुआ[1] और घना (Mucopurul
discharge) स्राव होता रहता है। आचार्य सुश्रुत ने अपीनस
लक्षणों का वर्णन नीचे लिखे की भाँति किया है। इन्हीं का स
प्रामाणिक भी माना जाता है--"अपीनस एक वात और कफ के वि
से होने वाला रोग है जिसमें प्रायः प्रतिश्याय के समान ही चिह्न मि
हैं; परन्तु विशेषता इस बात की रहती है कि इसमें नासानाह, नासा
धूम जैसे निकलना, पूयोत्पत्ति होना, नासा का सदैव क्लिन्न रहना प्र
चिह्न प्रधानता से मिलते हैं और रोगी को गंधज्ञान और रसज्ञान न
हो पाता। रोगी को सुगंध या दुर्गंध का ज्ञान नहीं हो पाता।"[2]

आचार्य कार्तिक ने लिखा है--मस्तिष्कस्थित श्लेष्मा जब पित्त
विदग्ध हो जाता है तब रक्तमिश्रित नाक का पिच्छल कफ अधिकता
निकलता है उससे नाक में खुजली, जलन, पाक होता है--उस रो
को अपीनस कहा जाता है।"[3]

१. कफः प्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वा स्रोतांस्यपीनसम्।
कुर्यात्सघुर्घुरं श्वासं पीनसाधिकवेदनम्॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका।
अजस्रं पिच्छिलं शीतं पक्वं सिंघाणकं घनम्॥ (वा.)

२. आनह्यते यस्य विधूप्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव नासा।
न वेत्ति यो गंधरसांश्च जन्तुं जुष्टं व्यवस्येत् तमपीनसेन
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारम् ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम्। (सु०)

३. मस्तुलिङ्गोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते
तदा सृक्पिच्छिलं नासा बहु सिंहाणकं स्रवेत्
सकण्डु दाहपाके च तं विद्यादपीनसम्। (कार्त्तिक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

पीनस के अवस्थाभेद—चिकित्सा में भेद करने की दृष्टि से प्रतिश्याय की भाँति ही पक्व और अपक्व द्विविध पीनस का ज्ञान कर लेना आवश्यक होता है।

अपक्वपीनस—में शिरोगुरुता, नासास्राव, अरुचि, स्वर का मंद पड़ना, रोगी को दुर्बलता का अनुभव होना तथा बार बार थूकना यह लक्षण होता है।[1]

पक्वपीनस—में श्लेष्मा गाढ़ा होकर नासास्रोतसों में भरा रहता है। रोगी के स्वर और वर्ण की विशुद्धि हो जाती है अर्थात् स्वर साफ हो जाता है।[2]

समन्वयात्मक विवेचन—यदि उपर्युक्त लक्षणों का विवेचन किया जाय तो इस रोग में चार विशेष लक्षणों का वर्णन पाया जाता है—१. नासा-दाह २. विशोषण या विधूपन (कफ सूखकर खुरण्ड जैसे बन जाने से) ३. प्रक्लेद (नासा में गाढ़े स्राव का भरा रहना) ४. गंधज्ञान और रसज्ञान का अभाव। इन लक्षणों में गंधज्ञान की विकृति कई कारणों से उत्पन्न हो सकती है १. नासागत श्लेष्मलकला का जीर्ण शोथ (दोष संचय) २. नासास्रोत का गाढ़े कफ से भरे रहने या अन्य कारणों से अवरोध होने से ३. गंधग्राही मस्तिष्क केन्द्र की विकृति से ४. वायुविकारों के विकार से ५. गंधग्राहिनी वातिक नाड़ियों के अपचय से शुक्तिका के अपचय प्रभृति कारणों से गंधज्ञान की अक्षमता, मिथ्यात्व विचित्र गंधत्व इस रोग में आ सकता है। इस दृष्टि से इस पीनस नामक रोग में अनेक विकारों का समावेश हो सकता है तथापि सबसे अधिक साम्य इस रोग का 'एट्रोफिक राइनाइटिस' नामक पाश्चात्य शालाक्य में पठित व्याधि से है। उसमें करीब-करीब यही लक्षण मिलते हैं (जैसे Dryness of the nose, Headache, Obstruc-

---

१. शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुस्वरः ।
क्षामः ष्ठीवति चाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥

२. आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ction, Formation of Crust, Nasal secretion are expelled owing to the destruction of cilia and due lack of moisture.)

इस रोग में एक विशेष लक्षण और पाया जाता है जिसको अंग्रे में 'ओज़ीना कहते हैं। जिसका अर्थ मुख और नासा से दुर्गंध होता है। कभी-कभी तो यह इतना प्रबल हो उठता है कि रोगी किसी समाज में बैठना कठिन हो जाता है और वह समाज से प्रता होता रहता है। प्राचीन ग्रंथों में इसी अवस्थाविशेष का वर्णन पूति या पूतिनस्य शब्द से किया गया है और इसे एक स्वतंत्र नासा माना गया है। ऐसी अवस्था नासा के फिरंगोपसर्ग में भी मिलती

पूतिनास—(Ozaena) 'विदग्ध हुए दोषों से गले और तालु मूल में वायु मूर्च्छित होकर (सम्मिश्रण के बाद) मुख और नासि के द्वारा बाहर आकर दुर्गंध के साथ निकलता है। अस्तु, इस व्य को पूतिनास या पूतिनस्य कहते हैं।'[1]

विदेह ने जो वर्णन किया है वह बिल्कुल 'एट्रोफिक राइनाइटिस मिलता-जुलता है 'कफ, पित्त और रक्त मनुष्य की मूर्धा (सिर) संचित होकर उष्णता से विदग्ध हो जाते हैं और स्राव को गाढ़ा कर हैं। पुनः आँख और शंखदेश में पीड़ा (Pain behind the e or headache) पैदा करते हैं और नाक से पीत वर्ण का दुर्गंध (Mucopurulent) रक्तमिश्रित स्राव होने लगता है जिससे श्वास बदबू आती है। अस्तु, रोग को पूतिनस्य कहा जाता है। इससे में खुजली होती है और रोगी को थोड़ा ज्वर रहता है।'[2]

१. दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूलात्सम्मूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम्॥ (सु

२. कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम्।
विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाक्षिशंखजाम्॥
तेन प्रस्यन्दते घ्राणात्सरक्तं पूतिपीतकम्।
पूतिनस्यं तु तं विद्याद्घ्राणकण्डुज्वरप्रदम्॥ (विदेह)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नासाशोष—'एट्रोफिक राइनाइटिस' में ही एक अवस्था ऐसी आती है जिसमें नाक की श्लेष्मलकला सूखी रहती है और नाक का स्राव सूख जाता है जिससे रोगी को साँस लेने में कष्ट होता है एवं नासावरोध का अनुभव होता है। इस प्रकार का नासाशोष कई कारणों से हो सकता है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'राइनाइटिस सिक्का' (Rhinitis sicca) कहते हैं। यह एक प्रकार की नासागत अलसक की अवस्था है, जिससे नासा में अनाह होता है और नाक से स्राव नहीं होता तथा नासागुहा सूखी रहती है।[1] सुश्रुत में नासापरिशोष या नासाशोष का वर्णन निम्न लिखित प्रकार से किया गया है :—

'जिस रोग में वायु की रूक्षता तथा पित्त की उष्णता के कारण घ्राणाश्रित श्लेष्मा के भली प्रकार सूख जाने से मनुष्य बड़ी कठिनाई से श्वास-प्रश्वास लेता है, वह रोग नासापरिशोष कहा जाता है।'

नासापरिशोष के वर्णनों में थोड़ा पाठभेद मिलता है। सर्वप्रथम तो आश्रय के सम्बन्ध में घ्राणस्रोत में विकार होता है ऐसा वर्णन मिलता है—इस स्थान पर घ्राणाश्रित श्लेष्मा का ही सूखना ठीक मालूम होता है। दूसरा पाठभेद रोगोत्पादक दोषभेद में है एकने (सुश्रुत ने) केवल वायु को शोषक माना है। दूसरे ने उष्मा की विद्यमानता में वायु एवं पित्त दोनों के संसर्ग से नासाशोष की उत्पत्ति मानी है जो अधिक युक्तियुक्त प्रतिभासित होती है। भावप्रकाश ने दोनों मतों का समन्वय करते हुए सर्वोत्तम वर्णन किया है जिसका उल्लेख व्याख्या में ऊपर किया जा चुका है। टिप्पणी में तुलना के लिये दोनों पाठ जैसे के वैसे रख दिये गये हैं।

भावप्रकाश का पाठ समुचित मालूम पड़ता है; क्योंकि आचार्य विदेहने[2] भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि अपने सूत्रों में की है। 'जब घ्राणा-

---

१. घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।
समुच्छ्वसत्यूर्ध्वमधश्च कृच्छ्राद्यस्तस्य नासापरिशोष उक्तः॥ (भा० प्र०)
घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन्स नासापरिशोष उक्तः॥ (सु०)

२. वातपित्तौ यदा घ्राणं कफरक्तं विशोषयेत्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रित वात और पित्त कफ और रक्त को सुखा देते हैं, तब रोगी कठि-
से ऊपर की ओर साँस खींच पाता है अथवा नाक के द्वारा श्वास
प्रश्वास कर सकता है। उसकी नाक पूरी तौर से सूखी रहती है
सूखे चूर्ण (Crust) अवचूर्णन बनता है और निकलता रहता
यह रोग नासाशोष कहा जाता है।"

नासापरिशोष शब्द से ही नासा का सूखना ज्ञात होता
चरकाचार्य ने लिखा है कि इसमें शृङ्गाटक मर्म (घ्राण, श्रोत्र,
और जिह्वा का सिरा सन्निपात) नासागुहा दोनों ही सूख जाते
वाग्भट ने लिखा है कि इस रोग में ऐसा मालूम होता है मानों नाक
भीतर जौ के शूक भरे हों।[2]

नासा पुटक (Obstructive crust)—आचार्य वाग्भट ने
अवस्था या रोग का वर्णन किया है। इसमें 'पित्त और श्लेष्मा के
जब वायु नासिका के भीतर रोक लिया जाता है तब अवरुद्ध हुआ
वायु भीतर ही भीतर कफ और उसके श्लक्ष्ण अंश को सुखा देता
इस प्रकार सूखने से कफ की परत या पपड़ी पड़ जाती है। इस
को नासापुटक कहते हैं'[3]। चरक, सुश्रुत, माधवनिदान और भावप्रक
में इस रोग का वर्णन नहीं पाया जाता है क्योंकि इस अवस्था
समावेश नासाशोष या अन्य प्रतिश्यायभेदों में मिल जाता है।

अंग्रेजी ग्रन्थों में भी इस प्रकार के स्वतन्त्र रोग का उल्लेख न
मिलता, फिर भी 'एट्रोफिक राइनाटिस' नामक व्याधि का एक अन्य

तदास्यादुच्छ्वसेन्नासातस्य शुष्कं विधीयते ।
भृशं शुष्कावचूर्णेन नासाशोषं तु तं विदुः ॥ (विदेह)

१. क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासा शृंगाटकघ्राणविशोषणञ्च । (च०)

२. शोषयेन्नासिकास्रोतः कफञ्च कुरुतेऽनिलः । शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादु
वसनं ततः । स्मृतोऽसौ नासिकाशोषः । (वा०)

३. पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽन्तर्नासायां शोषयेन्मरुत् ।
कफं स शुष्कपुटतां प्राप्नोति पुटकन्तु तत् ॥ (वा०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिह्न माना गया है। अस्तु, इसी पाठ में उसका वर्णन भी प्रासंगिक समझा गया है।

पीनस में वैकृतिकी (Pathology of Atrophic Rhinitis)—नासाश्लेष्मलकला का ह्रास या शोष (Atrophy) होता चलता है। कोषांकुर (Ciliated) युक्त प्रदेशों में उनके स्थान पर घनाकार या स्तम्भाकार (Cuboidal or Startified Epithelium) अपिस्तर, परिवर्तित होकर बन जाता है। सौत्रिक तन्तु बढ़ जाते हैं। गोल और रसकोषाणुओं (Round & Plasma cell) का भरण हो जाता है।

ग्रन्थियाँ छोटी हो जाती हैं, रक्तवाहिनियाँ सँकरी हो जाती हैं या बिल्कुल छिद्रहीन हो जाती हैं। बढ़ी हुई अवस्था में शुक्तिका तथा शुक्तिकाधार अस्थि में भी परिवर्तन होने लगता है। इसी प्रकार नासाकोटरों (Sinuses) में भी समान परिवर्त्तन होने लगते हैं। यद्यपि ये परिवर्तन प्रायः अज्ञात रह जाते हैं; क्योंकि नासागत रुद्ध स्राव कोटरों की सीमा में उपसर्गजन्य परिवर्त्तन पैदा कर देते हैं।

कई बार रुद्ध हुआ स्राव नासास्राव में सूखकर बहुत भारी अवरोध पैदा करने वाला खुरण्ड–जिसे पुटक कहते हैं। (Heavy obstructive Crusting) उत्पन्न करता है। इसमें बदबू (Ozaena) भी रहती है।

कारण—यह 'एट्रोफी आफ दी म्युकसमेम्ब्रेन' जो पीनस में पाई जाती है कई कारणों से हो सकती है। यह अवस्था छोटे तथा बड़े सभी में हो सकती है।

१. ऐसी परिस्थिति, जिसमें नासाश्लेष्मलकला को सूखा रहना पड़ता हो, यदि यह अवस्था काफी अर्से तक रही तो पीनस का रूप ले लेती है। इस दृष्टि से इसका उद्भव व्यवसायजन्य हो सकता है। २. कई बार नासा के शस्त्रकर्म के पश्चात् (जहाँ पर मार्ग अधिक विस्तृत हो गया हो) होता है। ३. कुछ लोग प्रारम्भिक तीव्र प्रतिश्यायजन्य मानते हैं। ४. चिर कालीन नासागत, नासाकोटरगत पूयोत्पत्ति (Suppuration) या ५. नासाकोटरगत उपसर्गों के निदान और चिकित्सा (उपेक्षा) के अभाव में भी पीनस हो जाता है। ६. स्रोतो-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हीन ग्रन्थियों के उद्रेचन का अभाव। ७. पोषण तत्त्वों या जीवति द्रव्यों के अभाव में। या ८. फिरंगज नासा उपसर्ग में भी यह वि होता है।

पीनस की आधुनिक चिकित्सा—कारणों के अनुसार चिकित्सा भेद होता है। नासागुहागत स्थानिक रोग की या रोग के इति का शोध करना चाहिये। रोगी का व्यवसाय का कारण हो रोगोत्पादन में भाग लेनेवाला जान पड़े तो उसका परिहार क चाहिये।

नासा की स्थानिक सफाई (By means of doushing & Spraying)—क्षारीय विलयनों से पुटक के अवरोध को दूर क चाहिये। तैलीय योगों के पूरण से पुनः नासा पुटक न बनें, ऐ प्रयास करना चाहिये। नासाशोष (dryness) को दूर करने लिये स्निग्ध द्रव्यों (Ictheol glycerine) की वर्ति नाक में भ भी उत्तम है।

इस्ट्रीन चिकित्सा—निःस्यंद विशेष की चिकित्सा भी इस अव में लाभप्रद होती है। एक लाभदायक योग ५ मिलीग्राम 'सिन्थे इस्ट्रोजेन' का एक सी-सी तेल में घोल बनाकर नासा में छोड़ना इस घोल का प्रयोग एक सप्ताह तक प्रतिदिन, पश्चात् एक दिन अंतर देकर, तत्पश्चात् सप्ताह में दो बार या एक बार करते हैं। फिरङ्गोपसर्ग का निश्चय हो तो तदनुकूल फिरंग निरोधी चिकि (Anti Syphilitic treatment) चिकित्सा करनी चाहिये।

प्रतिषेधक उपक्रमों का विश्लेषण

इन चिकित्साओं के उद्देश्य—१. श्लेष्मलकला को आर्द्र क २. प्रकृतावस्था में लाना, ३. प्राकृतिक स्राव से आच्छादित रहने ४. नासापुटक न बनने देना ५. बदबू को नष्ट करना ६. गंधज्ञान प्र घ्राणेन्द्रिय क्रियाओं को जागृत करना ही होता है। अस्तु, जब हो जाय तो रोगी को रोगमुक्त समझना चाहिये।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आयुर्वेद में इन्हीं उपक्रमों का विस्तार से वर्णन है जिनका एक एक करके वर्णन करना प्रस्तुत पाठ का ध्येय है :—

अपीनस चिकित्सा—१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. छर्दन (वमन), ४. स्रंसन (विरेचन), ५. अल्प लघु भोजन, ६. उष्णजल का सेवन, ७. काल में धूमपान, ८. अवपीडन, ९. नस्य का प्रयोग करना चाहिये।[1]

अवपीडन—१. हिंगु, त्रिकटु, इन्द्रजव, श्वेत पुनर्नवा (शेफालिका), लाक्षा, तुलसी के बीज, कायफर, वच, कूठ, सहिजन इन ओषधियों का महीन चूर्ण बनाकर श्रेष्ठ अवपीडन नस्य होता है।

कलिङ्गाद्यवपीड—कलिङ्ग हिंगु, मरिच, लाक्षा स्वरस, कायफर, कूठ, वच, सहिजन और विडङ्ग का अवपीडन भी प्रशस्त है।

धूम-मधूच्छिष्टधूम—मोम और गुग्गुल को मिलाकर उसको आग में जला कर धूम का नासा से प्रयोग हितकर होता है।

शताह्वादिधूम—सौंफ, दालचीनी, बलामूल, श्योनाक, एरण्डमूल, बेल की छाल, अमलताश का गूदा, वसा, घी और मोम मिलाकर धुवाँ लेना चाहिए।

नस्य—१. खुरासानी अजवायन, अग्निमन्थ, वच, जीरा और कलौंजी की पोटली बनाकर उसको तवे पर गरम कर सूंघे।

२. पाठादि तैल-पाठा, हल्दी, दारुहल्दी, पिप्पली, मूर्वा, चमेली के पत्ते से तैलपाक विधि से बनाया तैल का नस्य पीनस को नष्ट करता है।

शिग्रुतैल—शिग्रु (सहिजन) का बीज, भटकटैया के बीज और जमालगोटे के बीज, त्रिकटु, बेल के पत्ते समान भाग में लेकर कल्क से चतुर्गुण तैल डालकर सिद्ध कर पीनस में नस्य के लिये प्रयोग करना चाहिये।

१. पूर्वोद्दिष्टे पूतिनस्ये च जन्तोः स्नेहस्वेदौ छर्दनं स्रंसनञ्च।
युक्तं भक्तं तीक्ष्णमल्पं लघु स्यादुष्णं तोयं धूमपानञ्च काले॥ (सु०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आभ्यंतरीय प्रयोग—१. सभी पीनस रोगों में सभी समय में मरि
और गुड के साथ दही का सेवन सुखकर होता है[१]।

२. पंचमूली क्षीर—बृहत्पंचमूल की ओषधियोंसे सिद्ध।

३. चित्रक क्षीर—चीता और हर्रे से शृत क्षीर का प्रयोग।

४. वायविडङ्ग क्वाथ में घी और गुड डाल कर पीना।

५. गुड एवं मरिच मिलाकर प्रचुर मात्रा में दधि का सेवन पीन
में तथा दुष्टप्रतिश्याय में हितकर है।[२]

६. गेहूँ के आटे में गुड मिलाकर घी में पकाया हुआ हलुआ, अ
और मालपूआ बनाकर खाना भी हितकर है।[३]

७. विडङ्ग शष्कुली—गेहूँ को आटे में वायविडङ्ग का चूर्ण डालक
उसकी पूड़ी, रोटी या पराठा बनाकर खावे और सोते समय ठंडा ज
पी लिया करे तो रोगी को पीनस रोग से छुटकारा मिल जाता है।[४]

८. कट्फलादिचूर्ण या कषाय का प्रयोग—कटफल, पुष्करमूल, त्रिक
यवासा और सोआ लेकर इसके चूर्ण को आर्द्रकस्वरस के अनुपान
सेवन करने से या कषाय बनाकर पीने से पीनस, स्वरभेद, तमक
हलीमक, सन्निपात तथा अन्य कफ-वायु से उत्पन्न श्वास रोग में लाभप्र
होता है।

९. व्योषादिवटी का चूसने के लिये प्रयोग करे।

पूतिनस्य चिकित्सा—इसमें पीनसवत् पूरी चिकित्सा करते हैं—कु
विशेष योग जो नासा की दुर्गंध को कम करे उनका प्रयोग अधि
होता है।

---

१. सर्वेषु सर्वकालं पीनसेषु जातमात्रेषु।
मरिचं गुडेन दध्ना भुञ्जीत नरः सुखं लभते॥ (यो० र०)

२. गुडमरिचविमिश्रं पीतमाशु प्रकामं हरति दधि नराणां पीनसं दुर्निवारम्

३. यदि तु सघृतमन्नं श्लक्ष्णगोधूमचूर्णैः।
कृतमुपहरतेऽसौ तत्कुतोऽस्यावकाशः॥ (यो० र०)

४. वेल्लगोधूमभोजी च निद्राकाले च शीतलम्।
जलं पिबति यो रोगी पीनसान्मुच्यते नरः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. *षड्बिन्दुघृत*—भृङ्गराज, लवङ्ग, मुलैठी, कूठ, सोंठ इन द्रव्यों से गोघृत को, पाकविधि से सिद्ध कर लिया जाय अथवा गोघृत में मिलाकर नासा में छोड़ने का प्रयोग किया जाय तो नासास्थिगत पीनस भी ठीक हो जाता है और इसके प्रयोग से सैकड़ों शिरोरोग नष्ट हो जाते हैं।[1] इसकी मात्रा नाक में डालने की छः बूंद है।

२. *व्याघ्रीतैल*—भटकटैया, दन्तीबीज, वच, सहिजन, त्रिकटु और सैंधव नमक से सिद्ध तैल का नासा में प्रक्षेप करने से पूतिनासा नामक रोग ठीक होता है और बदबू को दूर करता है।

३. पीनसोक्त अवपीडन द्रव्यों में सरसों और गोमूत्र डालकर तैल सिद्ध कर उसका नासा में पूरण करना चाहिए।

४. व्याघ्री (भटकटैया के फल को आग पर सेंक कर उसका स्वरस या उसके पंचाङ्ग का पुट पाकविधि से निकाले स्वरस की बून्दे नासा में डाले)।

नासाशोष चिकित्सा[2]—इस अवस्था में भी पीनसवत् ही चिकित्सा करनी चाहिये। प्रधानतः १. स्नेहपान २. स्निग्ध धूम ३. उर्ध्ववस्ति-क्षारीय जल से नासावस्ति (Alkaline doushe) नित्य करनी चाहिये। ४. वलातैल नासा में प्रयोग करना तथा ५. वातघ्न उपचारों को करना चाहिये। ६. गोघृत का पान श्रेष्ठ है। ७. अणुतैल का प्रयोग नस्य रूप में। ८. नासाशोष में दूध में चीनी डालकर यथेच्छ पीना हितकर है।[3] ९. दूध और घृत के मिश्रित करके पीना १०. जाङ्गल मांसरस का सेवन उत्तम रहता है।

नासापुटक चिकित्सा—इसमें खुरण्ड को तीव्र नस्य देकर निकाले पश्चात् पुनः वहाँ न होने पावे अस्तु, स्निग्ध तैल आदि का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये। नासाशोषवत् ही वातघ्न चिकित्सा भी करनी चाहिये।

---

१. भृङ्गं लवङ्गं मधुकं च कुष्ठं सनागरं गोघृतमिश्रितञ्च।
षड्बिन्दुनासास्थिगतं च पीनसं शिरोगतं रोगशतञ्च हन्ति ॥ (यो० र०)

२. नासाशोषे क्षीरसर्पिः प्रधानं सिद्धं तैलं चाणुकल्पेन नस्यम्।
सर्पिष्पानं जाङ्गलैर्भोजनञ्च स्नेहस्वेदः स्नैहिकश्चापि धूमः ॥ (सु०)

३. नासाशोषे क्षीरपानं ससितं च प्रशस्यते। (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

१. शुंठ्यादि तैल या घृत—सोंठ, कूठ, पिप्पली, वायविडङ्ग और मुनक्का दो-दो तोले लेकर पीसे। आधा सेर तैल और दो सेर पानी डालकर तैल सिद्ध करे। इसी विधि से घृत को भी सिद्ध किया जा सकता है। इसका नस्य में प्रयोग पुटक की चिकित्सा में होता है।

२. नासापुटक की चिकित्सा में जब नाक के भीतर पपड़ी जम जाती हो तो उसके लिये एक अनुभूत अवमर्श का प्रयोग बड़ा हितकर होता है। इसके लिये केसर, कपूर और घी का नस्य देना चाहिये।

१०

भ्रंशथु या क्षवथु

(Vasomotor Rhinorrhoea)

व्याख्या—क्षवथु का शाब्दिक अर्थ है जिस रोग में बहुत छींकें आवें (Sneezing)। वाग्भट ने क्षवथु के स्थान पर रोग का नाम 'भृशं क्षव' दिया है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा नासारोग, जिसमें अधिक मात्रा में छींकें आती हों। उन्होंने लिखा है कि 'तीक्ष्ण पदार्थों के सूंघने से, सूर्य की किरणों को अधिक देर तक देखते रहने से, सूते या लकड़ी से नाक कुरेदने अथवा अन्य वातप्रकोपक कारणों से नासिका की तरुणास्थियों (Cartilage) में धर्षण होने से वायु कुपित होकर चलती है; परन्तु उसका मार्ग अवरुद्ध होने से वह पलटा खाया हुआ वायु ऊपर की ओर जाकर शृङ्गाटक मर्म से टकराता है और वहाँ से लौट कर बहुत सी छींकें लाता है अतएव इसे भृशंक्षवः कहते हैं।"

१. तीक्ष्णघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः ।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थिनि ॥
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धं शृंगाटकं व्रजेत् ।
निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुः स भृशं क्षवः ॥ (वा०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हेतु एवं सम्प्राप्ति—इस सूत्र में स्पष्टतः रोग के दो प्रकार के कारण माने गये हैं। तीक्ष्णादि कारण आगन्तुक रूप में और 'वातप्रकोपिजन्य हेतु' से दोषजनक हेतुरूप में रोगोत्पादक होते हैं। इसीलिये माधवनिदान ने रोग के दो भेद स्पष्ट कर दिया है। आगन्तुक क्षवथु तीक्ष्ण द्रव्यों का उपयोग (राई, मिर्च आदि) कटु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के सूंघने से (त्रिकटु, सुर्ती आदि), सूर्य की ओर अधिक देर तक देखते रहने से अथवा सूत या कपड़े की बत्ती बना कर नाक को सुहलाने से नासाजवनिका (तरुणास्थि) में अथवा शृङ्गाटक मर्म में क्षोभ (Irritation) पैदा होकर छींके आने लगती हैं।' दोषज' क्षवथु—घ्राणाश्रित मर्म शृङ्गाटक में रहने वाला वायु जब आहार-विहार या आगन्तुक कारणों से दूषित हो जाता है, तब वह कफ को अनुगामी बनाकर बार-बार वह शब्द करता हुआ नाक से बाहर आता है। इसे दोषज क्षवथु या दोष जन्य छींक कहते हैं।'[२] संक्षेप में चरकाचार्य के अनुसार यह कहा जायगा कि 'शिरस्थ वायु विगुण मार्ग (विष्वक्पथस्थ) होने से नासाश्रित मर्म को स्पर्श करके छींके पैदा करता है। जिसे क्षवथु कहते हैं।'[३]

विवरण—जो स्वाभाविक छींक आती है वह एक शरीरगत आधारणीय वेग है। वह कोई रोग नहीं है और न आगंतुक क्षोभक कारणों से उत्पन्न होने वाली छींकें ही चिकित्सा की दृष्टि से कोई बड़ा महत्व रखती हैं। नवप्रतिश्याय में छींकों का आना एक आम लक्षण है। परन्तु वह एक गौण लक्षण है। वह इतना प्रबल नहीं होता कि उसको

---

१. तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रते वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥

२. घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुयातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञः ॥
(सुश्रुत)

३. संस्पृश्य कर्मण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति ।
(चरक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

एक स्वतंत्र रोग ही कहा जाय। परन्तु क्षवथु रोग से जो वर्णन ग्रंथों में पाया जाता है वह एक स्वतंत्र रोग है। उसमें छीकों का आना ही प्रधान लक्षण है। इस लक्षण के साथ पाश्चात्य शालाक्योक्त एक रोग विशेष की तुलना की जा सकती है और प्राच्यवर्णनों के साथ मिलता वह रोग है उसको 'वैसोमोटर राइनोरिया' या अनूर्जताजन्य परिस्रव कहते हैं।

अनूर्जताजन्य परिस्रव (Vasomotor Rhinorhoea)—इस को अनूर्जता या परिस्थिति की असह्यता (Allergic) वश उत्पन्न होने वाले रोगों के वर्ग में रखा जाता है। इसमें सबसे महत्व की 'श्रृङ्गाटक मर्म' (Sympathetic Nervous System, Irritabili की क्षुब्धता है। श्रृङ्गाटक मर्म अथवा स्वतंत्र नाडी मण्डल सामान्य उत्तेजना से छीकों का आना एवं नाक का बहना शुरू जाता है। अनूर्जता या असह्यता की परिस्थिति में साधारण उत्ते भी जिनका आम तौर से कोई बड़ा महत्त्व नहीं दिया जा सकता रोगोत्पत्ति में भाग लेती है और क्षवथु या भृशंक्षव नामक रोग को कर देती है।

अनूर्जता या परिस्थिति की असह्यता (Allergy) दो प्र की हो सकती है। १. विशिष्ट (Specific) तथा २. सामान्य (N Specific)। प्रथम वर्ग के उत्तेजक द्रव्यों का पता चल जाता जिन्हें आगन्तुक वर्ग में रख सकते हैं। जैसे तृणज्वर (Hay feve जिसमें घासों के पराग नाकों से लगकर उत्तेजना पैदा करते हैं। दू वर्ग में ऐसे कारण हैं जिनका ठीक पता नहीं चल पाता; जिनके का उत्तेजना होकर वायु कुपित (Irritation to the Sympathe System) होती है और क्षवथु (Vasomotor Rhinorhoea) उत्पत्ति होती है।

लक्षण—'वैसोमोटर राइनोरिया' या अनूर्जताजन्य परिस्रव तीव्रावस्था के पूर्वरूप में नाक में थोड़ी तोद (Pricking sensati सुई चुभाने सी पीड़ा का अनुभव होता है और उसके बाद भयंकर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

छींको (क्षव) का दौरा शुरू हो जाता है (Voilent attack of Sneezing) जिसके साथ ही साथ या बाद में नासा से स्वच्छ जलवत् स्राव प्रभूत मात्रा में (Profuse Watery discharge) होने लगता है। कई रोगियों में आँख से अश्रुस्राव भी होने लगता है। कई बार रोगी के लिये यह आँख की तकलीफ अधिक दुखदायी हो जाती है। यह दौरा बीच-बीच में बंद होकर आता रहता है। कई बार (Sneezing) छींकों का दौरा घंटे भर से भी अधिक तक चलता रहता है जिससे रोगी पूर्णतया व्याकुल हो जाता है और थक जाता है। इन दौरों की यह विशेषता होती है कि जितनी ही शीघ्रता से ये शुरू होते हैं उतनी ही शीघ्रता से बंद भी हो सकते हैं। यदि रोग मंद स्वरूप का रहा तो रोग का प्रारंभ भी क्रमशः या धीरे-धीरे हो सकता है।

उन्हीं लक्षणों से मिलता-जुलता वर्णन सुश्रुतोक्त त्रिदोषज प्रतिश्याय का भी है जिससे बार-बार जुकाम का होना और अकस्मात् (विना कारण) अच्छा होना और पुनः होना पाया जाता है। अपक्व या पक्व प्रतिश्याय के समान ही स्रावादि का होना ग्रन्थों में बतलाया गया है। अस्तु, पाश्चात्य शालाक्य में वर्णित 'वैसोमोटर राइनोरिया' के भीतर आयुर्वेद में पठित त्रिदोषज प्रतिश्याय तथा क्षवथु दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

चिकित्सा—क्षवथु की चिकित्सा में दो प्रकार के क्रमों का उल्लेख मिलता है—एक सार्वदैहिक (General) तथा स्थानिक (Local) सार्वदैहिक इन उपक्रमो का उद्देश्य होता है नासागतश्लेष्मलकला की सहन या संरक्षण शक्ति को बढ़ाना-जिससे साधारण शीत या अन्य उत्तेजक कारणों के वर्दास्त करने की ताकत नासाकला में आजाय और बार-बार रोग न होने पावे इसके लिये बहुत से विधान आगे शिरोरोगाध्याय में बतलाये गये हैं जैसे—घृतपान, बृंहण तैल, अगस्त्य या चित्रक हरीतकी, महालक्ष्मी विलास, शिलाजत्वादिलौह एवं सितोपलादि चूर्ण इत्यादि।

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार इस रोग को अनूर्जताजन्य (Allergic) माना जाता है। तन्निमित्त अनूर्जता पैदा करने वाले क्षोभक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारणों का ही पता लगाना पड़ता है। भोजन के पदार्थों की ध्यानपूर्वक निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है। जिस विशिष्ट द्रव्य के कारण रोगी को प्रतिश्याय का दौरा हो जाता है, उसको भोज्य सामग्रियों से निकाल दिया जाता है। बहुत प्रकार के फूलों के पराग (Pollen) (घास की परीक्षा त्वचा की प्रतिक्रिया द्वारा की जाती है एवं जो प्रतिक्रिया कारक होती है, उससे रोगी को बचाना पड़ता है। व्यक्ति विशेष के प्रकृति एवं वस्तु विशेष की असह्यता का ज्ञान कर उस कारण विशेष को दूर कर देने से ही जुकाम का बार-बार का बन्द हो जाता है। यह विषय (विशिष्ट अनूर्जता का पता लगाना बड़ा कठिन होता है। यदि पता लग जाय तो उस प्रोटीन विशेष द्वारा ही रोगी को सह्यता पैदा कर दी जाती है जिससे भविष्य उसको बर्दाश्त करने की ताकत आ जाती है और रोग से छुटकारा मिल जाता है। कई बार कारण के ठीक पता नहीं लगने पर 'वैक्सीन' एवं विशेष प्रोटीन (प्रोभूजिन) की चिकित्सा की जाती है। यदि भी सम्भव नहीं हो तो लाक्षणिक चिकित्सा से रोगी को आराम पहुँचा जा सकता है।

'अनूर्जता' की व्याख्या, हेतु एवं चिकित्सा प्रस्तुत पुस्तक के बा का विषय है। यहाँ पर उसका विवेचन सम्भव नहीं होने से दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है। इसकी विशेष जानकारी के लिये पाठक को अन्यत्र किसी कायचिकित्सा की बड़ी पुस्तक को देखना चाहिये।

प्राचीन स्थानिक उपचार—१. प्रधमननस्य (शिरोविरेचनोक्त द्रव्य का) २. नाडी के द्वारा चूर्ण का फूँक मारना (Nasal in halation ३. सिर के ऊपर वातघ्न स्वेद ४. नासिका द्वारा स्निग्ध धूम का प्रयोग

शुण्ठादितैल या घृत—सोंठ, कूठ, पिप्पली, वायविडङ्ग (बिल्व और मुनक्का के कल्क से सिद्ध किया हुआ घृत या तैल का प्रयोग।

सिक्थकादिधूम—घृत, गुग्गुलु और मोम के मिश्रण से बने योग अग्नि में जला कर नासा द्वारा धुवाँ के लेने से भी लाभ होता है।

अर्वाचीन स्थानिक उपचार—अण्वायन (Ionization) इस की चिकित्सा में सबसे अधिक महत्व की प्रक्रिया है, इसकी विधि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है—यशद शुल्व घोल (Zinc sulphate solution) की २% की शक्ति में एक विकेशिका (वर्त्ति Gicuze) या रूई के पिचु को सुखाकर नासिकारन्ध्र में भर दिया जाता है पश्चाद् विद्युत् की धारा (Electric current) बहाई जाती है। यह क्रिया एक सीमित काल तक करनी होती है। साधारणतया पाँच-पाँच दिनों के अन्तर देकर की जाती है। तीन बार का लगाना आमतौर से पर्याप्त होता है। अधिक से अधिक एक बार में बीस मिनट विद्युत् लगाई जाती है। इस क्रिया के द्वारा नासा श्लेष्मलकला के ऊपर यशद चूर्ण का एक सफेद आवरण सा चढ़ जाता है जो प्रायः पाँच दिनों तक रहता है, उसके बाद पुनः विधि को चालू करना होता है।

२. दूसरी चिकित्सा की विधि विद्युद्दहन (Electriccautery) है जिसका वर्णन पूर्व में जीर्ण प्रतिश्याय (Hypertrophic) के प्रसंग में हो चुका है। इसी प्रकार ३. डायोथर्मी तथा ४. 'कार्बोलिक एसिड' से चिकित्सा भी लाभ प्रद मानी जाती है।

भ्रंशथु

(Mucoid discharge from the Sinuses)

व्याख्या—'सिर एवं नासिका में पहले से ही संचित गाढ़ा, विदग्ध और नमकीन कफ जब पित्त के ताप से या सूर्य के ताप से गल उठता है तब नासिका से गिरने लगता है, उस रोग को भ्रंशथु कहते हैं।'[1]

विवरण—यह प्रवचन इतना स्थूल और सूत्र रूप में है कि इस रोग का लक्षण अनेक नासारोगों में मिल सकता है क्योंकि गाढ़ा स्राव किसी जीर्ण नासा श्लेष्मल कला के शोफ में मिल सकता है। परन्तु इस रोग का क्षवथु के बाद ही पाठ करने का क्रम तथा चिकित्सा का क्षवथु के समान ही विधान होना इस बात को सूचित करता है कि

१. प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक् संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥ (सु०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

इस रोग का क्षवथु के साथ गहरा संबन्ध है। दूसरा समाधान भ्रं की पकावस्था मान कर किया जा सकता है। जिस प्रकार पीनस प्रतिश्याय की आम और पक्कावस्थाओं का निर्देश हुआ है उसी प्र सम्भवतः क्षवथु की पकावस्था का द्योतन भ्रंशथु नामक रोग से हो। आधुनिक शालाक्य पुस्तकों में इस प्रकार का वर्णन मिलता कि 'वैसोमोटर राइनोरिया' या क्षवथु का बार बार दौरा होते से नासा की कला मोटी पड़ जाती (Hypertrophied) है उपसर्ग का प्रसार नासा वायु विवरों की श्लेष्मलकला तक भी हो है और वह भी मोटी पड़ जाती है, उसके मोटी पड़ जाने से वहाँ गाढ़े (सान्द्र) स्राव का संग्रह रहता है, उष्णता से विलीन हो वह नासिका द्वारा निकला करता है।

अस्तु यद्यपि भ्रंशथु का कई रोगों से (Chronic Nasal disch arge or discharge of the Hypertrophied Rhinitis) स नता है फिर भी अधिक साम्य सान्द्र विदग्ध उस स्राव से है, वायुविवरों की श्लेष्मलकला के मोटे होने से होता है' (Muc discharge from the thickening of the lining membra of the Sinuses)।

भ्रंशथु का स्वतन्त्र वर्णन वाग्भट और चरक में नहीं मिलता *चिकित्सा*—क्षवथुवत्' पूरी चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे,

मागधी अवपीडन—पिप्पली, शिग्रुबीज, वायविडङ्ग और काली मि को पानी के साथ पीसकर कपड़छान कर उस जल को नाक में टपका ले भ्रंशथु एवं जीर्ण प्रतिश्याय में लाभ होता है।

नासा-प्रक्षालन—के लिये एक औंस जल में नमक १० ग्रेन, टं (बोरिक एसिड) ५ ग्रेन, सर्जिकाक्षार (Sodii Bicarb) १० ग्रे कार्बोलिक एसिड ३ बूँद मिलाकर घोल से नासा का धोना।

१. क्षेप्यं नस्यं मूर्धवैरेचनीयैर्नाड्या पूर्णैः क्षवथौ भ्रंशथौ च।
कुर्यात्स्वेदान्मूर्ध्नि वातामयघ्नान्स्निग्धान् धूमान् यच्चदन्यं हितञ्च। (सु०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

औंस जल में १० ग्रेन मेन्थाल, १० ग्रेन यूकैलिप्टस आयल मिलाकर स्प्रे' के द्वारा नासिका में देना भ्रंशथु में हितकर है।

स्राव या नासापरिस्रव (Rhinorrhoea)—नासा से स्राव का बहना परिस्रव कहलाता है। चाहे वह घना हो, या पतला, पीला हो या सफेद। 'जिस व्याधि में नासागत दोष का स्राव होता है उसको परिस्रव कहा जाता है।' ऐसा पाठ माधवनिदान, भावप्रकाश, आयुर्वेद विज्ञान, योगरत्नाकर और गदनिग्रह में मिलता है।[१]

सुश्रुत का परिस्रव एक विशेष अवस्था के स्राव का द्योतक है जैसी कि उनकी उक्ति है 'जिसकी नाक से स्वच्छ, सलिल के समान और अविवर्ण स्राव निरन्तर बहता रहता है एवं रात्रि में अधिक बढ़ जाता है उस व्याधि को नासापरिस्राव कहते हैं।'[२] आचार्य वाग्भट ने भी इसी मत का समर्थन किया है और उसको परिपुष्ट करने के लिये इस रोग को कफ संभव विकार माना है।[३]

विवेचन—वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यह रोग एक स्वतंत्र विकार के रूप में न होकर प्रतिश्याय (Rhinitis) का एक अवश्यंभावी आनुषंगिक लक्षण है। यदि नासापरिस्राव का अंग्रेजी में अनुवाद करना हो तो कहना होगा 'राइनोरिया' जिसका अर्थ है नाक का बहना। यह अवस्था प्रायः सभी नासारोगों में मिलती है। इसका विस्तृत वर्णन नासारोगों के सामान्य लक्षणों के अध्याय में विस्तार से कर दिया गया है। सुश्रुतोक्त परिस्रव नवप्रतिश्याय (Acute Rhinitis or Vasomotor Rhinorrhea) में आ जाता है—जिसका वाग्भट भी समर्थन करते हैं। परन्तु अन्य ग्रन्थों के स्रावों का जहाँ घना स्राव (Thick, mucopurulent, mucoid discharge) का वर्णन है,

१. घ्राणाद् घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत्स्रावमुदाहरेत्तम्।
२. अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्याविवर्णं स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेण हि तं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत्। (सु०)
३. स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसंभवः।
अच्छो जलोपमोजस्रं विशेषान्निशि जायते। (वा.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीर्ण प्रतिश्याय (Hypertrophic rhinitis), दुष्टप्रतिश्या पूतिनासा आदि रोगों में समावेश होगा। पीतवर्ण का स्राव प्रायः वायु विवरों के विकारों में ही दिखाई पड़ता है (Yell discharge in nasal sinuses) ऐसा वैज्ञानिकों का मत है। संक्षेप इस व्याधि को Acute or chronic Rhinorrhoea कहना चाहि

चिकित्सा—१. प्रधमन चूर्ण, २. तीक्ष्ण अवपीडन नाड़ी के द्वा ३. धूम्र प्रयोग, ४. बकरी का मांस खाने के लिये देना चाहिये। क्यों इस प्रकार जीर्ण स्राव की अवस्था तभी संम्भव है जब कि शरीर प्रतिक्रिया शक्ति बहुत क्षीण हो गई है। इसलिये साधारण स्वास्थ्य रोगप्रतीकारक शक्ति को बढ़ाने के निमित्त अजामांस (बकरे का मांस खाने को दिया जाता है। इस विकार के परिणाम स्वरूप शरीर की निरोधक शक्ति कम होती जाती है जिससे भविष्य में क्षय रोग के हो की आशंका बनी रहती है। एतदर्थ क्षयघ्न-बलवर्धक अजामांस के सेव का आचार्यों ने निर्देश किया है।[1]

प्रधमनों में—पूर्वोक्त कलिंगाद्यवपीडन या मनःशिलाद्यवपीडनवा विडङ्ग, सेंधानमक, हिंगु, गुग्गुल, मैनसिल और घोड़वच के मिश्रि महीन चूर्ण का नस्य।

धूम्रपान में देवदारु और चित्रकमूल कुचलकर चिलम में या चु के रूप में अग्नि से जलाकर नासासे धुएँ के रूप में पिलाना चाहिये

इस रोग में चिकित्सा का सिद्धान्त ही रहता है—तीक्ष्णनस्य कफ योगों से नासागत दूषित जल के क्लेद सुखा कर साफ कर नासास्रो को शुद्ध रखना।

—:o:—

१. नासास्रावे घ्राणतश्चूर्णमुक्तं नाड्यादेयं योवपीडश्च तीक्ष्णः।
तीक्ष्णं धूमं देवदार्वग्निकाभ्यां मांसं चाजं युक्तमत्रादिशन्ति। (सु०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

११

नासार्शः

(Nasal Polypus)

व्याख्या—नासार्श बड़े-बड़े भूरे वर्णके तन्तुओं के संघात (Large, Greish masses of tissues) होते हैं जो देखने में अङ्गूर के गुच्छे के मानिन्द मालूम होते हैं, जो नासास्रोत को अवरुद्ध किये हुए पड़े रहते हैं। अधिकतर वे आगे की ओर से दिखलाई पड़ते हैं और अग्र नासाछिद्र से निकले दीखते हैं। कई बार नासापश्चात् छिद्र से भी लटके रहते हैं उनका देखना नासापश्चात् दर्शन परीक्षा (Post. Rhinoscopy) से ही संभव रहता है। इस स्थिति में वे अधिकतर एक ही संख्या में होते हैं और उनका उद्भव ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर में होता है।

नासार्श का उद्भव या हेतु—नासार्श को उद्भव की दृष्टि से दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। १. वे जो नासागतशोफ के परिणाम स्वरूप (Inflammatory) नासा संबन्धी विवरों शोफों के परिणाम स्वरूप होते हैं। २. दूसरे वे जो स्वतंत्र नाडी मण्डल (Vasomotor disturbances) के विकारों के कारण होते हैं।

जो कारण नासागत या वायु विवरगत शोफोत्पादन में सहायक होते हैं, नासार्श उन्हीं कारणों से पैदा होते हैं। जैसे, नासा के ऊपरी भागों का सँकरा होना, अथवा नासागत रचनाओं में जैसे मध्यशुक्तिका के ऊपर भार या पीडन का पाया जाना। (Pressure) अथवा मध्य-सुरंगा (middle Meatus) के ऊपर दबाव का पड़ना वहाँ के तन्तुओं में सूजन पैदा कर देता है। जब यह दबाव और भी बढ़ जाता है, तब नासागत स्राव को निकालने के लिये जोर-जोर से नाक साफ करनी पड़ती (Blowing) है फलतः श्लेष्मलकलागत रक्त रस के सरण (Flow) में बाधा आ जाती है एवं उसके द्वारा पीड़न भी अधिक हो जाता है। ठीक इसी प्रकार नासागत विवर में अस्थि से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri-Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निकली हुई जो श्लेष्मलकला रहती है वह भी शोफयुक्त और संकुचित होकर अर्शवत् तन्तुसंघात का आकार बनाकर पीछे से आकार में सकती है। नासाजवनिका की मार्गच्युति हो जाने से नासिका का भाग सँकरा हो जाता है जिसमें पुनः पुनः शोथ होता रहता है, अन्यान्य उपसर्गों का आये दिन रोगी शिकार होता रहता है, अवस्था में भी अर्श का होना एक आम घटना है। पुनः पुनः होने वाला वायुविवर शोथ में भी विशेषतः उस अवस्था में जब विवर स्रावों के प्रवाह का अवरोध हो तो नासार्श होने की संभावना रहती है। अनूर्जता जन्य नासापरिस्रव (Vasomotor Rhinorhoea) के बार बार होने से श्लेष्मलकला का शोथ इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर देता है कि वहाँ पर अर्श की उत्पत्ति संभव रहती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि नासार्शों के कारण अवरोध प्रबल हो तो विवरगत स्राव रुद्ध हो जाता है तथा विवरों में उपसर्ग पहुँच जाता है और विवरशोथ (Sinusitis) पैदा हो जाता है।

लक्षण—रोगी में सबसे प्रथम लक्षण नासानाह (नासावरोध) होगा और कुछ स्राव की व्यथा मिलेगी। यह स्राव घन गाढ़ा या पूयमय (Purulent) होगा। यदि अर्श श्लेष्मलकला के उपरितन भाग में हो तो स्राव घना गाढ़ा होगा परन्तु यदि बहुत गहराई में स्थित हो और विवर से संबद्ध हो तो पीत वर्ण का पूयस्राव, नाक से साफ करते समय बाहर आता है। रोगी की आवाज सानुनासिक हो जाती है।[1] रोगी की आकृति दर्दुरमुख (Frogface) हो जाती है।

चिकित्सा—नासार्श कई बार अपने आप नष्ट होकर अदृश्य हो जाता है अथवा नाक साफ करते हुए जोर के धक्के से स्वयं टूट कर बाहर गिर जाता है या यदि स्वतंत्र नाडीमंडल विकार (Vasomotor disturbances) के कारण हुआ तो इस रोग के दूर होने के साथ ही साथ अर्श भी अपने आप नष्ट हो जाता है।

---

१. घ्राणजेषु प्रतिश्यायोतिमात्रं क्षवथुःकृच्छ्रोच्छ्वासता
पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखञ्च। (सु० नि०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी विचार से आयुर्वेद के ग्रंथों में कई स्थानिक प्रयोग चिकित्सा में आते हैं जिनमें मूलभूत सिद्धान्त उपर्युक्त ही हैं।

शिखरी या गृहधूम तैल—घर का धुवाँ, पिप्पली, यवक्षर, हल्दी, देवदारु, सेंधानमक और अपामार्ग के बीज का कल्क लेकर तैल सिद्ध कर लेना चाहिये इसके द्वारा नासागत बूँद प्रक्षेप करने से अर्श ठीक होता है।[1]

करवीरादितैल—लाल कनेर का फूल, चमेली के पत्ते, असन का बुरादा, मल्लिका के पत्ते या फूल समान भाग में लेकर कल्क बनाकर चतुर्गुण तैल और तैल से चौगुना पानी डाल कर तैल सिद्ध करके नासाप्रक्षेप के लिये नासार्श में प्रयोग करना चाहिये।

चित्रकादि—चित्रक, चव्य, अजवायन, कंटकारी, करंज, सेंधानमक और मदार का दूध से सिद्ध तैल का नासाप्रक्षेप नासार्श में हितकर है। आभ्यंतर प्रयोग में चित्रक हरीतकी का सेवन करना चाहिये।

यदि इन उपायों से अर्श ठीक न हो पावे तो शल्यकर्म करना चाहिये। इसके लिये—१. शस्त्रकर्म २. क्षार अथवा ३. अग्निकर्म करना चाहिये।[2]

कई बार तैलों के प्रयोग से अर्श के दाने मुरझाने लगें तो चिमटी से पकड़ खींच लेना या कैंची से काट देना चाहिये। इन मस्सों में रक्त-संचार अच्छा नहीं रहता है। अस्तु, रक्तस्राव का भी भय नहीं रहता।

दन्तीवर्ति—नासार्श को पहले क्षार से दग्ध करके पश्चात् दन्तीवर्ति नाक में रखे इससे जो अवशिष्ट नासार्श का भाग होता है—जो शस्त्रकर्म या आहरण के द्वारा नहीं निकला रहता वह भी साफ हो जाता है। इसके बनाने में दन्तीमूल, निशोथ, सेंधानमक, मैन्शिल, हरताल, पिप्पली और चित्रक का कल्क होता है।

आधुनिक शल्यकर्म—इसकी सरलतम विधि यह है—नासिका को सर्वप्रथम स्थानिक संज्ञाहर द्रव्य (Cocaine solution) से शून्य कर

१. गृहधूम कणादारु क्षार नक्ताह्वसैंधवैःसिद्धं शिखरिबीजैश्च तैलं नाशार्शसां हितम्।

२. विशेष वर्णन के लिये लेखक की 'सौश्रुती' में अर्शचिकित्सा देखें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिया जाता है। फिर एक धातु-निर्मित तार के गोलक (Wire Snar
को नासार्श के आधार तल पर ले जाकर उसकी सहायता से काट दि
जाता है। एक बार में एक ही अर्श को पृथक् किया जाता है। य
अर्शों की संख्या एक से अधिक हो तो उसका कई बार में पृथक् पृ
करना उत्तम रहता है। फिर अवशिष्ट भाग को संदंश (चिमटी)
सहारे से निकाल दिया जाता है।

इस प्रकार इस शल्य कर्म में एक तार का गोलक और चपटे फ
का छोटा संदंश पर्याप्त होता है।

पश्चात् कर्म—साथ ही यदि अन्य कारण विवरविकार, नासाजवनि
मार्गच्युति या जीर्ण स्राव आदि उपस्थित हों तो उनको दूर करने
लिये लम्बे अर्से तक चिकित्सा जारी रखनी चाहिये। रोग का पुनरु
न हो इसके लिये रोगी को पूर्ण विश्राम के साथ चिकित्सक की दे
रेख में रहना चाहिये। रोगी की नासा में तीन बार कपूर का प्रधम
(Menthol inhalation) एवं कई बार तैल प्रक्षेप (Oil spray
करते रहना चाहिये जिससे नासा के व्रणित स्थान पर संशमन
प्रभाव हो और पुटक (Crusting) न बनने पावें।

प्रकार—दोषभेद से नासार्श चार प्रकार के माने गये हैं—वाति
पैत्तिक, श्लैष्मिक और त्रिदोषज।

नासार्बुद (Newgrowths in the Nose)

नासास्रोत में बहुत प्रकार के अर्बुदों का अवस्थान हो सकता है
ये सौम्य अथवा घातक भी हो सकते हैं।

सौम्यार्बुदों में 'पैपिलोमा' 'वार्टस' 'रक्तस्रावी पैपिलोमैटा—'
नासाजवनिका रक्तसूत्रार्बुद (Angio Firomrata) और झर्झरा
का 'एंजियोमैटा' पैदा होते हैं।

घातकार्बुद—(Malignant) 'कार्सिनामैटा', 'सारकोमैटा' त
घातक 'एञ्जियोमैटा' पाये जाते हैं।

लक्षण में—नासा के एक पार्श्व का अवरोध, पूयाभ गाढ़ा स्राव
होना (Purulent and Sanguineous discharge). नासास्थि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का चौड़ा होना और बाद में जाकर शिरःशूल का होना यही लक्षण मिलते हैं।

चिकित्सा—१. लेप २. क्षार ३. अग्नि ४. शस्त्रकर्मों का करना प्राचीन विधान है। उसी प्रकार आज कल सौम्यार्बुदों में (Cautery or diathermy or Removal by snare) अर्बुद का आहरण करे और 'वार्टस' में क्ष-किरण चिकित्सा।

घातकार्बुदों में—'रेडियम्', 'गम्भीर क्ष-किरण,' (Deepxray) तथा 'डायथर्मी'

भेद—अर्बुदों के सात प्रकार होते हैं—वातज, पित्तज, श्लेष्मज, मेदोर्बुद, त्रिदोषज, मांसार्बुद और रक्तार्बुद।

पूयशोणित

(Due to Lupus or Newgrowths in the Nose or Tarumatic)

'दोषों की विकृति से रक्त विदग्ध हो कर दूषित होता है अथवा ललाट में किसी प्रकार चोट लग जाने से जब नासिका से रक्तमिश्रित पूय निकलने लगती है तो उस रोग को पूय शोणित या पूय रक्त कहते हैं।'[1] दोष की विदग्धता से रोग होने पर दोषज और आघात के लगने पर जो पूय और रक्त का निर्गमन होता है वह आगन्तुक व्याधि है। आचार्य वाग्भट ने लिखा है कि 'दोषों के सञ्चय के कारण अथवा अभिघातजन्य यह व्याधि होती है एवं इसमें नासिका से पूय और रक्त का निर्गमन होता है इसमें सिर में दाह तथा पीड़ा होने का भी लक्षण मिलता है, यह रोग पूय रक्त कहा जाता है।'[2]

आचार्य चरकने केवल नासिका से ही नहीं अपितु मुख और कान से भी रक्त गिरने का उल्लेख किया है।[3]

---

१. दोषैर्विदग्धैरथवापि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम्। (सु०)

२. निचयादभिघाताद्वा पूयासृङ् नासिका स्रवेत्
तत्पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम्। (वा०)

३. घ्राणात्स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पूयात्तमस्रं त्वपि पूयरक्तम्। (च०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवेचना—उपर्युक्त लक्षण इतने स्थूल और सूत्ररूप में वर्णित कि हैं कि आधुनिक कई रोगों में इस प्रकार के लक्षण मिल सकते हैं उदाहरण के लिये नासार्बुद, क्षयार्बुद (Lupus), अभिघात, फि अथवा नासासम्बन्धी विवरशोथों में भी मिल सकते हैं। नासा क्षयार्बुद (Lupus)—ये अधिकतर नासागुहा के अग्रभाग में अवस्थित होते हैं फैलते हुए पूरी नासिका, नासाजवनिका तथा नासाबहिर्मार्ग फैल जाते हैं। इन में छोटे २ अर्शाङ्कुर (Warty vegetation निकलते हैं और नासागुहा को पूरी तौर से भर देते हैं—इनमें रक्तस्राव शीघ्रता से होता है और नासानाह की अवस्था उपस्थित हो जाती साथ ही साथ शिरःशूल भी होता है। कई बार अङ्कुर टूट कर व्रण रूप ले लेते हैं।

चिकित्सा—आधुनिक 'डायथर्मी' पद्धति के द्वारा ग्रंथियों या अङ्कु में जमा दिया जाय तो नासागुहा में कोई वैरूप्य, संकोच या व्रणव नहीं बनता और रोग भी अच्छा हो जाता है।

यदि उपर्युक्त पद्धति से दहन सम्भव नहीं हुआ तो विद्युद्दह (Galvano cautery) से 'क्रोमिकएसिड' के द्वारा दाह करना चाहिये यदि बहुत बड़े अङ्कुर हों तो लेखन द्वारा शस्त्रकर्म करना चाहिये 'अल्ट्रावायलेट' किरण के द्वारा भी दाह किया जा सकता है।

सार्वदैहिक चिकित्सा में क्षयघ्न ओषधियों का अन्तःप्रयोग, आहार और आचार का अनुष्ठान करना चाहिये।

प्राचीन ग्रंथों में स्थानिक शोधन का कम तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का महत्त्व अधिक दिया गया है। कारणों के अनुसार चिकित्साक्रमों में विभिन्नता हो सकती है तथापि सुश्रुताचार्य का मत है कि इसमें नाडी व्रण की सी चिकित्सा करनी चाहिये—क्योंकि ये व्रण भी अधिकतर क्षयज होते हैं। साथ ही रोगी को वमन करा कर अवपीडन नस्य देना धूमपान, शिरोविरेचन, ऊर्ध्वाङ्ग की सफाई, रक्तपित्तघ्न उपचार, कषाय द्रव्यों से प्रक्षालन, औरस्निग्धनस्यों का प्रयोग करना चाहिये।[1]

१. नाडीवत्स्यात् पूयरक्ते चिकित्सा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नासागत रक्तपित्त

(Hæmorrhage from the Nose or Epistaxis)

नासिका से रक्त गिरने के बहुत से कारण हो सकते हैं। कारणों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है दोषज या औपद्रविक अथवा सार्वदैहिक रोगजन्य तथा अभिघातज या आगन्तुक। प्राचीनों ने दोषज (Systematic) के चार प्रकार बतलाये हैं—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा त्रिदोषज।

औपद्रविक में—रक्तभाराधिक्य या पाण्डुरोग (Anaemia) अथवा इन्फुलेञ्जा प्रभृति अन्य रक्तस्रावी रोग तथा पैत्तिक ज्वर में ऐसी अवस्था, उत्पन्न हो सकती है। इनमें रक्तभाराधिक्य एक ऐसा रोग है जिसमें रक्तस्राव क्षम्य है और शीघ्रता से रक्त बन्द करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, फिर भी यदि अधिक रक्तस्राव होने लगे तो तत्काल रक्त बन्द करने के उपायों को काम में लाना चाहिये।

आगन्तुक या स्थानिक कारणों में—नासागत श्लेष्मलकला से अभिघात या चोट के कारण तथा 'लिटल' के क्षेत्र से रक्तस्राव का होना प्रायः पाया जाता है। 'लिटल' के क्षेत्र में रक्तवाहिनियों का विस्फार होने के परिणामस्वरूप रक्तस्राव होता है। मामूली रगड़, खुरच या जोर से नाक की सफाई करते हुये अथवा बार-बार शोथ होते रहने से उस अंग से रक्त गिरना शुरू हो जाता है। कई बार झर्झरास्थि क्षेत्र से भी रक्तस्राव होता है और यह बड़े भयङ्कर रूप में हो सकता है और स्थानिक उपचारों से उस रक्त का बन्द करना असंभव हो जाता है।

चिकित्सा—रक्तस्राव के निवारण के लिये दो प्रकार के उपक्रम करते जाते हैं—

सार्वदैहिक—कारणों का विचार या दोषों की विवेचना करते हुए आभ्यन्तर उपचारों को चलाना। यह चिकित्सा उस समय लाभप्रद होती है जब कि रक्तस्राव के दौरे का उपशम हो। दूसरी चिकित्सा

वान्ते सम्यक् चावपीडं वदन्ति तीक्ष्णं धूमं शोधनञ्चात्र नस्यम्। (सू.उ.२३)
पूयास्रे रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तात्कालिक या स्थानिक जिससे रक्तस्राव का निवारण दौरे के स
में किया जा सके। आयुर्वेद के ग्रन्थों में योग तो दोनों अवस्थाओं
प्रतिषेध बड़े उत्तम हैं—परन्तु इन के सर्वोत्तम चिकित्साक्रम अ
प्रयोग में आनेवाली ओषधियोजना की है। पाश्चात्य शालाक्य ग्र
में आयुर्वेद के ही मूलभूत सिद्धान्तों का आश्रय करके नासा
रक्तपित्त की चिकित्सा बड़े अच्छे ढङ्ग से लिखी मिलती है, अ
सर्वप्रथम तात्कालिक या स्थानिक उपायों का ही उल्लेख नीचे कि
जा रहा है।

नासावर्तिभरण—नासागत रक्तस्राव को तत्काल बन्द करने के लि
नाक को भर देना एक बड़ा प्रभावशाली उपाय है। इसमें पहले ना
स्रोत में "कोकेन" छोड़कर वेदनासह बनाकर पश्चात् नासावर्ति
द्वारा नासागुहा के रन्ध्र को भर दिया जाता है। इस क्रिया में ब
मात्रा में 'कोकेन' (१० प्रतिशत) और 'एड्रेनेलीन' ($\frac{1}{1000}$) लं
लेकर उस में एक फुट लम्बी एवं एक इञ्च चौड़ी रेशम
साटन का फीता (Ribbon Gauze) या वर्ति को सुखाकर नासि
रन्ध्र में जिधर से रक्तप्रवाह होता हो डाल कर भर देते हैं।
मिनटों के बाद नाक में भरने के लिए 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' के
में भिगोये रेशम के बने फीते (१–१½ गज लम्बे) वर्ति की आ
श्यकता पड़ती है। इसमें भरते हुए फीते के प्रारम्भ के बारह
वाले भाग को दोहरा करके नासा के फर्श पर होते हुए ऊपर
सीधे पहुँचा दिया जाता है। दुहरा करके डालने का फल यह होता
कि पीछे वाला भाग नासाग्रसनिका में न गिर सके। नासागु
के प्रत्येक भाग को धीरे २ वर्ति के द्वारा मजबूती से भर देना हो
है। अधिकतर नासागत रक्तस्राव का निवारण इतनी ही क्रिया
हो जाता है।

यदि यह विधि सफल न हो पाये या पूर्णतया रक्तस्तंभन न क
तो नासा के पश्चाद् भाग में भी वर्तिभरण की क्रिया करनी चाहि
इसके लिये भी कई विधियाँ हैं। इस में सब से सरल उपाय य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के नासास्रोत में नासिकानाडी (Nasal Catheter) या पुष्पनेत्र डाल कर उस को नासाग्रसनिका (Nasopharynx) तक पहुँचाते हैं। फिर उस को रोगी के मुख के भीतर लाकर मुख के रास्ते उस में फीते को नासिका नाडी से बाँध देते हैं। फिर नाडी को पीछे लौटा कर निकालते हुए वह फीता या वर्ति भी साथ ही साथ आ जाती है। फिर अंगुली के सहारे नासाग्रसनिका में खूब अच्छी तरह नासा-पश्चात् भाग को भर दिया जाता है। फीते को मुख के सहारे अँटका दिया जाता है। नासिका के शेष भाग को भी अच्छी तरह से पैक कर दिया जाता। यदि इस विधि का ठीक प्रकार से प्रयोग किया गया तो अत्यधिक रक्तस्राव को बन्द करने के लिये पर्याप्त होता है। 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' के स्थान पर 'स्टिपवेन' (Stypven) का भी उपयोग होता है। 'एड्रीनैलीन' का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि कई बार इसके फीते को हटाने पर प्रतिक्रियाजन्य रक्तस्राव शुरू हो जाता है।

विद्युद्दहन या दाह—यदि रक्तस्राव का बिन्दु या स्थान नासाजवनिका या शुक्तिका के ऊपर दिखलाई पड़ता हो तो विद्युद्दाह (Electric cautery) का प्रयोग किया जा सकता है। इसके द्वारा रक्तस्राव का मुख रुद्ध हो जाता है (Obliterate the bleeding point)। यही क्रिया आमतौर से 'लिटल' के क्षेत्र से रक्तस्राव होने पर की जाती है। यदि विद्युत्सूचिका प्राप्य न हो तो 'क्रोमिक बीड' (Chromic bead) का उसके स्थान पर प्रयोग हो सकता है। इसका विधान यह है कि एक स्प्रिटलैम्प जला कर उसकी लपट के ऊपर ताम्रशलाका को तप्त किया जाता है उसकी नोक के ऊपर 'क्रोमिक एसिड' या अम्ल के कुछ कण छोड़ जाते हैं। शलाका को तप्त करते हुए एसिड नीचे को जाकर नोक पर एक बूँद के रूप में बन जाता है। यदि शलाका को आहिस्ते से घुमाते चला जाय तो वहाँ ठण्डा होकर शलाका के अग्र पर एक बीड का रूप ले लेता है। जब बीड ठण्डी हो जाय तो उसका स्थानिक प्रयोग करें। यह अम्ल तीव्र रक्तस्तम्भक प्रयोग है। इसके प्रयोग करने के समय सतर्क रहना चाहिए क्योंकि अधिक देर तक या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

गहरे प्रयोग होने से नासाजवनिका में छिद्र हो जाने का भय रहता
अस्तु अम्ल की अधिक मात्रा हो तो उसका प्रमार्जन या क्षारप्रयो
द्वारा उसे निष्क्रिय कर लेना चाहिये। इस प्रकार भी पुनः पुनः
कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है।

प्राचीन वाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग—आयुर्वेद के ग्रन्थों में
निवारण के चार मार्ग बतलाये गये हैं[1]—१. संधान, २. स्क
३. पाचन, ४. दहन। इनमें दहनकर्म या दाहकर्म को सर्वश्रेष्ठ
गया है—इसके द्वारा रक्तवाहिनियों का प्रोटीन तथा एल्ब्युमिन तत
जम जाता है और रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

नासाप्रक्षेप—(Nasal Spray)—दूर्वादि घृत, दूब, कमलके
मजीठ, एलुवा, आँवला, शीतलचीनी, खस, नागरमोथा, चन्दन, पद्म
ख, प्रत्येक ओषधि का दो दो तोला लेकर कल्क बनाकर उसमें एक
बकरी का घी और चार सेर चावल के धोवन में एक सेर बकरी
दूध डालकर घृतपाक विधि से सिद्ध कर लेना चाहिये। यह घृत न
कर्ण तथा नेत्रगत रक्तस्राव (Haemmorhage from the n
ear and eye) में बड़ा उपयोगी है। नासा में इसका स्थानिक प्र
करने से रक्तपित्त शान्त होता है।

ग्राहीयोग—हरी दूब का रस नाक में छोड़ना, अनार के स्वरस
नस्य, अपामार्गपत्रस्वरस, बबूल की पत्ती का स्वरस, फिटकिरी
चीनी मिलाकर नस्य देना। हर्रे का स्वरस, आँवले का स्वरस,
क्षीरी वृक्षकषाय की बूदों को नाक में छोड़ना नासागत रक्तपित्त
शान्त करता है। सिर के ऊपर ठण्डे पानी का छिड़काव, ठण्डे

१. चतुर्विधंयतेतद्धि रुधिरस्य निवारणं।
संधानं स्कन्दनञ्चैव पाचनं दहनं तथा ॥
अस्कंदमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत।
संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत्।
कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि।
असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परममिष्यते। सु. सू. १४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भीगी पट्टी का सिर पर धारण, बरफ की थैली रखना, आँवले को ...ट्ठे के साथ पीस कर सिर पर लेप करना। टिक्चर फेरी परक्लोर का ...या नाक में रखना, फिटकिरी और माजूफल का बारीक चूर्ण करके ...क में भरना, फिटकरी और कपूर का महीन चूर्ण बनाकर गाय के ... में मिलाकर नासा में प्रक्षिप्त करना। ये सभी ओषधियाँ ग्राही (Astringents) होती हैं। इनके प्रयोग से रक्त का स्कन्दन होता ...। इसी लिये शीतल द्रव्यों से परिषेक और प्रदेह करने का विधान है।

मुखद्वारा खाने के प्रयोग—वासाकुष्माण्डखण्ड, खण्डकुष्माण्डावलेह, ...सास्वरस, वासावलेह, वासाघृत का प्रयोग[1]। ह्रीवेरादिकषाय—ह्रीवेर, ...मल, धनियाँ, चन्दन, मुलैठी, गुडूची, खस और निशोथ का क्वाथ ...धु और मिश्री मिलाकर पीने के लिये देना।

मृद्वीकाचूर्ण—मुनक्का, सफेद चन्दन, पाठानी लोध और प्रियंगु इन ...का चूर्ण घृत, मिश्री और वासकस्वरस से सेवन करना।

सामान्य रक्तस्तंभक योगों में अयापान का योग (Styptocid), ...ल्शियमलैक्टेट' तथा 'विटामिन के' के योग तथा 'कोएगुलीन' या ...डेन' का पेशीमार्ग से उपयोग उत्तम रहता है।

नासाशल्य (Foreign bodies in the Nasal Cavity)

बच्चों में नासाशल्य अधिकतर मिलते हैं—कंकड़, अन्न के दाने, ...टर, चने, रबर के टुकड़े तथा अन्य दूसरी छोटी चीजें जिनसे बच्चे ...लते हैं प्रायः नाक के भीतर चली जाती हैं। इस अवस्था में नासा के ...क भाग में अवरोध और स्राव होता है। इसकी चिकित्सा आहरण है। ...ई प्रकार के नासास्वस्तिक यंत्रों तथा वडिश (Nasal forceps ...nd hooks) के द्वारा यह कार्य हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर ...शाहरण करके भी शल्य दूर किया जा सकता है।

वयस्कों में विजातीय द्रव्य या शल्य, नासाश्मरी (Rhinoliths)

१. वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्य ।
प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तद् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् । (च. चि. ४)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का रूप ले लेते हैं। वर्ति के टुकड़े जो नासाभरण में प्रविष्ट किये ग
वे यदि किसी कारण से निकल नहीं पाये और नासागुहा में ही रि
रह गये तो उनके ऊपर खटिक संग्रह (Calcium Deposits) हो
पथरी का रूप धारण कर लेता है। चिकित्सा में इनका आहरण
नासावस्ति (Nasal doushe) के द्वारा प्रक्षालन कर लिया जाता

नासागुहा के विकारों में आधुनिक ग्रन्थों में कुछ अन्य रोग
नासा का क्षय, फिरंग तथा नासारोहिणी Dyptheria of the N
का वर्णन मिलता है; परन्तु इनका उल्लेख प्राचीन ग्रंथकारों के
में लाक्षणिक ढंग पर हो चुका है। अस्तु यहाँ पर पुनः उनका उल्ले
पिष्ट पेषण मात्र है। पाठकों को इस बात का पूरा अनुभव होता है
कि नासारोगों के अधिकार में प्रायः आधुनिक विज्ञान के सभी
भेद, लक्षण तथा चिकित्सा का विज्ञान सम्मत अविकल वर्णन प्राच
ग्रन्थों में मिलता है।

पाश्चात्य शालाक्यग्रंथों में एक अध्याय नासासंबन्धी विवरों
विकारों का मिलता है। जिसमें विवरशोथ के तीव्र तथा जीर्ण प्र
वहाँ की ग्रन्थि, अर्बुद तथा अभिघातों का वर्णन आता है। इन
स्वतंत्र वर्णन आयुर्वेद के अध्यायों में नहीं मिलता। संभव है कि
में लक्षणिक चिकित्सा का महत्व होने से अथवा दोषविभेद से व्याख्
में भेद होने से अथवा अधिकतर निरीक्षण (Observation)
ऊपर शास्त्र की मर्यादा होने से अथवा नासा और शिरोरोगों के स
ही 'साइनसाइटिस' की चिकित्सा का क्रम होने से 'साइनसाइटिस'
विवरशोथों का उल्लेख स्वतंत्रतया नहीं किया गया हो, फिर भी
विकारों में पाये जाने वाले लक्षण एवं उनकी चिकित्सा शिरोगाधि
में वर्णित व्याधियों के तुल्य हैं। इस आधार पर नासा सम्बन्धी वि
या कोटरों के विकारों को, प्राचीनों के शिरोरोग के अध्याय में
समाविष्ट समझा जा सकता है, क्योंकि दोनों विकार में तीव्र शिर
(Haedache) एक प्रधान लक्षण है "शरोरोगशब्देन शिरोगतशूल
रुजाभिधीयते" इति।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नासासहायक या नासासम्बन्धी विवर तथा उनका शोथ

(Pathological condition of Nasal Accessary sinuses)

नासा के सहायभूत अङ्ग कोटर या वायुविवर हैं जो कपालास्थियों में बने होते हैं और नासा से सम्बन्धित रहते हैं। इनके दो विभाग हैं। आगे आनेवाले समुदाय या पुरः समुदाय तथा पीछेवाले भाग पश्चात् समुदाय। पुरः समुदाय में पुरः कपालास्थिवायुविवर (Frontal sinus), ऊर्ध्वहन्वस्थिवायुविवर (Maxillary air sinuses) तथा पुरो झर्झरास्थिवायुकोष हैं। पश्चात् समुदाय में पश्चात् झर्झरास्थि वायुकोष (Ethmoidal air cells) तथा जतुकास्थि वायुविवर (Sphenoidal air cells) आते हैं। वायुविवरों के समुदाय का विभाजन शरीररचना की दृष्टि से नहीं बल्कि उनके बहाव की (Drainage) दृष्टि से सम्बद्ध है। विकास की दृष्टि से इनकी स्थिति में इतनी विभिन्नता हो सकती है कि 'पुरः समुदाय' और 'पश्चात् समुदाय' का वर्गीकरण भ्रामक हो सकता है। पुरः समुदाय के विवर मध्य सुरंगा (Middle meatus) में तथा पश्चात् समुदाय के विवर ऊर्ध्व सुरंगा (Superior Meatus) में और जतुक झर्झरावकाश (Spheno ethmoidal recess) में खुलते हैं।

तीव्र वायुविवर या अस्थिकोटर शोथ—(Acute sinusitis) इसका अर्थ होता है वायु विवरों के ऊपर चढ़े श्लेष्मलकला का शोथ।

हैतुकी—नासा के भीतर की कोई भी अवस्था जो वायुविवरों का वायुसंचार या बहाव (Drainage) में बाधा पैदा करे, वह वायुविवरों को उपसर्गयुक्त कर सकती है। जब उपसर्ग स्थापित हो जाता है, तो प्राकृतिक स्रोतसों या छिद्रों के मार्ग रुद्ध हो जाते है, जिससे रोग का अच्छा होना अधिक कठिन हो जाता है।

वायुविवरों के उपसर्ग का एक सामान्य हेतु नासाजवनिका का विकार है (Defects of the Nasal septum)। मध्य सुरंगा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

भाग में नासामार्ग इसके कारण सँकरा हो जाता है और उसमें शो-
होता रहता है—जिसके कारण वायुविवरों के छिद्र बन्द हो जाते हैं।
स्राव का नासास्रोतस में एकत्रित (Accumulation of secreti-
ons) होने के कारण उपसर्ग का प्रसार समीपस्थ अङ्गों से होकर वायु-
विवरों तक पहुँचता है और शोथ की उत्पत्ति कर देता है।
भूयो भूयः होने वाला अनूर्जताजन्य परिस्रव, (Vosomotor
Edema), अर्बुद तथा विजातीय द्रव्य या शल्य (Foreign bodies),
दाँतो के मूल का उपसर्ग (Infection of the roots of the teeth)
ऊर्ध्व हन्वस्थिविवर शोथ के कारणभूत हो सकते हैं। उपसर्ग का
प्रसार नासागुहा के फर्श से होते हुए वायु-कोटरों तक पहुँचता है।
तीव्र उपसर्ग की अवस्था में नाक की अधिक एवं जोर से साफ
करना (Excessive blowing of the nose) रूप क्रिया से उपसर्ग-
युक्त द्रव्य विवरों तक पहुँच सकता है। इस प्रकार नासावस्ति (Nasal
doushe) भी प्रारम्भिक उपसर्ग की अवस्था में उपसर्ग को विवरों में
पहुँचाने में भाग ले सकता है। पानी में डुबकी लगाना (अवगाहन)
तथा पानी में डूब कर तैरना भी (Diving and underwater
swimming) रोगोत्पादन में भाग लेते पाये गये हैं—इन कारणों से
हठात् उपसर्गगत द्रव्य का प्रवेश अस्थिकोटरों में हो जाता है।
वैकृतिकी—वायु विवरगत श्लेष्मलकला-शोथ की सभी अवस्थाओं
से गुजरती है। उससे स्राव निकलता है। पश्चात वह पूयाभ (Purule-
nt) हो जाता है। प्रारम्भ में कोषाङ्कुर (Ciliary activity) की क्रिया
बहुत बढ़ी रहती है, परन्तु जब बाद में उपसर्ग में स्थैर्य आ जाता है
तो कोषाङ्कुर-क्रिया प्रभाव-हीन हो जाती है, प्रत्युत कोषाङ्कुरों का नाश
(Destruction of cilias) होने लगता है। विवरों की श्लेष्मलकला
मोटी या घनी (Thickening) होने लगती है। कई बार इतनी मोटी
हो जाती है कि अर्शाङ्कुरवत् (Polypoid) हो जाती है और बहुत
उपसर्ग की अवस्था में वायुविवरों का पूरा अवकाश फूली हुई श्लेष्मल-
कला से भर जाता और गुहा का मुख बन्द हो जाता (Cavity
being obliterated) है। जहाँ पर अधिक दिनों से पाकोत्पत्ति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योत्पादन चल रहा है वहाँ श्लेष्मलकला का रूप रोहण धातुओं Granulation tissues) के समान हो जाता है और विकारी जीवाणु अधोश्लेष्मल तन्तुओं (Submucous) में या अस्थि में भी पाये जा सकते हैं। पश्चात् सौत्रिक तन्तुओं का वहाँ पर निर्माण हो जाता है और वह बहुत कड़ा हो जाता है।

कभी कभी एक पार्श्व के सभी विवर अथवा दोनों पार्श्व के सभी वायुविवर शोथयुक्त हो सकते हैं। उस अवस्था को सर्वविवरशोथ या बहुविवरशोथ (Pansinusitis) कहा जाता है।

विवरशोथ का निदान—कुछ लक्षण सामान्यतया सभी विवरशोथों में मिलते हैं। उदाहरण के लिये शिरोवेदना या शूल, जिसका अनुभव विशेषतः उस विशेष अङ्ग पर होता है जहाँ का वायुविवर विकृतियुक्त होता है। सार्वदैहिक लक्षणों में उच्च तापक्रम (ज्वर) तथा नाड़ी तीव्र गतिक होती है। विवर के छिद्रों के बन्द या खुले रहने के अनुसार नासास्राव का अभाव या भाव होता है। विकारयुक्त विवर पर आमतौर से स्पर्शनाक्षमता होती है। केवल एक वायुविवर भी दूषित हो सकता है; परन्तु सामान्यतः सभी विवर सामूहिक रूप में ही दूषित मिलते हैं।

यदि नासागत उपसर्ग के परिणामस्वरूप विवरशोथ हुआ हो तो प्रारम्भिक लक्षण प्रतिश्याय के अनुरूप रहेंगे। परन्तु यदि इसका अस्तित्व नहीं रहा हो या अज्ञात रूप में ही प्रतिश्याय के लक्षण रहे हों तो विवरशोथ के प्रारम्भ में शीत के साथ ज्वर और नाडी की तीव्र गति प्रभृति शुरूवात के चिह्न मिलेंगे।

वायुविवरों की परीक्षा करते हुए शिरःशूल का काल एवं अवस्थान तथा अधिकतम स्पर्शाक्षम स्थल (Position, time & Maximum Tender spot) का ज्ञान करना आवश्यक होता है।

दूसरी परीक्षा नासादर्शन की है जिसके द्वारा तत्स्थानगत पूय तथा शोथ के उद्भव का कारण स्थिर किया जा सकता है। (Posture-test)[1]।

१. स्थित्यात्मक कसौटी (Posture test)—प्रथम मध्यसुरंगागत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

क्ष किरण के द्वारा तथा दीपपरीक्षा या पारदर्शी परीक्षा[1] (T illumination test) के द्वारा निदान को स्थिर किया जा है। वेधनकर्म (Proof puncture) के द्वारा किसी भी वि परीक्षा कर लेनी चाहिये। पश्चात् उस द्रव की (Puncture & B eriological) तृणाणु परीक्षा करनी चाहिए।

स्पर्शनाक्षम स्थान—पुरःकपाल विवरशोथ (Frontal sinusi में पीड़ा और स्पर्शनाक्षमता विवर के फर्श पर होती है—पुरोभा वेधन पीड़ा कर होता है।

झर्झरास्थि—विवर-शोथ-में पीड़ा का अनुभव आँखों के पीछे राई में स्थित क्षेत्र में होता है एवं स्पर्शनाक्षम स्थान नासा के पा होता है। अतः अपाङ्ग (Inner canthus) के नीचे होता है।

ऊर्ध्व हन्वस्थि विवरशोथ—पीड़ा का अनुभव एक सीमित स्था भेदक खात में (Canine fossa) तथा ऊपरी दाँतों में होता गुहा के ऊपर पीडन करना स्पर्शासह्य होता है।

जतुकास्थिविवर शूल—शिरोःकपाल के केन्द्र भाग में पीडा अनुभव होता है इसका प्रसार शंखप्रदेश तथा गर्दन के पीछे भी सकता है (घाटा) कान के पीछे तथा गले के दोनों पार्श्वों (मन् में भी हो सकता है और पीडा का अनुभव इन सभी स्थानों में हो

(Middle Meatus) के पूय का प्रमार्जन कर लेते हैं, फिर सिर को स्थिति में रखते हैं ताकि ऊर्ध्वहन्वस्थिविवर (Maxillary Sinus) भाग में आ जावे। कुछ मिनटों के वांद पुनः मध्य सुरंगा का पुनः निरी किया जाता है। यदि पूय की उपस्थिति रहती है तो विवर में पूय का दिखलाई पड़ता है।

१. रोगी के मुख के भीतर एक विद्युत प्रकाश रखकर अंधकार में प करते हुए देखना चाहिये। स्वाभाविक अवस्था में प्रकाश रोगी की अस् से होते हुए स्वच्छ दिखलाई पड़ता है। यदि किसी अस्थिविवर में पू पूयाभ द्रव्य की उपस्थिति रही तो उस विशेष स्थल पर प्रकाश की मंदता जावेगी एवं उस विशिष्ट वायु—विवर को उपसृष्ट समझा जावेगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सका साम्य शिरोरोग में पठित प्राचीनों के अनन्तवात नामक रोग से है।

नासागत चिह्न—अधिकतर वायु विवरशोथ के रोगियों में नासागत चिह्न पाये जाते हैं। उपसर्ग की स्थिति के अनुसार नासागत श्लेष्मल-कला लाल तथा सूजी हुई रहती है। यदि तीव्र प्रतिश्याय के काल में तीव्र विवरशोथ प्रारम्भ हो जाय तो उस समय नासा बहुत रक्ता-धिक्य युक्त रहती है और विवरविकार का ज्ञान नहीं हो पाता। पुरो-विवर समुदाय के उपसर्ग में मध्यशुक्तिका लाल, सूजी और चमकती हुई दीखती है। फणी (अनसिनेट) प्रवर्द्धन व्यक्त हो जाता है। मध्य सुरंगा (Meatus) बन्द हो जाता है और उससे बूँद बूँद करके पूय निकलता रहता है (Trickling of pus seen coming from ...)। पश्चात् विवरसमुदाय (Post.-group) के उपसर्ग में श्लेष्मल-कला के ऊपरी और पीछे वाले भाग में ही विकार दृष्टिगोचर होता है। मध्यशुक्तिका (Turbinate) के पश्चात् भाग में पूय की उपस्थिति ...लेगी या जतुक झर्झरावकाश (Spheno Ethmoidal recess) से ...ता हुआ दिखाई पड़ेगा या आगे से देखने पर गन्धग्राही क्षेत्र की ...लिका (Olfactory Sulcus) में दिखाई पड़ता है।

विवरशोथ की चिकित्सा के सिद्धान्त—विवरशोथ की चिकित्सा निम्न-...देश्यों को ध्यान में रखते हुए की जाती है—१. कोषाङ्कुर क्रिया (Ciliary activity) को उत्तेजित करना और २. प्राकृतिक स्रोतसों से ...र्याप्त मात्रा में प्रवाह को अक्षुण्ण बनाये रखना (Adequate drainage through the normal Channels). जिस प्रकार नासा ...स्वास्थ्य के लिये वायुसंबन्ध का अविच्छिन्न रहना अच्छा माना जाता है उसी प्रकार वायुविवरों के वायुसंचार का भी महत्व है। यदि कोषाङ्कुर-क्रिया सुचारु न हो तो नासागत स्राव स्थगित और ...द्ध हो जाता है और उपसर्ग का प्रसार वायुविवरों में हो जाता है। अस्तु, विवरों के स्वास्थ्य के लिये नासागत कोषाङ्कुर-क्रिया का ठीक ...ना आवश्यक हो जाता है। दूसरा महत्त्व कोषाङ्कुर-क्रिया का यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, कि जब तक इसकी क्रिया ठीक रहती है, स्राव बाहर नि
रहता है, तब तक नासा संबन्धित विवरों के छिद्र खुले रहते है
उनका बाह्यवायु का संबन्ध ठीक रहता है। उनमें वायुसंचार सु
रूप से बना रहता है और किसी प्रकार की बाधा का अनुभव रो
नहीं होता है। अस्तु, विवरविकार की चिकित्सा में इन्हीं
को लेकर प्रयत्न करना होता है, जिसका संक्षेप में आगे स्पष्टी
किया जा रहा है।

तीव्र विवरकलाशोथ की चिकित्सा—वायु-विवरों के छिद्रों को
तथा बहाव को जारी करके दोषों को निकालने के लिये चिकित्स
आवश्यकता पड़ती है। इस क्रिया के द्वारा शिरःशूल कम हो
है। नासागत रक्ताधिक्य की भी एक ऐसी ही अवस्था है जिसके
विवरों का प्रवाह (Drainage) रुद्ध हो सकता है। अस्तु, ऐसे
जो नासागत श्लेष्मलकला के संकोचक हों–प्रयोग में लाने चाहिये

सबसे सरल और प्रभावशाली चिकित्सा का एक उपाय वाष्पप्र
या धूमप्रयोग माना (Steam inhalation) जाता है। ओषधि
वाष्पों का प्रयोग करने के लिये टिंक्चर बेन्जोयेन तथा मेंथाल मि
जा सकता है। यहाँ पर मेंथाल (पीपरमेण्ट) श्लेष्मलकला
संकोचक और अल्प मात्रा में पीडाशामक भी होता है। सोम
(Ephedrin) का सामान्य लवण-विलयन में घोल (१ से २%
बनाकर उसका स्थानिक प्रयोग एड्रेनेलीन की अपेक्षा अधिक देर
संकोचन का कार्य करता है। इस प्रयोग (बूंदों को छोड़ने या प्र
को थोड़ी थोड़ी देर के अन्तर से नासा में प्रक्षिप्त करते रहना चाहि

पुरोविवर समुदाय की पूयोत्पत्ति की अवस्था में जब मध्यम शु
के शोथ के कारण विवर के प्रवाह में रुकावट पड़ती है तब 'को
में भिगोये ऊन की पिचु को शुक्तिका (Turbinate) के ऊपर र
चाहिये, जिससे उसमें संकोचन (Shrinkage) हो जाय। और
पिचु (Pledget) को प्रति तीसरे या चौथे घण्टे पर बदलते
चाहिये जिससे शुक्तिका सदैव संकुचित (Shrunken) अवस्था
पड़ी रहे। अतितीव्रावस्था में केवल कोकेन का ही प्रयोग करना चा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(नासाव)स्ति (Doushing) इस अवस्था (Acute stage) में हितकर (न)हीं होती है, उसका प्रयोग जीर्णावस्था में ही उत्तम रहता है।

शिरःशूल के लिये कई प्रकार के संशामक (Paliative) व्यवस्थायें की जाती हैं जिन में विद्युत्तापन या प्रकाश (Radiant heat) एक महत्त्व का प्रकार है। इस क्रिया में एक लिण्ट के टुकड़े को सामान्य लवण-विलयन में भिगो कर निचोड़ कर रोगी की आँखों पर रख दिया जाता है, उस को स्थिर करने के लिये एक पट्टी भी बाँध दी जाती है। फिर लिण्ट को सामान्य लवणविलयन से आर्द्र कर लिया जाता है। सिर की स्थिति के सम्बन्ध में काफी सावधानी रखनी चाहिये ताकि उसकी स्थिति सुख प्रविचार (Comfortable) हो और ग्रीवा असंकुचित रहे। फिर उसके बाद प्रकाश या विद्युद्दीप को एक एक करके घुमाते चलते हैं। तापक्रम को ११०° से लेकर ११५° फेरनहीट तक उच्चतम किया जा सकता है। पहली बार में पन्द्रह मिनट के लिये यह ताप दिया जाता है। परवर्त्ती दिनों में क्रमशः बढ़ाते हुए आधे घण्टे तक तापन किया जाता है। फिर उसके बाद पूरे चिकित्सा काल भर प्रतिदिन आधे घण्टे का तापन ही रखा जाता है। उष्णता बनाये रखने के लिये पूरे स्थान को बरसाती कपड़े (Mackintosh) से ढक कर रखना चाहिये। स्नान के बाद पीपरमेण्ट (मेंथाल) का प्रधमन करना चाहिये। स्नान के बाद रोगी को चिकित्सालय में आधे घण्टे तक रख कर पश्चात् छोड़ना चाहिये।

इसमें हमेशा शिक्षित (Trained) व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कई बार इसके प्रयोग से लाभ नहीं होता वैसी दशा में शीत प्रयोग से उपशम हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के उष्णस्वेद (Hot packs) शोषक (Soaks) तथा हिमदृति (Ice bags) का भी प्रयोग व्यक्ति विशेष में लाभप्रद हो सकता है।

इन स्थानिक उपायों के अतिरिक्त सार्वदैहिक उपशमात्मक (Sedative) योगों का भी व्यवहार लाभप्रद होता है। जैसे—सैलिसिलेट्स,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

कोडीन, जहाँ पर विषमयता के चिह्न दीख पड़ें शुल्व-अधिकार योग तथा पेन्सिलीन प्रभृतिभूतघ्न (Antibiotics) की व्यवस्था करनी चाहिये।

यदि विबंध हो तो रेचन देते रहना चाहिये। उपर्युक्त विधि से यदि कोई लाभ न दिखाई पड़े और उपसर्ग की स्थिति बढ़ती ही जाय तथा पीड़ा असह्य हो जाय तो यह आवश्यक हो जाता है, कि ऐसा सीधा उपाय किया जाय जिससे विवर के भीतर का तनाव (Tension) कम हो जाय और विवर में अवरुद्ध पूय का निकास हो जाय। इसके लिये निम्नलिखित पद्धतियाँ प्रचलित हैं। १. अस्थिच्छिद्र से नलिकाकरण (Cannulation through ostium) अथवा २. वेधन कर्म (Proof puncture) विवर को विद्ध करके छिद्र से सिरिंज (सिरीज) के द्वारा पूय का निर्हरण ३. अथवा प्रमाण-वेधन-नलिका (Proof puncture canula) के द्वारा आचूषण (Aspiration) करना। इतनी क्रिया छिद्र को खोलने, पीडन या भार को कम करने तथा रोगी को पूर्ण सुख पहुँचाने के लिये पर्याप्त होती है। वायुविवर के विशोधन के पश्चात् उसमें लवण-विलय में सोमसत्त्व का घोल (Ephedrin ½%) बनाकर प्रविष्ट कर देना चाहिये। इसके द्वारा विवर का धीरे धीरे शोधन होता रहता है तथा छिद्र खुले रहते हैं। स्थानिक चिकित्सा में इसी प्रकार 'पेन्सीलीन' का भी प्रवेश छिद्र से किया जा सकता है।

यदि इन उपायों से भी पूर्ण आराम दृष्टिगत न हो तो दूसरी पद्धति ४. विकृतियुक्त विवर में एक स्थायी छेद बनाना चाहिये जिससे निरन्तर का शोधन होता रहे। यह छिद्र एक सीमित स्थान में करना चाहिये (A limited drainage of the affected sinus) ५. यदि इस विधि से भी उपशम नहीं दृष्टिगत हो तो विभिन्न प्रकार के शस्त्रकर्मों के द्वारा बाहर से भेदन करके (Procedure to make an incision to allow the pus to drain out externally) पूय का निर्हरण करना चाहिये। जहाँ तक शस्त्रकर्मों को विवरशोथ की तीव्रावस्था में ...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रना चाहिये और औषधोपचारों से ही ठीक करना चाहिये क्योंकि स्थियों में उपसर्ग पहुँचने का खतरा रहता है।

चिरकालीन या जीर्ण विवर-शोथ की चिकित्सा

नासावस्ति (Nasal doushing)—नासा की वस्ति द्वारा प्रक्षालन करके यथोचित सफाई करके सोम का लवणविलयन में बना एक या दो प्रतिशत का घोल डालने की क्रिया को अनेक बार करते रहना जीर्ण विवर-शोथ की एक उत्तम चिकित्सा है। इसके द्वारा नासागत श्लेष्मलकला की सूजन कम होती, वायु-विवरों का मार्ग खुल जाता, तथा उपसर्ग का उपशम हो जाता है।

प्रक्षालन—बार बार छिद्र के द्वारा प्रमाण-वेधन (Proof puncture) के द्वारा अधःशुक्तिका में वेध करके उपसर्गयुक्त द्रव्यों को प्रक्षालन करते रहने से सुधार होता रहता है। इस क्रिया के द्वारा विवरगत श्लेष्मलकला प्रकृतावस्था में आती है, कोषाङ्कुरों में सुधार होता है और उनमें प्राकृतिक क्रियायें प्रारम्भ हो जाती हैं।

'डायोथर्मी' की छोटी तरंगें (Short waves of Diathermy)—भी विवरगत श्लेष्मलकला के सुधार में कुछ मूल्य की होती हैं।

शस्त्रकर्म—यदि उपगर्ग की अवस्था बहुत दिनों तक रही हो तथा 'क्ष-किरण' की परीक्षा के द्वारा नासार्श की उपस्थिति जान पड़े और पूय की उपस्थिति एवं द्रव की सतह दिखाई पड़े तो शस्त्रक्रिया के द्वारा (Radical treatment) निर्मूलन करना चाहिये। विभिन्न विवरों में उनके विभिन्न योग्य विधानों के अनुसार ये शस्त्रकर्म किये जाते हैं। जीर्ण विवरशोथ में 'पेन्सीलीन' का व्यवहार संतोषप्रद नहीं पाया गया है।

पूर्वगामी विकारों का प्रतिषेध—जीर्ण विवर-शोथ की चिकित्सा में क्ष-किरण के द्वारा निदान का ज्ञान बड़े महत्त्व का होता है। इसके द्वारा जिसके ऊपर चिकित्सा के उपक्रमों की व्यवस्था करनी होती है, उससे विकार का ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है। चिकित्सा करते हुए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

नासागत पूर्व विकारों का भी जिनके कारण विवरशोथ हुआ है, नासार्श या नासाजवनिका -विच्युति का भी इलाज करना आ होता है।

विवरशोथ के उपद्रव—अस्थिमज्जपरिपाक या शोथ (Osteo elitis), नेत्रविद्रधि (Orbital Abscess) शिराकुल्या रक्त स्त (Cavernous sinus thrombosis), मस्तिष्क विद्रधि (B Asbcess) और मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शालाक्यतन्त्र

शिरोरोगाध्याय

(A chapter on Headache or Diseases of the Accessary Nasal sinuses)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

सर्वेन्द्रियाणियेनास्मिन् प्राणाः येन संश्रिताः ।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

जिसमें प्राणियों के प्राण तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आश्रित हैं,
एवं जो शरीर के अङ्गों में उत्तम अंग है, उसको
शिर कहते हैं। इस उत्तमाङ्ग की रक्षा
में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१

शिरोरोग

व्याख्या—शिरोरोग नामक स्वतन्त्र अध्याय शालाक्यतंत्रान्तर्गत ऍषयों में प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में पाया जाता है। कर्णरोग, नासारोग, त्ररोग और मुखरोग प्रभृति वर्णनों में उन उन अंगों में होनेवाले ावतीय रोगों का वर्णन होता है। तद्तद् अंगों में विविध विकृतियों ा निदान तथा उनके होनेवाले लक्षणों, उपद्रवों तथा विपरिणामों का र्णन करते हुए उनके विविध आभ्यन्तर तथा बाह्योपचारों का वर्णन ाया जाता है। शिरोरोग के सम्बन्ध में भी सामान्यतया यही समझा ाता है कि शिर के बाह्य तथा अन्तस्थ भागों में होनेवाली सभी ्कृतियों का उल्लेख आवश्यक है।

वस्तुतः शिरःस्थान में होनेवाले जितने भी रोग हैं, उन सभी ्कृतियों का संग्रह करके उनकी हेतु, लक्षण, निदान एवं चिकित्सा ा वर्णन करना प्राचीन ग्रंथकारों का उद्देश्य नहीं रहा, बल्कि शिरो- गों का एक पारिभाषिक अर्थ में ग्रहण करके कुछ सीमित रोगों का ाख्यान करना प्राचीनों का मन्तव्य था। कई आधुनिक ग्रन्थकारों ने ापने शिरोरोग के संग्रहों में शिरोविद्रधि, शिरोग्रन्थि, शिरोर्बुद, अरुं- ाका, दारुणक, खालित्य, पालित्य, इरिवेल्लिका, यूकालिक्षा अनुशयी था अन्यान्य बृहन्मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क और वातसंस्थान की विकृतियों ा वर्णन किया है। वास्तव में आयुर्वेद के शास्त्रीय वर्गीकरण के ानुसार शिर में होनेवाली विद्रधि का सामान्यविद्रधि के अधिकार में ्थि और अर्बुद का सामान्य ग्रंथि और अर्बुद नामक शल्यतन्त्रान्तर्गत ऍषयों में कुछ रोगों का क्षुद्ररोगाधिकार में और बहुत से ऐसे रोगों का ायचिकित्सा से सम्बन्धित वातरोगाधिकार में वर्णन किया हुआ मिलता ै। वास्तव में शिरोरोग शब्द का एक विशिष्ट अर्थ में ग्रंथों में प्रयोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

हुआ है।[1] शिरोरोग शब्द से सामान्यतः शिर में होने वाली व्या
का निदान लिया जाय तो इसमें दो दोष आते हैं। पहला तो
सूर्यावर्त्त अनन्तवातादिकों से शिरोरोग क्या होगा ? क्योंकि
स्वयं ही रोग है। दूसरा दोष इसमें यह आता है कि यदि शिरो
शिर में होने वाले रोग लिये जायँगे तो इसमें पलित, इरिवेल्लिका
रोगों का भी सन्निवेश होना चाहिये, क्योंकि ये सिर में ही हो
परन्तु शास्त्रीय पाठों में उनका इस अधिकार में पाठ नहीं दिख
पड़ता। अस्तु, शिरोरोग शब्द से 'शिरोगत शूलरूपा रुजा' (शि
होनेवाली पीड़ा या शूल) का कथन ही समझना चाहिये। यदि
नहीं होता तो सूर्यावर्त्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक और शंखक
व्याधियों का वर्णन शिरोरोग के अधिकार में असंगत होता, क्यों
तो स्वयं ही रोग हैं। यदि शिरोरोग से शिरःशूल समझा जाय तो
रोगों का इस अध्याय में सन्निवेश ठीक है क्योंकि उन सभी रो
शिरःशूल होता है। अस्तु, उनका एक अधिकार में पाठ संगत
है।[2] संक्षेप में कहना हो तो शिरोरोग से शिरःशूल या पीड़ा का
होता है न कि शिर में होने वाले रोग।

यद्यपि वाग्भट ने अपने शिरोरोग के सम्बन्ध में कई एक (
बाह्य शिरोरोगों का भी वर्णन किया है, फिर भी उनका व्यपदेश से
शूल के अंदर ही समावेश किया जा सकता है जैसे 'छत्रिणो गच्छ
छातेवाले जा रहे हैं ऐसी उक्ति होने पर कुछ बिना छाते वाले
ग्रहण हो जाता है। अस्तु, शिरःशूल व्यतिरिक्त इन बाह्य रो
वर्णन शिरोरोगाधिकार में अपवाद रूप में ही समझना चाहिये।
रोगों में ऐक्य इतना ही भर है कि इनका भी प्रादुर्भाव शिर में ही

१. शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाभिधीयते तेन सूर्यावर्त्तानन्तवा
वभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुत्पद्यते, अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शि
जायन्त इत्यसंगतं स्यात्। (मधु० कोष शि० रो०।

२. तेन नारुंषिकादयोऽत्र प्रकरणे शिरोरोगशब्देनोच्यन्ते, शिरोरोग
शूल एव रुजाकरे वृत्तत्वात्। (चक्रपाणि टीका च० सू०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

। अत एव शिरोरोगों के साथ ही इनका वर्णन कर देना उचित समझा गया है।

अष्टाङ्गहृदय में ऐसे नौ रोग गिनाये गये हैं—१ उपशीर्षक, २ शिरोविद्रधि, ३ सिरोग्रंथि, ४ शिरोर्बुद, ५ अरुंषिका, ६ दारुणक, ७ इन्द्रलुप्त, खालित्य, ९ पलित—जिनमें प्रथम को छोड़कर शेष सभी का वर्णन शल्यतंत्र के क्षुद्ररोगाधिकार अथवा अन्यत्र यथास्थल (शल्यतंत्र में) किया जा चुका है।

वक्तव्य—शिरोरोग का सामान्य अर्थ है शिरःशूल (Headache) परन्तु यदि अनन्तवात, अर्धावभेदक, सूर्यावर्त्त प्रभृति शिरोरोगों का इस प्रसंग में विचार किया जाय तो स्वतंत्र रोग हैं, जिनमें सबसे प्रधान लक्षण शिरःशूल का होना पाया जाता है। अतएव शिरोरोग का विशिष्ट अर्थ में यहाँ पर प्रयोग हुआ है; ऐसा समझना चाहिये। आगे चलकर इन रोगों के विस्तृत वर्णनों को देखने का अवसर मिलेगा, यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तवात, सूर्यावर्त्त, शंखक एवं अर्धावभेदक प्रभृति रोग नासा से सम्बंधित शिरः कपालगत छिद्रों वायुकोषों या नासाकोटरों के विकार हैं—इन व्याधियों में शिरःशूल का होना एक प्रधान लक्षण है। शिरःशूल के अतिरिक्त इनमें अन्यान्य लक्षण-समूह भी मिलते हैं, परन्तु प्रधान लक्षण (शिरःशूल) के अधिक व्यक्त रहने के कारण वे गौण रहते हैं। इनके प्रतिषेध में नासारंध्र से नावन, अवपीडन, धूपन, ध्मापन, प्रभृति तीव्र शिरोरेचक उपचारों का वर्णन इन नासा संबन्धी वायुकोषों या कोटरगत दोषों के निर्हरणार्थ है। इसी लिये तो चरकाचार्य ने लिखा है 'द्वारं हि शिरसः नासा' शिरोगत विकृतियों का एक मात्र द्वार नासा है। उसी के द्वारा दोषों का निर्हरण शिरोविरेचन के द्वारा करने से शिरोरोग शान्त होते हैं।

इसी भाव का ग्रहण करते हुए लेखकने शिरोरोगाध्याय का पर्याय 'हेडेक' (सामान्यार्थ में) तथा 'एकसेसरी नैजल पैसेजेज' के विकार का (विशिष्टार्थ में) कथन इस पुस्तक में किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रकारभेद तथा संख्या—माधवनिदान के संग्रह में शिरोरोग ग्या
प्रकार के माने गये हैं (१) वातिक (२) पैत्तिक (३) श्लै
(४) त्रिदोषज (५) रक्तज (६) क्षयज (७) कृमिज (८) सू
(९) अनन्तवात (१०) अर्द्धावभेदक (११) शंखक। सुश्रुत,
प्रकाश, गदनिग्रह, आयुर्वेदविज्ञान और योगरत्नाकर प्रभृति ग्रंथ
मत का समर्थन करते हैं। विदेह ने भी अपने तंत्र में ग्यार
शिरोरोग माने हैं। कुछ अन्य आचार्यों ने शिरोरोग के दस
बतलाये हैं। उनके मत से 'अनन्तवात' नामक रोग का उल्लेख
रोगों में नहीं होना चाहिये, क्योंकि सर्वगत नेत्ररोगों के वर्ण
'अन्यतो वात' नाम से उसका वर्णन सुश्रुत में पाया जाता है।
'अन्यतो वात' के वर्णन में ही 'अनन्तवात' रोग का ग्रहण हो जाता
इसीलिये वे आचार्य सुश्रुत में कथित 'सूर्यावर्त्तानन्तवातार्धावभे
शंखकैः। एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते'। के स्थान पर 'सू
वर्त्तावभेदाभ्यां शंखकेन तथैव च। दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं सं
क्ष्यते'। ऐसा पाठान्तर मानते हैं। किन्तु यह मत संगत नहीं प्र
होता, क्योंकि अन्यतोवात वातिक रोग है। जैसे सुश्रुत ने साध्यास
विवेचन में बतलाया भी है कि 'याप्योथ तन्मयः काचः साध्याः
सान्यमारुतः' परन्तु अनन्तवात त्रिदोषज है 'अनन्तवातं तमुदाह
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्।' अन्यतो वात में (वायु) दोष
आदि नियत स्थानों में तथा अन्य स्थानों पर भी स्थित होकर
को उपजाता है किन्तु अनन्तवात में तीनों दोष उन-उन स्थानों में
स्थित होते हैं। साथ ही ब्रह्मदेव आदि विद्वान् विदेहादि आचार्य
इन्हें पृथक्-पृथक् मानते हैं। अतः ग्यारह प्रकार के शिरोरोगों
कथन ही उचित प्रतीत होता है। आचार्य चरक ने संहिता में
रूप से वातज, पित्तज श्लेष्मज, त्रिदोषज और कृमिज पाँच

१. पृथग्दिष्टास्तु ये पञ्च संग्रहे परमर्षिभिः।
शिरोरोगदांस्ताञ्छृणु मे यथास्वैर्हेतुलक्षणैः। (च. सू. १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोरोगों को बतलाया है[1], किन्तु कहते हैं कि प्रतिश्याय, मुखरोग, सारोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, शिरोभ्रम, अर्दित, शिरःकम्प, गलग्रह, न्यास्तम्भ, हनुग्रह, अन्यतोवात आदि के कारण भी सिर में दर्द होता । वहाँ पर शिरःशूल लक्षण रूप में मिलता है। फलतः वे स्वतन्त्र ग हैं उनके अन्तर्गत ही उनकी निदान-चिकित्सा के भीतर ही उन क्षणों का अन्तर्भाव करके चिकित्सा करनी चाहिये।

शालाक्य तन्त्र की एक उक्ति माधवनिदान की मधुकोष टीका में लती है कि 'सभी शिरोरोग सन्निपातजन्य ही होते हैं किन्तु द्वानों ने दोषों की उत्कटता को देखकर दोषानुसार उनके दस भेद रके वर्णन कर रखा है[2]।' यहाँ पर दस जो शिरोरोगों के भेद तलाये गये हैं उसका कारण सन्निपातज शिरःशूल के दो भेदों का क ही मानकर गणना की गई है। सन्निपात के दो भेद होते हैं कृतिसम समवाय और विकृति विषम समवाय। यदि इन दोनों दों से दो भेद माने जायँ तो शिरोरोगों की कुल संख्या पूर्ववत् ग्यारह रह जायेगी।

दोषभेद से *शिरोगतरोगों का विचार*—सभी शिरोरोग त्रिदोषज होते फिर भी दोष विशेष की उत्कटता या प्रबलता के अनुसार उनके शिष्ट वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक या सान्निपातिक भेद माने जाते हैं। विकृति विषम समवाय से जानना चाहिये अन्यथा सभी शिरोरोगों सन्निपातज होने से पृथक् कथन व्यर्थ होगा। इसमें विकृति विषम वेतपन कारण भेद से जानना चाहिये न कि विरुद्ध लक्षणों से क्योंकि व्याधि स्वभाव से विरुद्ध लक्षण नहीं होते) और वह कारण-उल्वण सभी दोषों से होने के कारण जानना चाहिये। जैसे त्रिदो-

१. शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेण क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ।
सूर्यावर्तनन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ।

२. सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः ।
औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदादश । (मधुकोष)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

षज राजयक्ष्मा में स्वर भेदादिकों को उत्पन्न करनेवाले वातादि
उत्कटता होती है, वैसे यहाँ भी जानना चाहिये। जैसा चरक में
है 'त्रिदोषज शिरोरोगों में वायु से शूल, भ्रम और कम्प, पित्त से
मद और तृष्णा, एवं कफ से गौरव और तन्द्रा होती है।' विकृति
समवाय में कारणानुरूप कार्य नहीं होता जैसे हरिद्रा और चूर्ण (
का संयोग। इस संयोग से उत्पन्न लालिमा कारणानुरूप नहीं
क्योंकि कारण द्रव्य लालवर्ण के नहीं रहते। उसी प्रकार यदि स
विकृति विषम समवाय का है, तो उसमें वातोल्वण शिरोरोगादि
लक्षण नहीं होने चाहिये, प्रत्युत वहाँ तो वातादि के संयोग से
चिह्न मिलने चाहिये। इसका उत्तर यह है कि यहाँ विकृति
समवाय हरिद्रा चूर्ण संयोगजन्य लौहित्य की तरह विरुद्ध लक्ष
नहीं समझना चाहिये, बल्कि यहाँ तो विकृति विषम समवाय से
भेद से जानना चाहिये और वह कारण भेद सभी दोषों की उल
से अनुमान में लाना चाहिये। जैसा कि त्रिदोषज राजयक्ष्मा में
भेद आदि लक्षणों को उत्पन्न करने वाले वातादिकों का उत्कटपन
जाता है वैसे ही प्रकृत में शूलादिलक्षणों को उत्पन्न करनेवाले वाता
का उल्वणपन जानना चाहिये।

इसी प्रकार से दोषोल्वणता का विचार अवशिष्ट शिरोरोगों में
करना चाहिये। सूर्यावर्त्त को सुश्रुत ने द्विदोषज (वातपित्तज)
अन्य ग्रन्थकारों ने त्रिदोषज माना है। विदेह ने सूर्यावर्त्त विपर्यय ना
एक स्वतन्त्र रोग का वर्णन किया है; जिसे द्विदोषज बतलाया है जि
विशेष वर्णन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। अर्धावभेदक में
और कफ की विकृति प्रधान होती है, एवं अनन्तवात एवं शंखक त्रि
विकार हैं। क्षयज में धातुक्षयोत्थ वायु की वृद्धि के कारण पीड़ा
है। क्रिमिज शिरोरोग क्रिमिजन्य होने से वातश्लेष्मज या त्रिदोषज
है। इस प्रकार की दोषबल कल्पना शिरोभिताप के सम्बन्ध में प्रा
ग्रन्थों में मिलती है।

शिरोरोग सम्बन्धी आलोचनात्मक विचार—शिरोरोग के कई
नाम मिलते हैं जैसे—शिरोभिताप, शिरःपीडा, शिरोवेदना और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त आदि ये सभी एक ही अर्थ के द्योतक होते हैं 'शिर में दर्द होना।' ग्रेजी भाषा में कहना हो तो इसे 'हेडेक' कहेंगे। अब शंका उठती कि शिर में दर्द होना तो एक लक्षण मात्र है जो कई रोगों में अनुबंध आनुषंगिक) रूप से पाया जाता है फिर उसको स्वतन्त्र रोग मानकर चिकित्सा करने का क्या तात्पर्य है।

भीतरी विकृति का ज्ञान दो प्रकार से होता है। जो ज्ञान रोगी स्वयं अनुभव करता है उसको स्वप्रत्ययज्ञेय (Subjective) और दूसरा अनुभव करता है उसको परप्रत्ययज्ञेय (Objective) कहते हैं। स्वप्रत्ययज्ञेय ज्ञान को व्यवहार में लक्षण तथा परप्रत्ययज्ञेय को भौतिक चिह्न (Physical Signs) कहते हैं। तो शिरःशूल (शिरोरोग) एक स्वप्रत्यय लक्षण मात्र है। इसको स्वतंत्र व्याधि कैसे मान लिया जावे।

वास्तव में रोग और लक्षण में बहुत थोड़ा अन्तर है। प्रत्येक रोग अनेक लक्षण हुआ करते हैं, अर्थात् प्रत्येक रोग अनेक लक्षणों का समूह होता है उस समूह में एक एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है, परन्तु सम्पूर्ण लक्षणों का समूह अन्य रोगों में नहीं मिल सकता। जैसे ज्वर असंख्य रोगों का एक लक्षण होता है[1], परन्तु यदि उसके साथ रक्तष्ठीवन, खाँसी और कृशता आदि दूसरे लक्षण मिल जायँ तो वह लक्षण समूह राजयक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य रोगों में नहीं मिलता। आयुर्वेद की परिभाषा में ऐसी बहुत सी व्याधियाँ हैं जिनमें एक ही लक्षण होता है फिर भी स्वतन्त्र व्याधियाँ मानी जाती हैं। शिरोगत रोगों में तो शिरःशूल के अतिरिक्त भी अनुषंगी लक्षण पाये जाते हैं। अस्तु, उनका स्वतन्त्र व्याधिरूप में वर्णन ग्राह्य है।

दूसरी बात यह है कि प्राचीन चिकित्सा विद्या में लाक्षणिक चिकित्सा की प्रमुखता मानी जाती है, वहाँ पर दोष की अंशांश कल्पना ही

१. लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते ।
बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनाञ्च बहूनि च
विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरोमतः । (चरक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रधान रूप से विचारणीय होती है। चिकित्सक के लिये निदान के लिये प्रत्येक रोग के लिये प्रत्येक रोग का नामकरण आवश्यक नहीं क्योंकि विकार असंख्य हैं उन सभी के नाम का अस्तित्व संभव नहीं। अस्तु, रोग के नामकरण में अकुशल चिकित्सक को लज्जा या संकोच नहीं करना चाहिये और ठीक प्रकार से दोष के बलाबल, अंशांश, उल्वणता प्रभृति का ज्ञान करके चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये।[1]

आजकल निदान करने के लिये अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी अनेक बार रोग का नामकरण करने में चिकित्सक असमर्थ रहता है। फिर भी वैद्यकीय विधि से प्रत्येक रोग का ज्ञान व्यापक रूप से (त्रिदोष सिद्धान्त) के अनुसार कर लिया जाय तो रोग का नाम निश्चित कर लाने में असमर्थ होने पर भी चिकित्सा में सफलता मिलने की कुछ आशा रहती है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर चिकित्सक उपक्रम आयुर्वेद में शिरोरोग में बरतते हैं।

आधुनिक विचार—आधुनिक युग में वैज्ञानिक शिरःशूल को लक्षण मानते हैं और उसके संबन्ध में निम्नलिखित ढंग से करते हैं।

शिरःशूल का होना मस्तिष्करोगगत लक्षणों में एक सामान्य चिह्न है। इसके कारण आक्रमण की विधि, अवधि तथा में बहुत प्रकार की विविधता पाई जाती है। इसके साथ अन्य गिक लक्षण जो रोग विशेष में मिलते हैं वे भी विविध प्रकार के होते

हेतु—शिर में होने वाली पीडा को ग्रहण करने वाली निम्नलिखित हैं।

१. *बहिर्मस्तिष्कगत कारण*—सभी कपालास्थियों के आवरण विशेषतः कपालास्थियों के ऊपर की पेशियाँ और धमनियाँ।

२. *अंतर्मस्तिष्कगत कारण*—शिरोगुहा की भीतर की रचना बड़ी बड़ी शिराकुल्या (Sinus) तथा उनकी शाखायें तथा बहिर्म

१. विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कथञ्चन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥ (च० सू०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तथा आधार की धमनियाँ (Dural, Basal & Basal dural) पाँचवीं, नवीं और दसवीं शिरोगत मस्तिष्क नाड़ियाँ तथा ऊपर तीन ग्रैवेयक नाड़ियाँ पीड़ा की संवेदना का द्योतन करती हैं।

३. *मस्तिष्क सूत्रमार्ग*—पीड़ा का मार्ग (Pathways) पंचम शिरस्क तष्क नाड़ी में ही रहता है। पीड़ा का अनुभव अधिकतर शिर के मुख, पार्श्व तथा शंख प्रदेश (पुरः, शंख एवं, पार्श्वभाग Fronto, rietal and temporal regions) में ही होता है।

ऊपर लिखी गई जो पीड़ा की संवेदना ग्रहण करने वाली रचनायें लाई गई हैं इन्हीं एक या दो या सभी पर शिरोगुहागत या मस्तिष्क-रोग का प्रभाव पड़ने से शिरोवेदना का अनुभव व्यक्ति को होता मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियाँ अथवा रक्तवह रचनाओं के विपरिवर्त्तन परिणामस्वरूप विविध प्रकार के शिरःशूल होते हैं, यदि इन रचनाओं किसी कारण अपकर्षण (Traction), स्थानान्तरण (Displacement), विस्तृति (आध्मान या Distension) अथवा शोथ हो तो पीड़ा की संवेदना होने लगती है।

अस्तु, (क) मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों का आध्मान या विस्तृति पैदा करती है। ऐसी अवस्था ज्वर, विजातीय प्रोटीन, उपसर्ग, णुमयता, नाइट्राइट और कार्बनमनोक्साइड विष, श्वासावरोध, स्मार के दौरे के बाद और भावावेश में पाई जाती है और रोगी :शूल का अनुभव करता है। (ख) प्रधान मस्तिष्कगत कारणों में मस्तिष्कगत अर्बुद, मस्तिष्कावरणशोफ अथवा जबड़े या गर्दन की भी संवाहित होकर शिर तक जा सकती है। (ग) मस्तिष्क सुषुगत वारि की मात्रा यदि अधिक हो जाय तो अंतःमस्तिष्क का भार tracranial pressure) बढ़ जाता है। पीड़ा शिर में उत्कट होने ती है। यदि कहीं मस्तिष्क सुषुम्ना वारि का भार कम हो जावे तो के द्वारा अंतःमस्तिष्कगत रक्तवाहिनियाँ विस्तृत (Dilatated) जाती हैं और उन वाहिनियों के अपकर्षण (Traction) के कारण भी होने लगती है। यहाँ भी बहिर्मस्तिष्कगत धमनियों में विस्तृति या ध्मान होने से भी पीड़ा होती है। (ग) कपाल एवं ग्रीवा की पेशियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

का अधिक काल तक संकोच होना भी शिरःशूल पैदा करता है कि अर्धावभेदक में पाया जाता है। (घ) आँख, कान, नाक, दाँत तथा सिर के बाहरी भाग में होने वाले व्रणशोफ अथवा अन्य प्रकार की बाधा भी शिरःशूलकारक होती है।

शिरःशूल का वर्गीकरण—सरलता से शिरःशूल का ठीक करने के लिये कई प्रकार की जानकारी आवश्यक है, उसके कारण-भेद से उसका वर्गीकरण करते हुए सापेक्ष्य निदान के स्थिर निदान कर मूलभूत कारण पर पहुँचना होता है। इसलिये भेद से उसका वर्गीकरण नीचे किया जा रहा है। कारण प्रकारभेद :—

१. स्थानिक कारण—(क) पुरःकपाल के छिद्रों में शोथ त्पत्ति होना। जिसे पुरःकपाल वायुविवरशोथ (Frontal sinus कहते हैं। इस अवस्था में वह क्षेत्र मृदु और पीडनाक्षम हो जा नासास्राव होता रहता है। क्षकिरण के चित्र में क्षेत्र पारदर्शी (ns illuminated) हो जाता है जिससे निदान में सहायता हो (ख) शिर का अभिघात या अस्थिशोथ (ग) ग्रैवेयक सं (Fibrocitis)।

२. संवाहित पीडा—(क) नासा-प्रतिश्याय, नासा (Septum), विमार्गगमन या स्थानान्तरण। (ख) नेत्र-पर के दोष, निकट दृष्टिजन्य विषम दृष्टि (Myopic Astigmat इसमें दृष्टि के अतियोग से सिर की पीड़ा बढ़ती है, आँख को देने से बंद हो जाती है। तारामण्डल शोथ (Iritis) अधिमंथ (coma)। (ग) दन्तगतशोथ, मध्यकर्णशोथ। (घ) आमा अथवा गर्भाशय बीज ग्रंथिक परावर्तित क्रियायें (Reflex) भी शूल पैदा करते हैं।

२. वातिककारण—(वातनाडीजन्य कारण) (क) विशेषत रानाडीशूल (Trigeminal nerve) पीडा या तो विस्तृत होती है अथवा उपरिनेत्रप्रदेश में सीमित रहती है। (ख) मस्ति कारणोंमें फिरंग, मस्तिष्कावरणशोथ, अर्बुद, विद्रधि, अंतर्मस्तिष्क

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्फूति (Aueurysm), जलमस्तिष्क, बृहन्मस्तिष्कशोफ, मस्तिष्का-
णगत रक्तस्राव, अंतर्मस्तिष्कभार का कम या अधिक होना और खञ्ज
Lethargica) ।

४. शारीरिक कारण—(Constitutional) जीर्ण वृक्कशोफ, मूत्रवि-
षयता या सार्वदैहिक रक्तभार का बहुत ऊँचा अथवा नीचा होना,
धिरकायाणुमयता (Polycythemia), तीव्रपाण्डु, रक्ताधिक्य युक्त
हृद्यावसाद (Congestive heart failure) अपस्मार की पश्चाद्-
वस्था, योषापस्मार एवं अर्धाविभेदक, नव तथा जीर्ण मदात्यय, बच्चों
अनुबद्ध छर्दि (Cyclic), सामुद्र तथा वायुयान रोग इत्यादि ।
अम्लपित्त, जीर्णविबंध, जीर्णयकृच्छोफ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष,
अम्लमयता या क्षारमयता (Acidosis or Alkalosis), नवज्वर
विशेषतः विषमज्वर, आंत्रिकज्वर, मसूरिका, स्कारलेट ज्वर, मन्थरज्वर
(Typhus), पीतज्वर और वातश्लैष्मिकज्वर (Influenza), अंशु-
घात, उष्णातपदग्ध (Heat stroke) और भी कई अन्यकारण हैं
जिनकी वजह से सिर के ऊपरी भाग में पीड़ा होती है । जैसे योषाप-
स्मार, रक्तभाराधिक्य एवं उष्णातपदाह । सिर के पश्चाद्भाग में पीड़ा
करने वाले कई एक रोग होते हैं जैसे मस्तिष्कावरणशोथ, बृहन्मस्तिष्क-
परम्नागत फिरंग, लघुमस्तिष्कार्बुद, जीर्ण वृक्क शोफ, जीर्णगर्भाशय
और बीजग्रन्थि के रोग सौत्रशोथ, पेशीशूल तथा वातिकनाडी शूल ।

ज्ञातव्य—शिरःशूल का ठीक निदान करने के लिये कई बातों की
जानकारी आवश्यक है । इन बातों की जानकारी रोगी से पूछ कर की
जा सकती है । १. प्रश्न के द्वारा रोग का इतिवृत्त, अवधि, बलाबल,
और दौरे का ज्ञान । किसी विशेष समय पर होता हो या किसी
प्रकार की उत्तेजक परिस्थिति में बढ़ता हो अथवा किसी अभिघात का
इतिहास मिलता हो । २. यदि कुछ और भी रूप शूल के साथ मिलते
हों जैसे वमन, दृष्टि की विकृति या चक्कर आना तो उसका भी प्रश्न
से जानकारी कर लेनी चाहिये । ३. दृष्टिशक्ति के लिये आँख की
परीक्षा, नासाविवर (Sinuses) के लिये नासा की परीक्षा, दाँत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

की परीक्षा, गर्दन की पेशियों तथा शिरःकपाल की परीक्षा भी करनी चाहिये । आवश्यकता पड़ने पर क्ष- किरण के द्वारा भी शिरःकपाल की परीक्षा कर लेनी चाहिये । ४. इसके अतिरिक्त रक्तवहसंस्थान, मूत्र, सुषुम्नाजल, रक्त तथा मूत्र (रासायनिक और अणुवीक्षणात्मक परीक्षा) फिरंग की उपस्थिति का ज्ञान करने के लिये 'वाशरमैन' अथवा 'कसौटी' की विधि द्वारा रक्त परीक्षा कर लेनी चाहिये ।

आधुनिक ग्रंथों में शिरःशूल के सम्बन्ध में प्रारम्भ में मोटे भेद कर दिये जाते हैं वातिकशूल (Neuralgia) तथा शिरःशूल (Headache) यद्यपि इन दोनों रोगों में बहुत सी बातें समानता की होती हैं, फिर भी न्यूरैल्जिया में किसो विशेष वातिक नाडी में दर्द होता है—इस प्रकार एक विशेष दिशा में जितनी दूरी में नाडी का प्रसार रहता है, दर्द होता है और दौरे के साथ तीव्र पीडा होती है। इस तरह कुछ न कुछ पीडनाक्षमता पीडा के क्षेत्र में मिलती है ।

ऊपर के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सिर का दर्द स्वतंत्र व्याधि नहीं है, अन्य अवयवों तथा आशयों के साथ सम्बन्ध है । विशेषकर आमाशय, पक्वाशय, नाडीसमूह, और मांस, सुषुम्ना की विकृति से निकट सम्बन्ध है । सिर का शरीर के सब अवयवों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी एक में विकार होने से सिर पर उसका असर अवश्य पहुँचता है, जब वह असर अधिक प्रभावी होता है तो उसका संवहन मस्तिष्कतक संवेदनात्मक नाडीसूत्रों से होने लगता है और व्यक्ति को पीडा का अनुभव होता है। कई रोग हैं जिनमें लक्षणरूप में या उपद्रवरूप में शिरःशूल देखने को मिलता है—जैसे विभिन्न प्रकार के ज्वरों में अन्य लक्षणों के साथ, पित्त के पूर्वरूप में, विविध प्रकार के कास रोग में, विशेषतः और क्षयज में, विविध प्रकार के स्थावर और जंगमविषों के प्रभाव में, नाडी फिरंग, वातवलासक विविध प्रकार के उदररोग, विविध प्रकार के रक्तात्पत्व तथा पाण्डुरोग, अंशुघात प्रभृतिरोगों में शिरःशूल का लक्षण मिलता है। कई बार यह शिरःशूल एक लक्षण रूप में न होकर स्वतंत्र व्याधि का ही रूप ले लेता है उस अवस्था में शिरोरोग मानते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेचना करके चिकित्सा करना ही श्रेयस्कर होता है। अन्यथा यदि
इ लक्षण सामान्य मिला, अति प्रबल नहीं हुआ तो प्रधान रोग की
कित्सा से ही इसका भी प्रशम हो जाता है–"प्रधानप्रशमात्प्रशमः।"
त्रिदोषवादी वैद्यक सिद्धान्त तो लाक्षणिक चिकित्सा करता ही है
सी भी अंग की विकृति के कारण लक्षण पैदा हुआ हो तो दोषविवेचना
रता हुआ चिकित्सा की व्यवस्था कर देता है।

यही कारण है कि त्रिदोषवादी वैद्यक सिद्धान्त के अनुसार उसके
क्षणों में दोषविभेद करके उसके निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण तथा
कित्सा का विवरण ग्रंथों में मिलता है।

शिरोरोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—अधिक धुआँ लगने, अधिक
प में घूमने, पाला, ओस, बर्फ पड़ते हुए शीत में खुले सिर रहने,
धिक देर तक पानी में डुबकी लगाने या पानी में अधिक देर तक
लते हुए तैरते और नहाते रहने से, अधिक सोने से या अधिक
गरण से, अधिक परिश्रम के कारण स्वेदाधिक्य से, अत्यन्त मानसिक
भ, पुरवा हवा से सेवन या तेज हवा का झोंका लगने से, आँसू का
ा धारण करने से, अधिक रुदन से, अधिक मद्य या पानी पीने से,
र में कृमियों की उत्पत्ति होने से, मल, मूत्र, छींक आदि के वेगों का
रण करने से, सिर के नीचे तकिया को विषम (बेकायदा) रखने से,
ान न करने से, सिर में तेल न लगाने से, अधिक समय तक नीचे
ऊंचे मस्तक कर देखने रहने से अथवा एकाग्र दृष्टि करके देखते
ने से, असात्म्य गंध या उत्कट गंध के कारण शिर पर तैल लगाने में
ष होने से, दूषित आम का संचय होने से तथा उच्च भाषण या अधिक
लने की वजह से वायु कुपित होता है और वह वायु शिरोगत
न्यान्य दोषों को क्षुभित करके विभिन्न प्रकार के शिरोरोगों को उत्पन्न
रता है।[1]

१. धूमातपतुषाराम्बु–क्रीडातिस्वप्नजागरैः ।
उत्स्वेदाधिपुरोवातवाष्पनिग्रहरोदनैः ॥
अत्यम्बुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

चरक और यूनानी हकीमों ने अत्यन्त मैथुन से भी सिरदर्द की बात लिखी है। प्रत्यक्ष में अति व्यवाय से शिरःशूल होता गया है। वाग्भट ने अधिक जल पीना शिरोरोग का कारण लि किन्तु चरक अधिक ठंडा जल पीने से शिरोरोग होना मानते हैं। पर चोट लगने और अधिक सिर तप जाने से भी सिर में दर्द है। मेघाच्छन्न समय में बाहर घूमने से, मानसिक संताप से, देश के विपरीत होने से अर्थात् जाङ्गल तथा साधारण देश में वर्षाधि आनूप देश के लक्षण हो जाने अथवा आनूप देश में अनावृ कारण रुक्षता बढ़ जाने से तथा वसन्त, शरद् आदि ऋतुओं में विपरीत लक्षणों के होने से उस परिस्थिति में रहने वाले व्यक्ति शिरोरोग हो सकता है।

उपधानमृजाभ्यंगद्वेषाधः प्रततेक्षणैः ॥
असात्म्यगंधदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः,
जनयत्यामयान् दोषास्तत्र मारुतकोपतः । (वाग्भट)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२

सामान्य प्रतिषेध

आचार्य वाग्भट की उक्ति है कि "ऋषियों ने पुरुष-शरीर की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की है, इस वृक्ष का मूल ऊपर एवं शाखायें नीचे की ओर फैली हुई रहती हैं, अतः सिर में होने वाले रोग, मूल पर ही प्रहार करने वाले होते हैं। फलतः इस स्थान या अंग पर होने वाली व्याधि का शीघ्रातिशीघ्र उपचार करके ठीक करना चाहिये।"[1] इसके अतिरिक्त सिर एक ऐसा अंग है "जिसमें सभी प्रकार के इन्द्रियों का आश्रय है, प्राण भी उसी में समाश्रित रहता है, इसीलिये इसको शरीर का उत्तम अङ्ग माना गया है अतएव उत्तमाङ्ग (सिर) की प्रकारों से रक्षा करने में सदैव तत्पर रहना चाहिये।"[2]

शिरोरोग की चिकित्सा करते हुए सर्वप्रथम 'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्' सूत्र का अनुसरण करते हुए जिन विविध कारणों से रोग की उत्पत्ति हुई है उन्हीं को दूर करना चाहिये। आचार्य चरक ने कई श्लोकों में 'कियन्तः शिरसीयाध्याय' में शिरोरोगों के कारणों का उल्लेख किया है।[3] इन कारणों को दूर करना शिरोरोग का पहला प्रतिषेध है। उदाहरण के लिये—यदि शिरःशूल के रोगी में वेग संधारण अर्थात् मल, मूत्र आदि वेगों के रोकने का वृत्त मिले तो मृदु रेचक एवं मूत्रल ओषधियों से मलों का निर्हरण करा देने से शिरःशूल शान्त हो जाता है। यदि रोगी में शिरःशूल, दिन में सोने या रात्रि के जागरण से

१. ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणं तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्॥

२. सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन संश्रिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥ (अ० हृ० उ० २४)

३. च० सूत्र० १७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हो तो उसको विपरीत आचरण का अनुष्ठान करना ही रोग के
पर्याप्त है। इसी प्रकार यदि शिरःशूल पैदा करने वाले कारणों में
चीजों का सेवन, ओस, उच्च भाषण, पुरवैया हवा, अति
असात्म्य गंध का सूंघना, धूलि, धूम, तेज धूप या शीत वायु प्रभृ
मिलते हों तो इनमें रोगी को इनसे बचाकर रखने से ही रोगी का
रोग जाता रहेगा। इसी तरह रोगी में अधिक गरिष्ठ भोजन,
खटाई, हरित आर्द्रक आदि के सेवन या अत्यन्त शीतल द्रव्यों के
का इतिवृत्त मिले और उसको शिरःशूल हो रहा हो, तो इन द्र
सेवन बन्द करा देने से शिरोरोग शान्त हो जाता है। यदि रो
सिर पर अभिघात का इतिहास मिले अथवा रोने और आँसु
वेग रोकने का वृत्त मिले, तो इन कारणों का परिहार कर देने
रोग संशमित हो जाता है। यदि शिरःशूल पैदा करने वाले
में देश, काल, ऋतु प्रभृति का स्वभाव विपरीत होना ज्ञात हो
मेघादिक कारण ज्ञात हो तो भी कारणों के परिहार करते हुए चि
करनी चाहिये।

शिरोरोग की चिकित्सा में दूसरा विचार दोष प्राबल्य का होता
क्योंकि कारणों से दोषों की दुष्टि होती है, एवं विकृत हुए दोष
करते हुए शिरोगत रक्त को दूषित कर देते हैं जिसके परिणाम
विविध लक्षणों से युक्त शिरोरोग या शिरःशूल पैदा होते हैं।
कुपित हुए दोष का शमन करना आवश्यक हो जाता है।[1]

दोषभेद से चिकित्सा करते हुए शिरःशूल के प्रतिषेध में स
प्राप्त करने के विधान का विशद वर्णन पहले के अध्यायों में
गया है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछ सामान्य बातों का उल्ले
पर्याप्त है। जब रक्त और पित्त की विकृति से शिरोरोग होता है
पीड़ा दिन में अधिक एवं रात में शान्त हो जाती है। इसके चि

१. वातादयः प्रकुप्यन्ति शिरस्यस्रं च दुष्यति।
ततः शिरसि जायन्ते रोगाः विविधलक्षणाः॥ (च० सू० १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यु या श्लेष्माजन्य पीड़ा रात में अधिक और दिन में कम हो जाती है। इस प्रकार दोष-विकृति की कल्पना कर चिकित्सा-विधि का निर्णय करने से कार्य में सरलता आ जाती है।

दूसरा विचार दोषों की प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से करना चाहिये। शिरोरोग प्रायः त्रिदोषज होते हैं। उनमें उत्पादक कौन सा दोष प्रधान है, उसका ज्ञान करके पहले उसी के प्रशमन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। शिरामोक्षण या रक्तविस्रावण रक्तज शिरोरोग में करना चाहिये। शिरोविरेचन; जब दोष ऊर्ध्वगामी होकर मस्तिष्क में लीन हो जाते हैं, नासा संबंधी विवरों में दोषों का अवस्थान हो जाता है तभी लाभप्रद होता है। स्वेदन और उपनाह गाढ़े दोषों को पिघलाकर निकालने के विचार से किया जाता है। शुष्क स्वेद जब दोष आमावस्था में हो, या पतला हो या क्लेद अधिक हो तो उसको कम करने या सुखाने के विचार से करना चाहिये। बन्धन; वायुजनित पीड़ा में ही लाभदायक होता है। कवलधारण एवं गण्डूष से इधर-उधर प्रसरित हुये दोष एकत्रित होकर स्रोतसों के मुख पर आकर बाहर निकलने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। लेप से दोषों की स्थानिक उल्वणता शान्त होती है। अतएव जहाँ जैसी आवश्यकता समझ में आवे वहाँ उसी विधि का अवलम्बन करना चाहिये।

शिरःशूल की चिकित्सा में एक दूसरा विचार भी आवश्यक होता है कि व्याधि शीतद्रव्य साध्य है या उष्ण द्रव्य साध्य। सामान्यतया वायु एवं श्लेष्माजन्य शिरःशूलों में उष्णोपचार लाभप्रद होता है, परन्तु पित्तज एवं रक्तज शिरःशूलों में शीतोपचार से लाभ होता है। उसी प्रकार शीतऋतुओं में शिरोरोगों के उपचारों में ऊष्ण उपक्रमों का प्रयोग तथा उष्ण ऋतुओं में उत्पन्न शूल में शीतोपचार हितकर होता है। इसीलिये शीतऋतुओं में बादाम, पोस्ता आदि के प्रयोग तथा गर्मी के दिनों में नारंगी, अनार, अंगूर, बेर, बनप्सा आदि के पानक प्रयोग में आते हैं। इसी तरह यदि वात कफज या उष्णोपचार साध्य शिरःशूल हुआ, तो उसमें बादाम का तेल, नारायण तैल, लक्ष्मीविलास तैल का सिर पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अभ्यंग कराना चाहिये; परन्तु गर्मी के कारण हुआ या रक्तज पित्तज विकार हुआ, तो शीतल तैलों का अभ्यंग कराना चाहिये चंदनादि तैल, ब्राह्मी तैल, कद्दू का तेल। इन तैलों का अभ्यंग अवमर्श कराना चाहिये। कुछ ऐसे भी तैल प्रयोग में आते हैं कि सभी प्रकार के शिरःशूलों में प्रयोग किया जा सकता है जैसे हिम तैल, गुलरोगन एवं सामान्य तिलतैल।

कई प्रकार के काष्ठौषधियों या मांस के बने लेप (वेसवार) आदि का वर्णन भी शिरोरोगों में आता है। इनमें भी शैत्य औष्ण्य विचार अपेक्षित रहता है। वेसवार का प्रयोग उष्ण है इसका सं के विचार से ही प्रयोग हितकर है फलतः वायु एवं श्लेष्मा के शि में लाभप्रद होता है।[1] चरक मुनि ने सूत्रस्थान के चौथे अध्याय अपने बत्तीस सिद्धयोगों में दो लेपों का शिरःशूल में प्रयोग बत है—इनमें एक प्रायः शीतल द्रव्यों से बना है और दूसरा अपे उष्णद्रव्यों से।[2] यद्यपि इनमें पूर्णतया एक को शीतवीर्य दूसरे को उष्ण नहीं कह सकते तथापि तरतम भाव का विचार करने से प्रथ शीतवीर्य तथा दूसरा उष्णवीर्य का है।

१. अगुरु, नीलकमल, श्वेत चन्दन, कूठ को पीसकर घृत में मि कर लेप करना।

२. पुनरिया काठ, देवदारु (धूप), कूठ, मुलैठी, इलायची, कमल, नील कमल, लाल सरका, चोर पुष्पी का घृत के साथ लेप।

मुचकुंद के फूल को पानी में पीसकर सिर पर लेप करने से शिरःशूल शान्त होता है।

---

१. निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितं कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवार स्मृतः। (चक्रपाणि सू०

२. (क) नतोत्पलं चन्दनकुष्ठयुक्तं शिरोरुजायां सघृतः प्रदेहः।
(ख) प्रपौण्डरीकं सुरदारु कुष्ठं यष्ट्याह्वमेला कमलोत्पले च सिरोरुजायां सघृतः प्रदेहो लोहैरकापद्मकचोरकैश्च।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शुद्ध नरसार को पानी में गाढ़ा घोल कर मस्तक (पुटपुरी) पर
प करने से भी शिरोवेदना शान्त होती है।

आधुनिक ग्रंथों के आधार पर शिरःशूल की चिकित्सा करते हुए,
तिपय अन्य भी बातें विचारणीय होती हैं। शिरःशूल का होना, प्रायः
ई विकारों में लक्षण रूप में मिलता है, स्वतन्त्र व्याधि के रूप में
चित् ही मिलता है; जैसे अर्धावभेदक या त्रिधारा नाडीशूल प्रभृति
। जहाँ पर लक्षण रूप में मिलता है वहाँ पर उसके उत्पादक कारण
ा प्रधान हेतुभूत रोग की चिकित्सा करने से ही शूल शमित हो जाता
। उदाहरणार्थ–जैसे हेतुभूत व्याधियाँ यदि अपस्मार, अम्लपित्त, जीर्ण
बंध, जीर्ण पित्ताशय या यकृच्छोथ, मधुमेह, वातरक्त, नागविष,
म्लमयता (Acidosis) या क्षारमयता (Alkalosis), विषमज्वर,
ांत्रिकज्वर, वातश्लैष्मिकज्वर, अंशुघात, उष्णातपदग्ध अथवा पाण्डु
भृति हुई तो 'प्रधानप्रशमात्प्रशमः' इस सिद्धान्त के अनुसार प्रधान
याधि की चिकित्सा होने से उनके कार्यभूत लक्षणों का भी शमन
ो जाता है।

बहुधा ऐसी भी अवस्था आ जाती है जब कि शूल ही प्रधान व्याधि
अधिक कष्टकर हो जाता है अथवा शूलोत्पादक मूल व्याधि का
निश्चय ही नहीं हो पाता, या शिरःशूल ही अन्यान्य लक्षणों के साथ
वतंत्र व्याधि का रूप ले लेता है। अतएव इसी एक लक्षण की तत्काल
तिक्रिया करना आवश्यक हो जाता है।

आयुर्वेद के ग्रंथों में शिरःशूल या शिरोरोग के प्रतिषेध में बहुत सी
क्रियायें मिलती हैं जैसे क्षीर, घृत या तैल का पिलाना, सेक, प्रदेह,
प, नस्य, धूम, अभ्यंग, शिरोवस्ति, आस्थापन, विरेचन, अनुवासन,
मन, शिरोविरेचन, गण्डूषधारण, बृंहण, कृमिघ्न, अवपीड और
िरावेध आदि। इन उपक्रमों को रोगी की अवस्था, दोष, बल एवं
ाल आदि का विचार करते हुए यथायोग्य एवं यथासमय व्यवहार में
ी आना चाहिये।

शिरःशूल की चिकित्सा में अथवा यह कहा जाय कि ऊर्ध्व जत्रुगत
सभी विकारों में नस्यकर्म का बड़ा महत्त्व है अतएव उसका विस्तृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

विवेचन इस स्थान पर कर देना प्रासंगिक है। ऊर्ध्व जत्रुगत अं स्वस्थ रखने के लिये अथवा उनमें हुए विकारों को दूर करने के नस्यकर्म करना चाहिये। यह उपक्रम इन रोगों में बहुत लाभ होता है।

नियमित रूप से नस्य लेने वालों की आँख, कान, नाक की अक्षुण्ण रहती है, अकाल में बाल सफेद नहीं होते और न गिरते मन्यास्तंभ, शिरोवेदना, अर्दित, हनुस्तंभ, पीनस, अर्द्धावभेदक, कम्प आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। ऊर्ध्वजत्रुगत सिरायें, शिर संधियाँ, स्नायु तथा कण्डरायें परिपुष्ट हो जाती हैं। मुख प्रसन्न है, स्वर स्निग्ध, स्थिर तथा गम्भीर रहता है; इन्द्रियाँ निर्मल एवं वती होती हैं। सिर में प्रतिदिन तैल का अभ्यंग करने से शिरःशूल होता, बाल मुलायम रहते, इन्द्रियाँ प्रसन्न रहतीं और सुखपूर्वक आती है। अतएव शिरोरोग में नस्य, अभ्यंग आदि का प्रयोग हि होता है। चरकाचार्य ने यथाकाल विधिवत् नस्यकर्म की बड़ी प्र की है।[1]

---

१. नस्यकर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते।
न तस्य चक्षुर्न घ्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते।
न स्युः श्वेता न कपिलाः केशाः श्मश्रूणि वा पुनः।
न च केशाः प्रलुप्यन्ते वर्धन्ते च विशेषतः।
मन्यास्तंभं शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः।
पीनसार्धावभेदौ च शिरःकम्पश्च शाम्यति।
शिराः शिरःकपालानां संधयः स्नायुकण्डराः।
नावनप्रीणिताश्चास्य लभन्तेऽभ्यधिकं बलम्॥
मुखं प्रसन्नोपचितं स्वरः स्निग्धः स्थिरो महान्।
सर्वेन्द्रियाणां वैमल्यं बलं भवति चाधिकम्॥
न चास्य रोगाः सहसा प्रभवन्त्यूर्ध्वजत्रुजाः।
जीर्यतश्चोत्तमाङ्गे च जरा न लभते बलम्। (च० सू०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नस्य कर्म—नस्तः कर्म अथवा शिरोविरेचन की प्रक्रिया का उल्लेख
यः सभी ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में विशेषतः शिरोरोगों में प्राचीन ग्रन्थों
मिलता है। शिरोरोगों में इस कर्म की उपादेयता बतलाते हुए
चार्य चरक मुनि ने लिखा है "शास्त्र के ज्ञानकारों को चाहिये कि
रोरोगों में नस्यकर्म करे क्योंकि नासिका शिरोगुहा का द्वार (दरवाजा)
। अस्तु, नासा के मार्ग से किसी प्रकार ऊपर को पहुँचाई गई
षधि सिर में फैल कर व्याप्त हो जाती है एवं तत्स्थानगत रोग नष्ट
जाते हैं।"[1] नस्य कर्म के पाँच प्रकारों का उल्लेख आचार्य ने किया
तथा उनके उपभेदों का भी वर्णन किया है जिसका संक्षेप में नीचे
खे कोष्ठक में दिग्दर्शन कराया जा रहा है।[2]

नस्तः कर्म

- नावन
  - स्नेहन
  - शोधन
- अवपीड
  - शोधन
  - स्तंभन
- ध्मापन
- धूम
  - प्रायोगिक
  - स्नैहिक
  - वैरेचनिक
- प्रतिमर्श
  - स्नेहन
  - विरेचन

आचार्य सुश्रुत ने भी नस्यकर्म के पाँच ही भेद बतलाये हैं, परन्तु
रकोक्त 'नावन' शब्द के स्थान पर 'नस्य' शब्द का प्रयोग किया है
जससे अर्थग्रहण सरल एवं स्पष्ट हो जाता है।[3] इन भेदों में नावन
। नस्य करना एक साधारण क्रिया है। मामूली ढंग से किसी भी हल्के
ोभक द्रव्यों का नासा में प्रविष्ट करना–जिससे नासिका का स्नेहन

---

१. नस्तः कर्म च कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रवित् ।
द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद्व्याप्य हन्ति तान् ।

२. नावनञ्चावपीडञ्च ध्मापनं धूम एव च ।
प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पंचधा । (च. सि. ९)

३. "तद्द्विविधमपि पंचविधकल्पं तद्यथा, नस्यं,
शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शोऽवपीडः प्रधमनञ्च ।" (सु. चि.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अथवा शोधन हल्के ढंग से हो जाय नावन कहलाता है। अवपीड प्रक्रिया नस्य से खरतर है इसमें सैन्धव, पिप्पली प्रभृति द्रव्यों का करके अर्थात पानी से पीस करके या ताजी ओषधि हो तो वैसे ही पीस करके पुनः उसको निचोड़कर (अवपीडित) करके स्वरस को नाक में बूँद बूँद करके टपकाना अवपीडन नस्य कहलाता यह दो प्रकार का होता है क. शोधन तथा ख. स्तंभन। यदि करना लक्ष्य हो; तो तीक्ष्ण औषधियों का स्वरस नाक में छोड़े और स्रावों का स्तंभन करना उद्देश्य हो; तो शीतवीर्य द्रव्यों का कल्क कर एवं उसका स्वरस निकाल कर नाक में टपकाना चाहिये। नासागत रक्त में दूर्वा का कल्क बना कर निचोड़ कर उसका टपकाना। अधुना प्रचलित "एड्रेनैलीन ड्राप" भी स्तंभन इनका ही प्रतीक है जिसका नासागत रक्तस्राव में प्रयोग होता *ध्मापन*—की प्रक्रिया का अर्थ प्रधमन है। इस क्रिया का लक्ष्य होता है तीक्ष्ण, उष्ण एवं क्षोभक द्रव्यों का नाडीद्वारा फूँक म शिरोगुहा का शोधन या विरेचन करना। अतएव इसके उपभेद में नहीं बतलाये गये हैं। यह एक प्रकार का विशुद्ध रेचन है। त्रिकटु, कट्फल प्रभृति द्रव्यों का नाडी के द्वारा फूँक मार कर नस्य किया जाता है। यह बड़ा ही तीक्ष्ण होता है। इससे शिरोगत स्रोतों विशोधन होता है। *धूमका* अर्थ नासिका के छिद्र से धूम का करना। मुखद्वारा पीया गया धूम, धूमनस्य नहीं है। इसका प्रयोजन वायवीय पदार्थों के द्वारा शिरोविरेचन ही ज्ञात होता है। भी धूम्रपान सदृश ही प्रायोगिक, स्नैहिक एवं वैरेचनिक तीन चरकाचार्य ने बतलाये हैं। *प्रतिमर्श*—का प्रयोग प्रायः दोष अवस्था में किया जाता है। इसका लक्ष्य नासा की श्लेष्मलकला स्नेहन मात्र होता है। इसके लिये काल, वय आदि का विचार श्यक नहीं होता। इसका प्रयोग किसी भी समय प्रातः या सायं या में नित्य किया जा सकता है।[1] अधिकतर इसका प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति

१. प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही होता है। विधि यह है कि ऊंगली को तेल या किसी स्नेह में भिगोकर ऊंगली को नासा छिद्र में डालकर तैल को ऊपर की ओर खींचे। इससे शिरःकपाल दृढ़ होते हैं। "नाक के द्वारा थोड़े उच्छिङ्घन (सुरकने) से तेल ऊपर को आकर जब मुख में आ जाय तब प्रतिमर्श पूरा हो गया ऐसा समझें।" "प्रतिमर्श का अभिप्राय नासिका से तेल को (खींचकर) मुख से पीने का नहीं है क्योंकि ऐसा करने से कण्ठ से स्राव होने का भय रहता है। अतः पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार प्रतिमर्श को रखना चाहिये[1]। इस प्रतिमर्श का विधान यदि किसी अवस्थाविशेष में विरेचन या स्नेहन के लिये करना हो और तैल की मात्रा अधिक हो, तो उस अवस्था में उसका सार्वकालिक प्रयोग नहीं करना चाहिये।

बहुत प्रकार के जो नस्यकर्म बतलाये गये हैं उनके थोड़े मोड़े अन्तर के साथ अंग्रेजी पर्याय इस प्रकार के हो सकते हैं। नावन या साधारण नस्य (Snuffs), अवपीडन और ध्मापन या शिरोविरेचन (इनमें कल्क या चूर्णों का बलपूर्वक नासारंध्र से ऊपर की ओर पहुंचाना लक्ष्य रहता है)। (Insufflation or Inhalation of powders)। धूम से वायवीय पदार्थों का (Gaseous Substances) के द्वारा प्रयोग (Inhalation of Gases)। प्रतिमर्श से तात्पर्य केवल नासागत श्लेष्मलकला का स्नेहन या चिकना करना उद्देश्य

प्रतिमर्शस्तु सर्वदा।
स्नेहनं शोधनञ्चैव द्विविधं नावनं मतम्।
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा।
न चोच्छिङ्घेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत् (च. सि. ९)

१. "ईषदुच्छिङ्घनात्स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते।
नस्तोनिषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शः प्रमाणतः।"
"प्रतिमर्शं तु न पिबेत् कण्ठस्रावभयान्नरः।
यावत्स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणं तु तस्य तु।":

(चक्रपाणि की टीका से उद्धृत)

न शाला०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

होता है। (Application of Lubricant substances Vasceline etc.)।

उपरोक्त नस्य कर्मों में क्रिया की दृष्टि से मुख्य तीन ही हो विरेचन, बृंहण तथा शमन। किसी ऊर्ध्व जत्रुगत रोग में यदि प्रयोग आवश्यक हुआ तो इन तीनों कार्यों में से किसी एक का करना लक्ष्य होता है। सामान्यतया 'शिरोविरेचन', शिरःशूल जाड्य, गले के रोग, शोफ, कृमि, गण्ड, ग्रन्थि, कुष्ठ, अप पीनस आदि में व्यवहृत होता है। बृंहण कार्य वाले नस्यों का वातिक शिरःशूल, सूर्यावर्त्त, स्वरावसाद, नासाशोष, मुखशोष, (आवाज का बन्द हो जाना), कृच्छ्रोन्मीलन (निःसंज्ञ अ नेत्रों के पलकों का न खुलना) तथा अवबाहुक में होता है। शमन वाले नस्यों का प्रयोग नीलिका, व्यङ्ग, केशदोष और आँख के में किया जाता है। नस्यों के प्रयोग इन बातों का विचार करके योगों का निर्माण करके ही प्रयोग करना चाहिये।

प्रतिमर्श का उल्लेख ऊपर हो चुका है। आचार्य वाग्भट ने दो का उल्लेख किया है, मर्श तथा प्रतिमर्श। इनमें मर्श का प्रयोग वैरेचनिक प्रयोग है ऐसा समझना चाहिये। इसका प्रयोग अवस्था में मात्राभेद, बल, दोष आदि का विचार करते हु जाता है, परन्तु प्रतिमर्श का जहाँ विशुद्ध तैल का अंगुली के सहा में प्रवेश कराया जाता है, उसका प्रयोग स्वस्थ व्यक्तियों में ही स्व रक्षण की दृष्टि से करने का विधान है।

इस प्रकार के प्रतिमर्श की उपमा कायचिकित्सा में प्रचलित कर्म से की गई है। इसका प्रयोग नित्य स्वस्थ व्यक्तियों को उपदेश किया गया है। इसमें मर्शवत् किसी बात की विचा आवश्यकता नहीं होती, न इसमें किसी प्रकार के यन्त्रणा (की व्यवस्था) अथवा व्यापद् (उपद्रव) होने का ही भय र जन्म से लेकर मरणपर्यन्त इसका प्रयोग किया जा सकता है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ना प्रशस्त है।[1] इसका नित्य प्रयोग करते रहने से मर्श की आव-कता ही नहीं पड़ती। फलतः नित्य के प्रयोग से यह मर्शवत् कार्य-होता है।

शिरोरोग में प्रयुक्त होने वाला दूसरा महत्व का प्रयोग शिरोवस्ति। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस प्रक्रिया को शिरःशूल के शमन के लिये साधन माना गया है। इसका विशेष उल्लेख वातिक शिरःशूल के रण में आगे दिया जायगा।

शिरोरोग में प्रयुक्त होनेवाले कुछ सामान्य योग

लेप—१. गुंजा, करञ्जबीज, मरिच, भृंगराज इन ओषधियों को ी में पीसकर कल्क बनाकर सिर पर लेप करना। (भै. र.)

२. काली मरिच, लाल मरिच को सेहुण्ड के दूध में पीसकर सिर लेपना। यह बड़ा तीक्ष्ण प्रयोग है, अतः लेप को शीघ्र ही उतार भी चाहिये। (भै. र.)

३. मुचकुन्द के फूल का लेप करना।

४. पाठा, पटोलपत्र, सोंठ, एरण्डमूल, शिग्रुबीज, चक्रमर्द बीज, इन द्रव्यों को मट्ठे में पीस कर लेप करना शिरःशूल को शान्त ा है।

नस्य—१. मधुयष्टि तथा वत्सनाभ इन दोनों द्रव्यों को दो दो रत्ती र बारीक कपड़छान चूर्ण बनाकर थोड़ी सी मात्रा में नस्य के द्वारा से तत्काल शिरःशूल शान्त होता है।

---

१. आजन्ममरणं शस्तः प्रतिमर्शस्तु वस्तिवत्।
मर्शवच्च गुणान् कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्॥
न चात्र यन्त्रणा चापि व्यापद्भ्यो मर्शवद् भयम्।
तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात् स्नेहा स्वस्थस्य नेतरे। (अ. हृ. सू. २०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

२. सीप का चूना और नौसादर पीसकर सूंघने से शिर... होता है। (भै. र.) "अमोनियम् कार्ब" से निकलने वाली 'अ... वायु के सूंघने से भी लाभ होता है।

३. कपास के बिनौले, दालचीनी, नागरमोथा, चमेली के फूल को पीस कर उसका रस नाक में छोड़ने से सब प्रकार... वेदना शान्त होती है।

४. अपराजिता की जड़ या फल के स्वरस का नस्य देने... जड़ को कान में बाँधने से शिरोव्यथा नष्ट होती है। (भै. र.)

५. सोंठ ३ माशे लेकर १६ तोले दूध में पीसकर नस्य देने से... दोषोत्पन्न शिरःशूल शान्त होते हैं। (भै. र.)

६. *अर्धनारीश्वर रस*—वराट भस्म, शुद्ध टंकण, प्रत्येक का पाँच भाग, काली मरिच का चूर्ण ९ भाग, शुद्ध वत्सनाभ विष ३ भा... या गाय के दूध में खरल कर दो दो रत्ती की गोलियाँ बनाकर... कर रख ले। पानी में घिसकर उसका नस्य शिरोरोगों में... तत्काल वेदना शान्त होती है। इसका प्रयोग विशेषतः कफाधिक... वेदना में करना चाहिये।[1]

७. फिटकरी और कपूर के चूर्ण का नस्य लेने से शिरःशूल... नासागत रक्तपित्त तत्काल शान्त हो जाता है। (भै. र.)

तैल तथा घृत—१ षड्बिन्दु तैल—मूर्च्छित कृष्ण तिलतैल तथा... का दूध प्रत्येक १ सेर, भृङ्गराजस्वरस ४ सेर कल्कार्थ—एरण्डमूल, सौंफ, जीवन्ती, रास्ना, सैंधव, दालचीनी, वायबिडङ्ग, मुलैठी और... कुल २० तोले भर लेकर यथाविधि तैल को सिद्ध कर लेना चाहिये... की मात्रा में नासिका में डालने से समग्र शिरोव्यथायें नष्ट होती...

१. वराटं टंकणं शुद्धं पंचभागसमन्वितम्।
नवभागं मरीचस्य विषं भागत्रयं मतम्।
स्तन्येन वटिकां कृत्वा नस्यं दद्यात् विचक्षणः।
शिरोविकारान् विविधान् हन्ति श्लेष्मोत्तरानपि। (भै० र०)

२. षड्बिन्दवो नासिकयोर्निधेया निहन्ति शीघ्रं शिरसो विकारान्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. दशमूल तैल—सरसों का मूर्छित तैल २ सेर, दशमूल क्वाथ र, गोदुग्ध ८ सेर, दशमूल कल्क आधा सेर, तैलपाक विधि से पक्व का अभ्यंग सभी प्रकार के शिरःशूल को नष्ट करता है। (भै० र०)

३. धुस्तूर तैल—सरसों का मूर्च्छित तैल २ सेर, धुस्तूर पंचाङ्ग क्वाथ र, धुस्तूरकल्क आधा सेर लेकर यथाविधि सिद्ध तैल। अभ्यंग से पीडा और दाह को शान्त करता है। (भै० र०)

४. गुञ्जातैल—मूर्च्छित तिलतैल, कांजी तथा भृङ्गराजस्वरस प्रत्येक ल तथा कल्कार्थ घुघुची का कल्क दो पल लेकर यथाविधि मंद अग्नि ल सिद्ध करके, एक दिन तक पड़ा रहने दे, पश्चात् नस्य और ग के रूप में शिरोरोगों में व्यवहार करे। (भै० र०)

५. हिमांशुतैल—तिलतैल २ सेर, रतनजोत १ तोला, छोटी चो ६ माशे, एकाङ्गी १ तोला, लौंग ½ तोला, मुचकुन्द १ तोला, ी १ तोला, सुगंधबाला १ तोला, खस १ तोला, सफेद चंदन ा, कुलंजन १ तोला, बड़ी इलायची २॥ तोले, कपूर १ तोला, चम्पा १ तोला तैलपाक विधि से सिद्ध तैल का प्रयोग सभी प्रकार के शूल: में विशेषतः पित्तोल्वण शिरोरोग में लाभप्रद है (अनुभूत)। लों के अतिरिक्त भी बहुत से तैलों का शास्त्रों में पाठ मिलता नका प्रयोग शिरःशूल में लाभप्रद बतलाया गया है—जैसे कुमारी भा० प्र०) कनक तैल, तप्तराजतैल, रुद्रतैल, लक्ष्मीविलासतैल, जतैल (भै० र०) आदि।

. *महामायूराद्य घृत*—मूर्च्छित गोघृत ८ सेर, क्वाथार्थ पक्ष, आंत्र, पादादि से रहित मयूर का मांस तथा दशमूल दसों द्रव्य तथा ये ग्यारह द्रव्य समान प्रमाण में मिलित १००-१०० पल लेकर पृथक् यवकुट कर दो दो द्रोण जल में चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ ८-८ कर गायका दूध दो द्रोण एवं कल्कार्थ पुनरिया काष्ठ और जीवनीय की बारह ओषधियों का मिश्रित कल्क २ सेर लेकर सम्यक् पाकार्थ सेर जल मिलाकर यथाविधि तैल का पाक करे। यह महामायू-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

राद्यघृत मेधा, बुद्धि और स्मृति को बढ़ाता है एवं ऊर्ध्वजत्रुगत तथा अन्य शारीरिक रोगों में लाभप्रद होता है।[1] (चक्रदत्त)

२. मयूराद्य घृत—मूर्च्छित गोघृत १ सेर, क्वाथार्थ दशमूल ओषधियाँ पृथक् पृथक् ३-३ पल तथा एक मयूर के पंख, आंत्र, मल, पाँव तथा मुख (चोंच) इन भागों से वर्जित का समस्त मांस ३६ पल लेकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना छोड़े। इसमें कल्कार्थ जीवनीयगण तथा काकोल्यादिगण की के प्रत्येक का २-२ कर्ष तथा गाय का दूध १ सेर मिलाकर घृत को सिद्ध कर ले। इस मयूराद्य घृत के प्रयोग से सभी विकार नष्ट होते हैं। विशेषतः शिरोरोग दूर होते हैं अर्थात् नाक, आँख, जीभ, मुख तथा गले के रोग नष्ट होते हैं। (च०

३. अन्य आमिषघृत—उपरोक्त घृत की कल्पना के मयूरमांस के स्थान पर चूहे, मुर्गी, हंस तथा खरगोश इनके स्वरस से भी पृथक् २ घृत का पाक किया जा सकता है।[2] इन भी प्रयोग सभी ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में विशेषतः शिरोरोगों में होता है।

क्वाथ—पथ्याषडङ्ग क्वाथ—हर्रे, बहेरा, आँवला, चिरायता, नीम की छाल और गिलोय सबका समान भाग लेकर षोडश में क्वाथ करे और चौथाई भाग शेष रहने पर उतार कर पुराना गुड़ मिलाकर पिलावे। यह शिरःशूल विशेषतः

---

१. शतं मयूरमांसस्य दशमूलाबलातुलां
द्रोणेम्भसः पचेत् क्षुत्वा तस्मिन् पादस्थिते ततः।
निषिच्य पयसो द्रोणं पचेत्तत्र घृताढकं
प्रपौण्डरीकं वर्गोक्तैर्जीवनीयैश्च भेषजैः॥
मेधाबुद्धिस्मृतिकरमूर्ध्वंजत्रुगदापहम्। मायूरमेतन्निर्दिष्टं सर्वानिलहरं
मन्याकर्णशिरोनेत्ररुजापस्मारनाशनम्। विषवातामयश्वासविषमज्वर

२. आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान्।
कल्पेनानेन विपचेत्सर्पिरूर्ध्वंगदापहम्। (चक्रदत्त या भै० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र:शूल की परमौषधि है। इसका नस्य रूप में भी प्रयोग किया जा कता है। यह वैद्यों की परम्परा में श्रेष्ठ योग माना गया है। शिरः-ल की तीव्र या जीर्ण दोनों अवस्थाओं में लाभप्रद है।[1] यह बहुशः नुभूत योग है।

रसौषधियाँ—शिरःशूलाद्रिवज्ररस—शुद्ध पारद, शुद्धगंधक, लौहभस्म था ताम्रभस्म १–१ पल, शुद्ध गुग्गुलु ४ पल, त्रिफला चूर्ण २ पल, ष्ठ, मुलैठी, पिप्पली, शुंठी, गोक्षुर और बायविडङ्ग चूर्ण १–१ तोला था दशमूल चूर्ण १० तोले भर लेकर दशमूल के क्वाथ में गुग्गुलु को घोलकर उसी से सब चूर्ण को भावित कर एक दिन तक खरल करें। र थोड़े से घृत के साथ कूट कर ४–४ रत्ती की वटिकायें बना लें। चण्डनाथ आचार्य का कथित शिरःशूलादि वज्ररस है—इसका मधु बकरी के दूध के अनुपान से सेवन करने से एक दोषज, द्विदोषज, दोषज, वातिक, पैत्तिक आदि सर्वप्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं।

(भै० र०)

महालक्ष्मीविलासरस—लौहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध वत्सनाभ, मुस्तक फला, त्रिकटु, शुद्ध धत्तूर बीज, विधारा बीज, शुद्ध भाँग का चूर्ण, नों गोखरू, पिप्पलीमूल इनके प्रत्येक का एक एक तोला भर लेकर, तूर के पत्तों के स्वरस के साथ भावित कर २–२ रत्ती की वटिकायें नाकर सेवन करने से सभी प्रकार के शिरोरोग नष्ट होते हैं।

(रसेन्द्रसारसंग्रह)

दन्तीप्रवालयोग—गोदन्ती भस्म १ माशा, प्रवाल भस्म २ रत्ती इस कार के मिश्रण से बने योग का घी और चीनी के अनुपान से दिन में न बार प्रयोग करने से शिरःशूल नष्ट होता है। कुछ लोग प्रवाल के थान पर बराट भस्म का प्रयोग करते हैं। (अनुभूत)

वासकपुष्पयोग—अडूसे के फूल और गुड को मिलाकर सेवन करना र:शूल का शीघ्र शमन करता है।

१. पथ्याक्षधात्रीभूनिम्बनिशानिम्बामृतायुतैः ।
कृतः क्वाथः षडङ्गोऽयं सगुडः शीर्षशूलनुत् । (शार्ङ्गधर संहिता)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

शिरोवेदना को अस्थायी किन्तु तत्काल लाभ पहुँचानेवा
ओषधियाँ वर्त्तमान चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं। इन ओष
प्रयोग से शिरःशूल तत्काल शान्त हो जाता है, परन्तु उनका
स्थायी नहीं रहता। कुछ ऐसे योगों का उल्लेख नीचे किया जा

वेदनाहरयोग—'एस्प्रिन' ५ ग्रेन, 'फेनासिटीन' ३ ग्रेन तथा
'साइट्रास' २ ग्रेन इन ओषधियों के मिश्रण का शीतल जल
करने से पीडा बंद हो जाती है। इसी आधार पर बने हुए कई
निर्माताओं के योग बाजार में मिलते हैं इनका कई व्यावसायिक
चिकित्साजगत् में व्यवहार हो रहा है। उदाहरणार्थ 'एसप्रो'
'सेरिडान' 'सिबाल्जिन' (सिबाकम्पनी का), 'अप्टैलिडान' (
कम्पनी का), 'डोलोनाल' (ड्यूमैक्स कम्पनी का) 'एण्टाडोन'
ण्डर्ड फार्मेस्यूटिकल कंपनी का) 'सोनाल्जिन' (मेबकर का), 'डाइ
'ओम्नैपान' (राची का) 'कैत्रिटाल' (पार्क डेविस का) इन ओषधि
प्रभाव शूलघ्न, संशामक अथवा निद्राकर होता है। कई बार '
मिश्रण' देने से ही शिरःशूल का उपशम हो जाता है। इसके लि
सामान्य मिश्रण इस प्रकार का बना लेना चाहिये—क्लोरल
८ ग्रेन, पोटैशियम ब्रोमाइड १५ ग्रेन, सोडा ब्रोमाइड १० ग्रेन,
डिजिटैलिस १० बूँद, सिरप एमोनिया एरोमैट १ ड्राम, जल एक
इस मिश्रण का चतुर्थांश या षष्ठमांश की एक मात्रा करके प्रति ती
पर देते रहना चाहिये।

निद्राकर ओषधियों में 'ल्यूमिनाल' १½ ग्रेन की मात्रा में
से रोगी को नींद आ जाती है, पीडा कुछ देर के लिये शा
जाती है। प्रतिदिन रात्रि में एक मात्रा दी जा सकती है। इस
अधिक कार्यकर एक मिश्रण आज कल चल रहा है। जिसे '
का मिश्रण कहते हैं। इसका प्रयोग अधिक दिनों तक कि
सकता है। अधिकतर इसका प्रयोग अर्धावभेदक में लाभप्रद
गया है। यह मिश्रण इस प्रकार है—'सोडियम ब्रोमाइड

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किड ट्रिनीटीन १ बूँद, टिंक्चर नक्सवोमिका १० बूँद, जेल्सियम् १० बूँद, डाल्यूट हाइड्रोब्रोमिक एसिड ५ बूँद, जल १ औंस मात्रा में दिन में तीन बार कई सप्ताह तक प्रयोग किया जा सकता है।

पथ्यापथ्य—स्वेदन, नस्य कर्म, धूमपान, विरेचन, लेप, वमन, लंघन, शिरोवस्ति, रक्तविस्रावण, उपनाह, पुराना घी, शालि चावल, साठी का चावल, यूष (दाल), दूध, जांगल जीवों का मांस, परवल, सहिजन, द्राक्षा (अंगूर), बथुआ, करेला, आम, आँवला, अनार, बिजौरा नीबू, तैल, मट्ठा, कांजी, नारियल, हर्रे, कूठ, भृङ्गराज, घृत कुमारी, नागर मोथा, खश, चाँदनी रात, इत्र आदि सुगंधित द्रव्य और कपूर आदि शिरोरोग की चिकित्सा में प्रशस्त पथ्य हैं।[1]

छींक, जम्भाई, मूत्र, निद्रा, आँसू तथा मल इनके वेगों को रोकना तथा दूषित जलपान, विरुद्ध भोजन, सह्य और विंध्यपर्वत से निकली नदियों का जल, दातून करना और दिन में सोना ये सभी बातें शिरोरोगि में अपथ्य होने से वर्जित हैं।[2]

---

१. स्वेदो नस्यं धूमपानं विरेको लेपश्छर्दिर्लङ्घनं शीर्षवस्तिः।
रक्तोन्मुक्तिर्वह्निकर्मोपनाहो जीर्णः सर्पिः शालयः षष्टिकाश्च ॥
यूषो दुग्धं धन्वमांसं पटोलं शिग्रुर्द्राक्षा वास्तुकं कारवेल्लम्।
आम्रं धात्री दाडिमं मातुलुङ्गं तैलं तक्रं कांजिकं नारिकेलम् ॥
पथ्या कुष्ठं भृङ्गराजं कुमारी मुस्तोशीरं चन्द्रिका गन्धसारः।
कर्पूरश्च ख्यातिमानेष वर्गः सेव्यो मर्त्यैः शीर्षरोगे यथास्वम् ॥ (भै. र.)

२. क्षवजृम्भामूत्रवाष्पनिद्राविड्वेगभञ्जनम्।
दुष्टनीरं विरुद्धान्नं सह्यविन्ध्यसरिज्जलम् ॥
दन्तकाष्ठं दिवानिद्रां शिरोरोगी परित्यजेत्। (भै. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

३

वातिक शिरोरोग

'जिस मनुष्य के शिर में अतर्कित कारणों से तीव्र पीड़ा लगती है और विशेषतः रात्रि में और भी अधिक हो जाती तथा वह पीड़ा बन्धन एवं उपताप (स्वेदन) से शान्त हो है उस मनुष्य में होने वाला यह रोग *वातिक* शिरोरोग कहा है।'[1] इस शिरोभिताप का वर्णन वाग्भट ने बहुत अच्छा किया 'वातजन्य शिरोरोग में आँखों में अधिक चुभन होती है, कनपटी शंखभाग में फटने जैसी पीड़ा होती है। दोनों भौहों और ललाट ऐसी कठिन पीड़ा होती है मानो सिर फट रहा है। कानों होता है, उनमें सनसनाहट की आवाज होती है। आँखों में मालूम होता है मानो उन्हें कोई निकाल रहा है। सारा सिर सा मालूम पड़ता है और ऐसा जान पड़ता है कि सिर धड़ से हो रहा है। सिर की सम्पूर्ण शिराओं में स्फुरण, कंधे से लेकर गर्दन और ठुड्डी जकड़ी सी मालूम होती है; प्रकाश की असह्यता हैं। अर्थात् रोगी सूर्य या धूप में देख नहीं सकता। नाक से टपकता है, बिना कारण अकस्मात् पीड़ा रुक भी जाया करती यदि सिर में तेल लगाया जाय, सिर दबाया जाय, सिर में स्वेदन जाय, या सिर बाँध दिया जाय तो पीड़ा में कमी हो जाती है। यह दर्द पूरे सिर में हो तो शिरस्ताप और आधे सिर में हो तो भेदक कहते हैं।'[2] वाग्भट के अनुसार अर्धावभेदक जिसका

---

१. यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रानिशिचातिमात्रम्।
वन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोभितापः ससमीरणेन ।। (मा. नि.

२. निस्तुद्यते भृशं शंखौ घाटां सम्भिद्यते तथा।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटञ्च भ्रमतीवातिवेदनम् ।।
वाध्यते स्वनतः श्रोत्रे निःकृष्येत इवाक्षिणी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

र्णन आगे चलकर होगा, वातिक शिरोरोग के अन्तर्गत ही आता है। न्होंने शिरस्ताप की कालमर्य्यादा भी दी है। उनका कथन है कि शिरस्ताप एक पक्ष से लेकर मास तक की अवधि में अपना प्रकोप दिखलाते हुए स्वयं शान्त भी हो जाता है। यदि इसका रूप भयंकर हुआ तो कान अथवा दृष्टिशक्ति को भी नष्ट कर देता है।

यह रोग वातिक है अस्तु वायु के सदृश ही विषमगति वाला होता है। अतर्कित निमित्त से उठता है। इसमें रात्रि में बढ़ जाना, शैत्य, शैत्य, वातवर्धक होने से प्रकोपक रूप में होते हैं और उपताप, बन्धन और अभ्यङ्ग उष्णप्रधान एवं वातशामक होने से प्रशामक रूप में आते हैं।

यों तो सभी शिरोरोग त्रिदोषज माने गये हैं; परन्तु दोषविशेष की उल्वणता से चिकित्सा में सरलता प्राप्त करने के लिए इनके विविध वर्गीकरण किये गये हैं। किसी कारण से किसी प्रकार का शिरःशूल हो यदि उपर्युक्त लक्षणों से मिलता चिह्न मिले तो उसे वातिक करके चिकित्सा करनी होगी। इस प्रकार के शिरःशूल को अंग्रेजी में 'न्यूरेल्जिया' या 'न्यूरैलिजिकहेडेक' कह सकते हैं। यह एक प्रकार का (Nervous Headache) वातिक शिरःशूल है, जो वातसंस्थान की क्षीणता (Degeneration of Nervous system), रक्तविकार, दन्तविकार, निर्बलता और चिन्ता आदि से उत्पन्न होता है। इनमें कारणों को दूर करते हुए संशामक योगों के प्रयोग करने से लाभ होता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में निम्नलिखित की भाँति चिकित्सा का उपक्रम बतलाया गया है :—

घूर्णतीव शिरः सर्वं सन्धिभ्य इव मुच्यते ॥
स्फुरत्यतिसिराजालकन्धराहनुसंग्रहः ।
प्रकाशासह्यता घ्राणात्स्रावोऽकस्माद् व्यथाशमौ ॥
मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदवंधैश्च जायते ।
शिरस्तापोऽयमर्द्धन्तु मूर्ध्नः सोर्द्धावभेदकः ॥ (वा.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

चिकित्सा'—१. स्नेह प्रयोग—अन्तःप्रयोग में पीने के घृत, वसा या मज्जा और बाह्य में सिर में तैल या घृत का अभ्यङ्ग करें। वरुणादि घृत, रास्नादि तैल, काकोल्यादि तैल, वलादि तैल, ना… तैल, दशमूल तैल, आदि का।

२. स्वेदन।

३. नावन (नस्यकर्म)—बृहत् पञ्चमूली क्षीर—पञ्चमूल की ओष… में से प्रत्येक का आधा आधा तोला लेकर आधा सेर दूध में … पानी मिलाकर क्षीरपाक करे और इसका नस्य नाक से दे। … श्वासकुठाररस का नस्य से प्रयोग करे।

४. उपनाह—जीवनीय उपनाह—(१) अगुरु को पीसकर तै… भूनकर गरम गरम सुहाता हुआ उपनाहस्वेद करना अथवा (२) जी… ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी, माष… जीवन्ती और मुलैठी के कल्क में तिल का तेल मिला उपनाहस्वेद … (३) मछली या मांस से उपनाह स्वेद करना। (४) तिल, चा… उड़द की दाल की नमकीन खिचड़ी बनाकर स्वेद करना।

५. वातरोगापह अन्नपान।

६. मर्दन या अभ्यंग।

७. लेप—कुष्ठादि लेप—(१) कूठ और एरण्ड की जड़ को कां… या मट्ठे में पीसकर लेप करना। (२) मुचकुन्द के फूल को पीस… ईषदुष्ण (गुनगुना) लेप। कुष्ठ, एरण्डमूल और सोंठ का मट्ठे में … कर लेप। (३) देवदार्वादिलेप देवदारु, तगर, कूठ, जटामांसी … सोंठ को काञ्जी में या मट्ठे में पीसकर थोड़ा घी मिलाकर गरम क… लेप करे।

८. शिरोवस्ति²—शिर को चारों ओर से घेर लेने योग्य एक च…

---

१. वातिके शिरसोरोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान्।
पानान्नमुपनाहांच कुर्याद्वातामयापहान्॥ (च. चि. २६.)

२. आशिरोव्यापि तच्चर्म षोडशाङ्गुलमुच्छ्रितं। तेनावेष्ट्य शिरोवस्ता… कल्केन लेपयेत्। निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत्। धारयेदारुजः श…

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पट्टा जो सोलह अंगुल ऊँचा होसके लें, इसके द्वारा बीच की खोपड़ी खुली रखकर चारों ओर सिर को वेष्टित कर बाँध दें। पट्टी के नीचे भाग संधिस्थल पर उड़द का आटा गूंदकर इस प्रकार लगा दें कि पट्टे से कोई द्रव पदार्थ बह न सके। रोगी को स्थिर बैठाकर पट्टे से निर्मित कोष में गुनगुना तैल भर दें। जब तक पीड़ा शान्त न हो तब तक अथवा एक पहर तक या आधे पहर (१॥ से ३ घंटे) तक तैल भरा रहने दें। इस शिरोवस्ति से वातजन्य शिरोरोग हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, अक्षिशूल, कर्णशूल, अर्दित तथा शिरःकम्प नष्ट होता है। इस वस्ति का प्रयोग सदैव भोजन के पूर्व करना होता है। पाँच या सात दिनों तक अनुकूल होने पर अधिक दिनों तक भी प्रयोग हो सकता है। एक या आधे प्रहर के पश्चात् तेल निकाल कर किसी पात्र में रख दे। बन्धन को खोलकर शिरा, ललाट, मुख, ग्रीवा और कन्धे आदि का मर्दन करे। फिर गर्म पानी से स्नानकर पथ्यकर आहार ले। जाङ्गल मांस, शालिचावल, घी, दूध पथ्य है। रात में केवल मूँग, उड़द या कुल्थी को उबालकर गर्म मसाले और घी मिलाकर खावे और ऊपर से गर्म दूध पी ले। इसी प्रकार दूध और घी की शिरोवस्ति पित्तविकारों में दी जा सकती है।

भैषज्यरत्नावली[1] में भी एक सरल शिरोवस्ति की वातिक शिरोरोगों

र्यामं यामार्द्धमेव वा। शिरोवस्तिर्हरत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्। हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मूर्धकम्पनम्। विना भोजनमेवैष शिरोवस्तिः प्रयुज्यते। पञ्चाहं वापि सप्ताहं षडहं चैवमाचरेत्। ततोपनीतस्नेहस्तु मोचयेद्वस्तिबन्धनम्। शिरोललाटवदनग्रीवांसादीन्विमर्दयेत्। सुखोष्णेनाम्भसा गात्रं प्रक्षाल्याश्नाति यद्धितम्।

(यो. र. शि. चि.)

१. आशिरो व्यायतं चर्म कृत्वाष्टांगुलमुच्छ्रितं।
तेनावेष्ठ्य शिरोऽधस्तात् माषकल्केन लेपयेत्॥
निश्चलस्योपविष्टस्य तैलेरुष्णैः प्रपूरयेत्।
धारयेदारुजः शान्तेर्यामं यामार्द्धमेव वा॥
शिरोवस्तिर्जयत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्।
हनुमन्याक्षिकर्णार्तिमर्दितं मस्तककम्पनम्॥ (भै. र. शि. रो.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

में विधि वर्णित है। इसमें एक चर्म के पट्ट को सिर के चारों वेष्टित कर आठ अंगुल ऊँचा रखने का विधान है फिर नीचे संधिस्थल को उड़द के पिष्ट से संहित करने की विधि है। निश्चल खड़ा बैठाकर, तैल को उष्ण करके वस्ति को भर दिया जब तक पीड़ा शान्त न हो जाय रखे रहना होता है। प्रायः तीन डेढ़ घंटे में पीड़ा शान्त हो जाती है पश्चात् वस्ति को हटा देना

पैत्तिक शिरःशूल या शिरोरोग

'शिरःशूल के समय जिसका सिर गर्म जलते अङ्गार के उष्ण हो 'आँख तथा नाक में धुएं से भरे के समान दाह एवं जल रात में शीत के कारण वेदना कम हो जाती हो उस शिरोभि पित्तप्रकोप से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये।' गंदनिग्रह ने 'शिरो की जगह 'शिरोभिघात' लिखा है। 'शीतेन' शब्द से इसके की सूचना मिलती है अर्थात् शीतप्रयोगों से वेदना का शमन है। सुश्रुत ने शीत के कारण रात्रि में विशेष होना बतलाया है; यह समुचित नहीं मालूम होता क्योंकि पैत्तिक रोग की हेतु और शीत के बिल्कुल विपरीत है। अस्तु, शीत के विपरीत गुणों पैत्तिक शिरःशूल का शमन होना चाहिये। चरकाचार्य ने लिखा है 'पैत्तिक शिरोरोग तीच्ण, अम्ल और क्षारीय पदार्थों के सेवन से, मद्यपान, क्रोध, आतपनिषेवण (धूप में घूमना), अग्नि के पास देर तक रहना, प्रभृति कारणों से प्रकुपित हुआ पित्त मस्तिष्क का लेकर पैत्तिक शिरोरोग को उत्पन्न करता है। ऐसी दशा में आँ

१. यस्योष्णमंगारचिते यथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासाम्।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोभितापः स तु पित्तकोपात् (मा.

२. कट्वम्ललवणक्षारमद्यक्रोधातपानलैः।
पित्तं शिरसि संदुष्टं शिरोरोगाय कल्पते॥
दह्यते रुज्यते तेन शिरःशीतं सुषूयते।
दह्यते चक्षुषी तृष्णा भ्रमः स्वेदश्च जायते॥ (च. सू. १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लन होना, प्यास लगना, चक्कर आना, अधिक स्वेद होना' स्वाभाविक । अतएव इस विकारों में पित्तशामक शैत्य का प्रयोग लाभकारी गा। शीतोपचार तथा शीतल रात्रि में पीड़ा का कम होना स्वाभाविक । इसका समर्थन वाग्भट ने भी किया है।[1]

पैत्तिक शिरोरोग की समता अंग्रेजी के 'बिलियस हेडेक' (Bilius Headache) नाम की शिरोवेदना से हो सकती है। यह रोग धिकतर पचनसंस्थान की विकृति में देखने को मिलता है अतएव सको 'कंस्टीट्यूशनलहेडेक' के वर्ग का समझना चाहिये। मन्दाग्नि जीर्ण, अम्लपित्त, आमाशय शोथ, जीर्ण विबंध, यकृत की खराबी, ांत्रशोथ प्रभृति विकृतियाँ मूलभूत कारण होती हैं। उत्तेजकरूप में ोली भूमि पर रहना, अधिक परिश्रम, मद्य का अधिक सेवन, स्त्रियों ं ऋतुस्राव प्रभृति आगन्तुक कारणों में रोग प्रकट हो जाता है। इसमें ीड़ा सिर और आँख में होती है, जी मचलाया करता है, कभी-कभी मन भी हो जाता है। पीडा सवेरे अधिक होती है। भोजन करने पर ीडा में कुछ कमी हो जाती है, पेट में आध्मान रहता है। स्त्रियों में ऋतुस्राव के पहले या पीछे यह पीड़ा अधिक होती है। इस प्रकार की ीड़ा सिर के दाहिने भाग पर अधिक होती है। इस रोग की चिकित्सा आमाशय, यकृत तथा आंत्र की विकृतियों को ठीक करते हुए, पित्तो-चन की क्रिया को प्राकृत अवस्था में ले आना चाहिये। लाक्षणिक ान्ति के लिये शिरःशूल में हर योगों को देना चाहिये। यदि रोगी विबंध हो तो विरेचन दे कर कोष्ठ-शुद्धि कर लेनी चाहिये।[2]

चिकित्सा—पैत्तिक शिरोरोग में घृतपान, क्षीरपान, शीतल परिषेक,

---

१. शिरोभितापे पित्तोत्थे शिरोघूमायनं ज्वरः।
स्वेदोक्षिदहनं मूर्च्छा निशि शीतैश्च मार्दवम्॥ (वाग्भट)

२. पित्तात्मकके शिरोरोगे स्निग्धं सम्यग्विरेचयेत्
मृद्वीकात्रिफलेक्षूणां रसैः क्षीरघृतैरपि। (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

शीतल लेप, नस्य, जीवनीय घृत और पित्तघ्न अन्नपान का करना चाहिये।[1]

जीवनीय घृत—जीवनीय ओषधियों का कल्क डालकर दूध और दधि जमाकर मथकर मक्खन निकाले और उससे घी बनावे। एक सेर घी में एक छटाँक जीवनीय ओषधियों का कल्क और जीवनीय ओषधियों में १६ सेर पानी डाल कर चार सेर रहने पर कर उसी घी में यह क्वाथ डाल कर घृत को सिद्ध किया जाय।

इस जीवनीय घृत को पीने, भोजन के साथ खाने, नस्य में, सिर में लगाने और वस्तिद्वारा देने में उपयोग करे। इससे रक्तज और पित्तज शिरोरोग नष्ट होते हैं।

अभ्यंग—हिमांशु तैल अथवा हिमसागर तैल का अभ्यंग। क्षीर की शिरोवस्ति।

लेप—१. आमलक्यादि लेप।

२. नलादिलेप—नल, वेत, लाल कमल, लाल चन्दन, नील पद्माख, शंख, दूब, मुलैठी, नागरमोथा, और सफेद कमल इन पीस कर घी में मिला कर लेप करना।

३. शतवर्यादिलेप—शतावरी, कुष्ठ, काली तिल, मधुयष्टि, कमल, दूब और पुनर्नवा सबको पीस कर सिर पर, लेप करना।

४. मृणालादि लेप—भसींडा (बिस) कमलकन्द, चन्दन, कमल या कुङ्कुम केसर का लेप।

५. शतधौत घृत का सिर पर अभ्यंग।

पानक—१. केसर या मिश्री डाल कर सिद्ध किया हुआ दूध पीने के लिये देना चाहिये।

२. पर्पट पानक—पित्तपापड़ा ६ माशे, धनिया ६ माशे, बीज मुनक्के ६ माशे, मिश्री ४ तोले सबको आध पाव पानी के साथ छान ले, उसमें १ तोला गुलाब का अर्क १ तोला मिश्री मिलाकर

१. पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः
जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत्। (च. चि. २६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिषेक—१. चन्दनादि परिषेक—श्वेत चन्दन, मधुयष्टि, बला, व्याघ्री (नख), खस और नील कमल सबको एकत्र दूध में पीस कर करे अथवा कषाय बना कर सिर पर सिंचन करे।

नस्य या नावन—१. त्वक्-पत्र्यादि—दालचीनी, तेजपात और चीनी चावल के धोवन के साथ पीस कर छान कर नस्य दे पश्चात् घी का स्य दे।

२. मधुयष्टि, रक्त चन्दन, जवासा मूल, श्वेत दूर्वा समान भाग में ले गाय के दूध और घृत का पाक विधि से घृत बना कर अथवा सोंठी, मुनक्का और मिश्री से सिद्ध घृत का नस्य दे।

रस के योग—स्वर्ण मालती वसंत, चंद्रकलारस, मुक्ताभस्म, यशदभस्म, रौप्यमाक्षिक, सुवर्णमाक्षिक, दन्तीभस्म, प्रवालभस्म, शुक्तिभस्म वराटभस्म का स्वतन्त्र या मिश्रित प्रयोग घृत और मिश्री के अनुपान या गुलकंद से करना चाहिये।

कफज शिरोरोग

'जिस मनुष्य का सिर कफलिप्त, भारी, जकड़ा हुआ तथा स्पर्श में तल होता हो और जिसका मुख एवं आँखों का निचला भाग सूजा ा मालूम होता हो उसे श्लैष्मिक शिरोभिताप युक्त कहना चाहिये।'[1]

चरकाचार्य इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'कफ से उत्पन्न रोभिताप में पीड़ा हल्की होती है, सिर सुन्न सा पड़ जाता है और ा ठंढा मालूम होता है मानो गीले कपड़े से लपेटा हुआ है। स्तिमित) रोगी को आलस्य के साथ झपकी सी लगी रहती है एवं जन में अरुचि रहती है।'[2]

कहीं पाठ भेद होकर सिर और गले को भी कफोपदिग्ध होना

१. शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमञ्च।
शूनाक्षिकूटं वदनञ्च यस्य शिरोभितापः स कफप्रकोपात्॥ (सु० ६।२५)

२. शिरो मंदरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम्।
भवत्युत्पद्यते तन्द्रा तथालस्यमरोचकम्॥ (च० सू० १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Gyaan Trust. Funding IKS-MoE-Grant

लिखा है। भावमिश्र ने 'शूनाक्षिकूटं' की जगह 'शूनाक्षिनासं' आँख और नाक का शोफयुक्त होना श्लैष्मिक शिरोरोग में बतला वाग्भट ने इस रोग की तीन विशेषतायें बतलाई हैं[1]। १. रात में २. कान में खुजली होती और ३. वमन भी होता है। यहाँ भी त्मक निदान के रूप में स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये, उपयोग से पीड़ा का शमन होता है।

ऐसी पीड़ा की समता 'रीफ्लेक्स हेडेक' से हो सकती है नासा की विकृति, प्रतिश्याय, दृष्टिशक्ति की कमी दन्तगतरोग, शोथ, आमाशय अथवा गर्भाशय में अवस्थित विकार के कारण नायें संवाहित होकर पहुँचती रहती हैं और सिर में मंदरुजा होती

चिकित्सा[2]—१. उपवास, २. रूक्ष, उष्ण और आग्नेय गुणवा से स्वेदन, ३. धूम, ४. नस्य, ५. प्रधमन। इन क्रियाओं से दो निकल जाते हैं, स्रोतस शुद्ध हो जाते हैं। तदनन्तर ६. कव ७. शिरोविरेचन ८. वमन, ९. गण्डूष धारण, १० पुराण घृत ११. तथा कफघ्न अन्नपान की व्यवस्था करे १२. यदि वायु का हो तो दाह कर्म करे अन्यथा अन्य शेष सभी में रक्तमोक्षण करे।

लेप—सरलादि लेप—सरल धूप, कूठ, लताकरञ्ज, देवदारु, रो और अपामार्ग को जल में पीस कर कुछ नमक मिलाकर लेप करे

तगरादिलेप—तगर, निर्गुण्डीबीज, शिलारस, नागरमोथा, यची, अगुरु, देवदारु, जटामांसी, रास्ना और एरण्डमूल इन पानी में पीस कर गर्म करके लेप करे।

१. अरुचिः कफजो मूर्च्छा गुरुस्तिमितशीतता।
सिरानिष्पंदताऽऽलस्यं रुङ् मन्दा ह्यधिका निशि
तन्द्रा शूनाक्षिकूटत्वं कर्णः कण्डूयते वमिः॥ (वा०)

२. कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रधमनादिभिः।
शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत्।
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्वस्तिभिरेव च।
कफानिलोत्थे दाहः स्यात् शेषयो रक्तमोक्षणम्। (च० चि० २६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पथ्यादि लेप—बड़ी हर्रे की छाल, सोंठ, नागरमोथा, मुलैठी, सौंफ, लकमल सबको जल में पीस कर लेप करे।

देवदार्वादि लेप—देवदारु, तगर, कूठ, जटामांसी और सोंठ को जी में पीसकर उसको तेल मिलाकर गर्म कर लेप करे।

शुंठ्यादिलेप—सोंठ, कूठ, चक्रमर्दबीज, देवदारु समभाग लेकर हिषमूत्र में पीस कर लेप करे।

कृष्णादिलेप—पिप्पली, शुंठी, मुस्तक, मधुयष्टि, शतपुष्पा, नीलकमल र कूठ सबको लेकर जल में पीसकर किंचिदुष्ण लेप करना।

एरण्डादिधूम्र—एरण्डमूल, जटामांसी, क्षौम, सन के बीज, गुग्गुलु, गुरु, लालचन्दन इनको पीस कर यथाविधि धूमवर्ति बनाकर धूम्रपान रावे।

इङ्गुदी—इङ्गुदीफल का गूदा और मेढाश्रृङ्गी पीस कर धूम्रवर्ति बनाकर धूम्रपान कराना चाहिये।

नस्यकर्म—कट्फलचूर्ण[1]—कायफर का कपड़छान चूर्ण बनाकर सा से प्रयोग करने से शिरःशूल तत्काल शान्त हो जाता है।

अर्कादि नस्य—चावल को मंदार के दूध में भिगा के जब सूख वे तो फिर उसी प्रकार भिगा दें। इसी तरह तीन बार करे पीस कर शी में रख ले। आवश्यकता पड़ने पर नस्य दे। इस प्रधमन के द्वारा र्णशूल, कफज शिरःशूल और मूर्च्छा दूर हो जाती है। केवल अर्कर का नस्य भी तीव्र शिरोरेचन होता है और शिरःशूल शामक होता। इससे छींकें बहुत आती हैं।

हयारिनस्य—कनेर का फूल, नकछिकनी, कायफर, जावित्री, बचा, कटु सबको महीन पीसकर कपड़छान कर चूर्ण बनाकर रख ले। वश्यकता पड़ने पर मूर्च्छा, संन्यास तथा श्लेष्मज शिरोरोग में व्यवर करे।

१. शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति। (मा. नि.)
वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा।
कफाद् गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे। (च० सू० १७)

RajGuru Math; Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गण्डूष—राई, अकरकरा, दौनामरुआ, सआतर सबको पीस थोड़ा शहद मिला कुल्ला करे। इसके बाद सोये के बीज नाखूना औटाकर पानी से सिर धोवे।

त्रिदोषज शिरोरोग

'सन्निपातज शिरोरोग में सभी दोषों के लक्षण होते हैं। दोषों के लक्षण मिलते हैं जैसे वायु के कारण शूल, भ्रम तथा पित्त के कारण दाह, मद और तृषाधिक्य एवं कफ के कारण और तन्द्रा होती है।' यों तो जैसे पहले कहा जा चुका है सभी रोग त्रिदोषज होते हैं किन्तु दोषों के तरतम भाव का विचार उनमें दोषाधिक्य कल्पना की जा सकती है। परन्तु जहाँ प दोष की विकृति का प्रश्न है वहाँ पर तरतम भाव से करने का नहीं उठता वहाँ पर विकृति, विषम समवेत होती है। सम्मिलि से उनकी विषमता है। यह विकृति विषमसमवेत कारण समझना चाहिये। विरुद्ध लक्षणों के स्वरूप में नहीं। यह का उत्कट सर्वदोषजन्य ही समझना चाहिये। कारणभेद से जो तीन में विकृति होती है, उसके कारण वात प्रकोप से सिर में पीडा, और कम्प होता है, पित्त के प्रकोप से दाह, मद और तृषा तथा कफ के कोप से सिर में भी भारीपन एवं तन्द्रा होती है प्रकार तीनों दोष के लक्षण प्रकट होते हैं।

चिकित्सा—सन्निपातसमुत्थ शिरोरोग में १. घृत, २, तैल, ३ ४. धूम ५. नस्य ६. शिरोविरेचन ७. लेप, ८. स्वेदादिका विधान चाहिये ९. विशेषतः पुराण घृत का पान प्रशस्त माना गया है प्रकार सन्निपात समुत्थ व्याधि में सन्निपातघ्न क्रिया करनी चाहिये

१. सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। (च० चि० २६)
सन्निपातसमुत्थेऽत्र घृतं तैलञ्च वस्तयः। धूमनस्यशिरोरेकलेपस्वेदाद्य
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि। (यो. र.)
२. सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। (च. चि. २६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१. *प्रधमन तथा नस्य*—स्मरादि प्रधमन—मदनफल, काली तिल, ग्रुवीज, जटामांसी, कुशमूल, तेजपात, दन्तीमूल, प्रत्येक का एक एक ला ले कर कूट कर कपड़छान कर उसमें आधा तोला शुद्ध तूतिया ला कर घोंट कर शीशी में रख लें। इसके नस्य से त्रिदोषज शिरोरोग टता है।

२. दूध में सोंठ पका कर अवपीडन नस्य लेना।

३. करञ्ज, शिग्रुवीज, तेजपत्र, मिश्री और बच को पीसकर नस्य लेना।

४. त्रिकटु, पुष्कर मूल, हल्दी, रास्ना, देवदारु और असगन्ध का काढ़ा ना कर नासिका द्वारा लेने से त्रिदोषज शिरःशूल में लाभ होता है।

घृत—त्रिफलाघृत—त्रिफलाचूर्ण से सिद्ध किया हुआ घृत का पान।

तैल—१. जीवकाद्य तथा बृहज्जीवकाद्य तैल का अभ्यङ्ग नस्य और स्ति के द्वारा प्रयोग करना। २. शताह्वादि तैल—शतावरी, एरण्ड, ज, घोडवच, तगर, भटकटैयाबीज इन सबके काढ़े में तैल सिद्ध र नस्य लेना।

लेप—१. सफेद चन्दन, कपूर, केसर, पुराने चावल, गुलाबजल पीस कर थोड़ा सिरका मिला कर सिर पर लेप करना। २. प्रियंगु, न्तमूल, काली निशोथ, सोंठ और सफेद चन्दन घिस कर सिर पर करना। ३. कूठ, सोंठ, मुलैठी, सौंफ, नील कमल, पिप्पली सब को स कर गर्म करके लेप करना।

इस प्रकार के शिरःशूल को सार्वदैहिक विकृतिजन्य (Constitutional causes) विकार में ले सकते हैं। इसमें मूलभूत विकृति मर्माङ्गों विशेषतः वृक्क एवं हृदय में होती है और विषमयता के कारण तीव्र रःशूल होता है। इसके अतिरिक्त विषसञ्चार, अम्लमयता, क्षारमयता, षमज्वर आन्त्रिकज्वर प्रभृति तीव्र ज्वर, रक्तभाराधिक्य और मदात्यय ति रोगों में ऐसा देखने को मिलता है। मस्तिष्कावरण और Meningitis) में भी त्रिदोषज शिरःशूल होता है।

सन्निपातसमुत्थेऽत्र घृतं तैलं च वस्तयः।
धूमस्तस्य शिरोरेकलेपस्वेदाद्यमाचरेत्।
पुराणसर्पिषः पानं विशेषेण दिशन्ति हि। (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

रक्तज शिरोरोग

'रक्तोल्वण शिरोभिताप में सभी लक्षण पैत्तिक शिरोरोग होते हैं विशेषता केवल यह होती है कि रक्तज शिरोरोग में छूनें में अधिक दर्द होता है—इस लिये स्पर्श सह्य नहीं होता। रोगविशेष का वर्णन इतना सूत्र रूप में है कि पाश्चात्य वैद्यक के विशेष रोग से समता दिखलाना कठिन है। फिर भी दो विशे इसके बड़े महत्त्व के हैं—१. चेहरे का रक्ताभ (लाल) और स्थान का पीडनाक्षम हो जाना। ऐसी दशा में शिर की विकृतियों के कारण हो सकती है जैसे १. पुरःकपाल तथा ऊर्ध्व के वायुविवर में शोथ (Sinusitis), २. अभिघात (Injury bones) जिससे अस्थि में शोथ हो, रक्ताधिक्य से उस अङ्ग लाल और शिरःशूलयुक्त हो जाता है। अस्थिविवर शोथ अवस्थाओं में तीव्र शिरःशूल, दाह, स्थान मृदु और स्पर्शास रहता है।

कई एक (Constitutional) सार्वदैहिक विकृतियों में शिरोरोग की अवस्था प्राप्त हो सकती है जैसे तीव्रमदात्यय, शोणितकायाणुमयता, रक्तभाराधिक्य तथा तीव्र विषवेग में। धमनी (Ext Carotid artery) की शाखा में विकृति और रक्त होने के कारण शिरःशूल और चेहरे की लालिमा (Flush) में भी पाई जाती है।

चिकित्सा—रक्तज शिरोरोग में चिकित्सा का पूरा उपक्रम पि भाँति रखना चाहिये। विशेषतः शिरः कपालगत रक्ताधिक्य या धिक्य को कम करने के लिये रक्तमोक्षण—प्रच्छान, शिरा जलौका के द्वारा, कराना चाहिये। यह सर्वोत्तम उपाय माना

१. रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च। (सु.

रक्तजे पित्तवत्सर्वं भोजनालेपसेवनम्।
शीतोष्णयोश्च विन्यासो विशेषाद्रक्तमोक्षणम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेप—१. शतधौत घृत का प्रयोग । २. आमलकी, खस, सुगन्धबाला, मल का फूल, धव का फूल और मुनक्के को गुलाब जल में पीस कर र पर लगा दे । ३. वलामूल, श्वेत चन्दन, खस, मधुयष्टि, नख, नील मल तथा दूब को पीस कर लेप करे । ४. पीपल, सुगन्धबाला, सोंठ, लैठी, शतावर, कमलगट्टा और खस को पीस कर लेप करे ।

नस्य तथा नावन—१. चीनी, मुनक्का, मुलैठी—पानी में पीस कर निकाल कर नाक में बूँदें डाले । २. षड्विन्दु तैल का अवपीडन । यष्ट्यादिनस्य—मुलैठी, सफेद चन्दन, यवासामूल, खस—प्रभृति तल द्रव्यों का पाकविधि से सिद्ध घृत का नावन रक्तज शिरोरोग का मक होता है ।

पेय—१. पर्पटफाण्ट—पित्तपापड़ा, धनिया, मुनक्का प्रत्येक आधा धा तोला ले कर खौलते हुए आधे सेर पानी में डालें । चाय जैसे सको थोड़ी देर में उतार कर छान लें । और थोड़ी देर में मिश्री मिला र रख लें और सेवन करे । २. इसी प्रकार बांस के बीज के भी ण्ट (चाय) शहद में मिलाकर लिया जाता है, इसमें बांस के ज की मात्रा सवा तोला और मधु डेढ़ तोला होनी चाहिये ।

—०—

४

क्षयज शिरोरोग

'सिर में स्थित वसा, श्लेष्मा और वायु के क्षीण हो जाने से क्षयज रोरुजा होती है । यह शिरोरुजा कष्टसाध्य एवं अत्यन्त उग्र पीड़ा ली होती तथा स्वेदन, वमन, धूम्रपान, नस्यप्रदान एवं रक्तमोक्षण से ढ़ जाती है ।'[1]

---

1. असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति । (सु० ६।२५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

वसा और रक्त सम्पूर्ण देह में स्थित होते हैं, फलतः सिर में भी उनका अवस्थान रहता है। श्लेष्मा का स्थान तो सिर है ही, ऊर्ध्व गति होने से उदानवायु का भी अवस्थान हो जाता है। इस प्रकार इन धातुओं के क्षय से सिर में उग्र पीड़ा का होना स्वाभाविक है। पीड़ा के सम्बन्ध में मधुकोषकार को शंका होती है कि उग्र पीड़ा वायु की वृद्धिसे होती है न कि क्षय से। परन्तु क्षयज शिरोरोग में वायु का भी क्षय होना लिखा है तो पीड़ा की उग्रता का होना कैसे संभव है? उसका समाधान उन्होंने 'व्याधिस्वभाव' शब्द से किया है कि यह व्याधि का स्वभाव है कि उसमें उग्र पीड़ा होवे। अस्तु, होती है। ... 'वात, पित्त और कफ के क्षीण होने पर उनके प्राकृत कर्म की हानि होती है।'[1] फलतः यहाँ विना 'व्याधिस्वभाव' की कल्पना किये उग्र पीड़ा नहीं हो सकती। दूसरा समाधान पाठभेद के द्वारा किया गया है। ... आदि आचार्यों ने इस पाठ को स्वीकार न कर 'वसाबलास... संभवानां' (वसाबलासक्षतसंभवानाम्) यह पाठ स्वीकार किया है जो वस्तुतः युक्तियुक्त भी है। क्योंकि उपर्युक्त पाठ 'असृग्वसाश्लेष्म-समीरणानां' के अनुसार वात धातु के क्षय होने पर कफ की वृद्धि होगी और कफज शिरोरोग होगा क्योंकि 'दोषों के क्षीण होने पर प्राकृ-तकर्मों की हानि और विरोधी कर्मों की वृद्धि होती है।' इस ... कफ के वृद्ध होने पर क्षयज शिरोरोग की चिकित्सा में जो यह कहा है 'पीने में, नस्य देने में, मधुर पदार्थों से शृत वातघ्न सर्पिः का ... करना चाहिये।'[2] वह संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि क्षीण ... शमन की चिकित्सा नहीं की जाती वहाँ तो 'क्षीणा वर्धयितव्याः' ... चरक वाक्य से वर्धन विधि कही गयी है। अतः यह सिद्ध होता है कि 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां' समीरण (वायु) का पाठ संगत नहीं है। यहाँ पर वसा का ग्रहण शारीरिक स्नेह का उपलक्षण है। इससे ...

१. वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणा प्राकृताद्धानिः वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्। (च० सू० १८)

२. पाने नस्ये च सर्पिः स्याद् वातघ्नमधुरैः शृतम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ना, शुक्र और मस्तिष्क का ग्रहण हो सकता है यह आचार्य गदाधर मन्तव्य है।

शिरोभिताप से शिरोरुजा का अर्थ ग्रहण होता है। संस्वेदन, छर्दन, पान तथा नस्य से कफ की क्षीणता; नागरादि तीक्ष्ण धूम्रों के प्रयोग मस्तिष्क धातु की क्षीणता; एवं शिरामोक्षण से रक्त की क्षीणता होती । अतएव इन स्वेदनादिक क्रियाओं से क्षयज शिरोरोग की वृद्धि ी है। इस रोग का पाठ विदेह में इस प्रकार है 'सिर में भ्रमण, और शून्यता; नेत्रों में विभ्रान्तता; मूर्च्छा और गात्रावसाद ये लक्षण ात्मक शिरोरोग में होते हैं।"[1] आचार्य चक्षुष्य ने भी कहा है 'स्त्री न, अभिघात अथवा अत्यधिक शारीरिक कर्म से शीघ्र ही क्षयात्मक र कष्टसाध्य शिरोरोग होता है। इसमें वायु और पित्त के सम्मिलित ण जानने चाहिये।'[2]

श्रीकंठ ने एकीय मत के अनुसार 'वसावलासक्षयसंभवानाम्' ऐसा ान्तर बतलाया है; परन्तु वस्तुतः 'वसावलासक्षतसंभवानां' यह ान्तर अधिक ठीक है। इसमें वसा, कफ तथा रक्त का संक्षय होना कथित होता है, जिससे क्षयज शिरःशूल होगा। संभव है मुद्रण गलतियों की वजह से 'क्षतसंभवानां' की जगह 'क्षयसंभवानां' पाठ गया हो क्योंकि श्रीकंठ ने निश्चित रूप से 'क्षत' रक्त को ही माना होगा कि अनुपशय बतलाते हुए उन्होंने स्वयं लिखा है 'सिरामोक्षणा- रसृग्क्षयः' (सिरामोक्षण आदि के द्वारा भी रक्त का ही नाश ा है।) अतः प्रतीत होता है कि उन्होंने रक्त या क्षत को स्वीकार ा हो। सुश्रुत में भी डल्हण ने 'वसाबलासक्षतसंभवानां' यही पाठ मत माना है।

---

१. भ्रमति तुद्यते शून्यं शिरो विभ्रान्तनेत्रता।
मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके।

२. स्त्रीप्रसंगादभिघातादथवा देहकर्मणा।
क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः।
दःतपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्। (मधुकोष)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust, Funding IKS-MoE-Grant

उपर्युक्त लक्षणों तथा उनके कारणों के ऊपर विचार आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के ग्रंथों के आधार पर शिरःशूल के या सार्वदैहिक (Constitutional) वर्गीकरण के भीतर इस शिरोरोग का समावेश कर सकते हैं। अधिक दिनों तक चलने रोगों में शरीर के मेद और श्लेष्म-पोषक धातुओं का नाश या रक्तनाश बहुत अधिक हो जाया करता है, अस्थिशोष, मधुमेह विषमज्वर, अंकुशमुख कृमिरोग, पाण्डु, तथा दुष्ट पाण्डु। इन रो शरीर में रक्त की कमी होने के कारण मस्तिष्क में भी रक्त (Cerebral anaemia) हो जाया करती है जिसकी वजह से शूल बना रहता है। जब तक प्रधान विकृति अथवा दूसरे शब्दों मेद एवं श्लेष्मा का पूरण नहीं हो जाता रोग चलता रहता है, ई रोग को कृच्छ्रसाध्य बतलाया गया है।

चिकित्सा—क्षयज शिरोरोग में चिकित्सा का क्रम ऐसा चाहिये जिससे दोष और धातुओं का क्षय दूर होवे। इसमें अधिकतर १. बृंहण, २. घृतपान या स्नेहपान, ३. वातघ्न औ द्रव्यों से सिद्ध नस्य प्रयोग, ४. क्षीरपिष्ट वातघ्न ओषधियों का ५. गुड़ और घृत का प्रयोग। भोजन में घी और गुड़ या चीनी भोजन-हलुवा, गुलगुले, मालपूवा, घेवर और जलेबी आदि देना चाहिये। ६. क्षीर पिष्ट तिल और जीवनीयगण की ओषधि स्वेदन करावे। रसौषधियों में आलभस्म, महालक्ष्मी विलास, कांचनाभ्र, मुक्तापिष्टि, वसन्तमालती, प्रवालभस्म प्रभृति योगों या च्यवनप्राश के साथ सहपान देकर, दूध का अनुपान कराने होता है[1]। अन्य भी शोषघ्न उपचारों की व्यवस्था इस चिकित्सा में करनी चाहिये।

१. क्षयजे क्षयनाशाय कर्त्तव्यो बृंहणो विधिः।
पाने नस्ये च सर्पिः स्याद् वातघ्नैर्मधुरैः शृतम्॥
योजयेत्सगुडं सर्पिः घृतपूरांश्च भक्षयेत्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कृमिज शिरोरोग

व्याख्या—'जिस मनुष्य के सिर में अत्यन्त तोद (सुई चुभाने की पीडा) हो और कपालास्थियों के अन्दर स्फुरण सा प्रतीत होता या ऐसा मालूम होता हो मानो वहां की श्लेष्मलकला खाई जा रही एवं जिसकी नासिका से पूयमिश्रित जल बहता है उसको कृमिज शिरोरोग कहते हैं। यह रोग दारुण होता है।"[1]

कृमिजन्य शिरोरोग में जो दर्द होता है वह ऐसा मालूम होता है मानो कोई खोपड़ी के भीतर बींधे डाल रहा हो (व्यध), इस दर्द की वजह से ऐसा मालूम पड़ता है मानो खोपड़ी फट रही है उसको कोई काट कर दो टुकड़े कर रहा हो (छेद) इस प्रकार की पीड़ा, खुजली, सूजन एवं दुर्गन्ध नाक से होती है। जहां शोथ है, सड़न है और जहां कृमियों की उत्पत्ति हो गई है वहां दुर्गन्धि का होना स्वाभाविक क्रम प्राप्त है। इन लक्षणों के साथ ही कृमियों का दिखलाई पड़ना कृमिज शिरोरोग के निदान का समर्थक होता है।"[2]

हेतु और सम्प्राप्ति[3]—पथ्यापथ्यमिश्रित भोजन करने से अथवा संकीर्ण आहार से सिर में क्लेद भाव की वृद्धि होती है। वह क्लेदभाव शिरस्थ

नावनं क्षीरसर्पिभ्यां पानञ्च क्षीरसर्पिषोः ।
क्षीरपिष्टैस्तिलैः स्वेदो जीवनीयैश्च शस्यते ॥

१. निस्तुद्यते यस्य शिरोतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेत्सलिलं सपूयं शिरोभितापः कृमिभिः स घोरः। (सु. ६।२५)

२. व्यधच्छेदरुजाकण्डूःशोफदौर्गन्ध्यदुःखितम् ।
कृमिरोगातुरं विद्यात् कृमीणां लक्षणेन च । च. सू. १७.

३. सङ्कीर्णैर्भोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे ।
कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जन्तवः ।
रसस्ते पिबन्तोऽस्रं घोराः कुर्वन्ति वेदनाः। चित्तविभ्रंशजननौ ज्वरकासौ बलक्षयः।
स्यशोफव्यधच्छेददाहस्फुटनपूतिताः । कपाले तालुशिरसोः कण्डुशोषप्रलीमकः।
ताम्राच्छसिङ्घाणकता कर्णनादश्च जन्तुजे । (वाग्भट)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

रक्त और मांस में प्रकट होता है। इस प्रकार के क्लेदभाव शिरस्थ तीनों दोषों का प्रकोप हो कर त्रिदोषज या सान्निपातिक उत्पन्न होती है उसके परिणाम स्वरूप कृमियों की उत्पत्ति हो कृमि सिर के रक्त को पीना आरम्भ कर देते हैं जिससे घोर होती है। इस वेदना के कारण रोगी का चित्तविभ्रंश हो जाता को ज्वर और कास होने लगता है, फलतः बलक्षय हो कर बढ़ती है कृमि रक्त और क्लेद को खाते रहते हैं जिससे सिर आ जाती है, और शोथ भी हो जाता है। शोथ में चुभन सी पीडा तथा स्फुरण और दाह होता है। कपाल, तालु और खुजली मालूम होती है, नाक से गिरने वाले रक्त से दुर्गन्ध खोपड़ी, तालु और नाक सूखी रहती है, रोगी आँखें बन्द प्रयत्न करता है-नासा से जो स्राव होता है वह (ताम्राच्छ और ललाई लिये रहता है तथा कान में नाद-आवाज होती है। चरक ने पथ्यापथ्य मिश्रित संकीर्ण आहार की सूची दी है कारण कृमिज या जन्तुज शिरोरोग होता है। ये आहार शरीर के और क्लेद के उत्पादक हैं, फलतः सामान्यतया उदर के कृ को पैदा करते हैं। वही शिरोगत कृमियों के भी उत्पादक होते तिल, गुड, दधि आदिका अधिक सेवन, अध्यशन, दुर्गन्ध युक्त पदार्थ का सेवन, संकीर्ण अर्थात् रस, वीर्यादि विरुद्ध बहुत से एकत्र मिला कर विरुद्धाहार करना, (undercooked or un diet), इन भोजनों के द्वारा दोषल पुरुषों में रक्त, कफ तथा क्लेद उत्पन्न हो जाता है। यह क्लेद अर्थात् चिपचिपापन उस में सडान्ध पैदा करने का परिचय देता है-उस सडान्ध के कारण पराध आदि करने वाले (पापकर्मा) पुरुष के सिर में कृमियाँ जाती हैं. जिनसे बीभत्स लक्षण पैदा होते हैं।[1]

१. तिलक्षीरगुडाजीर्णपूतिसङ्कीर्णभोजनात् ।
क्लेदोऽसृक्कफमांसानां दोषलस्योपजायते ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाश्चात्य वैद्यक की दृष्टि से विचार किया जाय तो कृमिज शिरोरोग दो दृष्टि से विचार कर सकते हैं—१. प्रथम जिनमें कृमि आँख से दिखाई पड़े २. दूसरा जिनमें कृमि दिखलाई पड़ते हैं। जहां तक ...स का सम्बन्ध है–उस अवस्था में प्रायः प्रत्येक प्रकार के उदरस्थ ...मियों में (गण्डूपद,अङ्कुशमुख, स्फीतकृमि) यदि उनकी संख्या ...धेक हो तो परावर्तित शिरःशूल (Reflex Headache) हो सकता ...। परन्तु यह पीडा इतनी उग्र जैसे व्यधन, छेदन, सम्भक्षण सदृश ...ीं होती न इनमें नासा से पूय युक्त, रक्तयुक्त स्राव ही सम्भव है। एक ...वस्था और भी होती है जिस समय में कृमियाँ (Taenia Solium, ...aenia Echinococus, cysti cercus or hydatid) रक्त परि- ...मण के साथ भ्रमण करते हुए मस्तिष्क में पहुंच जाती हैं भयङ्कर ...। का शिरःशूल पैदा करती हैं। इनके कारण रक्तवाहिनी का अवरोध ...कर रक्ताल्पता (Ischemia) पैदा हो जाती है जिस से शिरःशूल ...े लगता है, जिस सीमा के भीतर रक्ताल्पत्व होता है उस स्थान ...ेष पर पीडा अधिक होती है।

जहां पर दृष्ट कृमियों का प्रसङ्ग हो अर्थात् शिरःशूल हो और नासा से ...मियाँ भी गिरती दिखाई पड़ें वहां पर औपद्रविक रूप मानना चाहिये। ...ां पर औपद्रविक उपसर्ग पहुंच पर पुरानी वायुकोटरशोथ या वायु ...टरशोथ 'साइनिसाइटिस' की स्थिति है, ऐसा समझना चाहिये। इस ...वस्था विशेष को अंग्रेजी 'सेकेण्डरी इन्फेक्शन इन साइनासाइटिस' ...ते हैं। ऐसी अवस्था फिरंगज उपसर्ग, शोधनाभाव के कारण अथवा ...गेट्स' (Magates) के कारण हो सकती है।

कृमिज शिरःशूल होने की एक और भी सम्प्राप्ति है। कृमियों के ...त्र में वास होने के कारण उनका जीवन-यापक आंत्रगत रक्त से होता ...-जिसके परिणामस्वरूप औपद्रविक पाण्डु (Secondary Anae- ...a) हो जाती है। इस रक्त की कमी का प्रभाव मस्तिष्कगत रक्तसंचार ...भी होता है—मस्तिष्कगत रक्ताल्पता होने से शिरःशूल होने लगता ...। इस प्रकार में यह शिरःशूल कृमिजन्य होता है अस्तु कृमिज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

शिरोरोग विशेष का वर्णन सार्थक है। इस रोग की समता प्रतिश्याय से मानी गई है-क्योंकि दुष्ट कृमियों का पतन होता है।

चिकित्सा—कृमिज शिरोरोग में शिरोगत कृमियों को नाश निकालने का प्रयत्न करना चाहिये साथ ही कृमिघ्न भोजन-पा की भी व्यवस्था करनी चाहिये। आचार्य सुश्रुत ने लिखा है-१. नस्य-यदि कृमियों के द्वारा सिर खाया जाता सा अनुभव हो तो रक्त का नस्य देना चाहिये। इससे कृमियाँ मूर्च्छित हो जाती हैं वाली हो कर इतस्ततः दौड़ने लगती हैं पश्चात् उनका २. कूर्चक के द्वारा निर्हरण करना चाहिये ३. अथवा ऊर्ध्वविरेचन विड मार्ग, शिग्रु प्रभृति द्रव्यों के द्वारा चूर्ण का अवपीडन करना ४. अन्य कृमिघ्न अवपीडन को गोमूत्र या बकरी के मूत्र में त्रिकटु, शिग्रु, तुलसी, नीली प्रभृति ओषधियों के योग से चाहिये। ५. विडङ्गादि तैल-वायविडङ्ग, सर्जिका क्षार, दन्ती, गोमूत्र में डाल कर तिल तैल में पाक कर के नस्य देना ६. पूतिमत्स्ययुक्त धूम-सड़ीमछली का धूम भी देना चा ७. रक्तज प्रतिश्याय के प्रकरण में वर्णित क्रियाओं का भी विधा चाहिये।

ततः शिरसि संक्लेदात् कृमयः पापकर्मणः।
जयन्ति शिरोरोगं जाता बीभत्सलक्षणम्। (च. सू. १७)

१. कृमिभिर्भक्ष्यमाणस्य वक्ष्यते शिरसः क्रिया।
नस्ये हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः॥
मत्ताः शोणितगन्धेन समायान्ति यतस्ततः।
तेषां निर्हरणं कार्यं ततो मूर्धविरेचनैः॥
कृमिघ्नैरवपीडैश्च मूत्रपिष्टैरुपाचरेत्।
पूतिमत्स्ययुतान् धूमान् कृमिघ्नांश्च प्रयोजयेत्॥
भोजनानि कृमिघ्नानि पानानि विविधानि च। (सु.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शीर्षक रोग

डल्हणाचार्य ने अपनी सुश्रुत की टीका में संग्रह करते हुए कई कों में शीर्षक नामक एक रोग का वर्णन किया है। इस रोग का सी अन्य तंत्र में वर्णन उनको मिला था; अस्तु निबन्धकार ने उसको र्ष पाठ न मान कर अङ्गीकृत नहीं किया है। इसकी समता सूर्यावर्त्त सूर्यावर्त्तविपर्यय नामक व्याधि से है, जिसका विस्तृत उल्लेख गे के वर्णनों में मिलेगा। साध्यासाध्यता की दृष्टि से विचार किया य तो इस रोग की समानता शङ्खक नामक शिरोरोग से होगी। मूल हिता अथवा संग्रह ग्रंथों में इसका स्वतन्त्र उल्लेख नहीं पाया जाता, लिये इसके विशेष वर्णन की प्रस्तुत निबंध में आवश्यकता नहीं न पड़ती।

सूर्यावर्त्त या सूर्यापवर्त्त या भास्करावर्त्त

व्याख्या—"ऐसा शिरः शूल जो सूर्योदय के साथ मंद मंद प्रारंभ वे, सूर्य की गति के साथ धीरे धीरे बढ़ता जावे, नेत्र और भ्रू में रोष वेदनायुक्त हो, मध्याह्न में सूर्य के प्रखर होने पर तीव्रतम हो वे और दोपहर के बाद सूर्य की मंद प्रकाशता के साथ ही साथ ता जावे और सूर्य के अस्त होने पर पूर्णतया बंद हो जावे-इस श रूप विकार को सूर्यावर्त्त कहते हैं। यह एक अत्यधिक कष्ट- त्रिदोषज रोग है। इस रोग की दूसरी संज्ञा सूर्यापवर्त्त या भास्करा- र्त भी है।"

---

१. आलुञ्च्यते कम्पति चापि मूर्धा सर्पन्ति मध्ये च पिपीलिका वा।
स्कंधः शिरश्चाप्यवघूर्णते च मूर्च्छा प्रलापश्च तथैव निद्रा।
संज्ञाप्रणाशं जनयेद्विनिद्रां प्रातस्ततः पश्यति चातिचित्रम्।
गृह्णाति मन्ये हृदयञ्च रूपैः सर्वैरमीभिः समभिद्रुतस्तु।
तिस्रो हि रात्रिर्न स जातु जीवेत्तं शीर्षकं संप्रवदन्ति रोगम्। (डल्हण)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

"इसमें कभी शीतोपचार से मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है उष्णता से सुख का अनुभव करता है।"[1]

सूर्यावर्त्त की व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सूर्यमिव आवर्त्तो भ्रमणे स विकारः सूर्यावर्त्तः।' सूर्य की तरह आवर्त्त, भ्रमण या च… रोग में पाया जाता है इस लिये इसे सूर्यावर्त्त कहते हैं। … का आवर्त्तन होना व्याधि का अपना स्वभाव है, यह विचार… आदिकों का है; किन्तु इसका ऐसा होना सकारण है। वह … रात्रि स्वभावतः शीतप्रधान और तमःप्रधान होती है। … के जमजाने से मार्ग रुक जाता है एवं अवरोध के कारण … कोप होता है, पीड़ा प्रातःकाल शुरू हो जाती है जो … मध्याह्न तक बढ़ती चली जाती है। जब मध्याह्न में सूर्य … प्रखर होता है, तो वह मार्गावरोधक कफ पिघल जाता है … वायु का मार्गावरण दूर हो जाता है। वायु का अपने … अवस्थान होने लगता है, शिरःपीड़ा शान्त होने लगती है। … तक सम्पूर्ण कफ पिघल जाने पर मार्ग साफ हो जाने से वायु … पर पूर्ण रूप में स्थित हो जाती है और पूरी तौर से शिरःशूल … हो जाता है। इसी भाव को लेकर आचार्य निमि ने भी कहा … 'रात्रिः स्वभावशीलता तमोमूला' होती है जिससे कफ मार्ग में … हो जाता है। रुद्ध होने से वायु बढ़ती है। अस्तु, इस शि…

१. सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा। विव… मता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्त्तते च। सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्त्तं … रन्ति। शीतेन शान्ति लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च। तं भा… मुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम्। आवर्त्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो … पित्तसमीरणाभ्याम्। शीतेन शान्ति लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखम… (सु. उ. २५)।

स्वभावशीता तमसोभिमूला रात्रिस्तमोद्भूतकफेन मार्गे। रुद्धे मरु… त्प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोभितापे। मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे वि… प्रपन्ने। स्वमार्गमायाति तथा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त्तमिहार्कपूर्वे। (नि…

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रातः काल में वेदना होती हैं, मध्याह्न में सूर्यताप के अतियोग से के विलीन होने से, वायु के मार्गावरण दूर हो कर स्वमार्ग में आने से, सूर्यावर्त्त की पीड़ा दिन के अन्त में शान्त हो जाती है।'

यहाँ पर आचार्य दृढ़बल ने जो चरकसंहिता के संस्कर्त्ता हैं एवं क ही उनका आधार ग्रन्थ है, और ही क़ारण माना है। उनका थन है कि सूर्य की गर्मी सें मस्तुलुङ्ग विलीन हो जाता है, जिससे यह र्यावर्त्तक रोग होता है। इसका नियम यह है कि जैसे सूर्य आकाश मध्य की ओर चलता जाता है, वैसे उसकी गर्मी बढ़ती जाती है, र गर्मी की वृद्धि के साथ मस्तुलुंग की विलीनता भी बढ़ती जाती फलतः पीडा बढ़ती जाती है। मध्याह्न में सूर्य अपने पूर्ण यौवन पर ता है, उसकी सहचारिणी गर्मी भी पूर्ण यौवन में होती है। उस मय मस्तुलुङ्ग अधिक वेग से स्रवित होता है और पीडा तीव्रतम होती । तदनु सूर्य क्षीण होने लगता है, उसकी गर्मी में भी जरावस्था ने लगती है, अस्तु, मस्तुलुङ्ग के शोषण में शिथिलता पड़ने लगती । सायंकाल सूर्य के अस्त होने पर गर्मी के अभाव से मस्तुलुंग स्रवण बन्द हो जाता है। वह जम जाता है और पीडा थम जाती ।' इस प्रकार की विवेचना व्याधि के स्वभाव और कारण के म्बन्ध की है। आचार्य चरक ने भी मस्तिष्क का विष्यन्दन और त्यानीभवन ही कारण माना है।

दूसरी विवेचना दोष के सम्बन्धों की है। इस व्याधि को माधवाचार्य ने त्रिदोषज बतलाया है, परन्तु सुश्रुत की उपशमयात्यक विधियों र विचार किया जाय तो उन्होंने लिखा है कि इसमें कभी-कभी शीत शान्ति मिलती है और कभी-कभी उष्ण से अर्थात् एक बार शीत और सरी बार उष्ण प्रयोग लाभदायक होता है (Hot and cold application alternately) और रोग वायु और पित्त के संसर्ग से

१. सूर्योदयेऽशुंसन्तापाद् द्रवं विष्यंदते शनैः ।
तदा दिने शिरःशूलं दिनवृध्या च वर्द्धते ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के सम्प्रशाम्यति । सूर्यावर्त्तः स एव स्यात् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होता है। यदि ऐसा है तो व्याधि में त्रिदोषजत्व कैसे आ स
इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः यह सन्निपात से ही होता है
सन्निपात के तेरह भेदों में से यह भेद वातपित्तोल्वण सं
होता है। अर्थात् सुश्रुत में इसका वातपित्तात्मक रूप से निर्दे
त्कर्षता के कारण है, अतः विरोध नहीं आता। यदि ऐसी ही
अर्थात् रोग वातपित्तोल्वण ही है तो रात्रि में वायु के समान गु
होने से पीड़ा शान्त क्यों हो जाती है और दिन के आदि त
में पीडा की गति मन्द क्यों हो जाती है ? तो इसका उत्तर य
यहाँ पर पित्त के प्रबलतम होने से ही ऐसा होता है। फिर
में शिरीष मूल, पिप्पली मूल, वचा प्रभृति पैत्तिक पदार्थों का
देने को लिखा है वह कैसे ? इसका उत्तर है कि वह व्याधि
(व्याधि विपरीत) पड़ता है—दोष प्रत्यनीक नहीं; इसलि
जाता है। भावार्थ यह है कि यह सूर्यावर्त्त नामक व्याधि वा
ल्वण सन्निपात जन्य ही है। वातपित्तोल्वणता की एक और भी
है, काल की। वायु और पित्त के शीतोष्णात्मक होने से पूर्वाह्
की वृद्धि के क्रम से स्रोतों के क्रमशः संकुचित होने के कार
(वायुपित्त का) मार्ग रुक जाता है, जिससे वे पीड़ा करते
अपराह्न में सूर्य के अस्त की ओर चलने से स्रोत खुल जाते हैं
अपने मार्ग की रुकावट होने से वातपित्त पीड़ा को नहीं उपजा
तरह भी काल का नियम युक्तियुक्त हो जाता है।

निमि ने भी ऐसा ही कहा है 'सूर्यचन्द्रात्मक पित्त और वा
के प्रथम भाग में तीव्र वेदना करता है। प्रखर तेज से युक्
निवृत्त होने पर स्रोतों के खुल जाने से श्लेष्मा विलीन हो
और उद्धतवायु अपने मार्ग में चला जाता है, इसका कारण भ
बाद इस रोग में पीड़ा शान्त हो जाती है।'[1]

१. सूर्यसोमात्मकं नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतैः।
कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥
आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्ते चापि भास्करे।
स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य वाग्भट ने स्पष्ट रूप से इसे पित्तप्रधान वायु सहकारी षज व्याधि बतलाया है 'वायु पित्त को सहकारी बनाकर (अनुबद्ध र) आँखों की भौहों के ऊपर ललाट शंखप्रदेश में सूर्योदय से मध्याह्न तक वेदना को बढ़ाता चलता है। यदि रोगी भूखा रहे ौर विशेष हो जाती है। यह एक अव्यवस्थित व्याधि है जिसमें शीतोपचार से एवं कभी उष्णोपचार से सुख प्राप्त होता है।"[1]

चरक ने दोषदुष्टि के विचार से सूर्यावर्त्त में वायु और रक्त की ति मानी है और इस विकृति को मस्तिष्कधातु की दुष्टि होना ाया है। दिन में सूर्य की उष्मा को प्राप्त करके मस्तिष्क द्रुत हो हता है, अस्तु पीडा होती है। सूर्य के अभाव में अथवा यों कहें र्मी के अभाव में उसका द्रवीभाव न होकर वह स्त्यानभाव (जमना) ा है, फलतः रात में पीड़ा बन्द हो जाती है। इस रोग के हेतु में ने वेगसंधारण और अजीर्ण को कारण माना है।[2]

आधुनिक प्रविचार—सूर्यावर्त्त एक ऐसा रोग है जो आमतौर से े को मिलता है। आये दिन सूर्यावर्त्त के रोगी देखने को मिलते हैं। इन रोगियों में प्रतिश्याय का इतिवृत्त मिलता है और रोगियों कहने और प्रत्यक्ष अनुभव से ऐसा ज्ञात होता है कि जुकाम का ्री प्रकार से स्राव नहीं हो पाया और सूख गया। वास्तव में बात ही है। ये विभिन्न प्रकार अस्थिविवरों के श्लेष्मलकला के शोथ nusitis) हैं। पाश्चात्य वैद्यक में इसकी हेतु तथा सम्प्राप्ति यह है

उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्ग प्रतिपद्यते।
तस्मात्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनात्र प्रशाम्यति ॥ (निमि)

१. पित्तानुबद्धः शंखाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः
रुजं सस्यंदनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयानाम् ।
आमध्याह्नं विवर्द्धिष्णुः क्षुद्वतः सा विशेषतः
अव्यवस्थितशीतोष्णसुखा शाम्यत्यतः परम् ॥ (सूर्यावर्त्तः)

२. संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ ।
दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितः ॥ (चरक)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कि विभिन्न प्रकार के अणु जीवों (B. Influenza, M. Cat Staphylococci, Strepto Cocci) के उपसर्ग नासामार्ग दाँत के जरिये, ऊपर पहुँचकर उन शिरःकपाल के अस्थि श्लेष्मलकला को शोथयुक्त कर देते हैं, जिसकी वजह से और स्थानिक पीड़ा होती है। इस अवस्था को अंग्रेजी में साइनेसाइटिस' (Acute Sinusitis) कहते हैं। संभ अवस्था प्राचीन वर्णनों के सूर्यावर्त्त शब्द का लाक्षणिक द्योतक हो।

इसमें शिरःशूल के अनुभव होने का स्थान विकृति स्थान में भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैसे पुरःकपालास्थि छिद्रों में होने पुरःशिर या ललाट में, उर्ध्व हन्वस्थि छिद्रों में होने पर कपो और 'जतुकास्थिकविवर' में होने पर गहराई में स्थित पीड़ा इस रोग की विशेषता है कि यह प्रातः से लेकर मध्याह्न तक होता है मध्याह्न के पूर्व भाग में ही दिन में पीड़ा का हो प्रतिपादित कारणों से हो सकता है।[1] आधुनिक युग में 'शुल्व' एवं भूतघ्न योग (Sulphadrugs, Antibiotics) के शिरोविरेचन के द्वारा चिकित्सा की जाती है।

इस रोग का प्राचीन वर्णन बहुत व्यावहारिक, विशद है। चिकित्सा में शास्त्रीय चिकित्सा के उपक्रम श्रेष्ठ और अनुभूत है। वर्गीकरण के अनुसार विचार करना हो तो यह शिरःशूल (Reflex Headache) के वर्ग में समाविष्ट होता

सूर्यावर्त्त विपर्यय—माधवनिदान के मधुकोष टीकाकार निमि का उद्धरण देते हुए सूर्यावर्त्त विपर्यय नामक एक और रोग का

१. Headache is more marked in the fore noo Side Medicine A. R. Majumdar.)

सूर्योदयेऽशुसन्तापाद् द्रवः विष्यंदते शनैः।
ततो दिने शिरःशूलं दिनवृद्धया विवर्द्धते ॥
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के संप्रशाम्यति। (च. सि. ९)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। उसमें उन्होंने सूर्यावर्त्त का हो एक भेद इस रोग को माना विपर्यय का अर्थ है, उल्टा होना, परन्तु उसमें कोई विपर्ययभाव ों से स्पष्ट नहीं होता। एक बात की विशेषता जरूर है कि सूर्यावर्त्त क व्याधि में पित्तप्रधान और वायु सहकारी दोष होता है और वात प्रधानरूप से पित्त उसका अनुगामी होता है। मध्याह्न समय ूर्य के तेज से वह उल्वण होकर बढ़ता है और पित्तसम्बन्धी घोर ा को वह पैदा करता है जब शाम होती है तो वायु प्रबल हो जाती और पित्त शान्त पड़ जाता है, अतएव रात में पीड़ा नहीं होती[1]। ें यह स्पष्ट नहीं होता कि सबेरे से लेकर मध्याह्न तक शिरोवेदना क्या स्थिति रहती है क्योंकि हर हालत में मध्याह्न में वेदना की कता होती है। यह वैसा ही सूर्यावर्त्त विपर्यय है जैसा चातुर्थिक- में चातुर्थिक विपर्यय होता है। चिकित्सा की दृष्टि से भी इसमें अंतर नहीं पड़ता। संभव है सूर्यावर्त्त को त्रिदोषज और विपर्यय द्विदोषज माना हो क्योंकि गदनिग्रह में एक विशेष प्रकार के द्वन्द्वज वर्त्त का भी वर्णन आया है। वह सूर्य के अस्त होने पर शुरू होता रातभर रहता है और फिर सूर्य के प्रकाशित होने पर शान्त ाता है।[2]

चिकित्सा—१. *क्षीरघृताभ्यास*—प्रातःकाल में उदर को खाली न ना विशेषतः मधुर और स्निग्ध द्रव्यों से पेट को भर लेना। लेखक अनुभव से प्रातःकाल सूर्य निकलने के पूर्व जलपान के रूप में शुद्ध

---

१. तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति।
मध्याह्ने तेजसार्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम् ॥
करोति पैत्तिकीं घोरां संश्राम्यति दिनक्षये।
अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्द्धते ॥
पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना।
एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्त्तविपर्ययः ॥ (निमि)

२. अन्यप्रतिनिवृत्तेऽर्के सूर्यावर्त्तः प्रपद्यते।
रात्र्यन्ते प्रशमं याति स तु स्याद्वातपित्तजः ॥ (ग. नि.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

घृत में बनी पूड़ी, हलुआ, जलेबी, घेवर, मालपुआ प्रभृति भो... खाना हितकर होता है। कुछ वैद्यों के अनुभव में गर्म खीर का... भी अच्छा मिला है।

सूर्योदय होने के पूर्व ही तड़के इस प्रकार के घृतपक्व... और मधुर द्रव्यों के सेवन हितकर होते हैं।[1] ताजी जलेबी को... डुबाडुबा कर खाने से दो तीन दिनों में सूर्यावर्त्त की पीड़ा... जाती है। कई बार गुड का बहुत गाढ़ा शर्बत घी मिलाकर... रोग में लाभ होता है। इसमें शास्त्र और अनुभव दोनों प्रमाण हैं।

२. *विरेचन*—इस प्रकार भोजन से कोष्ठ के स्नेहन के... विरेचन भी कराया जा सकता है।

३. *नावन या नस्य कर्म*—शिरोविरेचन या नस्यकर्म यों तो... प्रकार के शिरःशूल में लाभप्रद होते हैं तथापि इस व्याधि में... हितकर होते हैं। इसके लिये कुछ अनुभव तथा शास्त्रप्रामाण्य से... उद्धृत किये जाते हैं—

(क) अमोनियम् कार्ब के वायु का या नौसादर एवं चूना मि... उससे उत्पन्न वायु का नस्य तत्काल पीड़ा को कुछ देर के लिये... करता है।[1]

(ख) अपामार्गस्वरस का नस्य।

(ग) कागजी नीबू का स्वरस निकाल नाक के छिद्रों में टपका...

(घ) कायफर का चूर्ण महीन करके नासा स्रोत में नस्य... रूप में देना।

(ङ) दूध और घी का नावन (नस्य)।

(च) केसर को घी में भुनकर चीनी मिलाकर नस्य देना।

(छ) माष का मूल, श्वेतापराजिता की जड़, गुञ्जामूल, शिर... रसोन स्वरस, त्रिकटु, तुलसी बीज, चक्रमदबीज चूर्ण प्रभृति ... नस्य दिया जा सकता है।

---

१. नृसारस्य सुधायाश्च चूर्णं ह्येकत्र योजितम्।
सार्द्रं कृत्वाऽस्य गन्धेन विनश्यति शिरोव्यथा॥ (भै. र.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ज) भृङ्गराज का रस और बकरी का दूध बराबर मात्रा में लेकर सूर्य रोशनी में तपाकर नाक में छोड़ने से सूर्यावर्त्त में लाभ होता । यह प्रयोगों का राजा माना गया है।[1]

(झ) नवनीत नस्य।

४. *उपनाह*—जांगल जीवों का मांस पकाकर पोट्टली में बाँध कर र पर स्वेदन करे। घृत सिद्ध यवागू (हलुवे) का पोट्टली में बाँध र उष्ण स्वेदन करना भी लाभप्रद होता है।

५. *अवलेप*—से सूर्यावर्त्त में लाभ होता है। सूर्यमुखी के बीज को सी के स्वरस में पीस कर लेप करने से लाभ होता है। सारिवादि प के प्रयोग भी लाभप्रद हैं।

६. *रसौषधियों*—में दन्तीभस्म १ माशा की मात्रा में, प्रवालभस्म रत्ती मिला कर घी और चीनी के साथ सेवन करना लाभप्रद ता है।

७. *सिरावेध*—रक्तविस्रावण के द्वारा रक्त निकाल देने से रक्तगत राधिक्य कम हो जाता है, फलतः पीडा शान्त हो जाती है।

५

अर्धावभेदक

निदान, संप्राप्ति एवं लक्षण—"रूक्षभोजन, अध्यशन, अतिप्राग्वात-वन, अति हिम सेवन, अतिमैथुन सेवन, वेगावरोध, आयास परिश्रम) और अतिव्यायाम से प्रकुपित वायु अकेले या कफ से मिश्रित होकर आधे सिर को जकड़ कर मन्या, भ्रू, शंख, कर्ण, नेत्र

---

१. सूर्यावर्त्ते सिरावेधो नावनं क्षीरसर्पिषोः ।
हिता क्षीरघृताभ्यासस्ताभ्यां सह विरेचनम् ॥
भृंगराजरसश्छागक्षीरतुल्योऽर्कतापितः ।
सूर्यावर्त्तं निहन्त्याशु नस्येनैव प्रयोगराट् ॥ (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

और ललाटार्ध में तीव्र पीडा को उत्पन्न कर देता है, जो शस्त्र से के सदृश और प्रचण्ड अग्नि के दाह सदृश तीव्र होता है। इस के रोग को अर्धावभेदक कहते हैं। यही अत्यधिक बढ़ जाने प और कान की शक्ति को भी नष्ट कर देता है।"[1]

माधवनिदान ने इसे केवल वातजनित या द्विदोषज वात त्मज व्याधि माना है; परन्तु सुश्रुत ने इस व्याधि को त्रिदोष बतलाया है यथा 'जिस मनुष्य का सिर पन्द्रह दिन या दस दिन अकस्मात् तोद, भेद भ्रम, मोह और शूल के साथ-साथ पीडित है उसे त्रिदोषज अर्धावभेदक समझना चाहिये।'[2]

माधवनिदान के वातज या वातकफज मानने का तात्पर्य दोषों से है। 'सोर्धभेदः कफानिलात्' इस प्रकार का कथन विदेह तन्त्र भी आता है वहाँ पर भी दोषोत्कर्ष के कारण ही समझना चाहि विदेहतन्त्र में अर्धावभेदक का वर्णन इस प्रकार का मिलता है— कुपित वायु सिर के किसी एक पार्श्व में श्लेष्मा द्वारा अवरुद्ध हो है, तो वह तोद, स्फुटन, दालन शूल और अवदारण से उस आधे को भली प्रकार जकड़ लेता है। इसमें नेत्र भी अवदीर्ण होता है। अर्धावभेदक कफ और वात से होता है और इसका वेग तीन दिन पाँच दिन बाद, पन्द्रह दिन बाद या एक मास बाद होता है।'[3]

---

१. रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥
केवलः सकफो वार्धं गृहीत्वा शिरसो वली ।
मन्याभ्रूशंखकर्णाक्षिललाटेऽर्धेऽतिवेदनाम् ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोर्द्धावभेदकः ।
नयनं वाथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ (मा॰ नि.)

२. यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः ।
पक्षाद्दशाहादथवाप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद् व्यवस्येत् ॥ (सु॰ उ॰

३. शिरसोन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा ।
श्लेष्मणा रुद्धयते जन्तुः तोदस्फुटनदालनैः ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संक्षेप में कहना हो तो अर्धावभेदक एक नियत अन्तर से होने ला रोग (Periodical disease) है जिसमें आधे सिर में तीव्र दना होती है और रोग का दौरा दस या पन्द्रह दिन या एक मास के न्तर से होता रहता है।

वाग्भटाचार्य ने अर्धावभेदक के वातिक शिरोरोग का भेद माना । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि यदि सिर का दर्द पूरे सिर वायु के कारण हो तो उसको शिरस्ताप, एवं यदि आधे सिर में डा हो तो अर्धावभेदक कहलाता है। उनके मत से अर्धावभेदक वल वायु के कारण होता है।[1]

आचार्य सात्यकि की विवेचना से भी अर्धावभेदक रोग में वायु की प्रधानता रहती है 'वायुः शिरःशंखभ्रूनेत्रमवगाह्य।' बिना वायु के डा में इतनी भयंकरता रोग में हो ही नहीं सकती।

अस्तु, यह निश्चय हुआ कि इस रोग में वायु और कफ की दोषो-णता युक्त सन्निपात की अवस्था होती है। कुपित हुआ वायु, कफ के रा रुद्ध हो जाता है और फिर वह मन्या, भ्रशंखदेश के कफ या स को सुखा कर सिर फाड़ने की-सी पीडा वाली व्याधि को पैदा रता है। इसके सन्निकृष्ट निदान में भी वायु को कुपित करने वाले ही रण हैं—पश्चात् पित्त भी अनुगामी रूप में रह कर त्रिदोषजत्व स्पादित करता है जैसा कि सुश्रुत के 'त्रितयाद्' शब्द के प्रयोग से त होता है। अतएव इसकी चिकित्सा में वात कफघ्न विधान पर ही धिक ध्यान रखना चाहिये।

आधुनिक प्रविचार—अर्धावभेदक की समता पाश्चात्यवैद्यक में प्राप्त ने वाले 'मिग्रेन' (Migraine) से बहुत कुछ है। यह एक ऐसा

शूलावदारणैर्गाढ़मर्धं तदवरुध्यते।
नयनं चावदीर्येत सोर्धभेदः कफानिलात्॥
तथा त्र्यहात्सपंचाहात्पक्षान्मासाच्च देहिनाम्। (विदेह)

१. वातिक शिरोरोग के वर्णन में आया है—
शिरस्तापोऽयमर्धे तु मुर्ध्नः सोर्धावभेदकः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

रोग माना जाता है जो आयु की दृष्टि से बाल्यावस्था में अधिक मध्यमायु में क्रमशः कम होता हुआ वृद्धावस्था में बिल्कुल कम हो जाता है।

हैतुकी—यह रोग ज्यादातर बुद्धिमानों में, काम-काजी आदमियों विशेषतः औरतों में जो बहुत विचारशील होती हैं, होता है; फि इसके लिये कोई विशेष समाज या व्यवसायकारी दल, (Immune) हो ऐसा नहीं। कारण इस रोग का अनिश्चित है।

(क) शिरःशूल की पूर्वावस्था में यह हो सकता है जब कि के संश्लेषण या विश्लेषणक्रिया से उत्पन्न या दूसरे विष बीच-बीच सर्वगत रक्ताभिसरण में चले आते हैं जिनकी वजह से समय-समय तीव्र शूल पैदा होता है, और पित्त का वमन तथा मस्तिष्कगत धमनी के संकोच के कारण चेहरे की अवसन्नता (Pallor) तथा लक्षण विविधता पैदा होती है।

(ख) इन्हीं विषों का दूसरा परिणाम रक्तवाहिनी विस्तृति में सकता है जिसमें बहिर्ग्रीवा धमनी (Ext. carotid) की शाखा विस्तृति हो जाती है और जिससे शिरःशूल तथा रोगियों के चेह लालिमा भी मिलती है। इनके अलावे गर्दन तथा सिर की पेशियों संकोचन भी शिरःशूल पैदा करता है। कई बार मस्तिष्क धातु (Ce bral cortex) की क्रिया सम्बन्धी विकृतियाँ जिसमें अपस्मार लक्षण होते हैं, इस प्रकार के शिरःशूल को पैदा करती हैं। जैसे अ न्तरित शीर्षाम्बु में (Intermittent Hydrocephalus) 'मुनरो छिद्र को बीच-बीच में बन्द होने से तथा पीयूष ग्रंथि के दोष भी रूप में माने गये हैं।

(ग) थकाने वाला व्यवसाय, चिन्ता, भोजन की अनियमितता (बी भोजन, अध्यशन) तथा कुलज प्रवृत्ति (Heredity) भी रोगोत में सहायक होता है।

नैदानिकचित्रण—पूर्वरूप-रोगी स्वस्थ रहता है-रात में सो कर प्रातःकाल उठता है तो उसे चक्कर, हृल्लास, धुन्धला दिखलाई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आँख के सामने चिनगारी छिटकना (चमकते हुए धब्बे, रंगीन या टेढ़े मेढ़े, जो बीच-बीच में बदलते हुए या नष्ट होते हुए भासते हैं) अथवा सुन्नता या झुनझुनी शुरू हो जाते हैं। इनका प्रारम्भ शरीरान्त भाग से हो कर क्रमशः शाखाओं में ऊपर की ओर बढ़ते हुए चले जाते हैं और आधे घण्टे के भीतर सिर तक पहुँच कर शिर के अर्ध भाग में कभी-कभी पूरे में तीव्र पीडा शुरू करते हैं।

रूप—शिर शूल अधिकतर शंख देश के किसी छोटे से क्षेत्र में गम्भीर और विदारण (Boring) के स्वरूप का प्रारम्भ होकर फैल जाता है। यह पीडा संचायी (Cumulative) धमकने सी (Throbing) और विभिन्न काल प्रकर्ष या अवधि (कुछ घण्टे, दिन या सप्ताह) की हो सकती है। रोगी का चेहरा अवसन्न और सूखा सा (Pallor) तथा कभी-कभी विकृत पार्श्व में लालिमायुक्त भी रहता है। कई बार अनवरत वमन होता रहता है जिससे रोगी क्लान्त पड़ा रहता है। कोई भी गति, तीव्र प्रकाश या शब्द पीडा को बढ़ा देता है। शंखप्रदेशगा धमनी, दृष्ट, आध्मापित (Distended) रस्सी के सदृश कठोर एवं त्वचा में स्पर्शलभ्य हो जाती है। यही पीडा अधिक समय तक बनी रहती है और किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिलती जब तक कि रोगी को निद्रा नहीं आ जाती। रोगी दूसरे दिन प्रातःकाल सोकर, क्लान्त हुआ सा उठता है।

कई बार मूकता या वाग्विकृति (Aphasia), एकाङ्गघात, अर्धाङ्गघात भी देखने को मिलता है। कई बार रोग तीव्र दौरे में नेत्रपेशीघात (Ohthalmoplagia) अथवा अन्य शिरस्का नाड़ियों की क्रियाशक्ति का नाश भी हो जाता है। परन्तु ये सभी उपद्रव दौरे के बीच के काल में शान्त हो जाते हैं। पुनः दूसरे दौरे में भी उनकी संभावना बनी रहती है।

इस प्रकार इस रोग में शिरःशूल का दौरा दिन या रात में कभी भी आ सकता है। चिरकालीन रोग में कुछ न कुछ, मन्द पीडा दौरे के बीच के काल में भी बनी रहती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अर्धावभेदक का रोग वर्षों चल सकता है, कई बार इसके नियमित समय पर ही आते हैं। रोगी की आयु जैसे-जैसे बढ़ती है रोग की तीव्रता भी वैसे-वैसे ही कम होती जाती है और मध्य के बाद आमतौर से पूरी वन्द हो जाती है। इससे आयु कम होती, कई बार इस रोग के परिणामस्वरूप नेत्रदोष एवं कई अपस्मार देखे गये हैं।

रोगनिश्चिति—पूर्वरूप की अवस्था में अर्धावभेदक की समता अपस्मार से रहती है, परन्तु सापेक्ष्य निदान में इसके दो आसार विचारणीय हैं—१. यह अधिक देर तक चलता है। २. इसमें चेतना बनी रहती है जहाँ पर अपस्मार में संज्ञा नष्ट हो जाती है। मस्तिष्कान्तर्गत आङ्गिविकार (Intracranial organic disease) से पृथक्करण आवश्यक होता है। इन विकारों में विकृति स्थायी रहती यहाँ पर अर्धावभेदक में अस्थायी केवल दौरे के समय ही होती है।

विद्युत्-अन्तःमस्तिष्काङ्कन (Electro Encephalogram) इस व्याधि के स्थिर निदान में सहायभूत होता है।

चिकित्सा—यदि दौरा की अवस्था हो तो उस काल वेदना शमन के लिये लाक्षणिक चिकित्सा करनी चाहिये। संशामन ओषधि के प्रयोग में 'ब्रोमाइडस' (१०-३० ग्रेन की मात्रा में) 'एस्प्रिन' 'पीरैमिडिन' (५-१० ग्रेन की मात्रा में) या 'फेनासिटीन' (२-५ की मात्रा में) बार-बार दिये जा सकते हैं। निद्राकर ओषधियों 'ल्युमिनाल' (१½ ग्रेन) यदि बहुत तीव्र वेदना हो तो 'क्लोरोफ' का नासा से प्रयोग अथवा 'अहिफेन' के यौगिकों का त्वचा के नीचे सूचीवेध द्वारा प्रयोग हो सकता है। हाल में 'एर्गोटैमीन टार्ट' ·५ से १ मिलीग्राम की मात्रा में मुखद्वारा अथवा त्वचाधःप्रवेश लाभप्रद समझा गया है। 'डाइ हाइड्रो एरगो टैमीन टारटरेट' मात्रा में शिराद्वारा अत्यधिक पीडा में, दिया जा सकता है। रोगियों में 'एण्टी हिस्टैमिनिकयोग ('एन्थिसान' 'एविल' या 'एण्टिस्टीन' का प्रयोग भी लाभप्रद होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आँख में दृष्टिविकार हो, यकृत की विकृति हो या ऋतु-दोष हो तो उसे भी सुधारना चाहिये ।[१] दौरे के बीच के काल में स्वास्थ्यवर्धक आहार, विहार, परिश्रम, भाराधिक्य और चिन्ता आदि का दूरीकरण, जीवतिक्त बी, का प्रयोग या 'प्रोजेस्टेरान' का प्रयोग करना चाहिये ।

आयुर्वेद की चिकित्सा—सूर्यावर्त्त की चिकित्सा में जो उपक्रम बतलाये गये हैं, उन्हीं का अनुपालन अर्धावभेदक की चिकित्सा में भी करना चाहिये ।[२] चिकित्सासूत्र यह है कि रोगी को १. पहले स्नेहपान करावे जिससे उसकी आभ्यन्तरिक रूक्षता घट जाय २. स्वेदन करावे, जिससे स्रोतसों का अवरोध हटकर स्रोतस शुद्ध हो जायँ और दोषों के निकलने की प्रवृत्ति हो जाय । ३. फिर विरेचन देकर कायिक शुद्धि और शिरोविरेचन देकर मस्तिष्क की शुद्धि करे । ४. आस्थापन एवं अनुवासन वस्ति का प्रयोग करे । ५. इस प्रकार शरीर की शुद्धि हो जाने पर नासा या मुख द्वारा धूम का प्रयोग करे । ६. तदनन्तर स्निग्ध एवं उष्ण भोजन की व्यवस्था करे । स्निग्ध और उष्ण भोजन के लिये सूर्यावर्त्त की भाँति ही रोगी को गरम-गरम घृतपक्व जलेबी, मालपुआ और गुलगुले अथवा क्षीरपक्व खीर खाने को प्रातःकाल में देना चाहिये ।

नस्य विडङ्गादिनस्य—वायविडङ्ग तथा काली तिल को समान भाग में दूध में पीसकर, बकरी के दूध में या गर्म पानी में पीसकर रस निचोड़ कर नाक में डाले या सिर पर लेप करे ।

दुग्धशर्करा—दूध में मिश्री या चीनी मिलाकर नाक के द्वारा पीवे । यदि सम्भव न हो तो मुखद्वारा पिलावे ।

---

1. Gower's Mixture—Sodii Bromide grs10, Liquid Trinitrin mi. Tr. Nux Vomica 5 m., Tr Gelsemiaum 10 m, Dilute Hydrobromic Acid 5 m. 3 times a day for many weeks or months.

१. एष एव विधिः कार्यः कृत्स्नश्चार्धावभेदके ।
अर्धावभेदके पूर्वं स्नेहः स्वेदो हि भेषजम् ॥
विरेकः कायशुद्धिश्च धूपः स्निग्धोष्ण भोजनम् ।
विडङ्गानि तिलान् कृष्णान्समान्पिष्ट्वा विलेपयेत् ॥ (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वचादि नवपीडन—मुलैठी, जौ, वच, पिप्पली समान लेकर पा
पीसकर रस निकालकर शहद मिलाकर अवपीडन नस्य दे।

तुलस्यादि घृत—तुलसी, नकछिकनी, धतूरे की पत्ती के चू
प्रधमन।

मनःशिलादि अवपीडन—मैनसिल एवं चन्दन पानी से पीसक
निकाल कर मधु मिला कर नासा द्वारा दें।

मधुरादिनस्य—काकोल्यादि या मूर्वादिगण से सिद्ध घृत तैयार
नस्य देना।

कटफलादि नस्य—कायफल, एलाचूर्ण, बालछड़, सोंठ सब के
का नस्य।

क्षीरिणी बिन्दु—खिरनी के तीन बीज की मींगी पानी में पी
सूर्योदय से पहले जिस तरफ में पीडा हो उसके विपरीत नासार
बूंद-बूंद करके टपकावे।

चुल्लिका नस्य—अधिक दिनों से जिस चुल्हे में रसोई बन
उसकी मिट्टी लेकर उसमें काली मिर्च समान भाग में डालकर पी
चूर्ण का नासा द्वारा प्रधमन करना।

वंशमूल अवपीडन—बाँस की जड़ और कपूर पीसकर अवपीडन

लेप तथा अभ्यङ्ग—१. दौरे के समय सिर पर गुलाब जल और
रोगन के तेल का प्रयोग। माथे पर बकरी के दूध की पट्टी।

२. सिर पर क्लोरोफार्म से भिगोया लिण्ट, राई की पट्टी,
मृगश्रृङ्ग का लेप।

३. तिलादि लेप-काली तिल, जटामांसी, सेंधा नमक पीसकर
मिलाकर लेप।

४. सारिवादि लेप— सारिवा, नील कमल, कूठ, मुलैठी, अम्ल
सब को पीसकर घृत में मिलाकर सिर पर लेप।

५. पञ्चमूली तैल का प्रयोग।

६. अमृतधारा (अजवायन, कपूर और पीपरमेण्ट मिला द्रव)
पर लगावे और भी कई इस प्रकार उड़नशील गन्ध द्रव्यों के बने
मिलते हैं उनका व्यवहार करे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पान तथा अन्य योग—१. नारियल का पानी, घृतपान, क्षीरपान लाभ प्रद है।

२. *धान्यकपान*—उस्तखद्दूस ६ माशे, धनियाँ ४ माशे, काली मिर्च ६ दाने पीसकर डेढ़ छटाँक ताजे पानी में घोलकर विना नमक या चीनी मिलाये सवेरे पी जाये।

३. चन्दनादि वटी—सफेद चन्दन १½ माशा, लाल चन्दन १ माशे अजवायन ५ माशे, कद्दू के बीज ५ माशे, बबूल का गोंद ५ तोले, लवत ३ माशे, अफीम ३ माशे, केशर ३ माशे सबको पीसकर मकोय के रस या धनियाँ के पानी में गोली बनाकर रख ले, पानी में घिसकर अर्धावभेदक में सिर पर लेप करे।

—०००—

६

शंखक

व्याख्या, हेतु, निदान और सम्प्राप्ति—'शंख देश में दूषित हुए, बढ़े हुए तथा मिले हुए पित्तरक्त तथा वायु तीव्र पीडा तथा दाह और लालिमायुक्त दारुण शोथ उत्पन्न करते हैं। यह शोथ विषवेग के समान अपने वेग से शीघ्र ही सिर तथा गले को अवरुद्ध कर तीन ही दिन में रोगी को मार डालता है, इस व्याधि को शंखक नाम से कहते हैं। इसमें चिकित्सक को प्रत्याख्यान करके (जवाब देकर ही) चिकित्सा करनी चाहिये।"[1]

उपर्युक्त व्याख्या माधवनिदानकृत है, इससे ऐसा ज्ञात होता है

१. रक्तपित्तानिलादुष्टाः शंखदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम्॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शंखको नामतः परम्॥
त्र्यहाज्जीवितभैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्। (मा. नि.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कि इस रोग में रक्त, पित्त और वायु मात्र ही दूषित होते हैं। जब ये तीनों दूषित हो बढ़ें, और मूर्च्छित हों, तथापि कफ प[र] प्रभाव न पड़े ऐसा कथन संगत नहीं मालूम पड़ता, अतएव कफ को दुष्टि भी माननी चाहिये। सुश्रुत ने इसे स्वीकार भी [कि]या और दूषित होने के क्रम से संप्राप्ति भी बतलाई हैं—

'शंख देश में वायु संचित होकर उदीर्ण होता है, कुपित हो[कर] वेग के साथ वहाँ से निकलता है एवं कफ, पित्त और रक्त को [ले]कर अपने अधीन कर रखता है। जिससे सिर में बहुत तीव्र [वेदना] उत्पन्न करता है। यद्यपि वेदना सारे सिर में रहती है तथापि [उस] की अधिकता शंखप्रदेश में होती है। इस कष्टसाध्य शंखक व्याधि को आयुर्वेद ज्ञाता पुराने महर्षियों ने उद्गत मृत्युकल्प [अर्थात्] उपस्थित मृत्यु के समान माना है। यह शीघ्रता से अपनी क्रिया [करता] है, सहस्रों चिकित्सकों से भी दुर्निवार है।'[1]

दोषों की उल्वणता की दृष्टि से शंखक व्याधि के संबंध में ग्रंथकारों में थोड़ी मत की भिन्नता दिखाई पड़ती है—जैसे निदान ने रक्त की प्रधान दुष्टि, सुश्रुत ने वायु की उल्वणता एवं [वाग्भट] ने पित्त की प्रधानता घोषित की है। तथापि रोग सन्निपातज [है।] सभी वर्णनों में वायु, पित्त एवं रक्त की वृद्धि और मूर्च्छना दि[खाई] गई है, उसी के अनुरूप लक्षणों का वर्णन भी मिलता है। सभी में रोग के तीन दिन की अवधि के भीतर विकल्प से असाध्यता [एवं] तीन दिनों के बाद निश्चित असाध्यता प्रकट होती है। इसीलिये [वाग्भट] ने लिखा है 'तीन दिनों के भीतर ही रोगी का जीवन नष्ट हो [जाता है] अथवा शीघ्र कुशल चिकित्सक द्वारा चिकित्सा होने पर बच भी [सकता] है।'[2] इसी का समर्थन विदेह तन्त्र के उद्धरण से भी प्राप्त [है।]

१. शंखाचितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः।
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि विशेषतश्चापि हि शंखयोस्तु॥
सुकष्टमेनं खलु शंखकाख्यं महर्षयोर्वेदविदः पुराणाः।
व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम्॥ (सु.)

२. त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति सिद्धत्यप्याशु साधितः। (वाग्भट)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हार-विहार तथा शिरोरोग उत्पन्न करने वाले कारणों के प्रभाव से व देश में पित्त प्रकुपित होता है और वहाँ के संचित वायु को भी ने साथ दूषित और उल्वण कर मर्मस्थानों को भर देता और उनके को रोक देता है जिससे शंख देश में आग के समान जलन लूम होती, सूई के समान तुदन और अत्यन्त दारुण पीड़ा होती इसमें प्यास, मूर्च्छा और ज्वर के उपद्रव होते हैं। चतुर वैद्य यदि न दिनों के भीतर रोग को अपनी मुट्ठी में कर ले तो रोगी बच ता है।"[1]

आधुनिक प्रविचार—शंखक नामक व्याधि के सम्बन्धमेंअब विचार- य है कि इसमें इन्द्रिय विकृति (Organic defect) क्या हो सकता । जैसा पहले कहा जा चुका है कि शिरःशूल का अनुभव तीन न विकृतियों से होता है-प्रथम शिरोगुहा की बाह्य रचनाओं विशेष- करोटि के आवरण रूप में पाई जाने वाली पेशियों या धमनियों । द्वितीय, मार्ग (Path ways) की संवेदनाओं के द्वारा विशेषतः म. शिरस्का नाडी से तथा तृतीय, करोटि गुहा की भीतर की रचना विकृति होने से। यहाँ पर शंखक में तीसरी की संभावना ही विशेष क्योंकि प्रथम के भीतर तो हम वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज रोगों को ले सकते हैं, द्वितीय में अन्यतोवात या अनन्तवात का वेश कर सकते हैं। परन्तु शंखक को इनसे विशिष्ट ही मानना गा। इसके कई निम्न कारण हैं। जैसे—

१. इसमें पीड़ा सार्वत्रिक (Generalised) अर्थात् पूरे सिर में

१. चीयते तु तदा पित्तं शंखयोरनिलाचितम्।
निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्वणम्।
अतः शंखौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना।
सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येत इवासिना॥
शंखको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः।
तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्तापरमन्तकृत्
कुशलेनउपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति।
११ शाला०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

न होकर सीमित (Localised) रहती है। शंखप्रदेश (Te parietal) में पीडा बद्ध होकर रहती है।

२. यह पीडा अत्यन्त दारुण होती है, इतनी दारुणता अन्य रोगों में नहीं रहती।

३. इसकी कुल कालमर्यादा तीन दिनों की है। इसी के भीतर का प्राणान्त हो जाता है, जैसे अन्य शिरोरोगों में सम्भव नहीं।

४. इसमें ज्वर और तृष्णा की विषमयता के कारण होती है।

५. इसमें मूर्च्छा (Syncope) भी पाई जाती है।

६. तीन दिनों के भीतर ही कुशल चिकित्सक की चिकित्सा सफलता कभी कभी मिल जाती है।

७. यह प्रत्याख्येय व्याधि है, जैसा कि अन्य शिरोरोगों में पाया जाता। इसमें पहले ही चिकित्सक को प्रत्याख्यान "चिकि करने से मृत्यु ध्रुव है, चिकित्सा करने में संशय है"[1] ऐसा चिकित्सा करनी होती है।

८. शंखक की चिकित्सा में उष्ण स्वेद नहीं किया जाता है। का निषेध है।

अब विचारणीय है कि शिरोगुहा के भीतर पाई जाने रचनाओं में किस रचना की विकृति में यह सम्भव है कि जिसमें condition where tempo-harietal region of the sc excessively Painful with fever & thirst, patient fa a syncopic stage, death ensues within some hours days & fomentation to the part may prove to be i ous) यह उपरोक्त लक्षण मिलें। यह कोई मस्तिष्क के किसी भ शोफकी अवस्था नहीं हो सकती। पीडा सांवेदनिक पञ्चम, नवम, शिरस्का नाडियाँ अथवा ऊपर की ग्रैवेयक नाडियों के शोफ के भी नहीं हो सकती क्योंकि इन सभी विकृतियों में स्वेदन के उप लाभ होना चाहिये हानि नहीं; परन्त शंखक में इसके विपरी

१. अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। (सु० अश्मरीचि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। अस्तु, शंखक रोग में निश्चितरूप से बड़े बड़े शिरा कुल्या (Venous Siuuses) या उनकी शाखा-प्रशाखाओं के अथवा 'ड्यूरल' और 'बैसल' धमनियों के विकार कारणभूत होते हैं।

इन धमनियों में यदि किसी कारण से रक्त जम जाय (Thrombosis) या रक्त का थक्का आकर अँटक जाय (Embolus) अथवा रक्तस्राव (Haemorrhage) फट जाने से हो जाय तो यह दारुण अवस्था उत्पन्न होती है एवं मृत्यु शीघ्रता से हो जाती है कई बार मस्तिष्कगत रक्तस्राव हल्का होने पर रक्त के संघात (जमावट) के कारणों के सुधार होने की तो कुछ आशा भी रहती है; परन्तु रक्तस्रावाधिक्य चाहे जिस किसी वजह से आधुनिक ग्रन्थों में घातक ही माना गया है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'एपोप्लेक्सी' मस्तिष्कगत रक्तस्राव कहते हैं।

यह रक्तस्राव (Cerebral Haemorrhage) या तो मस्तिष्कगत धातु (Substance) या मस्तिष्कगत कोष्ठों (Ventricle) में हो सकता है। किसी धमनी केशिका, सिराजग्रन्थि (Anneurysm), मस्तिष्कगत बड़ी शिरा या शिराजाल (Venous Sinuses) के फट जाने से होता है। (Intra cranial Haemorrhage)

हेतु एवं *विकृति*—विप्रकृष्ट कारणों में मद्यातिसेवन, चिन्ता, परिश्रमाधिक्य, विबंध; सिरा कुल्या के कारणों में वृद्धावस्था के कारण धमनियों की अपक्रान्ति, रक्तभाराधिक्य; शिशुओं का कुकास (कुकुरखांसी), मस्तिष्कगत बाह्याभिघात, रक्त के रोग जैसे रक्त पित्त (Purpura) या श्वेतकणमयता (Lucaemia) प्रभृति अवस्थायें।

एक धमनी के फट जाने पर रक्त निकल कर अपने मस्तिष्क धातुओं को चीरता हुआ बहता है जो स्वयं रक्तवाहिनियों से भरे रहते हैं—जिससे नये नये रक्त फेंकने वाले विन्दु (Fresh bleeding points) बनते जाते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि एक बार रक्तस्राव शुरू हो जाने पर बढ़ता ही जाता है, बंद नहीं होता। धीरे रक्त निकलने का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता जाता है और अन्त में रोगी की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मृत्यु हो जाती है जिसकी अवधि कुछ घण्टे से लेकर एक से चार तक की होती है।[1] सिराज ग्रंथि (Anneurysm) की अवस्था प्रारम्भ रक्त स्राव समय समय पर (Periodic) होता रहता है अन्त में अत्यधिक रक्तस्राव होकर मृत्यु हो जाती है।

लक्षण तथा चिह्न—१. लक्षणों का अचानक प्रारम्भ बिना पूर्वरूप के या अधिकतर शिरःशूल के साथ २. रोगी की अवसन्न मूर्च्छा अवस्था ३. श्वसनछिन्न ४. शाखायें घातित एवं ढीली ५. मूत्र का रोध एवं मल का अनैच्छिक त्याग ६. परावर्त्तनों का अभाव ७. बार बार स्वेदाधिक्य होकर मंदताप ८. नाड़ी तीव्र एवं कमजोर ९. दोष वहिर्भाग (Cortex) तक ही सीमित है तो रोगी पूर्ण नहीं होता।

साध्यासाध्यता—मस्तिष्क-रक्तस्राव एक ऐसा रोग है कि सुधार की आशा विरल होती है। फिर भी रोगी का संज्ञा में (Recovery to concious) एक आशाजनक चिह्न है।

चिकित्सा में—१. रोगी को पूर्ण विश्राम २. शिरःस्थान को रखना ३. शीतोपचार-वर्फ की थैली सिर पर रखना (अर्थात् का अभाव जैसा कि शास्त्रीय चिकित्सा में युक्त है) ४. कई बार वेध भी लाभप्रद है। ५. वस्तिद्वारा कोष्टशुद्धि ६. भार को कम के लिये वेधकर्म के द्वारा मस्तिष्कसुषुम्ना जल को निका ७. अभ्यंग।

यह एक सामान्य मस्तिष्कगत रक्तस्राव का वर्णन रहा शंखकव्याधि के लक्षण प्रायः मिलते हैं, विशेषार्थ में शंखप्रदेश समीपवर्त्ती मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों का फट जाना और मस्ति रक्तस्राव होना ग्रहण कर सकते हैं। सबसे प्रसिद्ध (Haemorr of the middle menigeal Arteries) मध्य मस्तिष्कावर धमनी या उसकी शाखाओं का रक्तस्राव है। पार्श्वगतशिरा

1. Bed side Medicine 'Appoplexy' by A. R. Ma dar देखें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(Lateral sinus) यथा ऊर्ध्व लम्ब सिराकुल्या (Sup. Longitudinal) का विदीर्ण होना या जम जाना (Rupture or thrombosis) माना जा सकता है। अथवा पार्श्वगत मस्तिष्ककोष्ठ (Lateral Ventricle) का रक्तस्राव का ग्रहण हो सकता है। एक और विकृति जिसको अश्मास्थिशोथ (Petrositis) कहते हैं अधिकतर मध्य कर्णशोथ के परिणामस्वरूप होती है शंखक नामक रोग से सादृश्य रखती है इसमें पीड़ा एक ही पार्श्व में संकोचन के स्वरूप की होती है और शूल का विशेष अनुभव शंखप्रदेश में होता है इसके परिणामस्वरूप में सपूय मस्तिष्कावरण शोथ हो जाया करता है जो प्रायः आशुघातक होता है। इसमें (1) Unilatcral Headache (2) Spasmodic in type (4) Felt to the side of head and to the temple (4) Extension of the disease may lead to a diffuse purulent meningitis. इन विशेषताओं के अनुसार–शंखक के साथ सादृश्य है।

चिकित्सा—१. कुशल चिकित्सक के द्वारा तत्काल चिकित्सा का आरम्भ कराना। २. दूध में घी मिलाकर पिलाना। ३. दूध में बना ...ावन। ४. भोजन में स्निग्धाहार, जांगलमांस रस, विदारिगंधादिगण काकोल्यादि या उत्पलादिगण की ओषधियों का लेप या सेंक। ५. सूर्यावर्त्तक में प्रयुक्त अवपीडन। ६. उष्णस्वेद का निषेध। ७. सिरामोक्षण–...क, जलमुर्गी, हंस, सारस, कच्छप का मांसरस पिलाकर सिरावेध करे। वेध में शंखप्रदेश की ऊर्ध्वगत शिराओं का भेदन किया जाता है ...ताड़ना नहीं।[1]

१. ऊर्ध्वस्तित्र: शिरा: प्राज्ञो भिन्द्यादेव न ताडयेत्।
सूर्यावर्त्ते हितं यच्च शंखके स्वेदवर्जितम्
क्षीरसर्पि: प्रशंसन्ति नस्त:पानञ्च शङ्खके।
शीततोयावसेकांश्च क्षीरसेकांश्च शीतलान्।
कल्कैश्च क्षीरिवृक्षाणां शङ्खकस्य प्रलेपनम्। (भै० र०)
गिरिकर्णीफलरसं मूलञ्च नस्यमाचरेत्।
मूलं वा बन्धयेत्कर्णे शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

लेप—दार्वीलेप—दारुहल्दी, हल्दी, मजीठ, नीम की छाल, पद्माख इन्हें पीसकर शंखदेश पर लेपना।

वलादिलेप—वलामूल, नीलकमल, धव का फूल, काली तिल, पुनर्नवा को पानी में पीस कर लेप। क्षीरी वृक्षों की छाल का लेप।

शतावरीलेप—शतावर, तिल, मुलैठी, नीलकमल, दूर्वा, पुन दूध में पीस कर लेप।

महासुगंध लेप—सारिवा, सर्पगंधा, कालीनिशोथ, प्रियंगु इनको में पीसकर लेप करना। गिरिकर्णी नीलपुष्प अपराजिता के फल स्वरस या मूल को स्वरस का नस्य ले। अथवा कान में उसको बाँध दे तो प्रभाव से शंखक की शिरोव्यथा शान्त होती है।

—o—

७

अनन्तवात

व्याख्या-हेतु-सम्प्राप्ति—'वात, पित्त और कफ तीनों दोष प्रकु होकर ग्रीवा की दोनों मन्या नाडियों का (मन्याप्रदेश) को पी करके घाटा अर्थात् ग्रीवा के पश्चात् भाग में बाधा, दाह, गौरव तीव्र वेदना उत्पन्न करते हैं। फिर वे कुपित दोष विशेषकर नेत्र, और शंखदेश में स्थिर होकर शीघ्र पीड़ा उत्पन्न करते हैं। नेत्र नीचे गण्डपार्श्व में कम्प होता है, नसें फड़कती हैं और हनुग्रह ठुड्डी जकड़ जाती है। इसके कारण नेत्र के विकार और नेत्र हो जाते हैं। इस प्रकार के त्रिदोषोत्थ शिरोविकार को अनन्तवा करते हैं।"[1]

१. दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां सम्पीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शंखदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु।
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्। (मा० नि०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस रोग को सुश्रुत में अन्यतोवात के समान मानकर उसीमें अनन्तवात को ग्रहण करके दस ही शिरोरोग बतलाये गये हैं। इसी प्रकार तंत्रान्तर में 'कीर्तितास्तद्विदादश' से दस ही शिरोरोग कहे गये हैं। किन्तु माधवकरने इसके त्रिदोषजत्व तथा इसमें कम्प, अनुग्रह आदि लक्षणों को देखकर इसे केवल वातिक अन्यतोवात से विलक्षण माना है। इसलिये यहाँ पर अनन्तवात का पाठ अधिक पढ़ा गया है।

चक्रपाणिदत्त ने चरक की टीका में स्पष्ट लिखा है कि अनन्तवात को ही तन्त्रान्तर में अन्यतोवात कहा गया है, उसके लक्षणों में कुछ अन्तर नहीं, दोनों एक ही रोग है। परन्तु इतना भेद तो निश्चित है कि अन्यतोवात नेत्ररोगाधिकार में पढ़ा गया है और अनन्तवात शिरोरोगाधिकार में। संभव है एक में नेत्र की विकृति प्रधान होती हो दूसरे में नेत्र का विकार प्रधान न हो बल्कि शिरःशूल मात्र ही लक्षण हो। ऐसी दशा में पाश्चात्य वैद्यक के दो रोगों की सम्भावना होती है—'ग्लॉकोमा' तथा 'ट्राइजेमिनल न्यूरैल्जिया'। इनमें अन्यतोवात नेत्ररोगाधिकार की व्याधि होने से 'ग्लॉकोमा' का बोधक एवं अनन्तवात 'ट्राइजेमिनल न्यूरैल्जिया' का ज्ञापक होता है।

त्रिधारा नाडीशूल—(Trigeminal Neuralgia)—यह एक ऐसी अवस्था है, जिसमें दौरे के साथ तीव्र शिरःशूल अथवा मन्द तुदन के समान पीडा (Paroxymal or dull aching pain) पाँचवीं शिरस्कानाडी के पूरे क्षेत्र में बिना किसी प्रत्यक्ष वैकृतिक चिह्न (स्थानिक शोफ, विद्रधिव्रण प्रभृति) के होती रहती है।

हेतुकी[1]—यह रोग अधिकतर मध्यमायु के बाद की अवस्था में, स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गों में समान भाव से पाया जाता है, प्रायः शीत ऋतु में अधिक होता है। पीडा की प्रकृति ठीक ज्ञात नहीं, संभव है रक्तवाहिनियों की बाधा (disturbance) कारण हो। कई बार तीव्र औपसर्गिक ज्वरों के बाद स्वास्थ्य के गिर जाने से या त्रिधारा नाडी की किसी शाखा पर कोई पूयोत्पादक स्थान हो, जैसे-जैसे कृमिदन्त

१. उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनात् । (च. सि.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अथवा अस्थ्यावरण शोथ की विद्यमानता के कारण नाडी में होकर शूल शुरू हो जाता है। शीत लग जाने से, केशों में कंघी से अथवा चर्वण से अचानक शिरःशूल प्रारम्भ हो जाता। प्रवृत्ति भी रोग में देखी जाती है। यह रोग विशुद्ध रूप से नाड़ी की संवेदनाजन्य ही होता है। इसमें नाडी गण्ड (Gasser ganglion) की परीक्षा करने पर रचनासंबन्धी कोई भी दृष्टिगत नहीं होती।

लक्षण—पीडा प्रायः अचानक नासाछिद्र या नेत्राधःप्रदेश की के नीचे से प्रारम्भ होकर नाडी के पूरे मार्ग में फैल जाती है। पीडा गोलीलगने की, छेदने की सी, अग्नि से दाह होने की सी (Shoot Burning or Penetrating) तथा विभिन्न काल मर्यादा की घण्टों से लेकर कई दिनों तक की हो सकती है। कई बार रुक रुक होती है कई बार अनवरत कई दिनों तक चलती रहती है। दौरों में पीडा अधिक तीव्र होती चलती है, और मोक्षकाल (Period of remission) छोटा होता जाता है। मोक्षकाल (दौरे के बीच काल) में भी मन्दतोद (dull aching pain) होता रहता स्पर्शनाक्षम भी स्थान हो जाता है।

त्रिधारा नाडी की तीन शाखायें होती हैं[1], प्रथम विभजन (Ophthalmic) का क्षेत्र कपालार्ध, ललाट, भ्रू, अक्षि (ऊर्ध्व नेत्र नासा की ऊपरी श्लेष्मलकला, कपालास्थि तथा मस्तिष्कावरण है। पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर अर्थात् अक्षिभ्रू, नासा का भाग, ललाटादि पर होता है। जिसकी व्याख्या 'अक्षिभ्रू' शूल अनन्तवात के वर्णन में प्राचीनों ने किया है। दूसरे विभाजन या का क्षेत्र (Superior Maxillary) ऊर्ध्व हन्वस्थि के दाँत, मुख त्वचा (गण्ड) कपोलार्द्ध, उत्तरोष्ठ (Upper lip) नासार्धे

१. दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम्।
तीव्रां कुर्वन्ति सा चाक्षिभ्रूशंखेष्वतिष्ठते।
स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ाला, कंठ शाल्लूक और उपजिह्वा है। अस्तु, पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर होता है, जिसका प्राचीन वर्णन सूत्ररूप से-'हनुग्रह मन्या (ग्रीवा की दोनों सिरा) शूल, (गले का दर्द) गण्डपार्श्वशूल, गण्डकम्प" प्रभृति शब्दों से किया गया मिलता है। तीसरी शाखा (Inferior Maxillary branch) का क्षेत्र अधरोष्ठ, अधोहन्वस्थि, ठुड्डी, गण्ड का पार्श्व (a part of cheek) शंखप्रदेश (Temple), बाह्य कर्ण, कर्णमूल ग्रंथि (Parotid), मुख का फर्श, लाला ग्रंथियाँ, अधोहन्वस्थि में लगे दाँत, और जिह्वा हैं। अस्तु, पीडा का अनुभव इस पूरे क्षेत्र पर होता है जिसका वर्णन-'हनु सन्धि शूल, गण्डपार्श्वशूल, हनुग्रह (Lock Jaw), शंख देश की पीडा प्रभृति शब्दों से प्राचीन ग्रंथों में मिलता है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर अनन्तवात को त्रिधारा नाडीशूल (Trigeminal Neuralgia) कहा जा सकता है। मन्याग्रह, हनुग्रह, घाटाग्रह प्रभृति चिह्न पेशीसंकोच (muscular Spaesm of the muscles of neck and face unilateral furring of the tongue) के कारण हो सकता है। नेत्रज रोगों में अश्रुस्राव, नासास्राव, नेत्राभिष्यन्द प्रभृति चिह्न मिल सकते हैं। अनन्तवात नामक रोग का दूसरा साम्य जातुकशूल शूल से भी है। क्योंकि इसमें पीडा उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की अनन्तवात में। जैसा कि नीचे के उद्धरणों से स्पष्ट होता है।

"जातुक शिरःशूल (Sphenoidal Headache)—यह शिरःशूल प्रधानतया केन्द्र भाग में होता है, इस शूल का प्रसार शंखदेश, पीछे की ओर ग्रीवा पश्चाद् भाग घाटा तथा सामने की ओर गले के दोनों पार्श्वों अर्थात् मन्या भाग में और कनपटी के पीछे भी हो सकता है।"

चिकित्सा—यदि कोई क्षोभ उत्पन्न करने वाला कारण हो तो उसको दूर करना। पीडा में शमन प्राप्त कराने के लिए एक मिश्रण जिसमें टिंक्चर जैल्सिमियम् (१०–१५ बूँद) 'सोडा सैलिसिलास' (१० ग्रेन) सोडा ब्रोमाइड (१० ग्रेन) पड़ा हो देना अथवा कोलटार वेदनाहर योग जैसे 'एस्प्रिन', 'पिरैमिडन' या 'फेनाल्जिन' ५ ग्रेन की मात्रा में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दिन में तीन बार देना। 'ट्राइक्लोर एथीलीन पर्ल्स' को रुमाल में कर नस्य के लिये देना (Inhalation)। उष्णस्वेद या क्षकिरण का प्रयोग भी लाभप्रद बतलाया गया है।

यदि पीडा में दौरे का जोर रहे थोड़े थोड़े अन्तर से ही आने तो १०% एल्कोहल नाडी की शाखाओं (mandibular or Maxillary Nerve) में सूचीवेध के द्वारा देना अथवा नाडीगण्ड (Ganglion) में देना बहुत हितकर होता है।

यह चिकित्सा लाक्षणिक है। इसके प्रयोग से तात्कालिक शान्ति रोगी को मिल जाती है परन्तु रोग को निर्मूल करने के लिये आधार आयुर्वेद की चिकित्सा ही श्रेयस्कर है। वह इस प्रकार की है :—

चिकित्सा—१. अनन्तवात में शिरामोक्षण करना विशेषतः हितकारी है और शेष उपक्रमों में सूर्यावर्त्तनाशक भेषजों द्वारा उपचार करना चाहिये। २. अनन्तवात में आहार-विहार वातपित्तनाशक देना चाहिये। ३. शहद में लपेट कर संयाव खिलाना चाहिये। ४. घृत या घृतपक्व पुआ, मालपुआ खिलाना चाहिये। श्रीहाराणचन्द्र ने संयाव का अर्थ 'घृतादि के द्वारा पकाया गया गेहूँ का आटा' बतलाया जिसका अर्थ पञ्जीरी होगा। किन्तु यदि 'संयाव से घृत, क्षीर, गुड़ और गेहूँ के आटे से पक्व अन्न परिभाषा माने तो हलुआ अर्थ होना चाहिये। इस रोग में घृतपूर खिलाने की भी व्यवस्था दी गई परिभाषा से घृतपूर मालपुआ का द्योतक होता है।[२] इसमें चीनी मिला हुआ दूध, नारियल का पानी या शीतल जल पिलाना चाहिये।

५. *लेप*—हरिद्रादि लेप—आमाहल्दी, मरोड़ फली, काकड़ासींगी, रसवत् समान भाग में लेकर बकरी के दूध में पीसकर सिर पर लेप करना।

---

१. अनन्तवाते कर्त्तव्यः सूर्यावर्त्तहितो विधिः। शिराव्यधश्च कर्त्तव्योऽनन्तवातप्र... आहारश्च प्रदातव्यो वातपित्तविनाशनः। मधुमस्तुकसंयावघृतपूरैर्विशेषतः॥

२. "संयावस्तु घृतक्षीरगुडगोधूमपाकजम्" घृतपूरस्तु—"मर्दिता समिता नारिकेलघृतादिभिः। अवमथ्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुच्यते।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

६. विरेचन—कोष्ठ-शुद्धि के लिए विरेचन देना चाहिए। रक्त के विरेचन अर्थात् मोक्षण के लिए जलौका के द्वारा रक्त की शुद्धि करना चाहिये।

७. शिरो विरेचन।

८. नेत्राञ्जन—चन्द्रोदयावर्ति, या नागार्जुनवर्ति का अञ्जन लाभकारी है।

९. *योग*—सप्तामृत लौह—हरीतकी, विभीतक, आमलकी, मधुयष्टि, लौहभस्म समान भाग में लेकर योग बनाकर रख ले। एक माशा की मात्रा में प्रातः—सायं घृत आधा तोला और मधु एक तोला या समान भाग में मिलाकर सेवन करे।

१०. बृंहण एवं स्नेहन—आहार तथा विहार के द्वारा रोगी को बृंहित करना चाहिये।

अनन्तवात के समान धर्म वाले रोग अन्यतोवात का वर्णन, जैसा सुश्रुत का वर्गीकरण है, नेत्ररोगाध्याय में ही उचित है फलतः वहीं किया जायगा। उसकी समता पाश्चात्य वैद्यक में वर्णित 'ग्लाकोमा' (Glaucoma) के साथ है। यह अन्यतोवात भी नेत्ररोगों में पठित अधिमंथ का ही एक उपद्रव है। अधिमंथ के लक्षण बिल्कुल आधुनिक 'ग्लाकोमा' रोग से मिलता है जिसका विशेष वर्णन नेत्र रोगाध्याय में प्राप्त होगा।

८

वाग्भटोक्त कुछ अन्य शिरोरोग

पहले कहा जा चुका है कि वाग्भट ने जो अधिक शिरोरोगों का वर्णन किया है—ये सभी सिर के बाह्य भाग में होते हैं। यद्यपि इनका प्राचीन वर्णन सुश्रुत संहिता के अनुसार अन्यस्थलों में होना चाहिये, उदाहरण के लिये अरुंषिका, दारुणक, इन्द्रलुप्त, खालित्य एवं पालित्य का शल्यतन्त्रान्तर्गत क्षुद्र रोगों में, शिरोग्रन्थि, शिरोर्बुद,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

शिरोविद्रधि, शल्यतंत्रान्तर्गत उन उन सामान्य अधिकारों में। आचार्य ने कुछ वैशिष्ट्य देखते हुए अथवा शिरःस्थान में होने उनका संग्रह कर दिया है जो उचित भी है। परन्तु शास्त्रीय के अनुसार शिरोरोग अर्थात् शिरोरुजा, शिरःपीडा शिरःशूल पर परिभाषा के अनुसार बद्ध या सीमित हो जाने पर उनका अप्रासंगिक होता है क्योंकि चिकित्सा में भी उनको कोई विशिष्टता अस्तु, उनका संग्रह इस निबंध में करना अनावश्यक प्रतीत होता दूसरे शब्दों में पुनरुक्ति या पिष्टपेषण मात्र होता है। अस्तु, उनको दिया जाता है। हाँ एक उपशीर्षक रोग का विशेष उल्लेख जिसका वर्णन करके इस अध्याय की समाप्ति की जायगी।

पश्चात् कालीन ग्रन्थकारों ने जैसे 'आयुर्वेदविज्ञान', गदनिग्रह प्रभृति प्राचीन तथा आधुनिक लेखकों ने शिरोरोग के सन्बन्ध में बढ़ा संग्रह किया है जो अधिकतर मस्तिष्क तथा नाड़ी संस्थान (Diseases of the Brain and Nervous System) से सम्बन्धित इनका भी संग्रह या वर्णन शिरोरोगाध्याय में मैंने अप्रासंगिक छोड़ दिया है क्योंकि प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार इनका वर्णन रोगाधिकार में जो कायचिकित्सा का अंग है मेरे विचार से अधिकारविशेष में होना चाहिये था।

यदि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक ग्रन्थों की ओर दृष्टिपात किया तो वहाँ शिरःशूल का वर्णन दो रूपों में प्राप्त होगा, एक तो 'आंगिक' शिरस्थ अंग मस्तिष्क के विविध भागों की विकृतियाँ (Pathological manifestation of Different structures of the Brain and spinal cord) अथवा शरीर के विविध संस्थान के अवयवों की विकृतियाँ—जिनके कारण शिरःशूल हो अथवा दूसरा वर्ग वातनाड़ी जन्य शिरोवेदना (Neuralgic Headache) है। यहाँ पर दोनों अवस्थाओं में शिरःशूल का होना एक उपलक्षण मात्र है। चिकित्सा में लाक्षणिक चिकित्सा के आधार पर संशामक उपचार शिरःशूल का करते हुए प्रधान व्याधि या विकृति के उपचार में दत्तचित्त होकर दूरीकरण का उपाय किया जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राचीन वैद्यक में तो शिरःशूल को एक रोग मानते हैं, और दोष-भेद से उसका वर्गीकरण करके चिकित्सा की जाती है, साथ ही साथ इसी उपचार के द्वारा प्रधान इन्द्रिय-विकृति भी दूर हो जाती है, ऐसा मानते हैं। इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए शिरःशूल की चिकित्सा में बड़े बड़े लम्बे उपक्रम बरते जाते हैं—जैसे स्वेद, नस्य, धूम, विरेचन, उपवास, रक्तमोक्षण, आहार, विहार प्रभृति सार्वदैहिक उपचार तथा लेप, सेक, शीर्षबस्ति, अभ्यंग प्रभृति स्थानिक उपक्रम किये जाते हैं—और इन दोनों उपक्रमों के विद्यमान होने से चिकित्सा में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है।

इसी सिद्धान्त में आयुर्वेद की महत्ता है कि एक शिरःशूल जैसे व्यापक लक्षण को जिसमें आधुनिक युग के विविध साधनों के रहते भी ठीक निदान और चिकित्सा कठिन होती है, अपने दोषभेद की विवेचना के वर्गीकरण के द्वारा चिकित्सामार्ग सरल एवं 'हस्तामलकवत्' बना रखा है। कारण कोई भी हो, विकृति कोई भी हो एक लक्षण शिरःशूल को पकड़ कर उसको रोग मानकर उसकी विवेचना करते हुए दोषानुसार पूरे उपक्रमों को बरतने से लाभ होता है।

उपशीर्षक

"जिस समय बालक गर्भ में रहता है उसी समय माता के आहार-विहार के दोषों से यदि कपालस्थ वायु दूषित हो जाय तो उसके सिर पर एक सूजन उत्पन्न हो जाती है जो वर्ण में सवर्ण (चमड़े के रंग की) होती है। उसमें पीड़ा नहीं होती, उसे उपशीर्षक कहते हैं।"[1]

१. कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते।
सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्।

Cephalheamatoma. This consists of an effusion of blood between the skull and Pericranium and is more likely to occur in vertex than the breach presentation. The effusion gives rise to a soft fluctuant tumour situated over one or other of the parietal bones or over the occiput.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

इस रोग का पाठ बालरोग या कौमारभृत्य में होना चाहि पाश्चात्य वैद्यक ग्रंथों में इसे उपरितन रक्तवाहिनियों के क्षत या के कारण होने वाले त्वचा और कपालस्थि के परिसर के बीच इकट्ठे होने से (Cephal Heamatoma) और जल के सं Caput succedenum) उपशीर्षक कहा गया है। प्रायः इस रो चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती, कुछ दिनों में शोफ स्वयं हो जाता है।

चिकित्सा—यह रोग अपने आप शान्त हो जाता है यदि अ दिनों तक चलता रहे तो जौ, गेहूँ, तथा मूंग को पीसकर घी में कर कोष्ण लेप करने से शोफ मिट जाता है। दशमूल क्वाथ या में घी डालकर किंचिदुष्ण करके परिषेक करे। इससे शोथ मिट है, पाक नहीं होता। परन्तु यदि कहीं उपसर्ग पहुँचकर पाकोत्पत्ति जाय तो विद्रधिवत् उपचार करना चाहिये। कई बार (बहु कम) इसमें शोफ का उपशम न होकर निर्जीवाङ्गत्व (Gangre भी शुरू हो जाता है। कई बार रक्तविस्रावण से लाभ होता है।

—ooo—

Caput Succedenum–Oedema may be due to compression of s ficial vessels during labour. The caput succedeneum is the common example of this. The oedema is transient lasting only days, but occasionally the swollen tissues become injected, whi obvious reason is more likely to happen in perineal region, and inflammation may go on to local gangrene. (Diseases of infancy childhood by sheldon)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

शालाक्यतन्त्र

मुखरोगाध्याय

Diseases gf Buccal Cavity or Mouth.

(Affections of lips, Gums, Teeth, Tongue, Palate and Throat)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च।
गलो मुखादिसकलं सप्ताङ्गं मुखमुच्यते॥

मुखरोग का अर्थ मुखगत या मुखाश्रित रोग है। मुख में होने रोग तो बाह्य आभ्यन्तर पूरे मुखमण्डल में हो सकते हैं; परन्तु पर मुख से मुख-गह्वर (Buccal cavity) का ग्रहण किया गया है समझना चाहिये। मुखगह्वर में समष्टि और व्यष्टि के रूप में करते हुए स्पष्टतया दो विभाजन करने पड़ेंगे। प्रथम ऐसे रोग पूरे मुख को प्रभावित करें, जिसकी व्याख्या 'सर्वसर' नाम से संहि में मिलती है। दूसरा विभाग मुखगह्वर में पाये जाने वाले अवयवों के जैसे ओष्ठ, कण्ठ, तालु, दन्तमूल (मसूड़े) दन्त, जिह्वा में होने वाले विकारों का है। इन सभी अववों के भिन्न रोगों का स्वतन्त्र-स्वतन्त्र वर्णन आगे के पाठों में चलता रहेगा। प्रकार समष्टि या समुदाय रूप में देखने पर मुख रोगों का (मुख गत) एक ही अध्याय में पाठ है, परन्तु व्यष्टि रूप में या पृथक् देखने से मुख के भीतर सात अवयवों के अनुसार सात छोटे अध्याय हो जायेंगे। इसी लिये मुख को सप्ताङ्ग युक्त योगरत्ना बतलाया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुख-रोग

मुखरोगों में सामान्य हेतु एवं सम्प्राप्ति—आनूपमांस, क्षीर, दधि और उड़द का अधिक सेवन करने से श्लेष्मा प्रवृद्ध होकर बढ़ता तथा अन्य दोषों को कुपित करके मुखरोगों को पैदा करता है। अर्थात् मुखरोगों में कफ ही प्रधान रूप से विकार करने वाला दोष है।[1]

मुख रोगों की संख्या—मुख रोगों में पाये जाने वाले रोगों की कुल संख्या सुश्रुत ६७ तथा वाग्भट ने ७५ बतलाई है। जो निम्नलिखित हैं।

रोग	सुश्रुत	वाग्भट
ओष्ठरोग	८	१२
दन्तरोग	८	१०
दन्तमूलरोग	१६	१३
जिह्वारोग	५	६
तालुरोग	६	८
कण्ठरोग	१८	१८
सर्वसर	३	८

समन्वय और सुश्रुत की मान्यता—सुश्रुताचार्य नें प्रधानतया ओष्ठ रोगों की संख्या आठ ही मानी है; परन्तु वाग्भट ने इनमें चार अधिक जोड़ दिये हैं—'जल बुद्बुद' या 'जलार्बुद' (Cyst), खण्डौष्ठ

---

१. आनूपपिशितक्षीरदधिमाषादिसेवनात् ।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥ (यो. र.)
अष्टावोष्ठयोर्दन्तमूलेषु दश षट् तथा । दन्तेष्वष्टौ च जिह्वायां पञ्च स्युर्नव तालुनि ॥
कण्ठे त्वष्टादश प्रोक्तास्त्रयः सर्वसराः स्मृताः । एवं मुखामयाः सर्वे सप्तषष्टिर्मता बुधैः ॥
मत्स्यमाहिषवाराहपिशितामकमूलकं । माषसूपदधिक्षीरशुक्तेक्षुरसफाणितम् ॥
अवाक्शय्यां च भजतो द्विषतो दन्तधावनम् । धूमच्छर्दनगण्डूषानुचितं च सिराव्यधम् ॥
क्रुद्धाः श्लेष्मोल्वणा दोषाः कुर्वन्त्यन्तर्मुखे गदान् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(Here lip) और कपोलगत एक गण्डालजी नामक व्याधि। व
में सुश्रुत के वर्गीकरण के अनुसार इनका ग्रहण शल्यतन्त्र के अ
'जलार्बुद' का ग्रन्थि के अधिकार में, खण्डौष्ठ का सन्धान
तथा कपोलगत 'गण्डालजी' का मुखबाह्य रोगों में करके रख
उचित प्रतीत होता है। दन्तगत रोगों में वाग्भट ने दो विशेष
का 'चालन' एवं 'दन्त भेद' का वर्णन किया है। इनमें चालन में
हिलते हैं। यह एक लक्षण मात्र है जो कई अवस्थाओं में मिल
है। अत एव सुश्रुताचार्य ने इसका स्वतन्त्र उल्लेख न कर चि
के प्रसङ्ग में इस अवस्थाविशेष की चिकित्सा बतलायी है।
दशा 'दन्तभेद' नामक रोग की भी है। दन्तभेद का ग्रहण
प्रतिपादित 'भञ्जनक' रोग में हो सकता है। आचार्य सुश्रुत ने दन्
में होने वाले १६ रोगों का तथा वाग्भट ने कुल १३ ही रोगों का
किया है तीन रोगों का (दन्तवेष्ट, परिदर एवं अधिदन्त) उल्लेख
प्रकरण में छोड़ दिया है।

जिह्वागत रोगों में सुश्रुत ने केवल पाँच रोगों का ही वर्णन
और अष्टाङ्गहृदयकार ने एक 'अधिजिह्वक' नामक व्याधि का अ
वर्णन किया है। जो वास्तव में एक ही रोग (Renula) है—
कल्पना के अनुसार जिह्वा के ऊपर हुआ तो 'उपजिह्वा,' और
नीचे हुआ तो 'अधिजिह्वा' संज्ञा दी जायगी।[1] 'अधिजिह्वक' ना
रोग का वर्णन सुश्रुत ने कंठ के रोगों में किया है।

तालुगत रोगों में सुश्रुत ने वाग्भट से एक अधिक रोग (अ
का वर्णन करके तालुगत रोगों की संख्या नौ बतलाई है।

कण्ठगत रोगों में सुश्रुत एवं अष्टाङ्ग दोनों की प्रायः समानता
दोनों ने कुल रोगों की सूची अठारह की दी है। परन्तु वाग्भट ने
'जिह्वक' नामक रोग का यहाँ पर वर्णन न करते हुए एक विशे

१. प्रबन्धनेऽधो जिह्वायाः शोफो जिह्वाग्रसन्निभः।
ताद्दगेवोपजिह्वास्तु जिह्वाया उपरि स्थितः॥ (अ. हृ. २१ उ०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'गलगण्ड' का उल्लेख किया है, जो वास्तव में सौश्रुतीय वर्गीकरण के अनुसार शल्यतन्त्र के भीतर समाविष्ट है। यह उचित भी है क्योंकि यहाँ पर गले के रोग से गले के भीतरी रोगों का वर्णन अभीष्ट है न कि गले के बाहर के रोगों का।

सर्वसर रोगों में प्रधान दोष-भेद से सुश्रुत ने तीन रोगों का उल्लेख किया है। अष्टाङ्गहृदय ने इस रोग के कई और उपभेदों का वर्णन करते हुए कुल मुखपाकों की संज्ञा आठ कर दी है।

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	अंग्रेजी पर्याय
१. वातज ओष्ठरोग (कोप)	ओष्ठ (Lips)	वा०	Cracked lips
२. पित्तज " "	"	पै०	Herpes-
३. श्लेष्मज " "	"	श्लै०	Labialis
४. सन्निपातज " "	"	त्रि०	"
५. रक्तज " "	"	र०	"
६. मांसज " "	"		Epilhelioma of the lip.
७. मेदज " "	"		Macrochelia
८. अभिघातज या क्षतज ओष्ठ कोप (खण्डोष्ठ)	"	वा. क. रक्त	Hare lip.
१. शीताद	दन्तमूल (Gums)	कफशोणित	Bleeding or Spongy-gums
२. दन्तपुप्पुट	"	"	Gingivitis or Gum boil
३. दन्तवेष्ट	"	"	Pyorrhoea Alveolaris
४. शौषिर	"	कफवात	
५. महाशौषिर	"	त्रिदोषज	Cancrum oris
६. परिदर	"	पित्तरक्तकफ	Gangrenous stomatitis
७. उपकुश	"	पित्तरक्त	
८. दन्तवैदर्भ	"	अभिघात	Gingivitis
९. खलिवर्द्धन, वर्द्धन अधिदन्त	दन्त (Teeth)	वायु	Extra or wisdom tooth

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	अंग्रेजी पर्या
१०. अधिमांस	दन्त (Teeth)	कफ	Impacted wisd tooth
११. दन्तनाडी	,,	पाँच प्रकार	Sinuses of the G
१२. दन्तविद्रधि			Alveolar Absces
१. दालन	दन्त	वा०	Toothache
२. कृमिदन्त	,,	,,	Dental carries
३. भंजनक	,,	,,	Odontitis
४. दन्तहर्ष	,,	कफवात	
५. दन्तशर्करा	,,	,,	Tartar
६. कपालिका	,,	,,	Enamel separati
७. श्यावदन्त	,,	पित्तरक्त	
८. हनुमोक्ष, हनुग्रह हनुस्रंस	,,	वा०	Lock jaw Dislo of jaw
१. जिह्वाकंटक	जिह्वा (Tongue)		Chronic superfi glossilis
२. वातकंटक	,,	वा०	Cracked or fissur tongue
३. पित्तकंटक	,,	पि०	Redgland tongue
४. श्लेष्मकंटक	,,	श्ले०	Ictheosis
५. अलास	,,	कफरक्त	Sub lingual Abs
६. उपजिह्विका	,,	,,	Ranula or saliva cyst
१. गलशुण्डिका	गल (Throat)	,,	Elongeteduvula
२. तुण्डिकेरी		,,	Elongated tonsi
३. कच्छप	तालु (Palate)	,,	Sarcoma
४. अर्बुद		रक्त	Cancer
५. मांससंघात	,,	श्लेष्मा	Adenoma of the Palate
६. तालुपुप्पुट	,,	कफमेद	Epulis of the Pa
७. तालुपाक	,,	पित्त	Ulceration of th Palate

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोग	अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	अंग्रेजी पर्याय
८. तालुशोष	तालु (Palate)	वा०	
९. अध्रुष	,,	र०	Palatitis
१. रोहिणी	गल (Throat)	१. वा. २. पि. ३. श्लै. ४. र.	Dyptheria
६. कंठशालूक	,,	कफ	Adenoids
७. अधिजिह्वक	,,	कफरक्त	Epiglotitis
८. वलय, गलौघ या विडालिका	,,	कफ	
९. वलास	,,	कफवात	
१०. वृन्द	,,	पित्तरक्त	
११. एकवृन्द	,,	कफरक्त	
१२. शतघ्नी	,,	त्रिदोष	
१२. गिलायु	,,	रक्तकफ	
३. गलविद्रधि	,,	त्रिदोष	Pharyngeal Abscess
४. गलौघ	,,	रक्तकफ	
५. मांसतान	,,	त्रिदोषज	
६. विदारी	,,	पित्त	
सर्वसररोग	सर्वमुख (M. Membrane of the mouth)	×	Stomatitis
१. वातिक	,,	वा०	Ulcerative stomatitis
२. पैत्तिक	,,	पि०	Gangrenous stomatitis
श्लैष्मिक	,,	श्लेष्मा	Apthous Stomatitis

—००:०:००—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

२

मुखरोगों की साध्यासाध्यता एवं सामान्यप्रतिषे

मुख में होने वाले रोगों में अर्बुद (कराल, मांसौष्ठ पाक, र पाक एवं जलार्बुद को छोड़कर), कच्छप, तालु पिटिका, ग सुषिर, महाशौषिर, स्वरघ्न, श्यावदन्त, शतघ्नी, वलय, अलस, त्रि नाडी व्रण, त्रिदोषज-रक्तज-मांसज-ओष्ठकोप, रक्तजन्य रोहिणी, स पातिक रोहिणी, दन्तभेद (दाँतों का फटना) पक्व उपजिह्वि स्वरभ्रंश प्रभृति रोग असाध्य हैं। इसी तरह दन्तभेद और द याप्य माने गये हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी मुखरोग साध्य हैं, पर औषधोपचार से काम चल जाता है एवं कहीं पर शस्त्रक द्वारा चिकित्सा की जाती है। सुश्रुत ने त्रिदोषज ओष्ठपाक, दन्त में दालन और अवभंजन, कण्ठरोगों में वृन्द, वलास और विदा और मांसतान को भी असाध्य बतलाया है।[1]

असाध्य रोगों की चिकित्सा में व्यर्थ प्रयास और व्यय होता अस्तु, शास्त्रकारों ने असाध्य रोगियों में चिकित्सा करने का नि किया है।[2] किन्तु साथ ही रोगी की तथा उसके परिवार की सान्त्व के लिये अथवा कई बार दैवयोग से अरिष्ट युक्त रोगी भी जीवित

१. ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजा ।
दन्तवेष्टेषु वर्ज्यौ तु त्रिलिङ्गगमतिसौषिरौ ॥
दन्तेषु च न सिद्ध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः ।
जिह्वारोगे वलासस्तु तालुजेष्वर्बुदं तथा ॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो वलासः सविदारिकः ।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥
असाध्याः कीर्त्तिता ह्येते रोगा दश नवोत्तराः ।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ (सु.)

२. असाध्यन्नोपक्रमेत् । (सु. सू. ६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाये गये हैं इसलिये जब तक साँस रोगी लेता रहे तब तक चिकित्सा करते रहनी चाहिये।[1] ऐसी अवस्था में आचार्यों ने 'प्रत्याख्यान' का आदेश किया है जिसका अर्थ होता है कि रोगी के अभिभावक या सम्बन्धियों में इस बात को स्पष्ट कह देना चाहिये कि रोग असाध्य है। यदि चिकित्सा नहीं की जायगी तो रोगी निश्चित मर जायगा और चिकित्सा करने में भी फल में संशय है—सफलता दैवाधीन है। फिर भी चिकित्सा कर रहा हूँ।

सामान्य मुखरोग चिकित्सा—(१) मुख गह्वर स्थित रोगों में अधिकतर कफ और रक्त की प्रधान दुष्टि होती है, इसलिये इनमें रक्त-मोक्षण एक सर्वप्रथम उपाय है।[2] विरेचनद्वारा कोष्ठशुद्धि एवं आवश्य-कतानुसार वामक ओषधियों का प्रयोग भी हितावह होता है।

(२) कवलग्रह और गण्डूष की क्रिया प्रायः सभी मुखरोगों में लाभकारी होती है। (३) नस्य तथा शिरोविरेचन भी मुखरोगों में पथ्य है। तथा (४) स्वेदन, (५) विरेचन, (६) वमन, (७) प्रति-सारण, (८) धूम, (९) शस्त्रकर्म, (१०) अग्निकर्म, (११) तर्पण प्रभृति कर्मों के द्वारा मुखरोगों में शान्ति मिलती है।[3]

पथ्य—सामान्यतः सभी मुखरोगों में पुराना चावल, जौ, मूँग, कुल्थी, करेला, परवल, कोमल मूली, गर्म पानी, तीक्ष्ण, तिक्त एवं कटुरस पथ्य माना गया है। विशेषतः ऐसा आहार हो जो कारणभूत कफ एवं रक्त का शोधक हो। खाने में जौ की दलिया, रोटी, काकुन, कोदो और सावाँ का भात भी प्रशस्त है। इसके अतिरिक्त ताम्बूल

१. तावत् चिकित्सा कर्त्तव्या यावच्छ्वसिति मानवः।
यावत् कंठगतप्राणस्तावत्कार्या प्रतिक्रिया॥
कदाचिद्दैवयोगेन दृष्टारिष्टोपि जीवति।

२. गलदन्तमूलदशनच्छदेषु रोगाः कफास्रभूयिष्ठाः।
तस्मादेतेषु रुधिरं विस्रावयेद् दुष्टम्॥

३. स्वेदो विरेकः वमनं गण्डूषः प्रतिसारणम्।
कवलोऽसृक्स्रुतिर्नस्यं धूमः शस्त्राग्नितर्पणम्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

का सेवन, कर्पूरवासित जल या कर्पूराम्बु, खदिर और घृत का भी मुखरोगों में हितकर होता है। भोजन में हरे शाक, ताजे सूखे मेवे, मक्खन, गाजर, टमाटर, मोसम्मी, सन्तरा, नीबू, धनियाँ, पालक, आँवला, आलू बुखारा प्रभृति द्रव्य विशेषतः जिन में जीवतिक्ति द्रव्य 'ए,' 'बी,' 'डी' तथा 'सी' मिलते हों उनका हितकर है।[1]

अपथ्य—सभी मुखरोगों में सामान्यतः अम्लपदार्थ दही, दूध, मिठाई, उड़द, रूक्षान्न, कठिन, भारी और अभिष्यन्दी आहार हैं। ठण्ढे पानी का सेवन, दातून, करना, कड़े पदार्थ का खाना, का सेवन, आनूपदेशज प्राणियों के मांस तथा दिन में सोना अहित होता है। मुख को नीचे करके या लटकाकर सोना भी अपथ्य है।[2]

सामान्ययोग—गण्डूष—खदिरादि गण्डूष, खैर, लोहा, आँ हर्रे, बहेरा, अर्जुन की छाल, एरण्ड और पूतिखदिर, का काढ़ा बना गण्डूष (कुल्ला) करने से सभी मुखरोगों में लाभ होता है। (गण्डूष का अर्थ कुल्ली भरना होता है।)

पटोलादि गण्डूष—पटोल, शुण्ठी, त्रिफला, इन्द्रायण मूल, त्रायमाण, कुटकी, हरिद्रा, दारु हरिद्रा और गुडूची के काथ का गण्डूष अथवा कवल धारण करना।[3]

सप्तच्छदादि क्वाथ—सप्तपर्ण त्वक्, सुगन्धबाला, पटोलमूल, ना मोथा इनका हर्रे, चिरायता, कुटकी, मुलैठी, अमलतास का गूदा

१. तृणधान्ययवा मुद्गाः कुलत्था जाङ्गलो रसाः।
वहुपत्रो कारवेल्लं पटोलं वालमूलकम्॥
कर्पूरनीरं ताम्बूलं तप्ताम्बु खदिरो घृतम्।
कटुतिक्तौ च वर्गोयं मित्रं स्यान्मुखरोगिणाम्॥

२. दन्तकाष्ठं स्नानमम्लं मत्स्यमानूपमामिषम्। दधिक्षीरं गुडं माषं रूक्षान्नं कठिना अधोमुखेन शयनं गुर्वभिष्यंदकारि च। मुखरोगेषु सर्वेषु दिवा निद्रां च वर्ज

३ पटोलशुण्ठीत्रिफलाविशालात्रायन्तितिक्ताद्विनिशामृतानाम्।
पीतः कषायो मधुना निहन्ति मुखे स्थितश्चास्य गदानशेषान्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

न्दन क्वाथ बनाकर गण्डूष या, कवल धारण करना या पीने में प्रयोग रना सामान्यतया मुखरोगों में लाभप्रद होता है।[1]

कल्क—पीतदारु कल्क—दारुहल्दी का रस या रसवत लेकर पकावे, ढ़ा होने पर उसमें गेरु और मधु डालकर मुख में रखे।

त्रिफलादि कल्क—त्रिफला एक सेर लेकर चतुर्गुण जल में क्वाथ कर तुर्थांशावशिष्ट जल शेष रखकर पुनः उसे कड़ाही में डालकर उसमें टोलमूल, नीम की छाल, मुलेठी, अडूसा, चमेली के पत्ते, काला कड़वा र, सफेद खैर, त्रिफला प्रत्येक का चार चार तोला चूर्ण डालकर कावे और गाढ़ा हो जाने पर उसकी तीन-तीन माशे की गोली बनाकर सका मुख में धारण करना अथवा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ का ण्डूष या कवल धारण सामान्यतया सभी मुखरोगों में हितकर ता है।

कालाक चूर्ण—गृहधूम, यवक्षार, हरताल, सैंधव, पाठा, त्रिकटु, साञ्जन, तेजोह्वा, त्रिफला, लौह और चीते का चूर्ण बनाकर मधु के थ मिलाकर मुख में धारण करना।[2]

प्रतिसारण—दन्त, जिह्वा, तालु तथा अन्य मुखरोगों में ओषधि के चूर्ण, कल्क तथा लेह प्रभृति द्रव्यों को अंगुली के सहारे धीरे-धीरे घर्षण रना (रगड़ना) प्रतिसारण कहलाता है।[3]

जात्यादि तैल—चमेली के पत्ते के क्वाथ, शंखपुष्पीस्वरस, बकुल छाल का क्वाथ डालकर तिलतैल का पाक करे उसमें गायत्री, आम गुठली, त्रिफला, त्रिकटु, चव्य, नीलोत्पल, कूठ, मुलैठी, दारुहरिद्रा, ...ा, नागरमोथा, सुगन्धबाला, लोध्र, सिन्दूर, स्वर्ण गैरिक और टाङ्कुर का कल्क बनाकर छोड़े। इस प्रकार का सिद्ध जात्यादि तैल

१. सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्त हरीतकी मुस्तक रोहिणीभिः ।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचन्दनैश्च क्वाथंपिवेत्पाकहरं मुखस्य ॥

२. गृहधूमयवक्षारपाठाव्योषरसाञ्जनम्। तेजोह्वात्रिफलालौहं चित्रकञ्चेति चूर्णकम् ॥
सक्षौद्रं धारयेदेतद् गलरोगविनाशनम् । कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ॥

३. दन्तजिह्वामुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकैः। शनैर्घर्षणमङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सम्पूर्ण मुखरोगों में धारण, गण्डूष और कवल के रूप में प्रयुक्त तथा भगन्दर, उपदंश एवं दुष्ट व्रणों में स्थानिक प्रयोग के द्वारा होकर लाभप्रद होता है।[1]

खदिरादि तैल—खैर की छाल २०० तोले, मौलसिरी की २०० तोले लेकर कूटकर २०४८ तोले जल में डालकर पकावे ५१२ तोले जल शेष रहे तो कपड़े से छान ले। पीछे उसमें तिल तेल १२८ तोले और खैर की छाल, लौंग, गेरु, अगर, पद्माख, लोध, मुलैठी, लाख, वट की छाल, नागरमोथा, दालचीनी, कबाबचीनी, अकरकरा, पतंग, धाय के फूल, छोटी इलायची, और कायफर की छाल प्रत्येक १-१ तोला ले उनका कल्क मिलावे। तैल पाक विधि से मंद आँच पर पकाते हुए जब तैल हो जाय तो उतार कर ठंडा होने पर उसमें १ तोला कपूर मिलाकर शीशी में भर ले।

उपयोग—इस तैल से मुँह का पकना, मसूड़ों का पकना मवाद (पीप) का होना, दाँतों का सड़ना, दाँतों में छिद्र होना दाँत फटना दाँतों में कीड़े होना, मुँह की दुर्गंध, जीभ, तालु अथवा रोग दूर होते हैं।

वक्तव्य—शार्ङ्गधर में यह पाठ इरिमेदादि तैल के नाम से है। उसमें इरिमेदक स्थान पर खैर तथा मौलसिरी (वकुल) छाल लेकर बनाने से यह योग अधिक गुणकारक होता है। शा

१. जातीपल्लवतोयेन शंखपुष्पीरसेन च।
वकुलत्वक्कषायेण पचेत्तैलं तिलोद्भवम् ॥
गायत्रीमाम्रबीजञ्च त्रिफलां कटुकत्रयम् ।
चव्यं नीलोत्पलं कुष्ठं मधुकं रजनीद्वयम् ॥
मुस्तकं बालकं रोध्रं सिन्दूरं स्वर्णगैरिकम् ।
कल्कीकृत्य क्षिपेत्तत्र वटरोहमयोपि च ॥
जात्याद्यांख्यमिदं तैलं निखिलान्मुखजान्गदान् ।
भगन्दरोपदंशौ च व्रणं दुष्टं निहन्ति च ॥ (भै. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किंचित् परिवर्त्तित यह खदिरादि तैल का योग है—इसका उद्धरण र्गीय वैद्य पं० यादव जी महाराज के अनुसार उनके संग्रह सिद्ध योग दिया गया है। इस तैल को मसूड़ों पर लगाने, तैल एवं गण्डूष के रूप मुख रोगों में करना चाहिये। इरिमेदादि तैल का पाठ दन्त रोगों में गे दिया जावेगा।

खदिरादिवटी—२०० तोले खैर और १०० तोले काला खैर या पूति दिर को आठ गुने जल में पका कर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ बना ले। र उसे छान कर पुनः कड़ाही में डाल कर पकावे और उसमें सुगन्ध- ला, खस, पतंग, गेरू, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, पठानी लोध, ऊख जड़, मुलैठी, लाख, सफेद सुरमा, काला सुरमा धाय के फूल, काय- , हल्दी, दारुहल्दी, त्रिफला, दालचीनी, इलायची, नागकेसर, पात, अगर, नागरमोथा, मजीठ, बरगद की जटा, जटामांसी, ासा की जड़, पद्माख, एलुवा और लज्जालु पीस कर चूर्ण बना कर े। दवा को बराबर चलाता रहे ताकि जलने न पावे जब गाढ़ा हो वे तो उतारे और उसमें जावित्री, लौंग, जायफल और कंकोल -चार तोले और अच्छा कपूर १६ तोले डाल कर मटर के बराबर लियाँ बना ले। इन गोलियों को मुख में धारण करने से समस्त गह्वर के रोग अच्छे होते हैं, दाँत बलवान् होते हैं। स्वस्थ व्यक्ति मुख में धारण करने से मुखरोगों का निवारण होता है[1]।

सर्व प्रकार के मुखरोगों में इसी प्रकार क्षीर, ऊख का रस, त्र, दधि, मट्ठा, खट्टी कांजी, तैल और घृत प्रभृति द्रव्यों का स्वतंत्र ौषधियों से सिद्ध करके कवल धारण करना शास्त्र में प्रशस्त ा गया है।[2]

सहकारादि वटी—आम की छाल का काढ़ा नीम की छाल का ढ़ा, खदिर का काढ़ा, असन का काढ़ा प्रत्येक आधा द्रोण लेकर

१. शुष्का मुखे विनिहता विनिवारयन्ति रोगान् गलौष्ठरसनाद्विजतालुजातान् । मुखे सुरभितां पटुतां रुचिञ्च स्थैर्य्यं परं दशनगं रसना लघुत्वम् । (यो. र.)

२. क्षीरेक्षुरस गोमूत्रदधि मस्त्वम्ल कांजिकैः ।
विदध्यात्कवलान वीक्ष्य दोषं तैलघृतैरपि ॥ (सु.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सबको एक में मिलाकर गाढ़ा करके घनसत्त्व बना ले फिर उसमें चन्दन, सुगन्धबाला, लाल चन्दन, गेरू, लवंग, धाय का फूल, दारु हल्दी, लोध, जायफल, निशोथ, दालचीनी, इलायची, ते नाग केसर, त्रिफला, वटांकुर, मजीठ, जटामांसी, मुस्तक, काला शुंठी, मरिच, छोटी पीपल, लौह भस्म और कपूर प्रत्येक का पल महीन लेकर मिलाकर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को रख कर चूसने से सम्पूर्ण मुख, जिह्वा एवं तालुगत रोगों में पहुँचता है।

रस के योग—*रसेन्द्रवटी*—शुद्ध पारद, गन्धक, शीलाजित, भस्म, लौहभस्म सभी समान भाग में लेकर पारद की चौथाई में सुवर्ण भस्म डाले। फिर इसमें निम्ब पत्र स्वरस अशन वृक्ष और चित्रक क्वाथ की एक-एक भावना देकर दो-दो रत्ती की गो बना कर रख ले। नित्य एक गोली प्रातः त्रिफला क्वाथ, त्रिफ या केवल जल के साथ लिया करे। इसके प्रयोग से सम्पूर्ण वात रोग, ज्वर, मुखरोग तथा मुखरोगजनित ज्वर नष्ट होते हैं। की अग्नि, बल और वीर्य की वृद्धि तथा रसायनियों की पुष्टि होती

सप्तामृत रस, चतुर्मुखरस, मुखरोगनाशक रस और पार्वतीरस पाठों का संग्रह भैषज्यरत्नावली में मिलता है। इनमें अधिकतर गन्धक के अतिरिक्त, लौह, ताम्र, अभ्रक, गुग्गुल, शिलाजतु आदि योग मिलते हैं। इनका प्रयोग सामान्यतया आभ्यन्तरोपचार के सभी मुखरोगों में श्रेयस्कर होता है।

---

१. पार्वतीशिवसम्भूतो दरदो मधु पुष्पकं।
गुडूची शाल्मली द्राक्षा धान्यभूनिम्बमार्कवम्॥
तिलमुद्गपटोलञ्च कूष्माण्डलवणद्वयम्।
यष्टिका धान्यकं भस्मं चान्तर्दग्धं समंसमं।
मुखरोगं निहन्त्याशु पार्वती रस उत्तमः।
पित्तज्वरं चिरं हन्ति तिमिरञ्च तृषामपि॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३

धूमोपयोग

(Inhalation of Gases and Vapours by the method of cigarettes and pipes)

आयुर्वेद के शालाक्य नामक इस अंग में धूम का बड़ा महत्त्व र्णित है। सुश्रुत ने लिखा है कि यथाविधि बने धूम का यथाशास्त्र प्रयोग करने से मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वस्थ और वाणी तथा मन प्रसन्न जाते हैं। इसके अतिरिक्त केशश्मश्रु तथा दाँत दृढ़ हो जाते हैं, एवं सुगन्धित और विशद हो जाता है। वायु तथा कफ की अधिकता होने वाले मुख, नासा, कर्ण, कण्ठ तथा शिर के रोग भी नष्ट हो ते हैं।[1]

यही कारण है कि सिर, नाक, आँख, मुँह, कान और कंठगत रोगों इस उपक्रम का चिकित्सा में बहुधा प्रयोग आया है। अस्तु इस ल पर इस क्रिया का एक सरल, सुबोध तथा विशद वर्णन देना वश्यक हो जाता है।

सुश्रुत ने धूम के पाँच प्रकार बतलाये हैं, परन्तु चरक ने प्रायोगिक, हिक एवं वैरेचनिक इस प्रकार के तीन ही भेदों का उल्लेख किया । सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने चरक के तीन भेदों के भीतर ही ुतोक्त दो इतर (कासघ्न और वामक) भेदों को समाविष्ट कर या है। मूलतः धूम के अन्तःपरिमार्जन या बहिर्मार्जन कर्म के ये तीन ही भेदों का कथन समुचित है—क्योंकि कासघ्न और वामक म तो आवस्थिक प्रयोग हैं—अवस्थाविशेष में ही इनका प्रयोग होता । अस्तु इनको विशिष्ट धूम के वर्गीकरण में रखना चाहिये। तथा ामान्य त्रिविध धूम का ही वर्णन प्रस्तुत में ग्रहण करना चाहिये।

१. नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः।
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिविशदाननः॥ (सु. सू. ४०.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सुश्रुतोक्त पञ्चविध धूमों का वर्णन कर देने से आयुर्वेद में ... योग का (Inhalation of Vapour or Gases) विधान ... जाता है अतएव उसीका वर्णन यहाँ पर प्रासंगिक है।

प्रायोगिक—यह एक मृदु तथा साधारण प्रयोग है। इसका ... स्वस्थ व्यक्तियों को नित्य करना चाहिये। इस धूमोपयोग का ... अनागत बाधाप्रतिषेध (Profilaxis) ही अधिक है, बल्कि ... बाधा प्रतिषेधात्मक (Curative Value) कम है। चरक ने ... है कि इसका नियमित एवं यथाविधि प्रयोग करने से केश, सि... तथा ज्ञानेन्द्रिय संबन्धी विकार नहीं हो पाते; प्रत्युत ये अंग ... हो जाते हैं। वायु तथा श्लेष्मा के कारण होने वाले रोग नहीं ... वायु एवं कफ कितने भी प्रबलरूप से कुपित क्यों न हों; परन्तु ... जत्रुगत कोई भी विकार ऐसे व्यक्तियों में नहीं उपजा सकते, ... शिरोगत ही कोई रोग पैदा कर सकते हैं।[1]

प्रायोगिक धूमपान के नियमित प्रयोग से सिर का भारीपन, ... शूल, पीनस, अर्धावभेदक, कर्ण एवं चक्षुगत पीडा, कास, श्वास, ... गलग्रह, दाँतों की दुर्बलता, नासा, कर्ण, चक्षुःप्रभृति उपाङ्गों के ... नासा या मुख से दुर्गंध आना, अनुग्रह, मन्याग्रह, अरोचक, द... खुजली, कृमिरोग, मुख की पाण्डुता, स्वरावसाद, कफस्राव, गल... उपजिह्विका, खालित्य, पिंजरत्व (केशों का पीतवर्ण का होना) ... का पतन, क्षवथु, अतितन्द्रा, बुद्धि का मोह और अतिनिद्रा प्रभृति ... शान्त हो जाते हैं, इनका उद्भव नहीं होता और इन्द्रियों को ... प्राप्त होता है। (चरक. सू. ...

प्रायोगिक धूम की व्याख्या करते हुए डल्हण ने लिखा है कि ... उपयोग केवल स्वस्थ व्यक्तियों में सदैव होता है। इस प्रयोग के ...

१. धूमपानात्प्रशाम्यन्ति बलं भवति चाधिकम् ।
शिरोरुहकपालानामिन्द्रियाणां स्वरस्य च ॥
न च वातकफात्मानो बलिनोऽप्यूर्ध्वजत्रुजाः ।
धूमवक्त्रकपानस्य व्याधयः स्युः शिरोगताः ॥ (च. सू. ५)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कफ का उत्क्लेश होता, फिर उत्क्लिष्ट हुए कफ का अपकर्षण हो जाता साथ ही वायु का भी शमन हो जाता है। फलतः वायु एवं कफ नों के शमन के लिये यह क्रिया स्नेहन तथा विरेचन के तुल्य पड़ती । इसी लिये आचार्य सुश्रुत ने प्रायोगिक का दूसरा पर्याय साधारण था मृदु दिया है।[1]

वैरेचनिक—नाम से ही स्पष्ट है, धूम का ऐसा प्रयोग जिसके द्वारा षों का विरेचन हो। यह धूम रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण एवं विशद गुणों से क होने के कारण कफदोष का उत्क्लेश करते हुए उसको खींचकर हर फेंक देता है। चूँकि यह अभिष्यण्ण (स्रोतों के निरोधी एवं भारी) षों का विरेचन करता है—इसलिये वैरेचनिक कहलाता है।[2]

स्नैहिक—नाम से ही स्पष्ट है, इस प्रकार का धूम जिसके द्वारा रूक्ष इन्द्रियों का स्नेहन हो। इस प्रयोग से वायु का विकार शान्त होता क्योंकि इन धूमों में स्नेहन और उपलेपन (चिकनई तथा आर्द्रता) गुण होता है।[3]

कासघ्न—यह एक रोग में या अवस्था विशेष में प्रयुक्त होता है अत एव वस्थिक भी कहलाता है। कास (खाँसी) को दूर करने के लिये स या कास व्यवहृत होता है अतः कासघ्न कहा गया है। इसका ग उरः प्रदेश (छाती) तथा कंठ के रोगों में विशेष करके होता है।[4]

वामनीय—इस प्रकार के बने धूमों का प्रयोग वमन कराने के लिये वहृत होता है। अत एव वामनीय शब्द का व्यवहार इसकी विशिष्ट ानिर्धारण में हुआ है। जब कि कण्ठ तथा छाती अत्यधिक कफ से

---

१. प्रायोगिकः श्लेष्माणमुत्क्लेशयत्युत्क्लिष्टं चापकर्षतिशमयति वातं साधा-त्वात् पूर्वाभ्यामिति। (सु. सू. ४०)

२ वैरेचनः श्लेष्माणमुत्क्लेश्यापकर्षति, रौक्ष्या तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्वैशद्याच्च। (सु. सू. ४०)

३. रूक्षस्य स्नेहाय प्रभवतीति स्नैहिकः; स च वातं शमयति स्नेहनादुपलेपनाच्च।

४. कासहरत्वात्कासघ्नः, स पुनरुरःकण्ठरोगहरोऽप्यावस्थिक एव।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

व्याप्त होकर भर गये हों उस अवस्था में इस धूम का प्रयोग वमन के द्वारा निकाल देने के लिये करना चाहिये ।[1]

धूमनेत्र तथा धूमवर्ति के बनाने के विधान—(Inhalation pipe Cigarettes) इस क्रिया में सबसे पूर्व वर्ति के बनाने की आवश्यकता है। इसके लिये बारह अंगुल लम्बाई का एक सरकण्डा (शर) जिसकी मोटाई कनिष्ठिका अंगुलि के परिमाण की हो, लेना चाहिये। पश्चात् उसके ऊपर यथावश्यक ओषधियों का कल्क बनाकर (खूब महीन पीसकर) उसके ऊपर जौ के बराबर मोटा लेप कर देना चाहिये। इस कल्क के लेप को सरकण्डे के प्रारंभ और अन्त के दो-दो अंगुल छोड़कर केवल मध्य भाग में आठ अङ्गुल की दूरी में ही करना चाहिये। लेप के चढ़ाने के पूर्व क्षौम (अतसी वस्त्र या रेशम) के कपड़े से दो लपेट देना चाहिये। पश्चात् उसके ऊपर कल्क का लेप करना चाहिये। इस प्रकार की बनी वर्ति को छाया में सुखा लेना चाहिये। सूख जाने पर आहिस्ते, आहिस्ते सरकण्डे को वर्ति से बाहर निकाल लेना चाहिये। इस प्रकार सच्छिद्र वर्ति तैयार हो जाती है।

वर्ति के बाद दूसरी आवश्यकता धूमनेत्र की पड़ती है। यह धूमनेत्र (Tube or pipe) वस्तिनेत्र के सदृश ही बनता है। इसके बनाने के लिये उसी प्रकार के द्रव्य सोना, चाँदी, पीतल, सीसा, ताम्र, कांस्य व्यवहृत होते हैं। इसकी लम्बाई धूमभेदों के अनुसार भिन्न होती है। जैसे-प्रायोगिक में ४८ अंगुल, स्नेहन में ३२ अंगुल, वैरेचनिक में २४ अंगुल, कासघ्न एवं वामनीयों में १५ अंगुल का दैर्घ्य होता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट और शार्ङ्गधर के अनुसार भी लम्बाई में भेद पड़ता है, परन्तु सुश्रुतोक्त प्रमाण अधिक मान्य होने से वही लेना उचित है। धूमनेत्र (Pipe) की मोटाई तथा छिद्र एवं स्रोत प्रायः सभी प्रकार के धूमोपयोगों में समान ही होता है। कनिष्ठिका अंगुली के परिमाण की मोटाई अग्र की ओर (जो भाग मुँह या नाक से लगता है,

१. वामयतीति वामनीयः, स पुनरुत्क्लिष्टकफाभिपन्नकण्ठोरसः ।
(डल्हण सु. सू.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पान किया जाता है) करनी चाहिये, और क्रमशः मूल की तरफ टा करते हुए मूल में अंगुष्ठ के बराबर मोटा नेत्र (pipe) को बना ना चाहिये। इसके अग्र का छिद्र छोटी बैर (कोल) या मटर के रिमाण का होना चाहिये। कई अन्य तन्त्रों में धूमनेत्र को त्रिपर्विका, खण्डा (शार्ङ्गधर), त्रिकोषा (वाग्भट, चक्रदत्त) बनाने का विधान जिसका अथ होता है-नलिका के उदर को बीच-बीच में चौड़ा कर । जैसा कि हुक्के की बनावट में पाया जाता है।

धूमोपयोग का विधान—(Method of Inhalation through pe) प्रसन्न मन हो कर, सुखपूर्वक आसन पर सीधे बैठ कर, दृष्टि नीचे करके, सावधानी से (अतन्द्रित), धूमवर्त्ति के अग्रभाग घृत या तैल में डुबो कर, अग्नि से जला कर, नेत्रस्रोत में वर्ति को कर धूम का पान करना चाहिये।

पहले मुख से पिये पश्चात् नाक से पिये। मुख से पिये अथवा ा से पिये दोनों धुएँ को मुख के मार्ग से ही निकाले। मुख से धुएँ खींच कर नाक से न निकाले क्योंकि धुआँ का प्रतिलोम (उल्टे) होने से नेत्र को तथा दृष्टिशक्ति को हानि पहुँचती है। विशेषतः गिक धूमों को नाक से, स्नैहिक धूम को मुख और नासा दोनों से, नक धूम को नासिका से तथा कासघ्न और वामनीय धूमों को मुख हण करना (पीना खींचना) चाहिये।[1] नाक से धूम को खींचते

१. मुखेन तं पिबेत्पूर्वं नासिकाभ्यां ततः पिबेत् ।
मुखपीतं मुखेनैव वमेत्पीतं च नासया ।
मुखेन धूममादाय नासिकाभ्यां न निर्हरेत् ।
तेन हि प्रतिलोमेन दृष्टिस्तत्र निहन्यते ।
विशेषतस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत, स्नैहिकं,
मुखनासाभ्यां नासिकया वैरेचनिकं, मुखेनैवेतरौ (सु. सू. ४०)
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे मुखेन घ्राणपो वमेत् ।
आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत् ।
प्रतिलोमं गतं ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी । (च. सू.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

समय एक नासा छिद्र को बन्द कर लेना चाहिये। चक्षुष्येण का के में वचन मिलता है कि 'छाती और गले का रोग हो तो धूम मुख से करे और यदि सिर, कर्ण, अक्षि और नासा का रोग नासारन्ध्र से धूम पिये। परन्तु दोनों अवस्थाओं में धूम को मुख निकाले अन्यथा नेत्रविभ्रम होने का भय रहता है।"[1] इसी सिद्ध समर्थन वाग्भट भी करते हैं।[2]

'धूम के पीने (ग्रहण) के सम्बन्ध में कुछ और भी जानने बातें हैं। जैसे प्रायोगिक धूम का तीन-तीन या चार-चार बार क्रमशः और मुख से पर्यायक्रम से खींचना और छोड़ना चाहिये। अर्थात् बार नाक से धूम को ग्रहण करे और छोड़े, पश्चात् चार बार फिर यदि मुख से तीन बार खींचे तो नाक से चार बार खींचे छोड़े। स्नैहिक धूम का प्रयोग तब तक करना चाहिये, जब तक से अश्रुस्राव न होने लगे। वैरेचनिक धूम का ग्रहण और (छोड़ना) तब तक जारी रखे जब तक कि दोष न निकले तिल-तण्डुल का यवागू बना कर आकण्ठ पिलाकर पश्चात् वा का प्रयोग करे। कासघ्न धूम का प्रयोग ग्रासान्तर में या ग्रासान्त कराते। ग्रासान्तर का अर्थ भोजन काल में कवलों के बीच-बीच में है और ग्रासान्त का अर्थ भोजन के बाद का है।'[3]

डल्हण ने उपरोक्त सूत्र की टीका में कई तन्त्रान्तर के वच

१. उरःकण्ठादिरोगेषु मुखेनैव पिवेन्नरः।
शिरःकर्णाक्षिनासोत्थे नासातो धूममाचरेत्।
निर्वमेत्तु मुखेनैव नासया न कथञ्चन।
विलोमतो गतो धूमः कुर्याद्दर्शनविभ्रमः। (चक्षुष्येण)

२. प्राक् पिवेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते।
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कण्ठगे। (वाग्भट)

३. प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत मुखनासिकाभ्यां च पर्यायेण वेति, स्नैहिकं यावदश्रुप्रवृत्तिः, वैरेचनिकमादोषदर्शनात् तिलतण्डुलयवा पातव्यो वामनीयः। ग्रासान्तरेषु कासघ्न इति। (सु. सू. ४०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह किया है जिनमें कई विशिष्टतायें आ जाती हैं। रोगी तथा रोग बलाबल के अनुसार निमि का विधान है। वे धूमपान के ग्रहण (खींचने) की तीन कला तक समय लगने की एक मात्रा मानते हैं। प्रकार की तीन मात्रा का प्रमाण त्रिमात्रिक है और यह एक माप-दण्ड (Standard) है। इस त्रिमात्रिक धूम (तीनकला तक खींचने और छोड़ने की मात्रा) का प्रयोग स्वस्थ, अभिष्यण्णसिर, बलवान् व्याधित व्यक्ति को करना चाहिये। यदि व्यक्ति दुर्बल हो तो उसको कला के मात्रा प्रमाण में ही धूमोपयोग करना चाहिये।[1]

भोज की उक्ति है कि स्नैहिक धूमोपयोग में यदि रोगी कृश हो तो (...न) मात्रा के प्रमाण में ही खींचे, परन्तु यदि बलवान् हो तो तब पिये जब तक अश्रुस्राव न होने लगे।[2]

दिन में कितनी बार धूमोपयोग रोगियों में किया जाय इसके संबन्ध एक अन्य तंत्र का संग्रह टीका में मिलता है कि 'यदि रोगी में स्नेहन का उपयोग हो, या प्रायोगिक धूम का प्रयोग हो तो दिन में एक ही करना चाहिये। परन्तु वैरेचनिक धूम हो और उसका लक्ष्य दोषों निकालना हुआ तो दिन में दो, तीन या चार बार तक उसका प्रयोग में करना चाहिये'[3]।

धूमपानकाल—स्नैहिक धूम का उपयोग मल-मूत्र के त्याग के बाद, हँसी और क्रोध के अनन्तर तथा मैथुन के पश्चात् करना चाहिये। न धूम का उपयोग स्नान, वमन और दिवास्वाप के बाद करना

१. धूमपाने तु विज्ञेया उच्छ्वासास्त्रिगुणा कालाः।
तिस्रः कलाश्चात्र मात्रा प्रमाणं स्यात्त्रिमात्रिकम्।
पिबेत्स्वस्थविधौ मात्रा दुर्बलस्तु कलां पिबेत्।
अभिष्यण्णे प्रमाणं स्यात् प्रमाणञ्च पिबेद्रुजि। (निमि)

२. प्रमाणं स्नैहिके धूमे कृशो मात्रां पिबेन्नरः।
बलवांस्तु पिबेत्तावद्यावदश्रु न गच्छति। (भोज)

३. सकृत्पिबेत्स्नेहनीयं प्रयोगे सकृदेव च।
द्विर्वा विरेचनीयं तु त्रिश्चतुर्वा पिबेन्नरः। (तन्त्रान्तर)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

चहिये । प्रायोगिक का उपयोग दन्तप्रक्षालन, नस्य, स्नान, भोज शस्त्रकर्म कराने के पश्चात् करना चाहिये ।

वर्तिमान तथा द्रव्य—धूमनेत्र (Pipe) की लम्बाई का छ वर्ति का प्रमाण होना चाहिये। जैसे धूमनेत्र की लम्बाई प्रायोगि के लिये ४८ अंगुल की मानी जाती है तो उसमें वर्त्ति उसका अर्थात् ८ अंगुलों की होनी चाहिये ।[1] धूमवर्ति के बनाने के लि योगों का उल्लेख मिलता है; विविध प्रकार की ओषधियों के होते और विभिन्न कार्यों में व्यवहृत होते हैं। सामान्यतया इन उपयोगानुसार निम्न ओषधियों के योग से निर्माण किया जा सक

प्रायोगिक—कुष्ठ और तगर को छोड़कर एलादिगण की के कल्क से।

स्नैहिक—तिल शिग्रु, विभीतक प्रभृति स्नेह फलों की मज्ज गुग्गुलु, सर्जरस प्रभृति के कल्क से।

वैरेचनिक—शिरोविरेचनीय द्रव्यों के कल्क से।

कासघ्न—छोटी, बड़ी कटेरी, त्रिकटु, कासमर्द, हींग, इङ्गुदी मनःशिला, गुडुची, कर्कट शृङ्गी प्रभृति कासघ्न ओषधियों के कल्क

वामक—स्नायु, चर्म, खुर, शृङ्ग, केकड़े की अस्थि, शुष्क शुष्क मांस, कृमि प्रभृति द्रव्यों के कल्क से।

धूमयोग—स्वर्गीय आचार्य यादव जी का एक अनुभूत धूम पाठ उद्धृत किया जा रहा है। यह पाठ उनके सिद्धयोग संग्रह ग्रन्थ से उद्धृत है।

द्रव्य एवं निर्माण विधि—छाया से सुखाई हुई अडूसे की भाग, छाया में सुखाई हुई धतूरे की पत्ती २ भाग, भांग २ भाग चाय २ भाग, खुरासानी अजवायन की पत्ती २ भाग सबका करके कलमी शोरे के संतृप्त विलयन में (जल में कलमी शोरे कर घोल बनावे। जब उसमें अधिक सोरा न घुल सके तब

१. अङ्गुष्ठपरिमाणेन मध्ये स्थूलान्तयोस्तनुः ।
घूमनेत्रस्य षड्भागं वर्त्तिमाने प्रचक्षते। (तन्त्रान्तर)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संतप्त विलयन कहते हैं।) भिगों कर, छाया में सुखाकर रख ले। आवश्यकता पड़ने पर इसको मोटे कागज में लपेट कर धूमपान करने के लिये दे।

उपयोग—इस धूमपान से दमे के दौरे में तत्काल, लाभ होता है। यदि रोगी को खुश्की माल्रूम हो तो धूमपान कराने के थोड़ी देर बाद गाय का दूध देना चाहिये।

धूमपान के सम्बन्ध में भी अयोग, मिथ्यायोग या अतियोग होने का भय रहता है। यदि अतियोग हो जाय तो उसकी चिकित्सा में घृतपान, नावन, अञ्जन और तर्पण करना चाहिये।"

अधोलिखित कोष्ठक में संक्षेपतः उपर्युक्त धूमोपयोग का संग्रह किया जा रहा है—

प्रायोगिक	स्नैहिक	वैरेचनिक	कासघ्न	वामनीय
(मृदु या साधारण)	(मध्यम)	(तीक्ष्ण)	(आवस्थिक)	(आवस्थिक)
(वातकफ शामक)	(वातशामक)	(श्लेष्मापकर्षक)		
(नासा से विशेषतः मुख से भी ग्राह्य)	(मुख एवं नासा से ग्राह्य)	(नासा से ग्राह्य)	(मुख से ग्राह्य)	(मुख से ग्राह्य)
दो, तीन या चार उच्छ्वा- (खींचना) य क्रम से ना चाहिये	जब तक आँसू न गिरने लगे	जब तक दोप न दिखलाई पड़े	कवलों के बीच बीच में वैरेचनवत्	तिल तण्डुल की यवागू पिलाकर जब तक सम्यक् वान्त के लक्षण न मिलने लगे
प्रक्षालन नस्य ान भोजन कर्मान्त में प्रयोग	मूत्रोच्चारक्षवथु हसितरुदितमैथु- नान्त में उपयोग	स्नानच्छर्दन दिवास्वप्नान्त में उपयोग		

कवल तथा गण्डूष—(Gargles) दोनों उपक्रमों का उद्देश्य मुख में औषधियों के क्वाथ या कल्क का धारण करना या कुल्ली करना होता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार इन दोनों में भेद इतना ही है कि कवल में मुख में भरी चीज को आसानी से चलाया जा सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है, परन्तु गण्डूष में मुख में द्रव्य इतना रहता है कि उसको नहीं जा सकता। अर्थात् कवल की मात्रा संचारी होती है एवं की असञ्चारी।[1] इस परिभाषा के अनुसार कवल एक प्रकार का (Gargle) होगा। अष्टाङ्गसंग्रह ने स्पष्टतया इसको कण्ठ तक सं कराने का उल्लेख किया है।[2] जैसे कि 'गार्गल' में होता है।

रोग या दोषानुसार, जैसी आवश्यकता हो, इस (कवल या क्रिया में घी, दूध, मधु, मांसरस, गोमूत्र, तिलकल्क, क्षारोदक, काथ या गर्म जल का व्यवहार किया जा सकता है।

इसी प्रकार त्रिकटु, वच, सर्षप और हर्रे का कल्क बनाकर शुक्त, सुरा, मूत्र, क्षार या मधु इनमें से किसी एक में आलोडित भी कवलधारण किया जा सकता है। कवल या गण्डूष का धार तक करना चाहिये जब तक कि उत्क्लिष्ट दोषों से मुख भर और नाक तथा नेत्र से स्राव न होने लगे। इनका धारण अनन्य वायुरहित स्थान और धूप में उन्नत शरीर (खड़े शरीर) बैठ मुख को ऊँचा उठा कर करना चाहिये।

यदि दोषों की शुद्धि हो गई है तो व्याधि का घटना, तुष्टि, स्वच्छता, लघुता और इन्द्रियों में प्रसन्नता प्रभृति लक्षण इसके विपरीत कवल के हीन या अतियोग के चिह्न मिलेंगे।

कवलधारण चार प्रकार के माने गये हैं—स्नेही, प्रसादी, और रोपण।[4] स्नेही स्निग्ध एवं उष्ण होता है, वायु के विकारों में होता है, प्रसादी-स्वादु और शीत गुण भूयिष्ठ होता है, पि रोगों में व्यवहृत होता है। शोधन-कटु, अम्ल, लवण, और रूक्ष

१. सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवलः स्मृतः
असंचार्या तु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्त्तितः ॥ (सु. सू. ४०)

२ कवले तु पर्यायेण कपोलौ कण्ठं च संचारयेत्। अयमेव कवलग विशेषः। (अ. सं. सू

३. व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम्। इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धि

४. चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधिरोपिणौ। (सु. सू. ४०.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

युक्त होता है, फलतः कफज रोगों में इस्तेमाल में आता है। रोपण—मुखज व्रणों के रोपण में व्यवहृत होता है और इसकी ओषधियाँ कषाय, तिक्त, मधुर, कटु, उष्ण गुणों से युक्त होती हैं।[1]

कृष्णात्रेय का एक वचन मिलता है जिसमें नस्य, धूम, कवल, प्रतिमर्श आदि उपचारों की आयु-मर्यादा दी गई है। जैसे "आयु के सातवें वर्ष के बाद से रोगी के दोष, व्याधि एवं बलादि का विचार करते हुए नस्य कर्म करना चाहिए। बारहवें वर्ष की आयु से धूम का प्रयोग, पाँचवें वर्ष की आयु से कवल का प्रयोग तथा जन्म से ही वमन एवं प्रतिमर्श का प्रयोग करना चाहिये।"[2] अष्टाङ्गसंग्रह ने गण्डूष के भी उपरोक्त चार भेद बतलाये हैं।[3]

प्रतिसारण—(Paste or Paint)–अंगुली से उठाकर औषध का चूर्ण, कल्क, रसक्रिया अथवा मधु का किसी स्थान में फैलाना या लेप करना प्रतिसारण कहलाता है। शालाक्य तन्त्र में लिखा है कि "छोटी बेर की गुठली (कोलास्थि) के बराबर पिण्ड (वस्तु) से दोष और व्याधि के अनुसार पाँच या सात बार हीन, मध्यम और उत्तम व्याधियों में प्रतिसारण करे। वहाँ पर अतिघर्षण न करे अतिघर्षण करने से वहाँ पर स्थानिक ओष, चोष, दाह, क्लेद, शोथ तृष्णा, अरुचि शब्दोच्चारण बन्द हो जाता है। असम्यक् प्रतिसारण से पिच्छिलता, गुरुता, भोजन की अनिच्छा, मूर्च्छा प्रभृति विकार उपस्थित हो

१. स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते, स्वादुशीतैः प्रसादनः।
पित्ते कट्वम्ललवणै रूक्षोष्णैः शोधनः कफे॥
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णै रोपणो व्रणे।
चतुर्विधस्य चैवास्य विशेषोऽयं प्रकीर्त्तितः॥ सु. सू. ४०.

२. सप्तवर्षमुपादाय नस्यकर्म चतुर्विधम्। प्रतिमर्शोऽथ वमनं जन्मप्रभृति शस्यते॥
धूमो द्वादशवर्षस्य कवलः पंचमे ततः।
दोषव्याधिबलावस्थां वीक्ष्य चैतान् प्रयोजयेत्। (कृष्णात्रेय)

३. चतुर्विधो भवति गण्डूषः स्नैहिकः शमनः शोधनो रोपणश्च।(अ.सं.सू. ३१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

जाते हैं । सम्यक् प्रतिसारण से मुख में विशदता, लघुता, छींक; लालास्राव का अभाव तथा भोजन में रुचि जागृत होती है।"[1]

प्रतिसारण चार प्रकार का होता है—कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र, चूर्ण। मुखरोगों में इनका अंगुली के अग्रभाग से प्रयोग करना है।[2] इस परिभाषा में जितने भी मंजन, टूथ, पेस्ट, वगैरह हैं उन का प्रतिसारण की क्रिया में अन्तर्भाव करना चाहिये।

४

ओष्ठगत रोग

(Diseases of the lips)

प्राचीन संहिता-ग्रंथों में आठ प्रकार के ओष्ठाश्रित रोग माने गये हैं। इनकी संज्ञा ओष्ठप्रकोप दी गई है। उदाहरण के लिये दोषभेद से वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, रक्तज, मांसज, मेदोज तथा अभिघातज या क्षतज।

वातज—वातज ओष्ठकोप में दोनों ओष्ठ कर्कश, रूक्ष तथा स्तब्ध होते हैं, ओष्ठ फटते हैं, उनमें दरारें पड़ती हैं और पीड़ा होती है। के रंग में श्यामता आ जाती है। इस प्रकार की अवस्था प्रायः ऋतुओं में देखने को मिलती है। कोष्ठबद्धता भी कारणरूप में पाई

---

१. कोलास्थिमात्रेण पिण्डेन यथादोषं यथाव्याधि पञ्च सप्त वा वारान् मध्योत्तमेषु व्याधिषु च प्रतिसारणं कुर्वीत। न चैनमतिघर्षयेत्। अतिघर्षणे चोषदाहक्लेदश्वयथुतृष्णा भक्तच्छन्दवाक्संगा भवन्ति। असम्यक् प्रतिसारणे पैच्छिल्यगुरुत्वानन्नाभिलाषप्रमोहविकारानुपशयाः, सम्यक् प्रतिसारणाद्वैशद्यं क्षवथुरप्रसेकोऽन्नाभिलाषश्च। इति शालाक्ये (डल्हण की टीका से उद्धृत।)

२. कल्को रसक्रिया क्षौद्रं चूर्णं चेति चतुर्विधम्।
अंगुल्यग्रप्रणीतं तु यथास्वं मुखरोगिणाम्॥ (सु सू. ४०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitized by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंग्रेजी में इस अवस्था को 'क्रेक्डलिप्स' या 'चैपडलिप्स' कहते है।[1] वाग्भट ने इस अवस्था को 'खण्डौष्ठ' की संज्ञा दी है।

चिकित्सा—१. चतुर्विध (घृत, तैल, वसा, मज्जा) स्नेह में मोम मिला कर अभ्यंग करना २. शाल्वणस्वेद अथवा नाडीस्वेद करना ३. सिर में लगाने के लिये अथवा नस्य लेने के लिये वातघ्न तैलों का प्रयोग ४. श्रीवेष्टक, राल, देवदारु, गुग्गुलु और मुलैठी के चूर्ण का प्रतिसारण करना। ५. तैल, घी, राल, रास्ना, गुड, सेंधानमक और गेरु इनको पका कर मोम उसी में गला दे और इस मलहम को होंठों पर लगा दे। ६. राल, मोम, गुड से पक्व तैल या घृत का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये।[2]

आधुनिक सर्जरी के ग्रंथों में एक पाठ खण्डौष्ठ (Hare lip) का चलता है, यह एक सहज विकार है। वंश-परंपरा का भी इसके ऊपर प्रभाव पड़ता है, रोग के कई एक प्रकार देखने को मिलते हैं। इसमें चिकित्सा पूर्णतया शस्त्रकर्म की है—इस रोग का वातज ओष्ठप्रकोप से कोई सम्बन्ध नहीं। इसका बहुत कुछ वर्णन सूत्ररूप में सुश्रुताचार्य के अनुसार सन्धानकर्म के अध्याय में सूत्रस्थान में पाया जाता है।[3] इसकी चिकित्सा में सन्धान कर्म (Repair) की आवश्यकता पड़ती है (May need plastic operation) है। वाग्भट ने इसी दृष्टि से

1. "Cracked lips are painful fissures following exposure to cold."

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः।

२. चतुर्विधेन स्नेहेन मधूच्छिष्टयुतेन च।
वातजेऽभ्यंजनं कुर्यान्नाडीस्वेदं च बुद्धिमान्।
विदध्यादोष्ठकोपे तु शाल्वणं चोपनाहने।
मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम्।
श्रीवेष्टकं सर्जरसं सुरदारु सगुग्गुलु यष्टीमधुकचूर्णं तु विदध्यात्प्रतिसारणम्।

३. सौश्रुतीके सन्धानकर्मीयाध्याय देखें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

खण्डौष्ठ की चिकित्सा में क्षौम सूत्र से सीवन करके व्रणवत् उप... विधान किया है।[1] आधुनिक शस्त्रकर्म में ओष्ठ के फटेपन को... या मरम्मत करना शल्यकर्म का अंतिम उद्देश्य रहता है।

पित्तज—पित्तप्रकोप से जो ओष्ठ रोग होता है उसमें किसी... का स्पर्श सहन नहीं होता ओठों का रंग पीला हो जाता है। ओ... सरसों के समान छोटे छोटे दाने निकल आते हैं। ओठों में ... या चिपचिपापन मालूम पड़ता है, ओठ पक जाते हैं और उनमें... होता है।[2]

कफज—कफजन्य ओष्ठकोप में ओठों पर ठण्डी चीजें स... होतीं, ओठ भारी पड़ जाते हैं और उनमें सूजन हो आती है, ... और मन्दवेदना मालूम पड़ती है, एवं इस प्रकार में पिडिकायें ... होती हैं।[3]

रक्तज—ओष्ठ, रक्त वर्ण के हो जाते हैं और उनसे रक्तस्राव... रहता है। पिडिकाओं का वर्ण खजूर के फल सदृश मालूम पड़ता...

अभिघातज—ओठों पर चोट लगने से ओठों में दर्द होता, ... आ जाती, ओठ फट जाते, लाल हो जाते और खुजली होती है।[4]

सन्निपातज—ओष्ठ प्रकोप में ओठों का रंग अनेक प्रकार का हो... अर्थात कभी काला, कभी पीला और कभी श्वेत वर्ण का होता है। ... प्रकार की फुन्सियों से ओठ भरा रहता है। ओठों से दुर्गन्ध निक...

---

१. खण्डौष्ठस्य विलिख्यान्तौ स्यूत्वा व्रणवदाचरेत् ।

२. आचितौ पिडिकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम् ।
सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ।

३. सवर्णाभिस्तु चीयेते पिण्डकाभिरवेदनौ ।
कण्डुमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ।

४. सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडिकाचितौ ।

५. खर्जूरफलवर्णाभिः पिडिकाभिः समाचितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और पिच्छिल स्राव स्रवित होता रहता है। कभी मलिनता, कभी सूजन और कभी दर्द होता है। कुछ भाग में पाक होता कुछ में नहीं होता, कोई भाग पहले पकता और कोई बाद में पकता है।[1]

विवेचन—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक ओष्ठप्रकोप से 'अल्सरेशन आफ दी लिप्स' का बोध होता है—क्योंकि सभी अवस्थाओं में ओष्ठ में पिडिकाओं का होना, उनसे स्राव, शोथ और वेदना आदि लक्षणों का उत्पन्न होना बतलाया गया है—ये चारों विकार एक ही रोग की तीन अवस्थायें हैं। पाश्चात्य शल्य ग्रंथों में भी ठीक इसी प्रकार 'अल्सरेशन आफ दी लिप्स' के कई प्रकार बतलाये जाते हैं १. हर्पिटिक (परिसर्प सदृश) २. साधारण (Cracked lip) ३. फिरंगज उपदंशातक ४. क्षयज।

चिकित्सा—पित्तज, रक्तज और अभिघातज में चिकित्सा समान है। जलौका द्वारा रक्तमोक्षण कराके पित्तविद्रधि के सदृश पूरा उपचार करना चाहिये।[2] यदि श्लैश्मिक ओष्ठप्रकोप हो तो रक्तनिर्हरण करने के बाद शिरोविरेचन, धूम, स्वेदन और कवल धारण करना चाहिये। त्रिकटु, यवक्षार, स्वर्जिका और विड्लवण का प्रतिसारण कराना चाहिये।[3]

मांसज ओष्ठकोप—इसमें ओष्ठ भारी, मोटे, मांसपिण्डवत् उभरे हुए होते हैं—इसका अवस्थान अधिकतर सृक्क (ओष्ठ प्रान्त कोने) से निकलता है। इस विकार में कृमियाँ भी पड़ जाती हैं। पाश्चात्य शल्य ग्रंथों में इसी से मिलता हुआ वर्णन "पैपीलोमा" अथवा "एपिथिलियोमा"

---

१. क्षतजावौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः।
ग्रन्थितौ च समाख्यातौ ओष्ठौ कण्डुसमन्वितौ।

२. पित्तरक्ताभिघातोत्थं जलौकोभिरुपाचरेत्।
पित्तविद्रधिवच्चापि क्रियां कुर्यादशेषतः। (सु.)
वेधं सिराणां वमनं विरेकं तिक्तस्य पानं रसभोजनञ्च।
शीताः प्रदेहाः परिषेचनञ्च पित्तोपसृष्टेष्वधरेषु कुर्यात्।

३. शिरोविरेचनं धूमः स्वेदः कवल एव च।
हृते रक्ते प्रयोक्तव्य ओष्ठकोपे कफात्मके।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

आफ दी लिप्स" का है। यह विकार प्रायः मिट्टी के पाइपों से धू
करने वाले व्यक्तियों में देखने को मिलता है। ओष्ठ बारबार
रगड़ खाते हैं, शनैः शनैः वहाँ पर अंकुरों की उत्पत्ति होती और
बढ़ते वे अर्बुद का रूप ले लेते हैं। कई बार कृमिदन्त और
खराबी होने पर भी यह रोग पैदा हो जाता है। कई बार विदीर्ण
के चारों ओर अंकुरों की उत्पत्ति होने के कारण भी इसकी उत्पत्ति
जाती है। इसमें पूय या पूयाभ-स्राव होता है, बाद में रक्तस्राव
लगता है, वेदना अत्यधिक होती है। चिकित्सा में यह असाध्य
पाश्चात्य वैज्ञानिक इसमें छेदन और 'रेडियम्' के द्वारा प्रतीकार
मार्ग बतलाते हैं।[1]

मेदोज ओष्ठ कोप—इसमें ओष्ठ घृतमण्ड के समान वर्ण के
और कण्डुयुक्त हो जाते हैं तथा स्फटिक के समान निर्मल स्राव
करने वाले हो जाते हैं।[2] इस अवस्था को ओष्ठों की वृद्धि (Hy-
trophy of the lips) समझना चाहिये। पाश्चात्य शल्यविज्ञान में
विकार को 'मैक्रोकीलिया' (Macrocheilia) कहा जाता है।
तीन प्रकार माने गये हैं।

(१) *सहज*—प्रायः नीचे वाला ओष्ठभाग विकृत होता है।
अधिकतर क्षयरोग से पीडित कुटुम्बों में पाया जाता है।

(२) *जन्मोत्तर*—ओष्ठों के पूर्णतया विदीर्ण रहने के कारण अ
प्रकार के विषों का शोषण होता रहता है जिससे लसीका का
होने लगता है और ओष्ठ मोटा होने लगता है। इस प्रकार में
अधिकतर ऊपरी ओष्ठ में आता है अर्थात् ऊपर वाले ओठ में सं
तन्तु बढ़कर ओठ को मोटा कर देते हैं।

१. मासदुष्टौ गुरू स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्योभयतो मुखात्।

२. मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदू।
अच्छस्फटिकसंकाशं स्रावं च स्रवतो गुरू।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) *फिरंगज*—फिरंग की तृतीयावस्था में अधिकतर नीचे वाले ओष्ठ में होता है।

चिकित्सा—१. स्वेदन, २. भेदन, ३. अग्निकर्म, ४. शोधन, ५. प्रतिसारण-प्रियंगु, त्रिफला, लोध्र और मधु से प्रतिसारण करना।[1]

—०:०:—

५

दन्तमूलगत रोग

(Affection of the Gums and Alveolar Processes)

शीताद—(Bleeding or Spongy gums) यह कफ और रक्त-जन्य व्याधि है। इसमें अकस्मात् दन्तमूल से रक्तस्राव होने लगता है। तथा दन्तवेष्ट दुर्गंधयुक्त, कृष्णवर्ण, क्लेदान्वित और मृदु हो जाते हैं। और गलने लगते हैं।[2] लक्षणों के आधार पर इस रोग को अंग्रेजी में 'ब्लीडिङ्ग अथवा स्पांजीगम्स' कहा जाता है। यह विकार कई कारणों से हो सकता है जैसे मुख की सफाई ठीक न रखना, कच्चे पारद का सेवन, मूत्र विषमयता (Ureamia) तथा स्कर्वी रोग के कारण होता है ऐसा आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है।

चिकित्सा—१. रक्तावसेचन (जलौका, अलावु या शृङ्ग से) २. शुंठी, सर्षप, त्रिफला, नागरमोथा, रसोंत इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर गण्डूष धारण करना ३. प्रियङ्गु, मुस्तक और त्रिफला का प्रलेप ४. मुलैठी, उत्पल

१. मेदोजे स्वेदिते भिन्ने शोधिते ज्वलनो हितः।
प्रियंगुत्रिफलालोध्रं सक्षौद्रप्रतिसारणम्॥

२. शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यत्राकस्मात्प्रवर्त्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च।
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(नील कमल), पद्माख और त्रिफला सिद्ध तैल का नस्य ५. शुंठी, पर्पट (पित्पापड़ा) के काढ़े का गुनगुना गण्डूष ६. शीतादगत पूतिमांस की अवस्था में कासीस, लोध्र, पिप्पली, शिला, प्रियंगु और तोजोह्वा को मधु में मिला कर मुख में धारण अन्य भी वातघ्न तैल या घृत का गण्डूष धारण किया जा सकता है।

दन्तपुप्पुट (Gum boil)—दो या तीन दाँतों के मसूड़ों में शोफ हो और पाक होने लगे तो उस व्याधि को दन्तपुप्पुट कहा है। यह व्याधि कफ और रक्त दोषों की विगुणता से होती आधुनिक चिकित्सा-शास्त्रज्ञ इसका कारण कृमिदन्त बतलाते हैं कारण हनु तथा मसूड़ों में संक्रमण पहुँचता है और मसूड़ों में शो जाता है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'गमबायल' कहा जाता है।

चिकित्सा—दन्तपुप्पुट की अवस्था में १. रक्तमोक्षण २. पंच क्षार और मधु से प्रतिसारण करना चाहिए। पक्वावस्था में ३. और प्रतिसारण करना चाहिये। साथ ही आवश्यकतानुसार ४. विरेचन ५. नस्य तथा ६. स्निग्ध भोजन देना चाहिये। वर्त्तमान यु चिकित्सा की दृष्टि से कारणभूत कृमिदन्त का आहरण, भेदन स्वेदन आवश्यक माना गया है।[3]

दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris)—यह दुष्ट रक्त के का उत्पन्न होने वाला रोग है इसमें दन्तमूल से पूय और रक्त का होता है, दाँत ढीले पड़ जाते और हिलने लगते हैं इस विकार

१. दन्तमूलसमुत्थेषु दन्तोत्थेषु गदेषु च।
रक्तमोक्षं प्रशंसन्ति जलौकालाबुश्रृंगकैः।
शीतादे हृतरक्ते तु तोये नागरसर्षपान्।
निःक्वाथ्य त्रिफलामुस्तं गण्डूषः सरसाञ्जनः।

२. दन्तयोस्त्रिषु वा यत्र श्वयथुर्जायते महान्।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः।

३. दन्तपुप्पुटके कार्यं तरुणे रक्तमोक्षणम्।
सपंचलवणक्षारैः स क्षौद्रैः प्रतिसारणम्। (सु०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पायरिया एल्वीयोलैरिस' कहा जा सकता है।[1] आधुनिक वर्णनों में कुछ लक्षण और मिलते हैं जैसे साँस से दुर्गंध आना, जिह्वा का श्वेत रहना दाँतों के मूल में शर्करा का एकत्र होना।

"An inflammatory condition of the gums, which are swollen and œdematous especially at the margins, resulting in pockets which extend along the root of the teeth. Bleeding readily occurs, and the pus can be squeezed out by pressure along the alveolar margin. In time atrophy of the gums and alveolar process occurs the teeth become loosened and fall out. The condition is often preceded by excessive deposit of tartar, which favours bacterial growth."

अर्थात् दन्तवेष्ट रोग में दन्तमूल (मसूड़ों) का व्रणशोथ होता है। मसूड़े विशेषतः उनके किनारे सूज जाते हैं, आगे चलकर पूयकोष (Puspockets) फैलते हुए दाँतों की जड़ों तक चले जाते हैं। मसूड़ों से रक्तस्राव प्रायः होता है, दन्तकोटरों के किनारों को दबाया जावे तो उनसे पूय का स्राव होने लगता है। कुछ समय के पश्चात मसूड़े एवं दन्तकोटर प्रवर्द्धनों का शोष प्रारम्भ होकर वे छोटे हो जाते हैं। दाँतों में चलता आ जाती है, वे हिलने लगने हैं और गिर जाते हैं। इस अवस्था के पूर्व में दाँतों पर दन्तशर्करा (Tartars) का अतिमात्रा में संचय होता है जिसमें अणु जीवों (तृणाणुओं) की वृद्धि के लिये अच्छा अवसर मिल जाता है। यहाँ पर ये वृद्धि करके दन्तमूल, दन्तकोटर आदि को उपसृष्ट करके रोग का रूप दे देते हैं।

चिकित्सा—१. रक्त-पित्त-शामकोपचार २. शिरोविरेचन ३. नस्य ४. स्निग्ध भोजन ५. रक्तविस्रावण ६. लोध्र, पतंग, मुलेठी और लाक्षा चूर्ण को मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना ७. तथा अन्य ग्राही तथा

१. स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

शोफघ्न (Astringents and antiseptic) ओषधियों का प्रयोग हितकर होता है जैसे क्षीरी वृक्षों के कषाय का मधु मिला गण्डूष करना ८. काकोल्यादिगण की ओषधियों से सिद्ध क्षीर का लेना भी हितकर है।[1]

९. बकुल की छाल का चर्वण, हिलते हुए दाँतों को मजबूत है।[2] कुछ योग लेखक के प्रयोग में बड़े लाभप्रद मिले हैं—जैसे के शोधन के लिये अथवा कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि प्रभृति कारणों के करण के लिये आरोग्यवर्धिनी नामक रसयोग (कुष्ठाधिकार, सागर) का प्रतिदिन एक माशा की मात्रा में गाय के दूध या से सेवन करना और श्वेत मंजन का दिन में दो बार हल्के हाथ मंजन करना पश्चात् खदिरादि अथवा इरिमेदादि तैल का या सरसों तेल का मसूढ़ों पर लेप करके गुनेगुने जल से कुल्ली करना। दाँतूनों का मृदु कूर्चक बनाकर हल्के हाथों से दातून करना भी हि है, ऐसे वृक्षों में बब्बूल, जामुन और बकुल श्रेष्ठ हैं। इनके लम्बे तक प्रयोग करने की आवश्यकता होती है।

१०. श्वेत मंजन—शु० खटिका १ सेर, सैन्धव ½ सेर, कर्पूर १ शुद्धस्फटिका १ पाव, मरिच २॥ तोले का कपड़छन चूर्ण बनाकर करना हितकर होता है।

११. भद्रमुस्तादिवटी—भद्रमुस्ता, हरीतकी, त्रिकटु, विडङ्ग, निम्ब इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर गोमूत्र में पीसकर गोली कर छाया में सुखाकर रखले। उसको मुख में रखकर रोगी (जिस दाँत हिल रहे हों) का सो जाना चाहिये। इसके कुछ दिनों के नि

१. विस्राविते दन्तवेष्टे व्रणे तु प्रतिसारयेत्।
लोध्रपत्तंगमधुकलाक्षाचूर्णैं र्मधुप्लुतैः।
दन्तवेष्टे विधिः कार्यो रक्तपित्तनिवर्हणः।
शिरोविरेकश्च हितो नस्यं स्निग्धं च भोजनम्।

२. गण्डूषे क्षीरिणो योज्याः सक्षौद्रघृतशर्कराः।
चलदन्तस्थैर्यकरं कार्यं बकुलचर्वणम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयोग से हिलते दाँत मजबूत हो जाते हैं। इससे बढ़कर चल दन्त की कोई ओषधि नहीं है। (यो० र०)

१२. सहचरादितैल—नीले पुष्प के सहचर (सैरेयक) की एक तुला लेकर एक द्रोण जल में पकावे। चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ में तैल डाल कर विधिवत् पाक करे। कल्क द्रव्यों में अनन्ता, खदिर, इरिमेद, अर्जुन, आम, मुलैठी तथा उत्पल का एक पल की मात्रा में लेकर पाक करे। इस प्रकार सिद्ध तैल का कवल या गण्डूष धारण करना शीघ्रता के साथ दाँतों को स्थिर कर देता है, उनका हिलना बन्द हो जाता है। (भावप्रकाश)

१३. दशमूली तैल या घृत—दशमूल के क्वाथ से सिद्ध हुए तैल या घृत का स्वतन्त्र या मधु के साथ मिला कर मुख में धारण करना चल दन्त या दन्तचालन (हिलते दाँतों) की अवस्था में लाभकारी होता है।

वास्तव में दाँतों में हिलने का विकार अभिघातजन्य अथवा दन्तवेष्ट (Pyorrhoea) नामक व्याधि के उपद्रवरूप में ही होता है। जब दन्तमूलगत मसूड़ों का अपचय (Atrophy) होने लगता है उस समय में दाँत हिलने लगते हैं। अस्तु, चिकित्सा में बृंहण उपक्रमों को या ग्राही या शीतवीर्य उपक्रमों को वहाँ पर बरत कर धातुओं का पोषण करना चाहिये। साथ ही मसूड़ों को सुधार कर दाँतों को स्थिर करने का विधान करना चाहिये। इसी लिये इतने प्रकार के तैलों का विधान ग्रन्थ में मिलता है।

१४. जीरकाद्यचूर्ण—जीरा, सेंधानमक, हरीतकी, शाल्मली कंटक का चूर्ण बनाकर प्रत्यह दन्तमूलों में चूर्ण का अंगुली के द्वारा घर्षण करना—दन्तमूलगत व्रण, दरण, पीडा, रक्तस्राव, शोफ और दन्तचलन में हितकर है। (यो० र०)

१५. कणाद्यचूर्ण—पिप्पली, सैन्धव और जीरे के चूर्ण का प्रयोग भी इसी प्रकार हितकर है। (यो० र०)

१६. वज्रदन्त मंजन—त्रिफला, त्रिकटु, तूतिया, कालानमक, पत्तंग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

माजूफल के संग में दाँतों का मंजन करने से दाँत वज्र के मजबूत हो जाते हैं।[1]

आधुनिक चिकित्साविज्ञान में भी चिकित्सासूत्र ऊपर भाँति है। जैसे १. दन्तशर्करा का आहरण २. ग्राही तथा जीव रोधी लेपों का स्थानिक प्रयोग ३. दन्तों का आहरण जिससे विषों का शोषण होकर सार्वदैहिक उपद्रवों के होने का भय नहीं

दन्तवेष्ट या पायोरिया एल्वीयोरिस

दाँतों के लिये कालस्वरूप यह एक भयङ्कर व्याधि है। से चमकदार एवं दाडिम की भाँति मनोहर तथा सुन्दर दाँत मुख की शोभा का प्रधान कारण हैं, उसे यह पायोरिया-पिशाच के लिए विकृत और नष्ट कर देता है। इस रोग से व्यथित में दाँतों को गिराना ही पड़ता है, अतः इसे कोई कोई 'दन्त- रोग के नाम से पुकारना पसन्द करते हैं। भारतवर्ष में इस प्रचार आधुनिक काल में ही विशेष हुआ है, अतः यह वर्तमान एक प्रचलित व्याधि है।

आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार मुखरोग में दन्तमूलगत्—शीता पुप्पुटक, दन्तवेष्ट आदि जो १५ रोग गिनाये गये हैं, उन में से वेष्ट' के लक्षण इस व्याधि में पाये जाते हैं। अतः इसे आयुर्वे 'दन्तवेष्ट' व्याधि नाम से पुकारना ही युक्तियुक्त ज्ञात होता है।

इसे अंग्रेजी तथा प्रचलित भाषा में पायोरिया (Pyorr कहते हैं। वास्तव में यह ग्रीक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—छोटे से छिद्र में से (दन्त-वेष्ट के पोले स्थान से) पूय होना। आजकल भारतवर्ष में ही नहीं समस्त संसार में यह से प्रख्यात हो गया है।

---

१. त्रिकटु त्रिफला तूतिया तीनों नोन पत्तंग।
दन्त वज्र सम होते हैं माजूफल से संग।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निदान, सम्प्राप्ति—प्रसिद्ध डॉक्टर बोड्रिक ने अपने स्वानुभव से इस गा के कारण के विषय में लिखा है कि—

१—रक्त में अम्लता बढ़ जाने से दाँतों से पीव आने लग जाती , तथा—

२—रक्तान्तर्गत अम्लता लार में आकर वह खपरी, शर्करा (कपा- का) के रूप से दाँतों पर जमती जाती है। रक्त में यह अम्लता कृत की विकृति से होती है, तथा यकृत-विकृति प्रायः मंदाग्नि से ती है।

जिन दाँतों के मूल भाग में पायोरिया के कारण पूय-भवन की या होती है, उन दाँतों पर स्वभावतः अन्य दाँतों की अपेक्षा यह परी का आवरण अधिक होता जाता है। पूय में जो उष्णता होती है लार और कफ को घनी-भूत करती है, जो आगे चलकर उक्त परी का रूप धारण करता है।

पाश्चात्य दंत-चिकित्सक इस कपालिका या खपरी को ही पायोरिया मूल कारण मान कर बार-बार इस खपरी को ही यंत्रद्वारा निकाला रते हैं। किंतु ऐसा करने से बहुधा रोग कम होने की अपेक्षा और भी धिक वृद्धिंगत होते हुये नजर आता है। अतः इससे इस रोग का ल कारण उक्त खपरी का जमाव है—ऐसा नहीं कहा सकता। यक्ष देखने में आया है कि किसान, मजदूर, आदि निम्न श्रेणी लोगों के दाँतों पर, अवस्था के कारण इस खपरी का प्रमाण त्यधिक होते हुये भी उन्हें 'पायोरिया' रोग नहीं होता, किंतु श्रीमन्त, लासी, अनियमित आहार-विहार करने वाले लोगों के दाँत (ब्रश दि से साफ रहते हुये भी) इस रोग के शिकार बहुतायत से देखने आते हैं।

मांसादि प्रकृति विरुद्ध, एवं दूषित कृत्रिम आहार का करना, निय- त रूप से मुख शुद्धि न करना, पान, सुपारी, तम्बाकू का अत्यधिक वहार करना, गन्दे रद्दी ब्रशों, दंत लेपों और मंजनों का व्यवहार रना, अत्यधिक गरम-गरम चाय आदि पेय पदार्थों का सेवन, दाँतों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

को आलपीन आदि से कुरेदते रहना प्रभृति कारणों से मसूड़े दूषित हो जाता है और वे पक जाते हैं, या दाँतों की जड़ों को रखने वाला स्निग्ध पदार्थ धीरे-धीरे पिघल कर दाँतों की पृथक् होने लगता है, अथवा मांसादि दूषित आहार के तंतु बीच में पड़े-पड़े सड़ते हैं और यह सड़ान मसूड़ों के रक्त कर उसे दूषित कर देती है, फलतः दाँतों की जड़ें हिल जाती इस रोग का प्रादुर्भाव हो जाता है। भोजन को खूब चबाकर से मसूड़ों में रक्त का संचालन भली प्रकार से नहीं होता, मसूड़ों की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है, और फिर सहज में रोग से ग्रसित होना पड़ता है। मुख से ही श्वासोच्छ्वास की आदत पड़ जाती है, उनके मुख के सामने के मसूड़े सहज में हो जाते हैं फलतः इस रोग की उत्पत्ति होती है।

उक्त कारणों से दाँतों और मसूड़ों में विकार होकर एक दंतशर्करा दाँतों पर संचित होती है। कभी-कभी यह बहुत जम जाती है, अर्थात् एक प्रकार से कपालिका[1] की ही अव होती है। इस आवरण में इतनी कठिनता होती है कि निर्लेखनशस्त्र या दन्तशंकु द्वारा खरोंच कर निकालते समय ऐसा होता है, मानों दाँत का ही हिस्सा निकलता हो। इन खपरि दाँतों पर से बार-बार निकलवाते रहने से भी रोग शमन नहीं प्रत्युत और भी बढ़ता ही जाता है। जैसे-जैसे दाँतों के ऊपर उक्त या खपरी का आवरण चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दाँतों की जो हड्डियों की पकड़ है वह ढीली होती है। इस के ढीली दाँत हिलने लग जाते हैं, और दाँतों के हिलने से उनके तलभा छोटी-छोटी रक्तवाहिनियाँ हैं उन पर घर्षण होने से वे टूटती फलतः वहाँ व्रण हो जाते हैं। आगे इन व्रणों को दुष्ट व्रण की प्राप्त होती है। मंजनादि केवल बाह्योपचारों का असर दाँतों

१. कपालेष्विव दीर्यत्सु दंतानां सैव शर्करा।
कपालिकेति पठिता सदा दन्त विनाशिनी ॥ (मा. निदान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तल तक नहीं पहुँचता। व्रणों की स्थिति बहुत दिनों तक जैसी तैसी बनी रहती है, प्रत्युत और भी भयंकर होती जाती है। उक्त व्रणों में से रक्तस्राव होकर पूय-उत्पादन-क्रिया होती रहती है, जो थोड़े दबाने मात्र से ही बाहर निकलता रहता है।

प्राचीन सिद्धान्तानुसार इस रोग के मूल कारण में रक्त की खराबी मानी गई है—

'स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च। दन्तवेष्टः स विज्ञेयो शोणित संभवः ॥' अर्थात् रक्त की दुष्टि के कारण दन्तमूल से रक्त पीब बहने लग जाती है। ध्यान रहे, जैसे-जैसे यह अधिक पूय का मन होता जाता है तैसे-तैसे दन्तमूल या दन्तवेष्ट का पोला भाग ता जाता है और जैसे-जैसे यह पोला भाग बढ़ता जाता है, तैसे- दाँत कमजोर होकर हिलने लगते हैं।

ऊपर दाँतों पर खपरी चढ़ने के विषय में जो कहा गया है, वह र्वेद' में वर्णित 'दन्तशर्करा' या 'दन्तकपालिका' नामक दन्तविकार शर्करा या खपरी को बार २ खुरचने से भी पायोरिया रोग हो जाता जिसका कुछ दिग्दर्शन ऊपर करा दिया गया है।

पूर्वरूप—इस रोग के पूर्वरूप में मसूड़ों में सूजन, दाँतों से रक्त पीब का निकलना, धीरे-धीरे दाँतों में कृमिसंचार, मुख में लिबलि- न अधिक रहना, मुख से दुर्गन्ध आना इत्यादि लक्षण होते हैं।

रूप या लक्षण—यह रोग धीरे-धीरे कुछ भी मालूम न देते हुए ता ही जाता है। जब दाँतों के मूल से रक्त और पीब बाहर आने ती है, तब कहीं रोगी की आँखें खुलती हैं। किंतु अब तो रोग पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हुआ रहता है। दाँतों पर धीरे-धीरे कीटाणुओं का भाव होने लग जाता है और दाँत किंचित् प्रमाण में हिलने लग जाते

१. 'मलो दन्तगतोयस्तु पित्तामारुतशोषितः।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दंतशर्करा ॥' (मा० नि०)
'अधावनान्मलो दन्ते कफवातेन शोषितः।
पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा साऽप्युपेक्षिता ॥' (वाग्भट)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

हैं। वेदना कुछ भी नहीं होती। इसीसे यह विकार शीघ्र ध्यान आता। मसूड़े खराब हो जाते हैं, रक्त और मवाद से भर जाते धीरे-धीरे साधारण स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है।

लक्षणों के भेद से साधारणतः इस रोग की तीन अवस्थायें सकती हैं—

१. प्रारम्भिक (Early stage) दाँतों में दारारें, मसूड़ों शोथ, थोड़ा सा दबाव पड़ने पर रक्त का निकलना आदि लक्षण

२. द्वितीयावस्था (Late) में मसूड़े अधिक सूजते हैं, जुड़कर आस-पास की दन्त कोटरों शोष का होना प्रारम्भ हो है, दाँतों की स्थिति में भी परिवर्तन हो जाता है, वे कुछ ओर निकल आते हैं। मसूड़ों के खराब होने और स्थान छोड़ने ढीले पड़ जाते हैं। परिणामस्वरूप इनमें अवकाश (Pocket जाते और उनमें पीब तथा भोजन आदि के कण जमा हो जा फलतः जरा सा दबाव पड़ते ही लगातार पीब का निकलना जा जाता है। प्रातःकाल आँख के खुलने पर उस रोगी के तकिये पर और रक्त फैला हुआ पाया जाता है। जिसे देखकर रोगी स्वयं हो उठता है। दाँतों की ग्रीवा पर काला मल (Tartar) शर्करा में जम जाता है।

३. अन्तिम अवस्था में रोगी का श्वास बदबूदार होता है प्रातःकाल मुख का स्वाद खराब हो जाता है, थूक अधिक प्रमा निकलने लगता है।

थूक और पीब के साथ पायोरिया के कीटाणु आमाशय पक्वाशय में प्रविष्ट हो जाते हैं। दिन के समय तो ये उदर के पा रस में जो 'हायड्रोक्लोरिक एसिड' या क्षार होता है, उसके प्रभा बहुत कुछ नष्ट हो जाया करते हैं। किंतु रात्रि में जब केवल साथ अन्दर पहुँचते हैं तो कई प्रकार के विकारों को उत्पन्न क हैं। कभी-कभी यह विष मसूड़ों से ही सीधा रक्त में पहुँच का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

त कर देता है, जिससे शरीर में अनेक प्रकार के रोगों की सृष्टि ी है, तथा रोगी की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है।

पायोरिया विकार के कारण वातरक्त, आमवात, अतिसार, ग्रहणी, ाशयशोथ, आमाशय तथा पक्वाशय में व्रणों का होना, संधि-शोथ, , कण्डू, पामा, अजीर्ण, शूल, उपांत्रशोथ, हृदयरोग, नेत्ररोग, मुख भीतरी भाग और गले में एक प्रकार के दाह का होना, रुधिर की ष कमी, मस्तिष्क के रोग, बल के क्षीण होते ही भिन्न-भिन्न वात धियों का होना, हाथ-पैरों में वेदना, पादहर्ष (झन-झनाहट) त्वचा लाल हो जाना, भ्रम, मलबन्ध, स्वभाव में चिड़-चिड़ापन, शरीर विकृति आदि उपद्रव शुरू हो जाते हैं। ऐसी विषमावस्था में ठीक-क यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन सी व्याधि स्वतन्त्र और कौन सी गौण या उपद्रव स्वरूप है।

आजकल जो बहुत लोग अतिसार या संग्रहणी रोग से अत्यन्त कष्ट हैं, इसका एक महत्त्व का कारण पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पायोरिया का होना सिद्ध किया है। रोगी के दन्तवेष्ट या दाँतों की जड़ों में निरन्तर अनेक कीटाणु, लार और भोजन के साथ पक्वाशय में र भोजन को दूषित कर देते हैं। जिससे पक्वाशय के भीतरी स्तर दाहयुक्त शोथ होता है और अजीर्ण, आध्मान, खट्टी डकारों का ा, उदरशूल आदि विकारों से मनुष्य कष्ट पाता है। जो लोग इस की उत्तम प्रकार से ठीक-ठीक चिकित्सा नहीं करते, उनको यह रोग यी होकर पक्वाशय के क्षत या व्रण रोग में परिणत हो जाता है। से मनुष्य के पेट में घोर पीड़ा होती है और उसको प्रायः आहार बाद वमन हो जाया करता है, अन्त में यहाँ तक होता है कि रुधिर वमन होकर रोगी कालकवलित होता है।

जो मनुष्य इस रोग से स्थायी रूप में जकड़े होते हैं, उनके प्रायः ावस्था में 'कैन्सर' रोग हो जाता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विशेष ज के बाद निश्चय किया है कि नेत्रों के अनेक रोगों में दाँतों के षित पदार्थ ही एक प्रधान कारण हैं। जिसके नेत्रों में फूला रोग होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

है, उसके दांतों में प्रायः पायोरिया रोग पाया जाता है। चिकित्सक लोग जब आँख के फूले का आपरेशन करते हैं, रोगी के दाँतों को साफ कर और यदि पायोरिया हो तो उसे यथा दूर करने के पश्चात् ही शस्त्र-चिकित्सा करते हैं। उनका विश्वास आपरेशन के बाद यदि दाँतों में कीटाणु रहें तो वे उपसर्ग पहुँ नेत्रों को हानि पहुँचाते हैं, आँखों को अन्धी कर देते हैं। दन्त निर्मूल न करते हुये यदि आपरेशन किया जाय तो उपसर्ग का भ बना रहता है और चिकित्सक को दोष का भागी बनना पड़ता है

जीर्ण संधिशोथ, अतिशय रक्ताल्पता आदि का भी और कोई निर्धारित न हो सके तो पायोरिया को ही उनका मूल कारण जाता है, कारण जरा ध्यानपूर्वक देखने से उक्त रोगियों के पीब और रक्त दिखलाई देते हैं। रक्त में दूषित पदार्थों के शरीर में कई प्रकार की विकृति होती है, शक्ति क्षीण होती जा इस प्रकार के रोगी को सन्ध्या के समय थकावट सी मालूम उसके शरीर का चमड़ा ढीला हो जाता है, तथा पेट में सदैव कोई विकार बना रहता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शरीर की जीवनी-शक्ति कम हो जाती है। ऐसी दशा में अन्य की चिकित्सा महान् कष्टसाध्य होती है। यदि कोई मनुष्य यक्ष्मा से आक्रान्त हो और साथ ही उसे पायोरिया भी हो, तो इस उसकी जीवनी-शक्ति इतनी कम हो जाती है कि यक्ष्मा रोग करने का उसके पास कोई उपाय ही नहीं रहता और वह बेचारा अकाल में ही काल का ग्रास बन जाता है। जिस स्त्री के प्रसूता में यह रोग होता है, उसका दूध कम हो जाता है, और जो उसके बहुत दूध होता भी है, वह दूषित पदार्थ के मिलने से बालक के अनेक पीड़ायें उत्पन्न करने का कारण हो जाता है। दाँतों के दूषित पदार्थ हृदय पिण्ड के भीतरी आवरणों में विकार उत्पन्न जिससे हृदय की बड़ी हानि होती है।

यह एक भयङ्कर विकार है—प्रथमतः तो इसमें जो दाँत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कमजोर पड़ जाते हैं, उनके फिर सुदृढ़ होने की आशा नहीं के बराबर है। दूसरे दाँतों को निकाल बाहर किये बगैर उनके अन्दर व्रणों का होना, रक्त-स्राव होना, पीब का बनना आदि अनर्थ परम्परा कदापि नहीं रुकती। यदि दाँत न निकाले जायँ तो अन्यत्र आस-पास के भागों में पीब और व्रण का संचार होने लग जाता है और शरीर में उक्त नाना प्रकार के कष्टदायक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अन्त में दाँतों के निकाल देने पर चर्वण-क्रिया ठीक नहीं होने पाती, नकली दाँतों से यह क्रिया की जाती है, किन्तु असली दाँतों के अभाव में चर्वण किये गये पदार्थों में उचित लाला सम्मिश्रण न होने से स्वास्थ्य पर अनिष्ट परिणाम होता ही है।

चिकित्सा—'पायोरिया की एक मात्र दवा' 'पायोरिया नाशक रामबाण औषधि'—आदि बड़े-बड़े अक्षरों में दिये गये विज्ञापन आजकल बहुत देखने में आते हैं। लोग इस रोग के विषय में अनजान होने से चतुर विज्ञापन-बाजों के पञ्जों में फँस कर अपना और भी अनर्थ कर लेते हैं। बाजारू औषधियों से अन्त में हार मानकर रोगी जब किसी वैद्य या डाक्टर की शरण में आता है, तब उस रोगी की द्वितीय या अन्तिम अवस्था हो गई रहती है। ऐसी हालत में उस पर फिर कोई भी उपाय काम नहीं देता। अन्त में यही कहने सुनने में आता है कि पायोरिया पर सिवा दन्तपातन के कोई उपाय नहीं है।

ध्यान रहे अन्य रोगों के समान इस रोग में भी चिकित्सा-सूत्रों का सर्वाङ्गीण विचार आयुर्वेद सिद्धांतानुसार करने से अवश्य लाभ हो सकता है। आधुनिक डेण्टिस्ट या दन्तवैद्यों द्वारा इसका यथायोग्य सफल उपचार प्रायः बहुत ही कम देखने में आता है। कारण वे लोग रोगी के औषधान्न विहार, पथ्यापथ्य, दुष्टव्रण चिकित्सा आदि बातों की ओर पूर्णतया ध्यान नहीं दिया करते। वास्तव में पायोरिया, उपकुश[1]

१. उपकुश और दन्तवेष्ट (पायोरिया) में बहुत कुछ साम्य है। भेद इतना ही है कि उपकुश में दन्तवेष्ट या दाँतों के मूल में दाह होकर मसूड़े पकते हैं, दाँत हिलने लगते हैं और उनसे मन्द वेदनायुक्त रक्त-स्राव होता है पीब नहीं निकलती,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

आदि दन्त-रोगों में इन बातों की ओर ध्यान देना अत्यन्त आ... है। उनमें भी पायोरिया में तो रक्तान्तर्गत दोषों का विचार ... आवश्यक है। साथ ही साथ उदरान्तर्गत विकारों की ओर भी ... देना आवश्यक है। दाँतों को खुरचने से, उनके मल की सफाई ... केवल दन्तोपचार से लाभ की आशा सर्वथा सम्भव नहीं है। ... रक्तान्तर्गत एवं उदरान्तर्गत विकारों के शमनार्थ लंघन, शो... अन्तःपरिमार्जनउपायों का यथाविधि अवलम्बन आवश्यक है।[1]

इस रोग की प्रथमावस्था में या प्रारम्भिक अवस्था में दाँ... जमे हुये मल को तुरन्त निकलवा डालना चाहिए, गर्म पानी में ... डालकर खूब कुल्ले या गरारे करना चाहिये, मसूड़ों के चारों ओ... पीब जम गई हो उसको भी बिल्कुल साफ कर डालना चाहिये। ... महीन पीसा हुआ नमक सरसों के तेल में मिलाकर (इसमें ...

मुख में दुर्गन्धि आदि लक्षण पायोरिया जैसे ही होते हैं। यह विकार पित्त ... रक्त की दुष्टि से होता है। कहा है—

'आध्मायते स्रुते रक्ते, मुखं पूति च जायते।
यस्मिन्नुपकुशः सस्यात्पित्तरक्तसमुद्भवः॥' (योगरत्नाकर)

पायोरिया में केवल रक्तदुष्टि रहती है, किन्तु उपकुश में पित्त और रक्त ... की दुष्टि होती है, अतः दोनों में अन्तःपरिमार्जन की विशेष आवश्यकता है। ... दोनों की चिकित्सा में भी बहुत कुछ साम्य है।

1. 'While local irritation is the exciting cause, in that it l... the resistance of the tissues to bacterial infection and leads to t... destruction by sepsis, the irritating agent is often itself an end pr... of an abnormal state of the blood.

In some mouths which are kept scrupulously clean, pyorrh... present, and these cases often associated with intestinal trouble, ... possibly be due to the System being so clogged with waste pr... that a proportion of irritating material has to be got rid of by a... natural route, the secretory glands of the mouth and elementary ... becoming temporarily excretory' Dr. J. D. Ham...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ली मिर्च और तमाखू चूर्ण भी मिलालें) उंगली से मलना टैनिक सिड पाउडर की अपेक्षा विशेष लाभदायक है। उसे विशेष कर सूड़ों पर दिन में दो बार धीरे-धीरे मलना चाहिये। यह प्रयोग गभग दो मास तक करे और रोग के जो कारण बतलाये गये हैं, नसे दूर करे। नीम की या अपामार्ग की दातुन करना या मौलसिरी की ल या फलों को चबाना बहुत लाभ दायक है। पाश्चात्य प्रयोगानुसार शम के एक धागे को, 'हाइड्रोजन पर आकसाइड' में डुबोकर दाँतों के च में डाल कर उनकी सफाई करते रहना तथा टिंचर एकोनाइट Tr. Aconite) १ भाग, टिंचर मिर्ह (Tr. Myrrh) १ भाग, और चर आयोडिन रेक्टिफाइड से बना हुआ ४ भाग, इनको एकत्र मिला र दाँत और मसूड़ों पर दिन में ३ बार लगाना चाहिये।

आयुर्वेदिक निम्न प्रयोग भी यथेष्ट लाभदायक हैं—

१. कड़ाही में सीसा को कोयले की आँच पर गलाकर उसे मदार र्क) की जड़ से खूब घोटना चाहिये। जब भस्म हो जाय तब शीशी भर रक्खें, और दाँतों, मसूड़ों पर लगाया करें।

२. नीमपत्र १ सेर और फिटकरी १० तोला दोनों को मटकी में बन्द कण्डों की आँच में भस्म करलें और पीस छान कर रखलें। इसे न में दो बार ५-५ मिनट तक मसूड़ों और दाँतों पर मलें। फिर या १० मिनट बाद २ तोला पीपल को आध सेर जल में पका कर तोला शेष रहे क्वाथ में १ तोला शहद मिला कुल्ले करें (यह काथ ले ही बना कर रख लें) फिर ५ मिनट के बाद साफ उष्णोदक से करें। तथा प्रातः सायं केशोर गुग्गुल १ माशा की एक मात्रा में न में दो बार महामंजिष्ठादि कषाय के अनुपान दें। भोजन के बाद रिवाद्यास २ तोला बराबर जल मिला कर देना भी उत्तम है। रात में ते समय "आरोग्यवर्धिनी" २ गोली दूध के साथ दे।

३. त्रिफला त्रिकुटा, दालचीनी, अकरकरा, बच, कूठ, मोचरस, जायफल, धाय पुष्प, मस्तगी, बायविडंग, कसीस, पतंग, संगजराहत, समुद्रफेन और सेंधा नमक।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

विधि—सबको सममाग ले थोड़ी फिटकरी मिला वस्त्रछान कर शीशी में भर रक्खें। दिन में दो या तीन बार इसका मंजन करें।

४. त्रिकटु, दालचीनी, तालीसपत्र, श्वेत जीरा, सौंफ, हरड़, और इलायची के दाने प्रत्येक १-१ तोला। फिटकरी भुनी हुई १ मुलहठी ४ तोला, सेंधा नमक ८ तोला, शुद्ध नीलाशोथ (तुत्थ) २ भुना सुहागा २ तोला और उत्तम खरिया मिट्टी ३० तोले।

विधि—सबको लेकर महीन कपड़-छन चूर्ण कर उसमें फि का सत् ६ माशे पीसकर मिला दें और शीशी में भर रक्खें। इसे मंजन करने से बहुत लाभ होता है।

५. शुद्ध पीली कौड़ी की भस्म ५ तोला, श्वेत फिटकिरी का २॥ तोला और काली मिर्च १। तोला, इनका महीन चूर्ण कर रक्खें।

ध्यान रहे, उक्त मंजनों में से कोई भी मंजन मुख में दाँत मसूड़ों पर अच्छी तरह धीरे-धीरे घिसते हुए लगावे और फिर कु के बाद उष्ण जल से कुल्ला कर मुख को साफ कर लेना चाहिये।

रोगी की द्वितीयावस्था में स्थानीय रक्तान्तर्गत दोष को नि के लिये प्रथम रक्तमोक्षण क्रिया इस प्रकार करें—स्वच्छ कपड़ ब्रुश से दाँत और मसूड़ों को जरा जोर से घिसना चाहिये। ऐसा से खूब रक्तस्राव होने लग जाता है। इससे चिंतित या घबड़ाना चाहिये। रक्तस्राव धीरे-धीरे स्वयंही कम होकर बन्द हो जाता है। प कफदोषनाशक, तथा रक्त, मांस एवं धातुओं पर उत्तम कार्यशील न्धित द्रव्यों का क्वाथ तैयार कर उससे कुल्ले करें। हम यहाँ एक क्वाथ का प्रयोग लिख देते हैं—

त्रिफला, सोंठ, नागरमोथा, कचूर और रूमी मस्तगी १-१ तोला सबका चूर्ण कर आध सेर जल में पका कर, चतुर्थां रहने पर उसमें रसोंत (रसाञ्जन) ६ माशे मिलावें और फिर कुल्ले करें।

इसके पश्चात् प्रतिसारण अर्थात् उपर्युक्त ओषधियों को स्थान पर घिसना (घर्षण क्रिया करनी) चाहिये। प्रतिसारण क्रि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्रणरोपण, संधानकारी और व्रणनाशक होने चाहिये। इसके लिये लोध्र, पतंग, मुलहठी और लाख (पीपल की) उत्तम कार्यकर हैं। इनका महीन चूर्ण कर शहद मिला कर प्रतिसारण करने से रोपणादि कार्य उत्तम प्रकार से होता है। दाँत यदि विशेष हिलते न हों तो इस क्रिया से अवश्य लाभ होता है। यदि दाँत बहुत ही हिलते हों, तब तो उन्हें निकाल डालना ही श्रेयष्कर है। न हिलने वाले दाँतों के ऊपर के शर्करा या टारटर (Tartar) को तो अवश्य ही निकाल डालना चाहिये। साधारण हिलने वाले दाँतों के ऊपर उक्त प्रतिसारण आदि क्रिया उत्तम कार्यकर होती है। साधारण क्रिया के पश्चात् भी उक्त क्वाथ से कुल्ले करना चाहिये। अथवा संधानकारी, रोपक ऐसे क्षीरी वृक्षों (बड़, गूलर आदि) की छाल के क्वाथ का, उसमें शहद, घृत और शक्कर मिला कर कुल्ले करना विशेष लाभदायक है।

प्रतिसारण के पश्चात् शिरोविरेचनार्थ, विरेचक योगों की योजना आवश्यक है। यह एक ऊर्ध्वजत्रुगत विकार होने से, उपर्युक्त नस्य कर्म आयुर्वेदसिद्धान्तानुसार इसमें महान लाभकारी होता है। इससे विकारोत्पादक दोषों का निर्हरण हो जाता है। यह उपाय भी इस विकार में ऐसा करना चाहिये जो संधान-कारी और रोपण गुण युक्त हो। इसके लिए काकोल्यादि गणान्तर्गत (काकोली क्षीर काकोली जीवकर्षभको तथा। ऋद्धिर्वृद्धिस्तथा मेदा महामेदा गुडूचिका। मुद्गपर्णी माषपर्णी पद्मकं वंशलोचना। शृङ्गी प्रपौण्डरीकं च जीवन्ती मधुयष्टिका। द्राक्षाचेति वर्गो ऽयं काकोल्यादिरुदीरतः) जितने भी द्रव्य प्राप्त हों उन्हें चूर्ण कर दशगुने दूध के साथ सिद्ध किये गए घृत का नस्य देना विशेष लाभदायक है।

खसखस का तैल ३ भाग, लौंग का तेल २ भाग, दोनों को मिला कर दाँत और मसूड़ों पर प्रतिसारण करे, अथवा प्रातः सायं 'टैनिक एसिड का घोल' (Solution of Tannic Acid in spirit) मसूड़ों पर लगाना भी लाभदायक है।

पायोरिया के प्रत्येक रोगी को मसूड़ों की ओर विशेष ध्यान देना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

आवश्यक है। पीब जो कि दाँतों के आस-पास जमा हो, ध्यान-पूर्वक धीरे से दबा दबा कर निकालते रहना चाहिये। इसका उपाय यह है कि दाँत के दूसरी ओर मुँह में एक ओर अँगूठा और दूसरी की ओर तर्जनी उंगली लगाकर दोनों से मसूड़ों को दबावें। निचले जबड़े में दाँत के ऊपरी ओर से और ऊपरी जबड़े में निचली ओर से दबाना चाहिये।

कई चिकित्सक पायोरिया पर 'इमेटिन' के इन्जेक्शन्स बहुतायत से लगाया करते हैं। किन्तु ये इन्जेक्शन्स हर एक हालत में सफल नहीं होते। उक्त आयुर्वेदिक क्रियानुसार चिकित्सा करने से यह रोग जड़-मूल से जाता रहता है।

पथ्यापथ्य—रोग की प्रत्येक अवस्था में मसूड़ों और दाँतों का व्यायाम बहुत आवश्यक है। एतदर्थ मध्यमा अंगुली के अगले सिरे पर थोड़ा सा सरसों का तैल लगाकर मसूड़ों पर धीरे-धीरे प्रातःसायं ५ से १० मिनट तक मलना चाहिये। ऐसा करने से पायोरिया और जमे हुए मैल (Tartar) दोनों को लाभ पहुँचता है, तथा रक्तसंचार ठीक होकर रोग-नाशन में सहायता पहुँचती है। गर्म जल में सेंधा नमक मिलाकर दिन में कई बार कुल्ले करता रहे। दाँतों की सफाई के साथ पेट की सफाई की ओर भी ध्यान देते रहना चाहिये। बादी और गरिष्ठ चीजों से बचता रहे। ध्यान रहे कि दाँत की व्याधियों और आहार का बहुत निकटवर्ती सम्बन्ध है।

आहार को सुधार लेने से ये रोग होते ही नहीं और यदि हो गये तो शीघ्र ही अच्छे हो जाते हैं। पायोरियाग्रस्त रोगी को ऐसा भोजन करना चाहिये जिसमें बिटामिन 'सी' और 'डी' तथा कैल्शियम की प्रधानता हो, जैसे ताजे फल, नीबू, सन्तरा, प्याज, हरे शाक (पत्ती शाक) दूध, मक्खन, मेवे आदि। ईख (गन्ना) का चूसना भी लाभकारी है। चने के आटे मिली हुई रोटी खाना लाभदायक है। नीबू के छिलकों को रगड़ कर या दाँतों से कुचल कर मसूड़ों पर मलते रहना चाहिये।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भोजन को खूब चबाकर खावे, और भोजनोपरान्त खूब कुल्लेकर दाँतों को साफ करता रहे। नित्य प्रातः सायं खुली हवा में टहलने को जाना चाहिये। जामुन, बबूल, मौलसिरी, अपामार्ग, या गूलर की दातून करे अथवा बबूल का रस दाँतों में लगावे या बबूल की पत्ती चबाकर थूका करे अथवा वटक्षीर (बरगद का दूध) में घी, शर्करा और थोड़ा शहद मिला कर दाँतों और मसूड़ों पर दोनों समय लगाया करें। इससे सूजन रक्तस्राव और पीब की कमी होकर रोग बढ़ने नहीं पाता।

कई चिकित्सकों की मान्यता है कि अत्यधिक पान के व्यवहार से पायोरिया रोग हो जाता है। गर्म-गर्म चाय आदि उत्तेजक पेय-पदार्थ भी हानिकारक है, दाँतों को लोहे की पिन आदि से कभी न कुरेदे, क्योंकि इससे पक कर पीब पैदा होने (Septic) की संभावना रहती है। यदि बिना कुरेदे काम न चले तो सुवर्ण या चाँदी की कोई कुरेदने वाली चीज बनालें। व्याधि में फँसने की अपेक्षा उसे पैदा होने ही न देना बहुत अच्छा है।

दन्त-पातन—के विषय में डा० वल्लभम् का कथन है कि बहुत से लोग पायोरिया के रोगी को देखते ही डर कर, दाँत निकलवाकर, पोपला बनने का फतवा दे देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दाँतों का निकलवाना इस रोगी के लिये किसी सीमा तक लाभदायक है। किन्तु जहाँ तक बचाया जा सके अच्छा है। काम न चलने पर एक बार में ५ दाँतों से कभी अधिक उखड़वाना ठीक नहीं। अन्यथा रोगी के अन्दर विष (Toxin) का संचार होकर उसकी अवस्था भयङ्कर बन जायगी। ताजे घावों के कारण पीब के अकस्मात् लीन हो जाने से घोर उपद्रव की आशङ्का रहती है। दाँत निकलवाने के ५ या ६ मास पश्चात् कृत्रिम दाँत लगवाने चाहिये ताकि मसूड़े मजबूत होकर दाँतों की प्लेटों को बर्दाश्त करने योग्य बन जायँ।

पायोरिया और शीताद—कई विद्वान् भ्रम से आयुर्वेदीय शीताद रोग को ही पायोरिया मानते हैं। शीताद विकार में मसूड़े स्पञ्ज जैसे गुलगुले हो जाया करते हैं। अंग्रेजी में इसे 'स्पंजी गम्स' (Spongy

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

Gums) कहते हैं, इसमें मसूड़ों का मांस गलने लगता है, तथा अकस्मात् रक्तस्राव होने लगता है। यह रक्त दुर्गन्धयुक्त, काला दूषित हुआ करता है। इसमें कफदोष तथा रक्तदूष्य की प्रधानता हैं।[1] इसमें मसूड़ों में सड़ान युक्त शोथ होती है, तथा वह शोथ में परिणत होकर उसमें से आगे चलकर पूयमिश्रित रक्त बहने लग जाता है। रोगी कुछ भी बराबर खा या पी नहीं जीभ में भी व्रण हो जाते हैं। मसूड़ों में अतिशय वेदना जिससे रोगी को निद्रा नहीं आती। शरीर में रक्त का अभाव, रहती है। अतः पायोरिया से यह भिन्न व्याधि है।

सौषिर—कफ एवं वात दोष की विकृति होती है जिससे शोथ, पीडा, कण्डु और लालास्राव होता है। वाग्भट ने इसमें लक्षण 'दाँतों के मांस झर जाते हैं' विशेष दिया है।[2]

चिकित्सा—१. रक्तनिर्हरण २. लोध्र, मुस्तक, रसाञ्जन का साथ लेप ३. क्षीरी वृक्षों के कषाय का गण्डूष धारण करना बतलाया

महाशौषिर—यह एक सन्निपातज व्याधि है जिसमें दाँत वेष्ट पड़ जाते और वे हिलने लगते हैं तालु मुख में पाक होकर फटने हैं। आधुनिक चिकित्साविज्ञान में इस रोग की समता 'गैंग्रिनस टाइटिस' या 'कैंक्रमओरिस' से होती है। ऐसी अवस्था सन्नि ज्वर या कालज्वर के बाद दन्तमूल और मुख की श्लेष्मलकला में और फिर व्रण उत्पन्न हो जाने पर होती है। यह प्रसरित होते सपूर्ण दन्तमूलों और श्लेष्मलकला को व्रणों से भर देता है।

१. श्लेष्मरक्तेन पूतीनि स्रवंत्यस्रमहेतुकम् ।
शीर्यन्ते दंतमांसानि मृदुक्लिन्नसितानि च ॥ शीतादः असौ.....
—वाग्भट ।

२. श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफवातजः ।
लालास्रावी सकण्डुश्च स ज्ञेयः सौषिरो गदः ।

३. सौषिरे हृतरक्ते तु लोध्रमुस्तारसाञ्जनैः ।
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषे क्षीरिणो हिताः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

नेक सार्वदैहिक लक्षण भी रोगी में पाये जाते हैं। (इसकी कालमर्यादा त रात में रोगी का घात करता है ऐसी बतलाई गई है।)[1]

चिकित्सा—इसमें दन्तवेष्ट या सौषिरवत् चिकित्सा की जा सकती यह असाध्य रोग है। अस्तु, शास्त्र में इसकी चिकित्सा का वर्णन हीं हुआ है। आधुनिक चिकित्सा में व्रणित भाग को नष्ट करने के लिये दाह की क्रिया की जाती है।

परिदर—पित्त, रक्त और कफजन्य यह व्याधि है। इसमें दाँत के मसूड़े विशीर्ण होने लगते हैं और रक्त का स्राव होता है।[2]

चिकित्सा—शीताद के सदृश उपचार—१. वमन २. विरेचन ३. नस्य प्रभृति कर्मों को करना चाहिये।[3]

उपकुश—दन्तवेष्टों में दाह और पाक होता है जिससे दाँत चल हो ते (हिलने लगते) हैं। मन्द वेदना होती और दबाने पर रक्त का व होता है। इसमें पीड़ा अल्प होती है। रक्त स्रवित होने के कुछ बाद फिर मसूड़ों में सूजन होती है, दबाने पर पुनः रक्त स्राव हो ता है। यह पित्त और रक्त दोष से उत्पन्न हुआ उपकुश नामक रोग । इसमें मुख से दुर्गंध आती है।[4]

चिकित्सा—१. उभयतः संशोधन (वमन एवं विरेचन) २. शिरोरे-

---

१. दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालुश्चाप्यवदीर्यते।
यस्मात्स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिर संज्ञकः। (सु०)
सदाहो दन्तमूलेषु शोथः पित्तकफानिलात्।
महाशौषिर इत्येष सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्।

२. दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन्स्रवति चाप्यसृक्।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः। (भोज)

३. क्रियां परिदरे कुर्याद् शीतादोक्तां विचक्षणः। (सु०)

४. वेष्टेषु दाह पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
अत्यर्दिताः प्रस्रवन्ति शोषिर्णं मन्दवेदनम्।
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते।
यस्मिन्नुपकुशः सस्यात् पित्तरक्तसमुद्भवः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

चन ३. कठूमर (काष्ठोदुम्बर) तथा गोजी पत्र से लेखन क[illegible] विस्रावण ४. त्रिकटु सैंधव तथा मधु को मिलाकर प्रतिसारण [illegible] सरसों, सोंठ तथा वेतस फल के द्वारा प्रतिसारण ५. इन्हीं [illegible] से सिद्ध क्वाथ का कवल धारण काकोल्यादिगण की ओषधियों [illegible] घृत का कवल या नस्य लेना चाहिये।

दन्तवैदर्भ—यह एक अभिघातजन्य व्याधि है—जिसमें [illegible] जड़ में घर्षण करने की वजह से शोथ और रक्तिमा उत्पन्न हो[illegible] हिलने लगते हैं।[1]

चिकित्सा—१. दन्तमूल स्थित दुष्टमांस को काटकर ([illegible] वहाँ पर २. क्षार कर्म करना तथा ३. शीतल उपचारों (गण्डूष ए[illegible] प्रभृति) को करना चाहिये।[2]

पाश्चात्य ग्रंथों के वर्णनों के आधार पर समन्वय करते [illegible] ज्ञात होता है कि दन्तवेष्ट से प्रारंभ करके शौषिर, परिदर, उपकु[illegible] दन्तवैदर्भ तक सम्पूर्ण रोगों के लक्षण दन्तवेष्ट प्रकोप (Gingi[illegible] विविध प्रकार, अथवा अवस्थाभेद (Stages) हैं; क्योंकि प्रायः[illegible] दाँतों के मसूड़ों में सूजन, पीड़ा, रक्तस्राव प्रभृति लक्षण मिलते [illegible] के तरतम भेद से लक्षणों में भिन्नता आ जाती है। 'जिन्जी[illegible] की यह अवस्था आमतौर से मुख की सफाई नहीं रखने वाले [illegible] में होती है। भोजन के बाद अन्नावशेष मसूड़ों और दाँतों में [illegible] जाता है, और शनैः शनैः विकारी जीवाणु का योग पाकर शो[illegible] हो जाता है। मसूड़े सूज कर रक्तवर्ण और मोटे हो जाते [illegible] दबाने पर रक्त का स्राव होने लगता है। पश्चात् उन्हीं स्थ[illegible] व्रण बन जाते हैं, इन व्रणों से विष का शोषण होता रहता है [illegible] का सेवन और स्कर्वी रोग (जीवतिक्ति 'सी' की कमी) इस अ[illegible]

१. घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्।
चलन्ति च रदा यस्मिन् स वैदर्भोऽभिघातजः।

२. शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्तमूलानि शोधयेत्।
ततः क्षारं प्रयुंजीत क्रिया सर्वाश्च शीतला।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्धि में सहायता करता है। दन्तमूलों में व्रणों से पूय का भी स्राव ने लगता, मसूड़े गलने प्रारंभ हो जाते हैं, दाँत हिलने लगते हैं, मुँह दुर्गंध आती है।

वर्धन—(Extra tooth)—वायु के प्रकोप से तीव्र पीड़ाकारक भी-कभी एक दाँत और उत्पन्न हो जाता है जब यह पूर्णतः निकल ता है तो पीड़ा शान्त हो जाती है। अष्टाङ्ग-संग्रह तथा हृदयकार से 'खलिवर्धन' या 'अधिदन्त' कहते हैं।[1] चन्द्रचक्रवर्त्ति तथा अन्य धुनिक टीकाकार इसे 'विस्डमटूथ' (Wisdom tooth) कहते हैं। न्तु प्राच्य चिकित्सा में इसके उद्धरण तथा अग्नि कर्म करने का ङ्ग आता है और कृमिदन्त के सदृश चिकित्सा करने का विधान ता है।[2] अस्तु इसे 'एक्सट्राटूथ' जो अधिदन्त का अंग्रेजी पर्याय त्र है, मानना अधिक उचित ज्ञात होता है।

अधिमांस—(Impacted wisdom tooth) निम्न हनु के पिछले त के पास दारुण, पीडायुक्त, लालास्रावी, कफजन्य भारी शोथ होता जिसको अधिमांस समझना चाहिये। इसके कारण पूरे हनु में वेदना ती है, भोजन करना भी कठिन हो जाता है। इन लक्षणों की बहुत समानता 'इम्पैक्टेडेड विस्डम टूथ' नामक पाश्चात्य शालाक्योक्त ता से है।[3]

चिकित्सा—१. छेदन (काटकर) २. वच, तेजोवती, पाठा, यवक्षार चूर्ण से प्रतिसारण करना ३. इन्हीं चूर्ण के क्वाथ में मधु और पिप्पली ला कर सुखोष्ण कवल धारण करना। ४. पटोल, त्रिफला और निम्ब

---

१. मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
खलिवर्द्धनसंज्ञोऽसौ संजाते रुक् प्रशाम्यति।

२. उदधृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमववारयेत्।
कृमिदन्तकवच्चापि विधिः कार्यो विजानता। (सु.)

३. हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतः विज्ञेयः सोधिमांसक।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

के कषाय से प्रक्षालन ५. शिरोविरेचन और ६. वैरेचनिक धूम का
करना चाहिये ।[1]

दन्तनाडी—(Sinus of the Gums)—दाँत के मसूड़ों में
पित्त, कफ, सन्निपात और शल्यजन्य पाँच प्रकार का नाडियाँ (
होती हैं ।

वास्तव में नाडियों की उत्पत्ति दन्तवेष्ट (Pyorrhoea A
laris) नामक रोग के ही उपद्रवरूप में होती है । ठीक प्रकार से
नहीं होने से पूय की गति दांतों की जड़ों तक पहुँच कर नाडी पै
है । 'Gums which are swollen and oedematous e
lly at the margins, resulting in pockets which e
along the roots of the teeth' दोषानुसार इन नाडियों के
तथा लक्षणभेद पाँच प्रकार के कर लिये गये हैं । यह शल्य
विषय है । अस्तु, शल्यतन्त्र में कथित हेतु, सम्प्राप्ति और लक्ष
ऊपर ही इसकी निदान तथा चिकित्सा भी व्यवस्थित है ।

सामान्य चिकित्सा—नाडी व्रणहर कर्म ।

विशेष चिकित्सा—जिस दाँत के मूल में नाडी जान पड़े
को निकाल देना चाहिये । दन्त के उद्धरण के समय मसूड़ों को
ओर काट कर फिर निकालना चाहिये । इस प्रकार नाडी का
समुद्धरण हो जाता है और नाडीगत पूय का भली प्रकार शोधन
व्रणरोपण हो जाता है । यदि रोग में उपशमन हो पाये तो
क्षार तथा अग्नि के द्वारा दहन (Cauteriation) कर देना
नाडीयुत युक्त दाँत के उद्धरण शास्त्र में इस लिये दिया गया है कि
का बिना उखाड़े (उपेक्षा करने पर) रोपण नहीं हो पाता और वह
व्रण की गति क्रमशः गहराई में जाकर हन्वस्थि तक उपसर्ग पहुँच
है और निश्चितरूप से हन्वस्थि का भेदन हो जाता है । अस्तु,
साथ ही पूरे दाँत का उद्धरण करना चाहिये अथवा अस्थि तक

१. छित्वाधिमांसं सक्षौद्रैरेभिश्चूर्णैरुपाचरेत् ।
हितो शिरोविरेकश्च घूमो वैरेचनश्च यः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ति होने पर भग्न हुई अस्थि के टुकड़ों को भी साफ कर देना चाहिये।'
आचार्य सुश्रुत ने ऊर्ध्व दन्तपंक्ति अथवा ऊर्ध्वहन्वस्थि में पाये ने वाले ऊपर के दाँतों के मसूड़ों में नाडी होने पर दाँत के निकालने स्पष्ट निषेध किया है। ऊपर वाला विधान अर्थात् दन्तमूलगत नाडी दाँत का उद्धरण केवल नीचे वाली दन्तपंक्तियों के लिये ही है। तः ऊर्ध्वहन्वस्थि से सम्बन्धित दाँतों की नाडी में दन्तसमुद्धरण श्य करना चाहिये; परन्तु ऊर्ध्वहन्वस्थि के सम्बन्धित दाँतों में नहीं ना चाहिये। इस चिकित्साविधान के उपदेश का कारण उन्होंने स्पष्ट ते हुए कहा है कि ऊपर वाले दाँतों की जड़ें बहुत गहराई में लगी ती हैं और उनका मसूड़ों के साथ बंधन स्थिरस्वरूप का होता है। के उद्धरण से तीव्र रक्तस्राव होता है। जिसके परिणामस्वरूप रक्त-जन्य अनेक उपद्रवों के होने का भय रहता है। कई बार रोगी काना ण) हो जाता अथवा अर्दित (Facial paralysis) से युक्त हो जाता । अतएव ऊपर की पंक्ति के दन्त यदि चल (हिलते) भी हों तो ीं निकालना चाहिये। दन्तगत नाडी में दन्त का उद्धरण तभी करना हिये जब कि नीचे की पंक्ति में विकृति हो—ऊपर में नहीं हो।

पश्चात् प्रक्षालन के लिये—चमेलीपत्ती, धतूर की पत्ती, गोखरू और की छाल से बने काढ़े से कुल्ला करावे। अथवा चमेली की पत्ती, फल, खैर की छाल, छोटे गोखरू के काढ़े से प्रक्षालन करे।

---

१. यं दन्तमभिजायेत नाडी तद्दन्तमुद्धरेत्।
छित्वा मांसानि शस्त्रेण यदि नोपरिजो भवेत्।
शोधयित्वा दहेद्वापि क्षारेण ज्वलनेन वा।
भिनन्त्युपेक्षिते दन्ते हनुकास्थिगति ध्रुवम्।
समूलं दशनं तस्मादुद्धरेद् भग्नमस्थि च
उद्धृते तूत्तरे दन्ते समूले स्थिर बन्धने।
रक्तातियोगात् पूर्वोक्ता रोगा घोरा भवन्ति हि।
काणः सञ्जायते जन्तुरर्दितं चास्य जायते।
चलमप्युत्तरं दन्तं अतो नापहरेद् भिषक्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जात्यादि तैल—चमेली की पत्ती, धतूर की पत्ती, बड़ी के जड़, गोखरू, पंचाङ्ग, मजीठ, लोध, खैर और मुलैठी के काढ़े तैल का स्थानिक प्रयोग करना चाहिये।

दन्तविद्रधि—(Alveolar Abscess) दन्तमांसगत मल दोष के कारण बड़ा शोथ हो जाता है जो बाहर से दिखलाई इसमें दाह और पीड़ा होती है और उसके फट जाने पर पूय का स्राव हो जाता है। इस प्रकार की दन्तमूलगत व्याधि को विद्रधि कहते है।[1] पाश्चात्य शल्यतन्त्र के ग्रंथों में भी दन्तवि पाठ मिलता है इस रोग का अंग्रेजी पर्याय 'एल्मियोलर ऐब्सेस'

यह अधिकतर कृमिदन्त (Carious tooth) के उपसर्ग से है। पूयोत्पादन होकर पूय या तो मसूड़े की विद्रधि (Gum b रूप में आकर फट जाय अथवा प्रसरित होते हुए गहराई में अस्थ्यावरण में पहुँच जाय जिसके परिणामस्वरूप हनु का करे। ऊपरी जबड़े (ऊर्ध्वहन्वस्थि) में विशेषतः प्रसार ओर जाकर उर्ध्वहन्वथि कोटर (Maxillary antrum) में कर उसको भी दूषित कर देता है। नीचे की ओर यदि प्रसा तो अधोहन्वस्थि के समीप जो कोमल रचनायें हैं उनको वि देता है अथवा अधोहन्वस्थि के नीचे के क्षेत्र (Sub man region) में भी पूय का संचार होने लगता है, ऐसी दशा में फट जाती है और एक स्थायी नाडी का रूप ले लेती है। दोषभेद से पञ्च प्रकार की नाड़ी के वर्णनों में प्राचीन शास्त्र कथन किया है। यह नाडी तब तक बनी रहती है जब तक को न निकाल दिया जाय अथवा 'सेक्वेस्ट्रम' (Sequestrum) दूर कर दिया जाय। इस रोग में दो ही लक्षण प्रधान मिलेंगे पी चेहरे की सूजन, साथ ही विष के शोषण होने की वजह से सा विषमयता के लक्षण जैसे, ज्वर, विवंधादि लक्षण भी व्यक्त

१. दन्तमांसमलैः सास्रैः बाह्यतः श्वयथुर्महान् ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिकित्सा—दन्तविद्रधि में भी सामान्य विद्रधिवत् चिकित्सा का म रखना चाहिये। प्रारम्भ में शोफशामक उपचार, पश्चात् भेदन, धन और रोपण प्रभृति कार्यों को करना चाहिये। परन्तु इस विद्रधि शस्त्रकर्म किसी विशेषज्ञ (कुशलेनैव) के द्वारा ही करना चाहिये।[1]

—ooXoo—

६

दन्तगतरोग

(Diseases of Teeth)

दालन—(Toothache or Odontodina) जहाँ पर दाँतों में दीर्ण होने के समान तीव्र पीडा होती है अर्थात् रोगी को ऐसा अनुभव होता है मानों दाँत फट रहे हैं। यह रोग सदा वायु के कारण होता है।[2] अष्टाङ्ग हृदयकार ने इसकी संज्ञा 'शीतदन्त' दी है। आचार्य सुश्रुत ने इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं बतलाई। अष्टाङ्गहृदय में इसकी चिकित्सा का विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है। व्रीहिमुखशस्त्र के द्वारा लेखन करके २. अत्यन्त उष्ण तैल द्वारा इसको दग्ध किया जाता है। ३. पश्चात् प्रतिसारण के लिये शहद, लोध्रा, अनार की छाल, त्रिकटु, त्रिफला और सैन्धव प्रभृति द्रव्यों का प्रयोग करने का आदेश है। ४. साथ ही अणुतैल के नस्य का भी विधान है।

कृमिदन्त—(Dental caries or Carious tooth)—इस

१. विद्रध्युक्तं च विधिवद्विदध्याद्दन्तविद्रधौ ।
शस्त्रकर्म नरस्तत्र कुशलेनैव कारयेत् ॥
नाडीव्रणहरं कर्म दन्तनाडीषु कारयेत् । (यो. र.)

२. दीर्यमाणेष्विवरुजा यत्र दन्तेषु जायते ।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अवस्था में दाँत कृष्ण वर्ण, छिद्रयुक्त, स्राव और शोथयुक्त है। इसमें वायु की वजह से विना किसी निमित्त के (अनिमित्त) शूल हुआ करता है।[1]

पाश्चात्य वैज्ञानिक इस रोग का मुख्य कारण जीवतिक्ति 'डी' की अल्पता तथा शरीरगत खटिक (Calcium) का ह्रास मानते हैं। रोगी विकृत दन्त के द्वारा कार्य लेने में असमर्थ रहता है जिससे वहाँ पर भोजन का भाग और दन्तगत मैल इकट्ठी होती रहती है। इसके सड़ने से दन्तमूल तथा दाँत के चारों ओर के भाग ... पड़ जाते हैं। फल स्वरूप जीवाणुओं का संक्रमण होकर दाँत ... लगता है। कृमिदन्त के परिणामस्वरूप रोगी का पचनसंस्थान ... हो सकता है. उसके कारण उसको मन्दाग्नि, विबन्ध तथा ज्वर, ... प्रभृति सार्वदैहिक लक्षण भी होने लगते हैं।

चिकित्सा—१. अवपीडन नस्य २. स्नेह, गण्डूषधारण ३. स्निग्ध भोजन ४. तप्त शलाका से दाह करना मुख्य कर्म है। ... अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से अभाव की पूर्ति के लिये ... मात्रा में जीवतिक्ति 'डी' और खटिक का प्रयोग करना चाहिये। ... काल पीड़ा को शमन के लिये लौंग का तेल, दाल चीनी का तेल, ... पीपरमेण्ट, अजवायन का सत, एल्कोहोल, क्लोरोफार्म प्रभृति ... का गर्त में पिचु बनाकर भरना चाहिये। वेदना के शमन के लिए ... रोफार्म कैम्फर' का फोया बनाकर या 'लिनिमेण्ट कैम्फर' का ... बनाकर भरना उत्तम रहता है। कृमिवाले दाँत के गड्ढे की ... करके 'क्रियोजोट' के द्रव से जलाना भी उत्तम रहता है। ... शामक औषधियों को भी मुख से सेवन करने के लिये रोगी को ... से देना चाहिये। कई बार स्थानिक संज्ञाहर द्रव्य जैसे 'नोवोके... फुरेरी भरने से भी वेदना का शमन होता है। पीड़ा के शान्त हो... पर दाँत के गर्भ का भरण (चाँदी, सोने, पारा या पेरिसप्लास्टर...

१. कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।।
अनिमित्तजो वातात्स ज्ञेयः कृमदन्तकः।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

रना चाहिये। यदि यह संभव न हो तो पूरे दन्त का समूल उद्धरण राना (उखड़वाना) चाहिये।[1]

यदि कृमिदन्त अचल हो तो उसको निकाले नहीं, बल्कि उसका कविस्रावण एवं स्वेदन करे। अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है कि यदि मिदन्त पीड़ित रोगी कृश, दुर्बल, वृद्ध, वातपीडित हो तो न निकाले, शेषकर आगे के दाँतों (उत्तर दन्त) को न निकाले क्योंकि उससे ुत से उपद्रव होने लगते हैं।[2] भद्रादार्वादि गण की ओषधियाँ और नर्नवा का स्निग्ध लेप करे। कृमिघ्न उपचारों में गरम-गरम हींग का ताम्बर (खोखले) में भरना। बृहत्यादि गण्डूष, बृहती, भूमि कदम्बा, रेंड, टकारी के क्वाथ का तैलयुक्त गण्डूष धारण। नील्यादिचूर्ण-नीलिनी, कजंघा, कटु तुम्बी मूल में से किसी एक को लेकर दाँत के गर्त को ाना। सारिवाकल्क-सारिवा की पत्ती पीस कर उसका कल्क भरना। प्रयोगों से कृमि गिर जाते तथा पीडा शान्त हो जाती है। द्यविलास)। कासीसादिवटी—कासीस, हींग, सौराष्ट्री, देवदारु पीस कर गुटिका बनाकर धारण करने से पीडा शान्त होती है। कित्सासार)। अदरक की चटनी बनाकर काला नमक मिलाकर दाँत खोखले में भरने से भी वेदना शान्त होती है। किसी भी वातघ्न का मुख में भरना लाभप्रद होता है। जैसे नारायण तैल। सों का तेल नाक में चार पाँच बूँद छोड़ने से दाँत के दर्द में न्त होता है।

वाग्भट ने कृमिदन्त में होने वाले शूल में सप्तच्छद तथा मदार के के प्रयोग का उल्लेख किया है। इन दूधों से दाँत के गर्त्त का पूरण -शामक होता है।[3]

दन्तहर्ष—(Odontitis)—यह वायु और पित्त के कारण होने

---

१. जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्।

२. कृशदुर्बलवृद्धानां वातार्तानां न चोद्धरेत्।

३. सप्तच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिशूलजित्। (अ. हृ. २२ उ.)

नोद्धरेच्चोत्तरं दन्तं बहूपद्रवकृद्धि सः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

वाला विकार है। इस अवस्था में दन्त, शीतल, रूक्ष, प्रवात (झोंका) अम्ल पदार्थों तथा स्पर्श का सहन नहीं कर सकते। ये सभी चीजें असह्य हो जाती हैं।[1]

यह एक दन्तशोथ की अवस्था ज्ञात होती है जिस को 'ओडोण्टाइटिस' कहा जाता है।

चिकित्सा—१. चतुर्विध स्नेहों का किंचिदुष्ण कवल धारण, २. त्रैवृत घृत (त्रिवत कल्क से सिद्ध) का कवल धारण, ३. ओषधियों के क्वाथ से गण्डूष धारण करना, ४. स्नैहिक धूम, ५. नस्य, ६. स्निग्ध भोजन, ७. मांसरस, ८. मांसरस से सिद्ध ९. दूध, १०. साढ़ी (सन्तानिका), ११. शिरोवस्ति तथा तघ्नोपचारों को करना चाहिये। १२. केवल सर्षप तैल का गण्डूष भी प्रशस्त माना गया है।[2] नारायण, विष्णु या प्रसारणी गण्डूष धारण भी हितकर होता है।

भंजनक—जिस दन्तरोग में कफ और वात के विकार से मुख पड़ जाय और दाँत टूट जायँ उसे भञ्जनक या अवभंजक कहते हैं।

आचार्य वाग्भट ने बंजनक का उल्लेख नहीं किया, प्रस्तुत दन्तभेद का वर्णन किया है जिसमें कहा गया है कि दाँतों में होती है, दाँत फूटते और उनमें ठनका होता है और दाँत में पड़ता है। ये लक्षण प्रायः भञ्जनक से मिलते हैं।

---

१. शीतरुक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः।
यत्र स्युर्वातपित्ताभ्यां दन्तहर्षं स कीर्त्तितः॥ (सु.)

२. स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिषस्त्रिवृतस्य च।
निर्यूहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्षप्रमर्दनाः॥
स्नैहिकोत्र हितो धूमो नस्यंस्नैहिकमेव च।
रसारसयवाग्वश्च क्षीरं संतानिका घृतम्॥
शिरोवस्तिर्हिश्चापि क्रमो यश्चानिलापहः (सु.)

३ वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभंगश्च जायते।
कफवातकृतो व्याधि स भंजनक उच्यते। (सु.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा में वातघ्न तथा कफवातघ्न प्रचारों को रखना चाहिये। अर्दित में जो चिकित्सा की जाती है वैसी ही चिकित्सा इस रोग में भी करनी चाहिये। नारायण तैल का हनु प्रदेश में अभ्यंग, वस्ति देना एरण्ड तैल का पीने में प्रयोग करना, तथा स्वेद करना हितकर होता है।

अकरकरादि योग—अकरकरा, अफीम, कुन्दरु की गोंद पीसकर दुग्ध या मातृस्तन्य में सान कर मुख में कवल धारण करने के लिये प्रयोग में आ सकता है। इससे दाँतों का टूटना या फटना बन्द हो जाता है।

ये सभी उपचार लाक्षणिक हैं वास्तव में यह रोग असाध्य माना गया है। इसी लिये आचार्य सुश्रुत ने इसकी कोई भी विशेष चिकित्सा स्वकृत संहिता में नहीं दी।

दन्त शर्करा—(Tartar) जब दन्तगत मल एवं कफ वायु से शोषित होकर कण या कंकड़ (शर्करा) के समान स्पर्श में खर हो जाता है और दाँतों में चिपक जाता है तब उस व्याधि को दन्त-शर्करा कहते हैं।[1]

पाश्चात्य वैद्यक में इस अवस्था को 'टारटर्स' कहा जाता है यह कोई स्वतंत्र रोग नहीं; बल्कि एक लक्षण मात्र है। यह दाँतों में शर्करा या कपरी के समान स्थित होकर दाँतों के गुणों का नाश करने वाला मल है। यह मल दाँतों के मध्य में फँसी हुई चीजों के सड़ने से तथा खनिज पदार्थ विशेषत: कैल्शियम और फास्फेट के उनकी जड़ में जम जाने से उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर उन व्यक्तियों को होता है जो दाँतों की सफाई नहीं रखते। दातून या मंजन करने में लापरवाही करते हैं और दाँतों की मैल कड़ी होकर नीचे में जम जाती है।

चिकित्सा—में १. कारणों का दूर करना—दाँतों की सफाई कूर्चक (Brush) दातून तथा मंजनों से करना २. आमाशय तथा पक्वाशय

१. मलो दन्तगतो यस्तु कफश्चानिलशोषितः।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

के शोधन के लिये वमन तथा रेचक ओषधियों का प्रयोग ३. शर्करा का आहरण । इस क्रिया में सेंधानमक, समुद्रफेन, सीपी सीसे की भस्म, नील गाय के सींग की राख मिला कर मंजन इस मंजन से शर्करादोष दूर हो जाता है। तथा अन्य भी सम्बन्धी उपचार लाभप्रद होते हैं। आजकल दन्तशर्करा का दन्तविशेषज्ञ, दन्तशंकु (Tooth Scaler) के द्वारा छिलकर (क्रिया के द्वारा) करते हैं।

कपालिका (Enamel Separation)—मलयुक्त दन्त विदीर्ण होने पर कपाल (चिप्पी) सदृश जो चीज निकलती है कपालिका कहते हैं—इसमें दाँत का भाग कटता चलता है, अवस्थाओं में दाँतों का नाश होता है।[1] दन्तवल्कल (En उस भाग को कहते हैं जो मसूड़े के ऊपर निकले हुए भाग का करता रहता है। यह शरीर के सम्पूर्ण धातुओं से कठिन होता इसी के कारण कठिन से कठिन पदार्थों का मनुष्य चर्वण समर्थ रहता है। मुख की स्वच्छता ठीक न रखने पर शर्करा के ही साथ इसकी भी दृढ़ता जाती रहती है और निकलता रहता है।

चिकित्सा—यह एक कृच्छ्रतम व्याधि है; तथापि शर्करा की चिकित्सा की जा सकती है।[2]

श्यावदन्त—रक्तयुत पित्त के द्वारा दाँत का पूर्णतया दग्ध से उसका वर्ण श्याव या नील हो जाता है। अस्तु, रोग को श्या की संज्ञा दी गई है। अष्टाङ्गहृदयकार ने इसमें वायु की विशे मानी है जो अधिक युक्तिसंगत ज्ञात होता है क्योंकि वायु से का आना अधिक संभव है।[3]

१. कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तेषु समलेषु च ।
कपालिकेति विज्ञेया दन्तच्छिद्दन्तशर्करा ।

२. कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा क्रिया हिता ।

३. योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

चिकित्सा—यह एक असाध्य रोग है तथापि सामान्य दन्तरोगाधि- र के योगों का प्रयोग करते रहना चाहिये। सुश्रुत में इसकी चिकित्सा थित नहीं है।

हनुमोक्ष (Dislocation of mandible orlock-jaw)—सुश्रुत ति कई प्राचीन आचार्यों ने दन्तरोग के अध्याय में इस रोग का न किया है। इसका कारण शायद आधाराधेयभाव हो क्योंकि दाँत वस्थि में ही आश्रित होते हैं। अस्तु, आधार के विश्लेष से आधृत (आश्रयी की प्रधानता से आश्रित में) भी दोष आ जाना स्वाभाविक अस्तु, आश्रयी की प्रधानता दिखलाते हुए आश्रितों (दाँतों) के ग में हनुमोक्ष का भी प्रसंग आ गया है।[1]

वायु के द्वारा हनुसंधि खराब हो जाती है और अपने स्थान से तअथवा स्तंभित होजाती है। इसमें लक्षण अर्दित के समान मिलते चरक और अष्टाङ्गसंग्रह में इसे वातरोगों में 'हनुग्रह और हनुस्रंस' म से समावेश किया गया मिलता है। आधुनिक विज्ञान के आलोक देखने से इसमें स्पष्टतया दो अवस्थाओं का बोध है। हनुग्रह कजा' तथा हनुस्रंस 'डिसलोकेशन आफ दी जा'। इसमें प्रथमावस्था तिक रोगों में अपतानक (Tetanus) के कारण दूसरी अवस्था ाभिघात के कारण हो सकती है।

चिकित्सा—अर्दितवत् करनी चाहिये।

आचार्य वाग्भट ने दन्तगतरोगों में तीन और रोगों का वर्णन किया जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है—

कराल—दन्ताश्रितवायु धीरे-धीरे प्रकुपित होकर दाँतों को कराल,

---

१. वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसंधिविसंहतः।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः। (सु०)
भाराभिघाताज्जन्तोश्च हनुसंधिर्विमुच्यते।
निरस्तजिह्वकृच्छ्रेण भाषितुं तत्र गच्छति।
तं कृच्छ्रमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्। (तन्त्रान्तर)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

विकट और बड़े आकार का कर देता है। यह एक असाध्य व्या

चल दन्त या दन्त चलन या चालन—जब दाँत हिलते हैं
समय दर्द होता है, उस अवस्था को चलनदन्त की संज्ञा दी
वास्तव में ऐसी अवस्था दन्तवेष्ठ के ही उपद्रवरूप में आ
जब कि मसूड़ों का शोषण या अपचय (Atrophy) होने
आचार्य सुश्रुत ने यद्यपि निदान में इस रोग का वर्णन नहीं
फिर भी मुख रोगों की चिकित्सा के सूत्रों में इस अवस्था को
का बड़ा सुन्दर और वैज्ञानिक विवरण दिया है।

चिकित्सा—सुश्रुतानुसार चलदन्त की चिकित्सा—जब दाँ
रहे हों और विविध तैल गण्डूष प्रभृति उपचारों से नहीं स्थि
हों तो उनका उद्धरण (Extraction) करके सुषिर में (
निकालने के बाद बने स्थान में) दाह करना चाहिये।[2] चल
चिकित्सा में बकुल (मौलसिरी) की दातून करना या बकुल
का दाँतों चबाना बड़ा उत्तम बतलाया गया है।[3]

दन्तभेद—वाग्भट ने इस रोग का वर्णन अपने ग्रंथ 'अष्टा
में किया है। इसमें दाँतों में सुई चुभोने सी पीड़ा, (तोद) ज
जैसी पीड़ा (स्फुटन) तथा टूटने जैसी पीड़ा (भेद) होती है।

इस प्रकार के लक्षण आधुनिक दृष्ट्या बहुत से दन्तरोगों
सकते हैं अतएव सुश्रुताचार्य ने इसका स्वतंत उल्लेख भी नहीं कि

चिकित्सा—वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये। तिल, मधु
शृत दूध का गण्डूष धारण करना चाहिये।

दन्तरोगों में पथ्य तथा कुछ सामान्य योग—सामान्यतया सर्व

---

१. शनैः शनैः प्रकुपितो यत्र दन्ताश्रितोऽनिलः।
करालविकटान् दन्तान् स करालो न सिद्धयति।

२. चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेच्छुषिरस्य च। ततो विदारीयष्ट्याह्वशृंगाटक
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितं भवेत्। (सु०)

३. सोयं सुगंधिमुकुलो वकुलोविभाति वृक्षाग्रणी प्रियतमे मदनैक बंधु
यस्य त्वचैरचिरचर्वितया नितान्तं दन्ता भवन्ति चयला अपि वज्रतुल्याः॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गों में वातघ्नोपचार करना चाहिये। किंचिदुष्ण पक्वतैल का कवल गण्डूष सदा पथ्य होता है।

दन्तरोगियों में अम्ल फलों का सेवन, शीतल जल, रूक्षान्न (भूँजे दाने), दातून करना, अत्यंत कठिन पदार्थों को चबाना, वर्जित। सेंधानमक और सर्षपतैल का मंजन फलप्रद होता है।[1]

दशनसंस्कारचूर्ण (मंजन)—सोंठ, हरड़, नागरमोथा, खस, कपूर, पारी की राख, मिर्च, लौंग, दालचीनी के बारीक चूर्ण करके सबके बराबर खड़ियामिट्टी डाल करके खरल में घोंट कर बारीक चूर्ण बनाकर मंजन के रूप में व्यवहार करना।

दन्तरोगाशनिचूर्ण—जावित्री, पुनर्नवामूल, तिल, छोटी पीपल, (टसरैया की मूल, नागरमोथा, घोड़बच, सोंठ, अजवायन और हर्रे बको मिलाकर चूर्ण बनावे। इसका सरसों का तेल मिलाकर मंजन घृत में मिलाकर कवल धारण करे। इससे प्रायः मुखरोग और न्तरोग नष्ट होते हैं।

कुष्ठादिचूर्ण—कूठ, रसोंत, लोध्र, मोथा, मजीठ, पाठा, चिरायता, जनी, पीतिका इनके बने चूर्ण से दाँतों का मंजन या घर्षण करने से दाँ की पीड़ा, खुजली और रक्तस्राव बंद होता है।

श्वेतमंजन—(पूर्वोक्त) के द्वारा दाँतों का मंजन करना लाभप्रद होता है।

भल्लातकादि मंजन[2]—अरहर की दाल और भिलावे समभाग ले। क मिट्टी के घड़े में आधी अरहर की दाल रखकर ऊपर भिलावे रखकर

---

१. फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्।
तथातिकठिनान् भक्षयन् दन्तरोगी विवर्जयेत्।
न्तरोगेषु सर्वेषु शस्तो वातहरो विधिः। पक्वं तैलं कवोष्णं च शस्तं कवलधारणे।

२. आढक्यादलमध्यगान् सुमतिमान् भल्लातकान्मृन्मये,
पात्रेस्थाप्य विधायपावकमधः प्रज्वालयेद्युक्तितः।
तन्मस्यारिक्लदन्त घर्षणमिदं कुर्वन्तु लोकाः सदा,
योगोयंकिल दन्तरोग मदमृन्मत्तेभ कण्ठीरवः॥ (वैद्यामृतम्)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

बाकी अरहर की दाल ऊपर से भर दे पीछे घड़े के मुँह पर कसोरा रखकर सात बार कपड़ मिट्टी कर दे। सुखाकर घड़े को रख नीचे अग्नि जलावे। भिलावे जलकर तैल रहित कोयले जाय इतना अग्नि देना चाहिये। पीछे उनको पीसकर कपड़ शीशी में भर ले।

उपयोग—इस मसी से दाँत अच्छे साफ होते हैं। दाँतों के रोगों में यह मंजन लाभप्रद होता है। दन्तवेष्ट में इसका उप ही उत्तम रहता है। यदि इस मसी में कपूर, बच, कूठ और सम मात्रा में मिलाकर प्रयोग किया जावे तो अधिक लाभ हो दाँतों के अतिरिक्त कठिन जिह्वा रोगों में इसका उपयोग हो सक

गैरिकादि मंजन—गेरु २ सेर, भर्जित तुत्थ १ तोला मंजन करना उत्तम रहता है।

जात्यादि मंजन—चमेली की पत्ती ½ सेर, पुदीने की पत्ती और पान की पत्ती ½ सेर लेकर बनाये महीन चूर्ण का मंजन।

इरिमेदादितैल—(भावप्रकाश) ४०० तोले खैर की छाल तोले पानी में पकाकर चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ करे। पश्चात दो से कड़ाही में लेकर उसमें उस क्वाथ तथा निम्न कल्क को डालकर विधि से पाक करे—काला खैर, लौंग, गेरू, अगरु, पद्माख, लोध, मुलैठी, लाख, बरगद की जटा, नागरमोथा, दालचीनी, कपूर, कंकोल, सफेद खैर, पतंग धौ के फूल, बड़ी इलायची, नाग कायफर, प्रत्येक का एक तोला। इस तैल का दाँतों और मसू रगड़ने से सभी तत्स्थानगत रोगों में लाभ होता है।[1]

लाक्षादितैल—तैल, लाक्षारस और क्षीर प्रत्येक का एक-एक लेकर पकावे पुनः इसमें निम्नलिखित द्रव्यों का एक-एक पल उससे चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ को उसी में डाल दे। लोध्र, कटफल केसर, पद्मक, चंदन, उत्पल, मधुयष्टि। इस तैल के गण्डूष धा

१. प्रदुष्टमांसं चलितं शीर्णदन्तश्च शौषिरम्। शीतादं दन्तहर्षञ्च विद्रधिं कृमि दन्तस्फुटनदौर्गन्ध्यं जिह्वाताल्वोष्ठजां रुजाम्। (भा० प्र०)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

...लन, चलदन्त, हनुमोक्ष, कपालिका, शीताद, पूतिवक्त्र, अरुचि, ...पूति रोग नष्ट होते हैं एवं दाँत स्थिर होते हैं। अस्तु, दन्तरोगों में ...जित यह लाक्षादितैल है। (यो० र०)

७

जिह्वागतरोग

(Affections of the Tongue)

जिह्वाकंटक (Chronic Superficial glossitis)—वात, पित्त और ...क दोषों से, पृथक् पृथक् अपने लक्षणों के अनुसार जिह्वा में कंटक ...ा का प्रादुर्भाव होता है। वात से उत्पन्न कंटक से जिह्वा विदारयुक्त, ...ज्ञान विरहित और शाकपत्र के समान खुरदरी हो जाती है। पित्त ...कोप से उत्पन्न कंटक में जिह्वा पीतवर्ण दाहयुक्त, रक्तयुक्त और अंकुरों ...व्याप्त रहती है। कफदोष से उत्पन्न कंटक में जिह्वा भारी स्थूल ...र शाल्मली कंटक के सदृश अंकुरों से व्याप्त रहती है।

आधुनिक ग्रन्थों के वर्णित जिह्वारोगों में कंटक नामक व्याधि का ...ान जीर्णजिह्वाशोथ (Chronic superficial glossitis) से समता ...खता है।

जिह्वाशोथ (Glossitis)—के वर्णन पाश्चात्य वैद्यक में कई प्रकार ...मिलते हैं।

तीव्र उपरितन प्रकार—(Acute superficial type) सम्पूर्ण मुख ...र के पाक (मुख पाक) के परिणामस्वरूप यह रोग होता है।

तीव्राभिघातज प्रकार (Acute Parenchymatous type)—यह ...कार अधिकतर दुष्ट व्रण, गहरे अभिघात, दंश तथा कीटदंश प्रभृति ...भ की चोटों और पारदसेवन के कारण होता है। उपसर्गकारी जीवा-...ओं में अधिकतर मालाकार पूयजनक (Strepto coccus pyoge-...es) का संक्रमण कारणभूत होता है। इस अवस्था में जिह्वा पीडा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

युक्त, फूली हुई और मुख से बाहर निकलती रहती है। ला अत्यधिक तथा बोलने, निगलने और श्वासोच्छ्वास में बाधा पड़ती है। अत्यधिक श्वासकृच्छ्र तब होता है जब शि का प्रसार 'ग्लाटिस' (Glottis) तक हो जाता है। ग्रैवेय शोथयुक्त हो कर बढ़ जाती है। कई बार यह अवस्था जिह्वा या एक ही पार्श्व में (Hemiglossitis) होता है। अधिक का उपशम हो जाता है—यदि उपशम नहीं हुआ तो नि परिणाम पूयोत्पत्ति अथवा निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene) में सकता है।

जीर्ण उपरितन जिह्वाशोथ प्रकार—ओष्ठ तथा कपोल के श्लेष्म के विकारों के साथ-साथ यह रोग पाया जा सकता है। रोग के में १. फिरंग की तृतीयावस्था २. अत्यधिक धूम्रपान ३. दन्तप के (Carious or rough teeth) उपसर्ग या रगड़ ४. (Spirits) ५. अधिक गर्म मसालेदार भोजन (विशेषतः मन्दा वातरक्त के रोगियों में) जीर्ण प्रकार का शोथ या वातकंटक रोग होता है। यह विकार अधिकतर चालीस से साठ वर्ष की पाया जाता है। इस रोग का पच्चीस प्रतिशत तक परिणमन 'ए योमा' नामक घातकार्बुद में हो जाता है। इस रोग की पाँच अव का वर्णन आधुनिक ग्रन्थों में मिलता है—जिनमें एक ही समय अवस्थायें भी पाई जा सकती हैं।

अवस्थायें—जिह्वा पर अंकुरों के सूजन के कारण लाल और धिक्ययुक्त चकत्ते पाये जाते हैं।

२. लाल और कोमल चकत्ते पाये जाते हैं—अंकुर नष्ट हो जा इस अवस्था में स्थानिक (Localised or psoariasis of the gue) अथवा विस्तृत (Generalised) हो कर जिह्वा का वर्ण हुआ लाल (Glazed red tongue) भी हो सकता है।

३. विदार, गर्तयुक्त तथा व्रणित जिह्वा रहती है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. जिह्वा का वर्ण—श्वेत अपारदर्शक, उभारयुक्त या अंकुरयुक्त जिह्वा हो जाती है—इस प्रकार का विशेष नाम (Leukoplakia or Ichtheosis) इक्थियोसिस है।

५. विदार के आस पास खुरदरे क्षेत्र पाये जाते हैं—जो भविष्य होने वाले घातकार्बुदों की सूचना देते हैं।

लक्षण—इन अवस्थाओं में तीन लक्षण प्रधान होते हैं—(क) दाहना या पीड़ा–अधिक उस समय होती है जब कोई उष्ण पेय, खुशबूदार गरम मसाले (Condiments) अथवा मद्य का सेवन किया जाय। (ख) बोलने में अक्षमता। (ग) स्वाद ज्ञान का अभाव।

विवेचन—उपरोक्त लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है आयुर्वेदोक्त जिह्वाकंटकाभिध रोग निश्चित् रूप से पाश्चात्य विज्ञान जीर्ण जिह्वाशोथ (Glossitis) का ही वर्णन है। दोषानुसार भेद करने पर वातिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की उपरोक्त तीसरी अवस्था से[1], पैत्तिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की प्रथम और द्वितीय अवस्था से[2] तथा श्लैष्मिक प्रकार (Chronic Superficial glossitis) की चतुर्थ और पंचम प्रकार समानता है।[3]

चिकित्सा—क्षोभक कारणों को दूर करना। धूम्रपान, तम्बाकूखाना, तथा गरम मसाले (Condiments) का परिहार करना चाहिये। कृमिदन्त हो तो उसको भी दूर करना चाहिये। साथ ही जीवाणु विरोधी गण्डूषों (Mouth washes) के द्वारा मुख का प्रक्षालन करना चाहिये। इस कार्य में "सेवलान" (Cevlon I. c. i.) द्रव का पानी घोल बनाकर कुल्ली करना या इसी की बनी लाजेन्जेजका मुख में धारण करना उत्तम लाभप्रद है। जिह्वा के विदारों के लिये 'क्रोमिक एसिड' (५ ग्रेन का एक औंस में बने द्रव से) का लेप करना चाहिये।

१. जिह्वानिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा।
२. पित्तात्सदाहैरनुचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कंटकैश्च।
३. कफेन गुर्वी बहुलान्विता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकंटकाभैः। (सु.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

तीव्र दाहक पदार्थों का प्रयोग निषिद्ध है। यदि फिरंग के उपद्रव रोग की उत्पत्ति हुई हो तो फिरंग नाशक चिकित्सा भी करनी

जिह्वाकंटक की अवस्था में कई औषधियाँ उपयोगी मिल जैसे बबूल की फली को जला कर उसकी राख का रगड़ना, या गुडूची के प्ररोह का चूसना, मुखपाक की चिकित्सा में भल्लातक मसी का जीभ के ऊपर लेप करना, एलादिचूर्ण, सहकार या कल्याणावलेह का जिह्वा के ऊपर मधु मिलाकर लेप जात्यादि कषाय से दिन में कई बार कुल्ली करना आदि। चिकित्सा निम्नलिखित प्रकार से वर्णित है।

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सासूत्र—१. शोणित-मोक्षण प्राय: जिह्वा रोगों में रक्त विस्रावण की क्रिया करनी चाहिये। २. धारण—गुडूची, पिप्पली, निम्ब और कुटकी का कवल धारण चाहिये। *वातकटक* में वातिक ओठ प्रकोपवत् मोम के साथ हुए घृत, वसा, मज्जा, या तैल का स्थानिक प्रयोग, अभ्यंग, नाड़ी शाल्वणोपनाह; वातघ्न तैलों का नस्य तथा प्रतिसारण प्रभृति को करना चाहिये।

पित्तकंटक में—गोजी, शेफालिका प्रभृति पत्रों से घर्षण करना जिससे विकृत रक्त का निर्हरण हो जाय, पश्चात् काकोल्यादि ओषधियों से प्रतिसारण, गण्डूष, नस्य प्रभृति कर्मों को करना चा

श्लेष्मकंटक में—लेखन करके रक्तविस्रावण करने के बाद पिप्प गण की ओषधियों से प्रतिसारण तथा पीले सरसों और सैन्धव से कवलधारण करना चाहिये। पश्चात् पटोल, निम्ब, बैंगन तथा मिश्रित यूष के साथ भोजन रोगी को देना चाहिये।[1] कचनार

१. जिह्वागतविकाराणां शस्तं शोणितमोक्षणम्।
गुडूचीपिप्पलीनिम्बकवलः कटुभिः सुखः। ओष्ठप्रकोपेऽनिलजे यदुक्तं प्राक् चिकि
कण्टकेष्वनिलोत्थेषु तत्कार्यं भिषजा खलु। पित्तजेषु विघृष्टेषु निःसृते दुष्ट
प्रतिसारणगण्डूषं नस्यं च मधुरं हितम्। कंटकेषु कफोत्थेषु लिखितेष्वसृ
पिप्पल्यादिर्मधुयुतः कार्यस्तु प्रतिसारणे। गृह्णीयात्कवलांश्चापि गौरसर्ष
पटोलनिम्बवार्ताकुक्षारयूषैश्च भोजयेत्। (सु.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और खदिर का क्वाथ बना कर गण्डूष धारण करना भी हितकर है। यह क्रिया प्रातःकाल में करनी चाहिये।[1]

अलास—कफ और रक्त के विकार से जिह्वा के नीचे बड़ा गाढ़ा उभार या शोथ होता है। यह शोथ बहुत बढ़ जाने पर जिह्वा का स्तम्भ कर देता है अर्थात् जीभ जकड़ जाती है और इसके कारण, जिह्वा के मूल में तीव्र पाक होता है। इस व्याधि को अलस या अलास कहा जाता है। 'आयुर्वेदविज्ञान' कार इसे त्रिदोषज रोग मानते हैं—क्योंकि इसमें जिह्वास्तम्भ वायु के कारण, शोथ या उभार कफ के कारण और भृश पाक पित्त के कारण होता है। यद्यपि सुश्रुत ने इसे कफ और रक्त का ही मूर्तिस्वरूप बतलाया है।[2]

पाश्चात्यवैद्यक की दृष्टि से कुछ लोगों ने इस रोग की तुलना 'सब्लिंगुवल एब्सेस' (Sublingual abscess) से की है; परन्तु सुश्रुत की चिकित्सा की दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा मालूम होता है कि यह व्याधि कोई घातक अर्बुद (Carcinoma) जैसी है और जो चिकित्सा में असाध्य है। इसीलिये चिकित्सा के स्थान में इसकी कोई विशेष चिकित्सा नहीं दी गई है। अष्टाङ्गहृदयकार ने इसकी दो विशेषतायें मांस को नष्ट करने वाला (मांस शातन) एवं मछली सदृश गन्ध का स्राव (मत्स्यगन्धि) होना बतलाई हैं जो घातकार्बुद की ओर इंगित करता है।[3]

उपजिह्वा—(Ranula) कफ और रक्त के विकार से होने वाला जिह्वाग्रके रूप का एक शोथ जीभ के नीचे होता है जिससे जीभ ऊपर

---

१. कांचनारकृतः क्वाथः प्रातरास्ये धृतः सुखः।
कुर्यात्सखदिरो जिह्वादरणोन्मूलनं मुहुः। (यो. र.)

२. जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम्। (सु.)

३. कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तम्भकृदुन्नतः।
मत्स्यगन्धिर्भवेत् पक्वः सोलसो मांसशातनः। (अ. उ. २१)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

को उठी रहती है और रोगी को प्रसेक, (लालास्राव) खुजली और
होता है। इस रोग को उपजिह्विका कहते हैं।[1]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एक रोग का वर्णन आता है
'रैनुला' (Ranula) कहते हैं। उसमें जिह्वागत लसीकावाहिनि
अवरोध होकर जिह्वा के नीचे शोथ हो जाता है और उसका
एक ग्रन्थि के रूप में होता है, जिसके कारण जिह्वा स्थानान्त
जाती है।

Acystic swelling in the floor of the mouth con-
ing glairy mucoid fluid which differs in compos
from saliva. It may be a retention or degeneration
of the glands of Blandin and Nuhn or of the n
of dermoid arising from a displaced part of the cer
sinus. It forms a unilateral smooth, rounded, bluish
nslucent swelling to one side of the frenum and
displace the tongue.

अर्थात् मुख गुहा के फर्शपर पाया जाने वाला एक उभार
जिसमें चमकदार, श्लेष्मलद्रव, जो लाला से पृथक् संघटकों
है, भरा रहता है। यह विकार 'ब्लाण्डीन' की जिह्वीय लालाग्रन्थि
निरोध या अपचय जन्य होता है अथवा भ्रूण ग्रीवा परि
स्थानान्तरित भाग से त्वगर्बुद के समान उद्भव का हो सकता है।
द्रव ग्रंथि जिह्वा-कलापुटक के एकपार्श्व में चिकने, गोल, नीलव
पारदर्शी उभार के रूप में पाई जाती है जिससे जिह्वा अप
हो जाती है।

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा में १. लेखन
२. क्षार के द्वारा प्रतिसारण ३. शिरोविरेचन ४. गण्डूष और ५.

१. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः।
प्रसेककण्डूः परिदाहयुक्तः प्रकथ्यते सा उपजिह्विकेति।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विधान किया है।[1] योगरत्नाकर ने व्योष, क्षार,' अभया, चित्रक चूर्ण से घर्षण करने, इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल का अभ्यंग, गृहधूम जी, मधु और सैन्धव मिलाकर लगाने, हाथ के द्वारा मर्दन करने र निर्गुण्डीपत्र तथा मुसलीकन्द चर्वण करने का विधान किया । आधुनिक युग की चिकित्सा में १. अशेष निर्मूलन (Complete moval) शस्त्रकर्म के द्वारा २. यदि पूरा न निकल सके तो अवशिष्ट ा को दाहकर्म (Diathermy) के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

८

तालुगतरोग

(Affections of the Palate)

गलशुण्डी या कंठशुण्डी—(Elongated Uvula) इसके उत्पादक रण रूप में कफ और रक्त दोष बतलाये गये हैं जिससे तालु के में दीर्घ भरी मसक के समान, तृष्णा, श्वास, कासादि लक्षणों के थ युक्त होकर शोथ उत्पन्न होता है।[2] अंग्रेजी में इस विकार को ांगेटेड यूवूला' कहा जाता है। यह अवस्था अधिक पुरानी खाँसी वातिक कास के रोगियों में देखने को मिलती है। बोली में इसको ा 'कौवा' कहते हैं। यह अंग शोफयुक्त होकर बढ़ जाया करता है। में रोगी को बड़ी प्रबल सूखी खाँसी आती है जो विशेषतः चित ने में और बढ़ जाती है, कई बार खाँसते खाँसते रोगी को वमन होने लगता है।

१. उपजिह्वां तु संल्लिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत् ।
शिरोविरेकगण्डूषधूमैश्चैनमुपाचरेत् । (सु.)

२. श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात्प्रवृद्धो दीर्घः शोफो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति व्याधिं वैद्यः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

चिकित्सा—प्रारम्भिक अवस्था में कई प्रकार के संकोचक स्थानिक प्रयोग से ही शोफ का शमन हो जाता है।[१] जैसे— मूलचर्वणम्'-हरसिंगार की जड़का चूसना। बच, अतीस, पाठा कुटकी-निम्ब के छाल के काढ़े का गण्डूष (गार्गल) करना यदि शमन न हो तो शस्त्रकर्म करना चाहिये। संक्षेप में शस्त्रकर्म का विधान यह है कि शुण्डी को 'कोकेन' (संज्ञा विशेष) को अच्छी तरह से लगाकर स्थान को संज्ञाहीन कर्त्तरी के द्वारा वृद्धियुक्त अंग के दो तृतीयांश का छेदन (काटकर) कर दिया जाता है।

सुश्रुत ने भी कण्ठशुण्डी की चिकित्सा में शस्त्रक्रिया का किया है, जिसका अविकल वर्णन उन्हीं के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत जाता है—

पूर्वकर्म— अंगुष्ठ अंगुली और संदंश (Forceps) की से जिह्वा के ऊपर पड़ी हुई गलशुण्डिका को खींचकर। छोड़कर या दो भाग छोड़कर तृतीयांश का मण्डलाग्र शस्त्र छेदन (Excision) करना चाहिये। छेदन के समय में इस ध्यान रखे कि अधिक या कम न कटने पाये। क्योंकि दोनों रोगी के लिये हानिकारक हैं। अधिक कट जाने से अत्यधिक होने का भय रहता है जिससे रोगी की मृत्यु तक हो जाती है विपरीत कम कटने पर हीन छेदन होने से शोफ, लालास्राव, भ्रम (चक्कर आना) रोगी में होने लगता है। अत एव विशारद वैद्य को सावधानी से शस्त्रकर्म करना चाहिये।"[२]

---

१. युंज्यात्कफहरं शुण्ड्यां रसं गण्डूषधारणे।
कुष्ठोषणवचासिन्धुकणापाठाप्लवैः सह।
सक्षौद्रैर्भिषजा कार्यं गलशुण्डीप्रघर्षणम्। (यो० र०)

२. अंगुष्ठाङ्गुलिसंदंशैराकृष्य गलशुण्डिकाम्।
छेदयेन्मण्डलाग्रेण जिह्वोपरि तु संस्थिताम्।
नोत्कृष्टञ्चैव हीनञ्च त्रिभागं छेदयेद्भिषक्।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पश्चात्कर्म—"वचा, अतीस, पाठा, कुटकी, रास्ना और निम्ब का क्वाथ बनाकर उसका कवल धारण करना। इङ्गुदी, कटभी, त्रिवृत्, दन्ती, देवदारु इन पाँच द्रव्यों के कल्क से बने पंचाङ्गी वर्तिका से धूम्रपान कराना चाहिये। यह कफघ्न क्रिया है। दिन में दो बार करके धूमपान कराना चाहिये। क्षार सिद्ध मूँग की दाल भोजन के लिये देना चाहिये।"

"पश्चात् कर्म की इसी विधि का प्रयोग, तुण्डिकेरी, अध्रुष, कूर्म, संघात और तालुपुप्पुट नामक रोगों में करना चाहिए—इन रोगों का वर्णन आगे किया जायगा।"[1] शस्त्रकर्मों में रोगानुसार थोड़ी विशेषता की जा सकती है। शस्त्रकर्म में विशेष भेद इस प्रकार करना चाहिये। तुण्डिकेरी और तालुपुप्पुट में भेदन करना, अध्रुष और मांस संघात में छेदन करना अथवा मांस का उभार अधिक हो तो लेखन करना तथा कूर्म या कच्छप का छेदन करना आवश्यक है। (डल्हण)

तुण्डिकेरी (Tonsils)—वनकपास के फलों को कहते हैं—इसके समान शोथ होने के कारण ही रोग को तुण्डिकेरी कहा जाता है।[2] यह कफ रक्तज होता है। इसमें दाह, पाक, शूल, तोद और दीर्घ शोथ होता है। वाग्भट ने इस रोग का वर्णन कंठगत रोगों में दिया है इस आधार पर तथा लक्षणों के अनुसार इस रोग की समता आधुनिक वर्णनों में वृद्धियुक्त टान्सिल (Enlarged Tonsil) से हो सकती है। यह विकार विभिन्न प्रकार के जीवाणु के उपसर्ग से होता है।

चिकित्सा—में गलशुण्डीवत् शस्त्रकर्म तथा पश्चात् कर्म करना

अत्यांदानात्स्रवेद्रक्तं तन्निमित्तं म्रियेत च।
हीनच्छेदाद् भवेच्छोफो लाला निद्रा भ्रमस्तमः।
तस्माद्वैद्यः प्रयत्नेन दृष्टकर्मा विशारदः।
गलशुंडीं तु संच्छिद्य कुर्यात् प्राप्तमिमं क्रमम्। (सु०)

१. एष एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि।
तुण्डिकेर्यध्रुषे कूर्मे संघाते तालुपुप्पुटे। (सु०)

२. शोथः शूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

चाहिये। सुश्रुत ने इसे भेद्यरोग माना है। अस्तु, इसके श
इसकी विशेषता रखनी चाहिये।

कच्छप या कूर्म—(Adenoma of the Palate) क
समान ऊपर को उठा हुआ, वेदना रहित, देर में पाक होने
कफजन्य रोग है।[१] वर्त्तमान युग के पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर
रोगों से साम्य करने पर इसके विशेष लक्षणों से युक्त
नहीं मिलता फिर भी यदि इसको कोई घातक अर्बुद (सा
कहे तो अनुचित न होगा। क्योंकि इसकी कृच्छ्रसाध्य प्रकृति,
कालीन वृद्धि और चिकित्सा में छेदन के विधान का उल्लेख
यही उचित प्रतीत होता है। सुश्रुत ने इस रोग को पूर्ण असा
बतलाते हुए शस्त्रकर्म का विधान किया है और इसकी चिकित्सा
का उपदेश किया है। इसमें गलशुण्डीवत् छेदनकर्म का विधान
अस्तु, संभव है यह एक प्रकार का सौम्य अर्बुद हो। इसमें
आधुनिक 'एडीनोमा' नामक रोग से बहुत मिलते जुलते हैं।
This usually occurs between fifteen and thirty ye
age, appearing as a *slowly growing submucous tu*
of the soft palate to one side of the middle line.

अर्थात् यह रोग अधिकांश पन्द्रह से तीस वर्ष की आयु में
है। श्लेष्मलकला के नीचे से, मृदुतालु में मध्यरेखा के एक प
धीरे-धीरे वृद्धि करने वाला यह अर्बुद होता है।

तात्वर्बुद—(Epithelioma of the palate) यह त
पद्मकर्णिका के आकार का रक्तार्बुद के लक्षणों से युक्त उभ
आधुनिक परिभाषा में इसे कैन्सर कह सकते हैं तथा यह असाध्य

तालु में होने वाला यही एक रोग है जिसको सुश्रुत ने अ
घोषित कर चिकित्सा करने की व्यवस्था नहीं दी है-इस आधार
इसे 'सारकोमा' अथवा 'एपिथिलिपोमा' नामक आधुनिक रो
कोटि में माना जा सकता है।

१. शोथः शूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।
२. पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम्।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मांससंघात—(Fibroma) यह कफ के कारण पीड़ा रहित दुष्ट मांस की उत्पत्ति है जो तालु के अन्तस्थ भाग में पाया जाता है।[1] यह एक प्रकार का सौम्य अर्बुद है। चिकित्सा में शस्त्रकर्म (छेदन) द्वारा साध्य है। इसके लक्षण अंग्रेजी ग्रंथों में वर्णित 'फाइब्रोमा' के साथ समानता रखते हैं।

तालुपुप्पुट—(Epulis) यह वेर सदृश (परिमाण का) मेद युक्त कफ से उत्पन्न पीड़ा रहित वृद्धि है। यह एक स्थायी शोफ होता है।[2] इस वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि यह विकार तालु में होने वाला ग्रंथि रूप (Cystic Swelling) है। इस रोग की तुलना कई लेखकों ने अंग्रेजी के 'इप्युलिस' रोग से की है। यह बहुत कुछ ठीक है। यद्यपि आजकल इसका उद्भव दन्तकोटर के पर्यस्थ्यावृति (Periosteum of the Alveolus) से माना जाता है। तथापि तालु के सान्निध्य के कारण इसे तालुगत रोगों में प्राचीनों ने उल्लेख किया है।[3] इसकी आधुनिक चिकित्सा भी १. छेदन (Free local excision) २. दाहकर्म (Prophylactic Irradiation) चिकित्सा ग्रंथों में बतलाई गई है जो प्राचीनों की चिकित्सा से पूर्णतया साम्य रखती है। सुश्रुत ने इसको सूत्रस्थान के वर्गीकरण में भेद्य रोगों में गिनाया है, परन्तु चिकित्सा स्थान में चिकित्सा गलशुण्डीवत् करने का भी विधान किया है।

तालुपाक—(Ulceration of the Palate) तालु में पित्त जब पाक उत्पन्न करता है तो उसे तालुपाक कहते हैं। इस अवस्था में

---

१. दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च तात्वन्तस्थं मांससंघातमाहुः।

२. नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तः, पुप्पुटस्तालुदेशे।

३. आजकल भी मुखरोगों की अथवा तालु रोगों की चिकित्सा में दन्तविशे- षज्ञ तथा सर्जन को सहयोग के साथ कार्य करना होता है। क्योंकि तालु और दन्तमूल में निकटतम सम्बन्ध रहता है। अस्तु दन्तमूलगत अर्बुद का तालुगत रोगों में पाठ करना समुचित ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

तालु में अत्यन्त घोर पाक होता है।[1] इस अवस्था को अंग्रे… 'अल्सरेशन आफ दी पैलेट' कहा जाता है। आधुनिक अंग्रेजी … में इस व्रण के कई प्रकार पाये जाते हैं। जैसे—

१. साधारण (Simple)—सामान्यतया सभी प्रकार के मुख… में पाया जाता है।

२. फिरंगज (Syphilitic)—फिरंगोपसर्ग की द्वितीयाव… (Mucous patches and Snail track ulcers) कोमल… कठिन दोनों ही तालुव्रणों से भर जाते हैं। तृतीयावस्था में गे… (गमा) का बनना उनका व्रणित होकर या कोथयुक्त होकर ता… छिद्रित (Perforated) कर देना सम्भव है जिससे स्वर सानु… हो जाता है।

३. चर्मकीलज (Lupoidal)—बच्चों में अधिक देखने को… है—नासा, ओष्ठ या कपोल से इनकी पहुँच प्रसार होते हु… तक हो जाती है इनके कारण भी व्रण होकर स्थानिक धातु… भयंकर नाश होना संभव है।

४. घातकार्बुद (Epithelioma) के कारण तालु का पा… भी संभव है।

चिकित्सा—इसमें पित्त नाशन का विधान करना चाहिए।[2]

अध्रुष—(Palatitis) तालु प्रदेश में रक्त के कारण उत्प… तीव्र पीडा और ज्वर से युक्त रक्तवर्ण का कठिन शोथ अध्रुष क… है।[3] इस विकार को तालु का तीव्र शोफ (Acute Inflamm… of the Palate) तालु की विद्रधि (Abscess of the Pa… समझना चाहिये। कई स्थानों में अध्रुष की जगह 'अध्रुव' … पाठ मिलता हैं। इसकी चिकित्सा में गलशुण्डीवत् छेदन … विधान है।

१. पित्तं कुर्यात्पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति।

२. तालुपाके तु कर्त्तव्यं विधानं पित्तनाशनम्।

३. शोथ स्तब्धो लोहितः शोणितोत्थो ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तालुशोष—यह एक वातज व्याधि है–जिसमें तालु का सूखना तथा ...का दरार युक्त होना और श्वास का उग्र रूप से चलना ये लक्षण ...लते हैं।[१] वाग्भट ने इस रोग को संसर्गज (वायु एवं पित्त के कारण) ...ने वाला बतलाया है। वर्त्तमान शल्य ग्रन्थों में इस प्रकार के रोग ...कोई वर्णन नहीं पाया जाता है। एक सहज रोग का जिसमें तालु ...द्विधा विभाजन हुआ रहता है उल्लेख आता है। अंग्रेजी में इस ...स्था को 'क्लेफ्ट पैलेट' कहा जाता है। इसमें मुख की छत में जन्म-...त विकार के कारण तालु के दोनों भागों का संयोजन नहीं हो ...ता है। चिकित्सा में इस रोग में संयोजन करके तालु का सुधार ...दिया जाता है।

प्राचीनों का तालु रोग में पठित 'तालुशोष' इस रोग से भिन्न ...ई अवस्था है। संभव है, सार्वदैहिक विकार, रक्तदुष्टि (Constitu-...n disorder) तथा विषमयता (Toxaemia) के कारण यह रोग ...क्षण रूप में तालु में व्यक्त होता हो। चिकित्सा में इसमें सार्वदैहिक ...व काय चिकित्सा के उपचार लाभप्रद माने गये हैं। स्थानिक ...कित्सा में तालु पर अभ्यंग करके स्वेद करने का विधान है।[२]

९

गलगत या कंठगत रोग

(Affection of the Throat)

रोहिणी (Diptheria)—वात-पित-कफ-रक्त दोष पृथक् पृथक् ...थवा सभी मिलकर गले में वर्द्धित होकर वहाँ के मांस को दूषित कर ...गले को रुद्ध करने वाले मांसाङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार

१. शोषोत्यर्थं दीर्यंते चापि तालुः श्वासो वातात्तालुशोषोयमुक्तः।
२. स्नेहस्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः।

...ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

गले एवं श्वास का रोध करके प्राण को नष्ट करने वाली व्याधि रोहणी रोग कहते हैं।[1]

रोहिणी सन्निपात से होती है, इसमें वातजादि का व्यपदेश उत्कृष्टता के कारण है। इनमें मारक काल पृथक्-पृथक् बतलाये है। खरनाद, भोज, चरक तथा मधुकोष में भिन्न भिन्न कालों का है। प्रत्येक दोष से उत्पन्न रोहिणी की विशेष अवस्थायें तथा पाये जाते हैं।

वातिक रोहिणी—जिह्वा के चारों तरफ अत्यधिक वेदनायुक्त से मांसाङ्कुर हो जाते हैं जिससे कण्ठ रुद्ध हो जाता है। इसके रिक्त अन्य भी वायु के कारण होने वाले उपद्रव उत्पन्न होते हैं।[2]

पैत्तिक रोहिणी—इसमें मांसांकुर बड़ी शीघ्रता से उत्पन्न होते गति से फैलते तथा तीव्र दाह, पाक, राग प्रभृति पैत्तिक लक्षणों को करते हैं।[3]

श्लैष्मिक रोहिणी—कफजन्य रोहिणी में भारी और स्थिर मांस होते हैं, देर से उनमें पाक होता है। इसमें स्रोतस का अवरोध विशेष लक्षण रूप में मिलता है[4] जिससे श्वासावरोध शीघ्र होता है।

त्रिदोषजन्य रोहिणी—में लक्षण बड़े सांघातिक होते हैं चढ़ाव रोकना कठिन होता है और गहराई में दोष का अवस्थान होने गम्भीर (गहराई में स्थित) धातुओं का पाक होता है। लक्षण त्रिदोष मिलते हैं।[5] यह चिकित्सा में असाध्य है।

---

१. गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्छितौ प्रदुष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथांकुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरयं तु रोहिणी।

२. जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढ़युक्ता।

३. क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजाता।

४. स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुरुः स्थिरा सा कफसम्भवा तु।

५. गम्भीरपाकिन्यनिवारवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रिभवा भवेत्सा।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

... in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra...

रक्तज रोहिणी—प्रायः सभी लक्षण पैत्तिक के मिलते हैं विशेषता ...ड़े बड़े स्फोटों के निकलने में रहती है। यह असाध्य प्रकार है।[1]

साध्यासाध्यता—यों तो सभी रोहिणी रोग त्रिदोषजन्य और घातक ...ते हैं, परन्तु दोषोत्कटता के विचार से उपरोक्त पाँच प्रकार किये ...ये हैं। इनमें अन्तिम दो अर्थात् त्रिदोषज और रक्तज असाध्य और ... कृच्छ्रसाध्य हैं। अस्तु, साध्यों की ही चिकित्सा आगे बतलायी ...यगी।[2] साध्यासाध्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि अन्तिम ...तो निश्चितरूप से असाध्य हैं—चिकित्सा करने पर भी कोई शुभ फल ... नहीं होता और शेष पूर्वोक्त तीनों में ठीक समय से विधिपूर्वक ...कित्सा करने पर सफलता की आशा रहती है अन्यथा वे भी असाध्य ...जाते हैं जैसी कि उक्ति है।[3] घातक काल मर्यादा—त्रिदोपज और ...ज सद्योघातक हैं, कफ समुद्भव रोहिणी तीन दिनों में, पित्तजन्य

---

१. स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गाऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मका तु।

२. वातात् पित्तात् कफात्त्रिभ्यो रक्ताद्रोहिण्य ईरिताः (सु.)
अन्त्ये सद्यो मारयत अद्यास्तिस्रः क्रियां विना। (डल्हण)

३. सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहात्कफसमुद्भवा।
पंचाहात्पित्तसम्भूता सप्ताहात्पवनोत्थिता। (यो. र.)
रोहिणीनां तु साध्यानां हितं शोणितमोक्षणम्।
वमनं धूमपानञ्च गण्डूषो नस्यकर्म च।
वातजां तु हृते रक्ते लवणैः प्रतिसारयेत्।
सुखोष्णस्नेहगण्डूषान्धारयेच्चाप्यभीक्ष्णशः।
विस्राव्य पित्तसम्भूतां सिताक्षौद्रप्रियंगुभिः।
घर्षयेत्कवलो द्राक्षापरुषैः क्वथितैर्हितः।
आगारधूमकटुकैः श्लैष्मिकीं प्रतिसारयेत्।
श्वेताविडङ्गदन्तीषु तैलं सिद्धं ससैन्धवम्।
नस्यकर्मणि दातव्यं कवलं च कफोच्छ्रिते।
पित्तवत्साधयेद्वैद्यो रोहिणीं रक्तसम्भवाम्। (सु.)

...ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao...

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

रोहिणी पाँच दिनों में और वातजन्य रोहिणी एक सप्ताह में घा
होती हैं।"

चिकित्सा—आचार्य सुश्रुत ने रोहिणी रोग की चिकित्सा में
स्पष्ट लिखा है कि उनकी लिखी चिकित्सा केवल साध्य की कोटि
आने वाले रोहिणी की ही है असाध्यों की नहीं। चिकित्सा सूत्र नि
लिखित प्रकार से वर्णित मिलता है।

१. शोणित मोक्षण २. वमन ३. धूम ४. गण्डूष और नस्य कर्म-सा
न्यतया सभी साध्य रोहिणी विकारों में करना चाहिये[१] वातज में र
मोक्षण के बाद सैंधव नमक से प्रतिसारण करना चाहिये तथा सुखो
चतुर्विध स्नेह का गण्डूष धारण करना चाहिये, पैत्तिक रोहिणी में वि
वण के अनन्तर शर्करा, मधु और प्रियङ्गु से घर्षण करना चाहि
द्राक्षा और परूषक के क्वाथ का कवल धारण करना चाहिये। श्ले
रोहिणी में रक्तविस्रावण के अनन्तर गृहधूम और कटु पदार्थों के
प्रतिसारण करना चाहिये। श्वेता, वायविडङ्ग और दन्ती से सिद्ध तै
नमक मिला कर नस्य देना चाहिये। अथवा कफाधिक्य की अवस्था
इसी का कवल धारण करना चाहिये। रक्तज रोहिणी में पि
चिकित्सा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार रोहिणी की सा
और दोष भेद से विशेष चिकित्सा का पाठ मिलता है।

इस शास्त्रीय पाठ के अतिरिक्त और भी कई फुटकर प्रचलित
भव सिद्ध योग मिलते हैं—जैसे रोहिणी की अवस्था में, पपीते के
का गले में लेप करना, पान के पत्रस्वरस का पिलाना अथवा
अनुपान के साथ कफघ्न औषधियों का प्रयोग करना। हिंगुलेश्वर
अथवा संजीवनीवटी का प्रयोग भी हितकर होता है।

पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थों में 'गलरोग के अध्याय में अथवा
सर्गिक रोगों के वर्णन में 'डिफ्थीरिया' नामक रोग का वर्णन
जाता है—जिसमें रोहिणी के प्रमुख लक्षण—ज्वर, भाषण शैथिल्य,
कृच्छ्रता, मांसाङ्कुरों की, या गले में अंकुरों या स्फोटों की उत्पत्ति
लक्षण प्रायः मिलते हैं। अत एव विद्वानों ने रोहिणी नामक व्याधि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

... In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पाश्चात्य वैद्यकोक्त 'डिप्थीरिया' नामक रोग ही माना है। यहाँ पर संक्षेप में उस रोग का आधुनिक वर्णन दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

रोहिणी (Diptheria)—यह रोग "क्लेबलोफलर" के दण्डाणुओं अथवा रोहिणी दण्डाणुओं से उत्पन्न होता है। यह रोग अधिकतर बालकों में दो से दस वर्ष की आयु में होता है। नासाग्रसनिका के भाग (Pillars of the Fauces, Tonsils, Base of the uvula) जिह्वा मूल तथा गलशुण्डिका के विकृत भागों पर झिल्ली पैदा होती है एवं वह फैलती है। इस स्थानिक विकृति के साथ ही रोग के जीवाणुओं के कारण विषमयता भी उत्पन्न होती है। इस विषमयता के फलस्वरूप रक्तवह संस्थान का अवसाद, घात तथा शुक्लीमेह (Circulatory Faillure, Paralysis & Albuminuria) भी रोगी में उत्पन्न हो जाते हैं।

कारण (Etiology)—'डिप्थीरियावेसिलस' के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं। १. गंभीर २. मध्यम और ३. क्षुद्र। इनमें से गंभीर प्रकार—मनुष्य के लिये भयानक है तथा अत्यधिक विषमयता उत्पन्न करते हैं। इनका बिन्दूत्क्षेप, प्याला, चम्मच आदि तथा दूध द्वारा भी प्रसार होता है। वाहकों द्वारा भी इनका प्रसार या मरक फैलता है।

वैकृतिकी (Pathology)—लसीका द्वारा प्रचूषित विष से शारीरिक विकृतियाँ होती हैं। प्रचूषित विष प्रथम अपिस्तर (Epithial) का नाश करके झिल्ली उत्पन्न करते हैं। झिल्ली लसीका गलित धातु (Fibrin, necrosed cellular tissues) और जीवाणुओं (Organism) से बनती है। यह ग्रसनिका, नासिका, स्वरयंत्र, श्वासमार्ग, हृदय, आमाशय, फुफ्फुस, त्वचा आदि पर भी उत्पन्न हो सकती है।

संचयकाल—प्रायः २४ घण्टे से अधिक नहीं होता, किन्तु ३–४ दिन तक भी हो सकता है।

भेदक—लक्षण

(१) *गलतोरणिकागत* (Faucial) :—

१. उपसर्ग धीरे-धीरे या एकाएक भी होता है।

...aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

२. शुष्कता निस्तेज (Listlessness), पाण्डुता (Pallor) सिर दर्द, वमन और मूत्र में शुक्ली (Albumin) मिलता है।

३. ताप (Tempreture) १००% होता है। गंभीरावस्था रोगी निर्ज्वर रहता है। नाड़ी मन्द तथा तीव्र गतियुक्त होती है।

४. प्रारम्भ में कण्ठ में रक्ताधिक्य तथा निगलने की कठिनाई है। २४ घटे के बाद धोये हुए चमड़े के समान झिल्ली हो जाती है तथा इसे निकालने पर रक्तस्राव होता है। उपसर्ग स्वरयन्त्र कंठ नाड़ी (Larynx) तक आ जाता है।

५. हनुसंधि के पास की ग्रन्थियों का शोथ होकर ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तथा गला कड़ा मालूम होने लगता है।

६. श्वास में विशिष्ट प्रकार की गंध आती है।

७. शरीर की व्यापी विषमयता के कारण रोगी सातवें दिन मर सकता है।

८. सातवें दिन के बाद हृदयगत विकार उत्पन्न होते हैं। साधारण रोगी में भी नाड़ी की गति तीव्र, रक्तभार का घटना तथा हृदय के पार्श्व का विस्फार होना, हृदयध्वनि का मंद सुनाई देना, बेचैनी (Drawsiness), संन्यास (Coma) तथा हृदय के दक्षिण भाग का अवसाद (Failure) होना, वमन, यकृत का रक्ताधिक्य (Enlargement), मूत्राल्पता—ये गम्भीर लक्षण हैं।

९. नाड़ी शोथ के कारण अंगघात होता है। इसी कारण से बोलना तथा निगलने की कठिनाई सर्वप्रथम होती है तथा मुख द्वारा प्रविष्ट पदार्थ नाक द्वारा बाहर वापस आता है।

१०. आँख की नियमन शक्ति (Acomodation) तथा (Vision) नष्ट हो जाती है। प्रतिक्षेप मिलता है। सातवें या सप्ताह में शाखाओं का घात होता है।

११. बच्चे की चाल-चलन बदल जाती है तथा पदच्युति होती है। बालक मंद, शांत या निश्चेष्ट स्वभाव का हो जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

...in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran...

निम्न अन्य प्रकार के भी रोहिणी रोग होते हैं। उनके स्थान भेद से भिन्न-भिन्न नाम हैं।

(२) स्वरयंत्रगत रोहिणी
(३) आनुनासिक रोहिणी
(४) कर्ण रोहिणी
(५) नेत्रकलागत रोहिणी (Conjunctival)
(६) योनिगत रोहिणी
(७) व्रणोत्पन्न रोहिणी

इन सबों में झिल्ली (Membrene) का बनना अनिवार्य है। इससे उन अंगों के कार्यों का अवरोध हो जाता है।

निदान—झिल्ली के अवलोकन से छूने से रक्तस्राव होने से तथा झिल्ली की अणुवीक्षणात्मक परीक्षा द्वारा रोहिणी के दण्डाणु का मिलना ...या का निदर्शक है। अन्य विशिष्ट लक्षणों से भी निदान-विनिश्चय किया जाता है।

चिकित्सा—प्रतिविष (Diptheria Antitoxin), प्रतिविष को मात्रा का निर्धारण रोगी की आयु के अनुसार न करके रोग के प्रसार एवं अवधि का विचार करते हुए करना चाहिये। सन्देहास्पद रोगियों में ४००० इकाई (units) को मात्रा में चिकित्सा का प्रारंभ करना चाहिये। जब रोग का पूर्ण निश्चय हो जावे तो १५००० इकाई की मात्रा में देना शुरू करे। यदि विषमयता बड़ी तीव्र हो तो अधिक मात्रा में तीस हजार से साठ हजार इकाई मात्रा भी दी जा सकती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रतिविष का मूल्य जितनी शीघ्रता से दिया जाय तभी रहता है अधिक विलम्ब हो जाने पर मात्रा बढ़ा कर देने का कोई महत्त्व नहीं है। 'वारोज एण्ड वेलकम' कम्पनी का गाढ़ा प्रतिविष १५०० यूनिट प्रति सीसी का आता है रोगियों की सुविधा की दृष्टि से यह उत्तम रहता है। एक मात्रा सूचीवेध करके मांसपेशी के द्वारा प्रथम बार दे। बारह से चौबीस घंटे के अनन्तर इसकी आधी मात्रा में दे। तीव्र रोग इस मात्रा में पुनः-पुनः ...ल चार दिनों तक प्रति विष के देने की आवश्यकता पड़ती है।

...aGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao...

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

(२) हृदयावसाद (Heartfailure) होने का विशेष भ
से रोगी को पूर्ण आराम के साथ लेटाकर रखे ।

(३) रोगी के पोषण के लिये दूध, मिश्री, 'ग्लुकोज' एवं
मात्रा में जल पीने के लिये देना चाहिये । विबंध हो तो ए
कोष्ठ शुद्धि कर दे । बेचैनी के लिये निद्राजनक ओषधि दे । म
का भी उपयोग अल्प मात्रा में करे ।

(४) टिंचर लवेण्डुली वा 'टिंचर मीरहे' (Myrrhy) वा
रोगी के गले में पिचकारी (Throat syringe) द्वारा देते हैं।

(५) यदि स्वरयंत्र अवरुद्ध हो तो भाप लेना तथा गरम क
गले को सेंकना तथा ऊनी मफलर आदि से बाँधकर रखना चाहिये

(६) श्वसनिकाभेदन (Tracheotomy) अथवा नाडीसं
(Intubation)—यदि रोग में सुधार न हो और श्वासावरोध के
व्यक्त होने लगें तो शस्त्र कर्म की शरण ले । एतदर्थ इस शल्य
विधान है ।

(७) संवर्धन करने पर भी जब तीन बार तक दण्डकाणु
तब रोगी को रोग मुक्त समझना चाहिये ।

(८) पेनीसीलीन (Penicillin 50,000 units, morni
evening.) अथवा अन्य बृहत्तर क्षेत्र के 'एण्टीबायटिक्स' का
वेध से प्रयोग करे ।

(९) शुल्वयोग (Sulpha Mezathin या Sulphatri
का उपयोग ।

(१०) तोरणिकाप्रकार (Faucial case) में तुण्डि
(Tonsillectomy) करना चाहिये ।

(११) वाहकावस्था के लिये 'शिक' परीक्षा (Shicktest)
चाहिये । जिसमें प्रतिक्रिया हो उसे अक्षम जाने । ऐसे व्य
प्रतिविष अल्प मात्रा में दे । जिसमें प्रतिक्रिया न हो । उसमें
है ऐसा समझना चाहिये और इनमें प्रतिविष देने की आव
नहीं रहती ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कण्ठशालूक—(Adenoids) 'वेर की गुठली के बरावर कफ से ...न्न हुई ग्रन्थि जो गले में कण्टक या शूल के समान, खुरदरा, स्थिर ...र शस्त्रक्रिया से साध्य हो वह कण्ठशालूक कहलाती है।' गले में बेर ...गुठली के समान आकार वाली कड़ी, स्थिर तथा काँटों सी उठी ...शूल के चुभी हुई काँटों के समान वेदना करने वाली तथा स्पर्श ...खर या कठिन जो गाँठ होती है उसे कण्ठशालूक कहते हैं[1]। इसमें ...प्रधान दोष रहता है। यह शस्त्रकर्म के द्वारा साध्य व्याधि है। ...ङ्गसंग्रहने इसका विशेष लक्षण मार्गावरोध तथा चरक ने श्वास ...या में बाधा बतलाई है।[2]

इन लक्षणों के आधार पर कई विद्वानों ने इस रोग को पाश्चात्यवैद्यक ...वर्णित रोग 'एडीनायड्स' बतलाया है।

चिकित्सा—रक्तविस्रावण करके तुण्डिकेरी के समान चिकित्सा ...नी चाहिये।[3]

गिलायु—गले में कफ और रक्त से उत्पन्न हुई, आँवले की गुठली ...बराबर स्थिर, अल्पपीड़ा करने वाली गांठ जिससे रोगी को अँटके ...भोजन की सी प्रतीति होती है। यह शस्त्र साध्य गिलायु नाम का ...है। इस रोग में श्वास तथा आहार में बड़ी कठिनाई होती है।[4]

वक्तव्य—'तुण्डिकेरी' तथा 'कण्ठशालूक' ये दो रोग ऐसे मिलते ...जिनकी संज्ञा निर्धारण अथवा पर्याय कथन में भ्रम हो जाता है। ...ण्डिकेरी' नामक व्याधि का वर्णन सुश्रुत ने अपने तालुगत रोगों ...र्ग में किया है—अतएव बहुतों के विचार से इस रोग का अंग्रेजी ...म 'एडीनायड्स' है। परन्तु अष्टाङ्गहृदय ग्रंथ की मान्यता दी जाय

१. कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रथिर्गले कंटकशूलभूतः।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति।

२. अन्तर्गले घुर्घुरकान्वितञ्च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारी। (च. चि. १२)

३. विस्राव्य कण्ठशालूकं साधयेत् तुण्डिकेरिवत्।

४. ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक् स्यात्कफरक्तमूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनञ्च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गले का रोग है एवं निश्चित कण्ठ के भीतर होने वाले विकार वृद्धियुक्त या शोथयुक्त 'टान्सिल' (Enlarged or Elongated Tonsil) का बोधक है। अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है 'हनुसन्धि के आश्रित स्थान में गले के भीतर कपास के फल (विनौले सदृश कठिन शोथ होता है, जिसमें मन्द-मन्द वेदना तथा पिच्छिल स्राव होता रहता है।'[1]

दूसरा रोग है 'कण्ठशालूक' इस रोग का परम्परया अर्थ वैद्य बढ़ा हुआ 'टान्सिल' ग्रहण करते हैं। परन्तु शास्त्रीय विवेचन के आधार पर इस रोग का अंग्रेजी पर्याय 'एडीनायड्स' युक्तियुक्त होता है। इन दोनों रोगों का पृथक् पृथक् पाश्चात्य वैद्यक ग्रंथों के आधार पर नीचे प्रसङ्ग आ रहा है—जिससे इस कथन की युक्तिमत्ता प्रमाणित होती है।

कंठशालूक (Adenoids)

व्याख्या (Definition)—नासा 'ग्रसनिका (Naso-pharynx) के लसिकाभ धातुओं (Lymphoid tissue) के जीर्ण (Chronic) वृद्धि को कंठशालूक (Adenoids) कहते हैं। इसे नासाग्रसनी तुण्डिका (Nasopharyngeal Tonsil) भी कहते हैं।

कारण (Etiology) :—यह रोग प्रायः बच्चों में पाया जाता है तथा २० वर्ष की आयु के बाद सामान्यतया नहीं मिलता, किन्तु चिरकालीन वृद्धि करके कहीं-कहीं मिलता भी है। ३–८ वर्ष के बीच के बच्चों में होने की सम्भावना विशेष रहती है। किन्तु जन्म के समय से भी या ८ वर्ष के बाद भी हो सकता है। यह विश्वव्यापी रोग है। आर्द्र भूमि वाले प्रदेश तथा चिरकालीन या बार-बार नासा प्रसेक होना इस रोग का मूल कारण माना जाता है। (Nasal catarrh) तीव्र प्रतिश्याय के अतिरिक्त रोहिणी (Diphtheria), स्क

१. हनुसन्ध्याश्रितः कण्ठे कार्पासीफलसन्निभः ।
पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिनस्तुण्डिकेरिका । (वा. उ. २१)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ज्वर, रोमांतिका (Measles) आदि रोग भी कारण भूत हो सकते हैं।

वैकृतिकी (Pathology) :—यह लसिकाभ धातुओं का गुच्छ है, जो ऊपर को मोटा तथा नीचेको क्रमशः पतला होता जाता है। इसमें सौत्रिक धातु (Fibrous tissues) के अधिक इकट्ठा होने से कठिन हो जाता है। बीच-बीच में रिक्त स्थान रह जाता है जिसमें स्राव एकत्रित होकर सड़ान पैदा करते हैं।

लक्षण :—(१) श्वासावरोध—नासा से श्वास न लेकर मुँह खोल कर रोगी श्वास लेता है। बच्चों में श्वासावरोध होता है जिसके कारण वह दूध ठीक से नहीं पी सकता है। अतः इनमें क्षीणता अपोषण आदि पाई जाती है।

(२) बच्चा रात में खर्राटा (Snore) तथा दिन में गम्भीर श्वास लेता है।

(३) खाना धीरे धीरे खाता है क्योंकि मुँह से श्वास लेना पड़ता है।

(४) प्राणवायु की कमी के कारण रात में पूर्ण निद्रा नहीं होती।

(५) रात को श्वासावरोध के कारण एकाएक उठकर बैठ जाता है।

(६) एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

(७) निरन्तर श्वासावरोध के कारण मुख तथा जबड़े पर खराबी पहुँचती है और रोगी मुँह बराबर खुला रखता है।

(८) मसूड़े का आकार 'V' के समान हो जाता है। हड्डियों में लचकीलापन अत्यधिक हो जाता है।

(९) छाती लम्बी फूली तथा पतली हो जाती है। बीच में गढ़े (Transverse depression) पड़ जाते हैं तथा कबूतर की छाती के समान छाती की आकृति हो जाती है।

(१०) कर्णनाली (Eustachian tube) में उपसर्ग होकर बाधिर्य (Deafness) तथा कर्णशूल उत्पन्न करता है तथा मध्यकर्ण शोथ (Otitis media) भी उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त नेत्रा-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

भिष्यंद और वर्त्मशोफ (Conjunctivitis तथा Blepheritis) उत्पन्न करता है।

(११) मन्द ज्वर तथा ग्रीवा (Neck) गत ग्रन्थियों का शो हो जाता है।

(१२) इससे उत्सर्गित श्लेष्मा (Mucus) पेट में जाकर अ मांद्य आदि विकार उत्पन्न करता है। कृमिदन्त (Dental caries) भी हो जाता है।

(१३) उपर्युक्त विकारों के कारण खाँसी, श्वासगत घर्घड़ाहट बाद में श्वासकृच्छ्र, रात्रि में भय के साथ जाना (Night terror) रात्रि में स्वप्न में एक ही बात को दुहराना या उत्तेजित होकर बोल (Stammering) आदि लक्षण भी रोगी में मिलते हैं।

निदानः—नासा के पश्चिम भाग की परीक्षा से पता लगता है इससे पीछे के भाग में अनियमित उठे हुए छोटे-छोटे पिण्ड (Ma दिखाई देते हैं। इस उभार को छूने से रक्त स्राव होता है। कभी यह बहुत मृदु एवं भंगुर (Friable जल्दी टूटने वाला) होता है।

चिकित्साः—प्रारम्भ में निदान होने पर सुखोष्ण लवणजल कवल (Rubber ball syringe) द्वारा प्रयोग करे अथवा इसी सीकर परिषेक (Spray) करे या निक्षेपक (Dropper) द्वारा में डाले। इसके बाद स्वच्छ तथा खुली हवा में रखना जरूरी जैसे नदी या दरिया के किनारे पर रखना।

काड लीवर आयल, लोहभस्म, अञ्जन, मल्ल (Arsenic) का प्र करे। रोग के प्रारम्भ में प्राणायाम या श्वास व्यायाम (Breathi exercise) लाभकर है, लेकिन अधिक श्वासावरोध में इसका प्र हानिकर है। रोग के अभिवृद्ध होने पर या बा-बार दौरे आने पर चिरकालीन होने पर या बाधिर्य आदि उपद्रव हो जाने पर छे (Excision) करके निकाल देना मात्र ही एक उपाय है। छेदन कंठशालूक (Adenoids) के अंश का अवशेष रह जाने की संभा होती है। जिसके कारण रक्तस्राव होने लगता है। अतः सावधा कंठशालूक के सम्पूर्ण भाग को निकाल देना चहिये। इसके नि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ने से उपद्रव रूप में पैदा होने वाले निम्न रोग शीघ्र ठीक हो जाते । क्योंकि इनमें आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है ।

(१) मध्यकर्ण शोथ (Otitis media)

(२) आमवात (Rheumatism)

(३) रोमान्तिका एवं स्कारलेट फीवर ।

(४) वृक्क शोथ तथा गवीनी मुखशोथ (Nephritis and Pylitis)

(५) हीनपोषण (Malnutrition)

(६) अरोचक (Anorexia)

कंठशालूक की आयुर्वेदीय चिकित्सा—इसमें नासा रोगाधिकार की कित्सा वरतनी चाहिये । वल्य औषधियों का उपयोग करना चाहिये । के से व्याघ्री तैल का प्रक्षेप करना साथ में चित्रक हरीतकी का दूध अनुपान से उपयोग उत्तम रहता है ।

तीव्र उत्तुण्डिका शोथ या तुण्डिकेरी
(Acute Tonsillitis)

व्याख्या:—मुख के पश्चिम भाग में स्थित उत्तुण्डिका नामक ग्रन्थि शोथ ।

कारण:—१. प्रधान कारण—

जीवाणु:—स्तवक गोलाणु (Staphylo Cocci), माला गोलाणु (Strepto Cocci), फुफ्फुस गोलाणु (Pneumo Cocci) ये प्रधान इनका उपसर्ग अलग या मिश्रित रूप से भी हो सकता है ।

क्षोभक पदार्थ:—नालों की गैस, अन्य गैसें (क्षोभक), क्षोभक यों का सेवन इत्यादि ।

२. सहायक कारण:—

आयु:—यह प्राय: ५–६ साल के बाद २५–२७ साल की अवस्था ज्यादा पाया जाता है ।

ऋतु:—शिशिर हेमन्त (Autum) और बसन्त (Spring) ऋतुओं ज्यादा होता है । *सर्दी लगना, शारीरिक कमजोरी,* दूषित खाद्य-पेय ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

अन्यरोगों से सम्बन्धः—आमवात, रोहिणी (Diptheria), रो-न्तिका (Measles) तथा अन्य मुख और गले या नासा के उपस

सम्प्राप्तिः—उपसृष्ट रोगी के प्रत्यक्ष सम्बन्ध (Direct Dr infection) से या रोगी अथवा वाहक के जूंठे वर्तन आदि के में रोग उत्पन्न हो सकता है।

प्रकारः—I. आशयी (Parenchymatous)
II. कूपीय (Follicular).

शारीरिक विकृतिः–(Morbid Anatomy and Histology) उत्तुण्डिकायें सूज जाती हैं, मुख के पश्चिम भाग की, ग्रसनिका (F ryx) की तथा तालु की श्लेष्मल कला (Mucous Membra गहरे रक्तवर्ण की तथा शोफयुक्त हो जाती हैं। साथ ही वहाँ से भी होने लगता है। स्राव में पूय, कोषायें (Cells) तथा सड़ा भाग (Debris) निकलता है। रोहिणी (Diptheria) का हो तो उत्तुण्डिकाओं पर एक सफेद झिल्ली भी बन जाती है (A dip ria membrane may cover the Tonsils).

इस प्रकार की झिल्ली स्राव के जमने (Coagulation of discharge) से भी बन सकती है। परन्तु इस झिल्ली का छु रक्तस्राव नहीं होता है, जैसा कि रोहिणी की झिल्ली के छु पाया जाता है।

ग्रीवा में टटोलने से जबड़े के तथा कर्णमूल के पास शोफ पीड़ायुक्त ग्रन्थियाँ (Tender & enlargred Glands). मिलती

वैकारिकी (*Pathalogy*):—शोफवत् , जैसे स्थानिक रक्ता स्राव (Serus or mucoserous exudate), उपसर्ग के कारण पू स्राव के जम जाने से या श्लेष्मकला की वृद्धि (Prolifera the Mucous Membrane) से झिल्ली भी बन सकती है। दो सप्ताह के पश्चात् उपशम (Resolution) होकर रोग शान्त हो है। परन्तु कुछ उपसर्ग अवश्य रह जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तीव्र शोथ के लक्षण (Symptoms)

१. गले में खराश (Rawness of the throat.)
२. पीड़ा। ३. निगलने में तथा बोलने में कठिनाई।
४. शीत का अनुभव, सिर में दर्द, जी चमलाना, कमर में या पाँव में दर्द, कान में तथा जबड़े के नीचे कर्णमूल के पास पीड़ा।
५. ज्वर १०३°–१०५° F. ६. विबन्ध आदि पचनसंस्थान के लक्षण।
७. खासी या कास।

चिह्न (Signs)

ग्रन्थि के प्रधान भाग में आशयी प्रकार या विकार होनेपर:—
१. पूर्ण ग्रन्थिका शोफ और कभी-कभी तो दोनों ओर की ग्रन्थियाँ ...कर मार्गावरोध भी कर देती हैं। यह शोथ आस-पास में तीव्र रूप ...होता है और गलशुण्डि (Uvula) भी काफी सूज जाती है।
२. उत्तुण्डिका (ग्रन्थि) तथा ग्रसनिका एवं तालू का रंग गहरा लाल हो जाता है।
३. ग्रीवा की लसग्रंथियाँ तथा जबड़े के नीचे की ग्रंथियाँ भी फूल जाती हैं तथा उनको दबाने से दर्द होती है।
४. जिह्वा मलावृत (Coated) हो जाती है।
५. मुख से दुर्गन्ध निकली है।
६. ज्वर प्रायः १०३°–१०५° F. तक हो सकता है।
...तृतीय प्रकार :—में उत्तुण्डिका के छोटे-छोटे भागों में शोथ हो ...ता है और वहाँ से पीला-सा स्राव निकलने लगता है। कभी-कभी ...यह स्राव जम जाता है तो वहाँ पर झिल्ली सी बन जाती है। जिसे ...ने पर रक्तस्राव नहीं होता है। यही झिल्ली यदि रोहिणी के कारण हो ...छूने पर उसमें रक्तस्राव होने लगता है।

सापेक्ष निदान

(क) रोहिणी से :—
१. इसका आरम्भ धीरे-धीरे होता है।
२. पीड़ा कम होती है।

...aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

३. ज्वर प्रायः कम रहता है (Slight rise of Temp.)
४. नाडी की गति ज्वर के अनुपात से ज्यादा होती है।
५. इसकी झिल्ली को छूने से रक्तस्राव होता है और रंग में स
होती है।
६. इसकी झिल्ली आस-पास के भाग में भी लगी रहती है।
७. ,, ,, काफी संलग्न (Adherent) रहती है।
८. झिल्ली पर से या आस-पास के श्राव की अणुवीक्षण से परी
करने पर या कृत्रिम संवर्द्धन (Cultivation) से रोहिणीदण्डाणुओं
मिलना (Presence of Bacillus Diptheria or the Kle
Loffler Bacillus) रोहिणी का निर्देशक होता है।

(आ) स्कार्लेट ज्वर (*Scarlet fever*) से :—
१. इसमें दाने निकलते हैं (Rash)।
२. जिह्वा मलावृत न होकर रक्तवर्ण की रहती है।
३. उत्तुण्डिकाओं पर शोफ के चिह्न बहुत कम मिलते हैं।

(ई) कण्ठ-तालुगत विसर्प (*Erysipelas of th fances*) से :—
इसमें शोथ कम और रक्तिमा ज्यादा तथा बाह्य लक्षण भी होते
जैसे दाने आदि (Rash) का निकलना।

उपद्रवः—(*Complication*) :—

१. परितुण्डविद्रधि (Peritonsillar Abscess)
२. स्वरयन्त्र शोथ (Laryngeal oedema)
३. उत्तुण्डिका का कोथ (Gangrene of the Tonsil)

चिकित्सा :—१. आराम २. खाने के लिये, पेय पदार्थ।
३. विरेचन ४. गले पर सेंक।
५. यदि ज्वर तेज हो तो 'मिक्स्चर सेलिसिलेट' या 'एस्प्रिन'
'सोडा सेलिसिलास' १५ ग्रेन दिन में तीन बार दे।
६. कुल्ले के लिये एक गिलास गरम जल में ग्लाइकोथाईमोलि
एक चम्मच डालकर या नमक डालकर दे। 'सेवलान' (Ce

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

I. C. I.) एण्टी सेप्टिक लाजेञ्जेज का मुख से सेवन भी उत्तम रहता है।

७. उत्तुण्डिका पर लगाने के लिये Protargol Sol 50% या Cuaicol 5% दे।

८. शुल्वौषधियाँ   ९. पैनिसलीन तथा अन्य एण्टी बायटिक का उपयोग करे।

जीर्ण उत्तुण्डिका शोथ या तुण्डिकेरी (Chronic Tonsillitis)

व्याख्या :—प्रारम्भ से ही मंद स्वरूप का या तीव्र शोथ के बार-बार होने से जो उत्तुण्डिका शोथ पुराना हो जाता है उसे जीर्ण उत्तुण्डिका शोथ कहते हैं।

कारण :—जीवाणुओं का उपसर्ग, बार-बार सर्दी लग जाना, या रोहिणी के, कुक्कुर खाँसी के, रोमान्तिका के या (स्कारलेट ज्वर) के पश्चात् परिणामस्वरूप (Sequele) प्रायः जीर्णशोथ होना पाया जाता है। यह ५ से १५ साल की अवस्था में प्रायः होता है और प्रायः कंठशालूक (Adenoids) के साथ-साथ भी पाया जाता है।

रोग के लक्षण :—रोगी को प्रायः कोई कष्ट नहीं होता है, पर कभी-कभी रोगी पचनसंस्थान के गड़बड़ी को लेकर या कान अथवा कर्णमूल के पास की ग्रन्थियों का शोथ लेकर चिकित्सक के पास आता है और तब चिकित्सक के द्वारा परीक्षा करने पर रोग का पता चलता है।

कभी-कभी तीव्र शोथ के लक्षण जैसे पीड़ा, निगलने में तथा श्वास लेने में कठिनता, मुख की दुर्गन्ध, आदि लक्षण भी पाये जाते।

चिह्न तथा रोगज्ञान—मुख की परीक्षा करने पर कभी-कभी कुछ फूले हुवे पर काफी लाल वर्ण में टान्सिल मिलते हैं। उत्तुण्डिका के ऊपर आच्छादित श्लेष्मकला (Anterior pillar) सूजी हुई और गहरी लाल वर्ण की होती है। उत्तुण्डिकायें प्रायः स्वस्थ से छोटी तथा अपने खात में छिपी हुई रहती है और प्रायः कड़ी (Fibrosed) भी पड़ जाती है।

aiGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कभी-कभी पूर्वभाग (Anteriorfold) उत्तुण्डिका को दबाने कुछ पूययुक्त स्राव निकलता है ।

ग्रीवा की ग्रन्थियाँ प्रायः सूजी हुई मिलती है । अपची (Tube lar Adenitis) भी साथ में मिल सकती है । तीव्र शोथ के का, रोहिणी, आमवात, कुक्कुर खाँसी, रोमान्तिका आदि का भी इतिहा प्रायः मिलता है ।

उपद्रव—कर्ण के रोग, उण्डुक पुच्छ शोथ (Appendicit पुराण विषमयता (Chronic Toxinia), जोड़ों में दर्द (Chr Arthritis) ये सब उपद्रव विष के कारण या उपसर्ग के कारण सकते हैं ।

चिकित्सा :—यदि रोग बहुत ही सौम्य स्वरूप का हो और बा नहीं होता हो तो ठीक हो सकता है संशामक चिकित्सा ।

(अ) *उपशम-चिकित्सा* (Palliative treatment) :—रोगी ताकत देने वाले पदार्थ देकर शरीर का स्थास्थ्य बढावें, खुली ह रखे । मुख की सफाई का ध्यान रखे, साथ में गले के भीतर 'ग्ले का पेण्ट' लगावे ।

(आ) *शस्त्रकर्म से चिकित्सा* (Operative treatment):- कर्म (Pre-operative or the preparation of the patien

रोगी की परीक्षा :—१. हृदय, फुफ्फुस, नासा आदि पर ध्यान देते हुवे सांस्थानिक परीक्षा (Complete systemic exa करनी चाहिये । मूत्रपरीक्षा, रक्तश्राव की प्रकृति का (Tendency abnormal bleeding or Haemophlia) इतिहास (या तो मे में या स्वयं रोगी में) लेना चाहिये ।

२. यदि रोगी कमजोर हो तो कुछ दिन तक पहले उसे काड मछली का तैल, लौह, सोमल (Iron & Arsemic mixture) या ताकतवर औषध तथा भोजन देना चाहिये ।

३. रोगी को (शस्त्रकर्म के) एक दिन पूर्व आतुरालय में कर लेना चाहिये ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

शस्त्रकर्म के दिन प्रातःकाल रोगी को दूध, चाय या अन्य पेय देना चाहिये और शस्त्रकर्म के पूर्व मुँह को फिर से साफ करा देना चाहिये।

मुख साफ कराने के लिये:—Hydrogen peroxide के कुल्ले, ...क के कुल्ले, साधारण जीवाणु नाशक द्रव के कुल्ले कराने चाहिये। ...दि कोई दाँत हिलता हो तो उसे निकाल देना चाहिये क्योंकि इस ...वस्था में (५ से १५ साल के) प्रायः दूध के दाँत गिरते हैं।

...ान कर्म :—

संज्ञाहर औषध का प्रयोगः—In young children:—Ethyle ...loride spray preceded by Luminal orally (1 to 3 grs.) ... Paraldehyde with Glycerinē Rectally.

In *Adults* :—Ethyl chloride spray preceded by I. V. ...j. of Barbiturates such as Pentothel sodium, or Local ...j. of cocaine 1% with Tonsil Syring.

शस्त्रकर्मः—यह दो प्रकार का हैः—

(i) उत्तुण्डिका को गिलोटिन नामक शस्त्र से निकालना (Enucle...tion by the Guillotine)

(ii) विच्छेदन (Enucleation by Dissection)

(i) *गिलोटिन से निकालना :—*

शस्त्रज्ञानः—O 'Malleys Guillotine:—इसमें आगे एक मुद्रिका-...रचना (Ring) रहती है और मुद्रिका के पीछे की ओर एक तीखी ...र एक बिना धार की दो पत्तियाँ (Blades) रहती हैं।

...करीब, करीब ५–६ इञ्च की दूरी पर एक हैण्डिल रहता है जिसकी ...ना नाई की (Hair cutting) बाल काटने की मशीन के हण्डिल के ...मान होती है। इसको दबाने से तीखी वाली पत्ती (Sharp Blade) ...गे की ओर बढ़ती है और जो कुछ इसके सामने आता है उसे काट ...ी है। साधारण प्रकार के अन्य शस्त्र भी रहते हैं।

उत्तुण्डिका का काटनाः—मुखप्रसारक (Doyens Mouth gag) मुह खोल कर जिह्वावनामक (Tongue depresser) से जिह्वा को

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

दबा देते हैं। फिर दाहिने हाथ में गिलोटिन कर्तनिका को लेख मैं डालते हैं और मुद्रिका को उत्तुण्डिका के नीचे के पोल (Pole सटा देते हैं और जिह्वावनामक (Tongue depresser) को निक लेते हैं क्योंकि इसका कार्य गिलोटिन से ही हो जाता है। गिलो को डालते समय उसका हण्डिल मुँह के विपरीत (उत्तुण्डका से) की ओर रखते हैं (At the apposite angle of the mou तब शस्त्र को इस प्रकार घुमाना चाहिये कि मुद्रिका के पश्चात् को स्तम्भ (Postrior fold or pillar) और उत्तुण्डिका के बीच में ऐसी अवस्था में बायें हाथ की तर्जनी (Index finger) अङ्गुली कर पूर्वकोण या स्तम्भ (Anterior pillar or fold) को उत्तु (टोन्सिल) से अलग करे और उत्तुण्डिका को मुद्रिका के ढकेल दे। तत्पश्चात् वृन्त को दबावे, ध्यान रहे कि पूर्व या पश्चात् (Anterior या Posterior pillor or fold) न कट जाय कोश के साथ उत्तुण्डिका का पूरा भाग (Tonsil with its cap भी कट जाय।

इसी प्रकार दूसरी ओर की उत्तुण्डिका को भी निकाल दे। रोगी का मुँह आगे की ओर कर दे ताकि रक्त तथा उत्तुण्डिकायें आ जांय।

मुँह में यदि रक्तस्राव हो रहा हो तो लौह का टिंकचर (Tr. F perchloride) लगावे और कोई धमनी दीखती हो तो प स्नायु (Cat gut) से बाँध दे।

यदि 'एडीनायड्स' (Adenoids) भी हो तो लेखन (Curette) से खुरच कर निकाल देना चाहिये।

२. *विच्छेदपद्धति* (Dissection Method)

उत्तुण्डिका को सन्देश (Vulsellum forceps), से प उसको चारों ओर से कोश (Capaule) के साथ खुरच कर (dissection) अलग कर निकाल ले। या उत्तुण्डिकाजाल (snare) से काट दे। उत्तुण्डिका निकालने का यह तरीका त

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

लिया जाता है जब कि गिलाटीनपद्धति (Guillotine method) काम में नहीं ला सकते। परन्तु किसी भी हालत में गिलोटीनपद्धति Guillotine Method) ही अच्छी रहती है। पर कुछ शालाक्य-तन्त्रवेत्ता विच्छेदपद्धति (Dissection Method) को अधिक पसंद करते हैं। तरीका कोई भी हो परन्तु कर्त्ता का कुशल होना आवश्यक है।

पश्चात् कर्म :—१. पाँच घण्टे के बाद यदि रक्तस्राव न हो रहा हो रोगी को द्रव पदार्थ देने चाहिये। और पीने के बाद मुँह को साफ करा देना चाहिये। २. बाद में पिपरमिंट की (Lemon drops or ... or Penicilline Lozenges) गोली चूसने के लिये देनी चाहिये, ताकि रोगी निगलने की क्रिया करता रहे अन्यथा वहाँ की (Pharyngeal Museles) पेशियाँ कड़ी पड़ जावेंगी। ३. यदि ... हो तो कोई भी शामक (Sedative) औषध जैसे एस्प्रिन, वैरामन, ...फेन तथा अन्य (Asprine, veramon, Morphin or other) ...नाहर औषध दे। ईथर का सीकर-परिषेक (Ether spray) किया जाता है। ४. दूसरे दिन से प्रत्येक घण्टे कुल्ली (Asprin ... gr 8 oz. of warm water) कराना चाहिये। ५. मलावरोध का ध्यान रखना चाहिये।

शस्त्रकर्म के पश्चात् उपद्रव (Post operative complications):—रक्तस्राव, उपसर्ग, ग्रीवा में विद्रधि, मध्यकर्ण शोथ, फुफ्फुस विद्रधि।

(ई) डायथर्मी से आहरण (दहन or Removal of Tonsils by Diathermy)

कई अवस्थाओं में जहाँ शस्त्रकर्म से निकालने में कठिनाई होती वहाँ 'डायथर्मी' से उत्तुण्डिका के स्कन्दन (Coagulate) कर देते हैं। परन्तु यह तरीका रोगमुक्त करने का अनिश्चित सा ही है क्योंकि डायथर्मी (Diathermy) की कोई विशेष क्रिया (Selective-action) उत्तुण्डिका तन्तुओं पर नहीं होती है।

उत्तुण्डिका की आयुर्वेदीय चिकित्सा—रोगी के गले में मफलर लपेट कर पट्टी बाँधकर रखना चाहिये। कवल धारण के लिये उसे १. त्रिफला

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

काढ़े का या २. त्रिफला और रीठे के काढ़े का या ३. गर्म जल में ... एवं फिटकरी छोड़कर उस जल से गार्गल दिन में कई बार ... चाहिये। मुखपाक में बतलाये जात्यादि कषाय का या अरहर की ... शहतूत की पत्ती या गूलर का कषाय या सहिजन का क्वाथ बनाकर ... जल से गार्गल करना भी उत्तम रहता है।

लेप—१. कफकेतु रस-(शंख भस्म, सोंठ, मरिच, छोटी ... टंकण १ भाग, अदरक ३ भाग एवं वत्सनाभ ५ भाग) और ... बराबर मात्रा में लेकर अदरक से पीसकर गले के बाहर से लेप ... उत्तम रहता है।

२. अंधाहुली, शहतूत की पत्ती, रहर की पत्ती और काली ... ७ दाने को पानी में पीसकर गर्म करके गले के बाहर लेप करना ... ही लाभ-प्रद उपाय है। इसका उपयोग तीव्र एवं जीर्ण दोनों अवस्था... में ठीक रहता है। तीव्रावस्था में तो एक सप्ताह के लेप से ही ... ठीक हो जाता है; परन्तु जीर्णावस्था में एक मास तक लगातार ... की आवश्यकता होती है।

३. गृहधूम (रसोईघर का धुँवा), सेंधानमक और मधु ... गले के अन्दर 'मेण्डल पेण्ट' जैसे लगाना उत्तम रहता है।

४. कल्याणावलेह—हल्दी, वच, कूठ, छोटी पीपल, सोंठ, ... अजवायन, मुलैठी और सेंधानमक का महीन चूर्ण बनाकर मधु ... साथ मिलाकर गले के भीतर लगाना भी उत्तम रहता है।

५. टंकण मायाफल लेप—शुद्ध टंकण १ भाग, मायाफल १ ... और मधु ५ भाग मिलाकर बने लेप से गले के भीतर प्रतिसारण।

६. तुण्डिकाहर लेप—माजूफल २ तोला, मरिच १॥ तोला, ह... १॥ तोला, सुंघनी ६ माशा। मधु यथावश्यक। गले के अन्दर लेप क...

७. रसांजन-प्रतिसारण—रसाञ्जन ऽ—, माजूफल ऽ॥, बिभी... (बहेरा)ऽ॥ अरिष्ट (रीठा) ऽ॥ क्वाथ बनाकर घना कर ले फिर ... यथावश्यक मिलाकर गले के भीतर लेप करे। यह एक सिद्ध ... अनुभूत लाभप्रद योग है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

तुण्डिका रोग से पीड़ित रोगी के लिये मुख में चूसने के लिये खदिरादिवटी, लवङ्गादिवटी, व्योषादिवटी या सहकारादिवटी देनी चाहिये। साथ में कफकेतु रस का २ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन चार बार उपयोग अदरक के रस-मधु के साथ करना चाहिये।

अधिजिह्वा—(Epiglotitis) जिह्वा के मूल के ऊपर जिह्वाग्र के समान रक्तमिश्रित कफ से उत्पन्न हुआ शोथ अधिजिह्वा नामक रोग है। इसमें पाक (Suppuration) हो जाने पर त्याग देना चाहिये[1], क्योंकि चिकित्सा में यश नहीं मिलता और उपसर्ग का उत्तरोत्तर प्रसार होकर असाध्य हो जाता है।

चरक और वाग्भट ने जिह्वा के ऊपर होने वाले शोथ को 'उपजिह्वा' और नीचे होने वाले शोथ को 'अधिजिह्वा' बतलाया है।[2] पाश्चात्य मत में जिह्वा के ऊपर होनेवाले, इस प्रकार शोथ को 'इपीग्लाटाइटिस' कहा जा सकता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा उपजिह्वा के समान ही की जाती है।[3] अष्टाङ्गहृदयकार' इसको यंत्र या अंगुलिशस्त्र से विस्रावण करके यवक्षार का घर्षण करने का विधान देते हैं।

वक्तव्य—कफ ही फैलकर अन्नवहस्रोत का अवरोध करके ऊँचा शोथ उत्पन्न करता है यह भीषण और त्याज्य व्याधि वलय कहलाती है—[4] चक्रपाणि के अनुसार चरकोक्त 'विडालिका' (चि० अ० १२) और 'वलय' एक ही हैं।[5] वाग्भट के अनुसार वलय और 'गलौघ' प्रायः एक

---

१. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादसृजैव मिश्रात्
 ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम्।

२. जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च (च०)

३. उपजिह्विकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम्। सु० ४।

४. वलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
 तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति।

५. गलस्य संधौ चिबुके गले च सदाहरागः श्वसनेषु चोग्रः।
 शोफो भृशार्तिस्तु विडालिका स्याद्धन्याद् गले चेद्वलयीकृता सा। (च०)

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ही रोग है। केवल वलय में पीडा और शोफ की अधिकता रहे यह असाध्य है।

बलास—गले में प्रवृद्ध हुए कफ और वायु के द्वारा श्वास और युक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमें मर्म का छेदन होता है दुश्चिकित्स्य व्याधि है, इसे बलास कहा जाता है, यह चिकि असाध्य है।[1]

एकवृन्द—यह कफ और रक्तजन्य व्याधि है। इसमें गोल, दाहयुक्त, कण्डुयुक्त, पकनेवाला, मृदु और भारी शोथ गले में हो जाता

चिकित्सा—रक्तविस्रावण और शोधन मुख्य है।[3]

वृन्द—यह पित्त और रक्त से उपजा हुआ विकार है। इसमें अधिक उठा हुआ तीव्र दाह और तीव्र ज्वर से युक्त रहता है। इसमें केवल तोद (सुई चुभाने की सी वेदना मात्र) लक्षण वातात्मक समझना चाहिये।[4]

एकवृन्द और वृन्द में अंतर यह है कि प्रथम में कफ और र विकार होता है और दूसरे (वृन्द) में केवल वायुदोष ही प्रबल है अथवा पित्त और रक्त दोष प्रबल होते हैं। वृन्द में वेदना ज्वर और तीव्र दाह होता है; परन्तु एकवृन्द में ये लक्षण उतने नहीं होते।

शतघ्नी—अधिक मात्रा में मांसाङ्कुरों के संचित हो जाने के गले की रुकावट पैदा करनेवाली घनी बत्ती (वर्ति) सी बनती है जिसके कारण अनेक प्रकार की वेदनायें होती हैं। यह

१. गले तु शोथः कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् !
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाससंज्ञं भिषजो विकारम् ॥

२. वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥ (सु०)

३. एकवृन्दं तु विस्राव्य विधिं शोधनमाचरेत् । सु०

४. समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्विद्यात्सतोदं पवनात्मकं तु ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उत्पन्न होनेवाली प्राणहारक शतघ्नी नामक व्याधि है, जो शतघ्नी समान होती है।[1] 'अयःकण्टकसंच्छन्ना शतघ्नी महती शिला' ...णाचार्य ने लिखा है कि शतघ्नी उस शिला को कहते हैं जिसमें ...ड़ों काँटे लगे हों। फलतः कंटकयुक्त शिला के समान गले के ...र कंठ का निरोध करने वाले सैकड़ों मांसाङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं ...था नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करने वाली गाँठे गले में उत्पन्न ...जाती हैं। यह प्राण को हरने वाली असाध्य व्याधि है।

गलविद्रधिः (Pharyngeal abscess or Peritonsilar abs-...s)—यह त्रिदोषज व्याधि है। वात, पित्त और कफ तीनों दोषों के ...प से समस्त गले को व्याप्त करने वाला जो महान् शोथ उत्पन्न ...जिसमें तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाले लक्षण मिलते हैं उस रोग 'गलविद्रधि' कहते हैं। इसमें त्रिदोषज विद्रधि के सभी लक्षण ...मान रहते हैं।[2]

चिकित्सा—यदि मर्मस्थान में इस विद्रधि का अवस्थान नहीं हो ...विद्रधि पक्व हो तो भेदन करके पूय का निर्हरण करना चाहिये।[3] ...न् गण्डूष के द्वारा शोधन तथा रोपण की क्रिया करनी चाहिये।

गलौघ—इस व्याधि में रक्तयुक्त कफजन्य बड़ा शोथ गले में होता ...इससे अन्न और जल का अवरोध होता है, उदानवायु का अवरोध ...तीव्र ज्वरादि लक्षण होते हैं।[4] अष्टाङ्गहृदयकार इसमें मस्तिष्क में ...दन, तन्द्रा, लालास्राव प्रभृति अधिक लक्षण बतलाते हैं। यह ...ध्य रोग है।

---

1. वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चितातिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
अनेकरुक् प्राणहरा त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नीसदृशी शतघ्नी ॥
2. सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोफो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥
3. अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद् गलविद्रधिम् ।
4. शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

स्वरघ्न—यह वायु के कारण उत्पन्न होनेवाली व्याधि है। के कफ से आवृत हो जाने के कारण होता है। रोगी बड़े कष्ट से साँस निरन्तर लेता रहता है। रोगी में स्वरभेद और कंठ सू और आवाज के साथ साँस लेना पाया जाता है। यह असाध्य रो

मांसतान—यह त्रिदोषजन्य शोथ है। इसमें विस्तारयुक्त, दुःखकारक, नीचे को लटकनेवाला, प्राणनाशक और शनैः शनैः अवरुद्ध करने वाला शोथ होता है। यह असाध्य विकार है।[१]

विदारी—पित्तप्रकोप से गले के भीतरी भाग में दाह और चुभाने की सी पीड़ा होती है, गले में रक्तवर्ण की सूजन हो जा क्रमशः शोथस्थान का मांस सड़ कर गल जाता है और दुर्गन्ध आ तथा वह सड़ा हुआ मांस गिर भी जाता है। यह विदारी रोग गले उस ओर होता है जिस ओर करवट लेकर मनुष्य सोया करता है।

इस अवस्था को पाश्चात्त्य वैद्यक की दृष्टि से निर्जीवाङ्गत्वजन्य पाक (Gangrenous Stomatitis or Cancrum oris or जो मुखपाक का एक प्रकार है, कहा जा सकता है।

गलरोग में सामान्य चिकित्सा—कण्ठ रोगों में रक्तमोक्षण, नस्य के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। दार्व्यादिक्वाथः— दारुहल्दी, चित्रक, मोथा, इंद्रजौ, गुग्गुलु और हरीतकी का क्वाथ मिलाकर गण्डूष के लिये देना चाहिये। कटुत्रिक, अतीस, देवदारु मुस्ता और इन्द्रजौ का गोमूत्र में क्वाथ बनाकर पीने से सा सभी कंठरोगों में लाभ होता है। मुनक्का, कुटकी, त्रिकटु, दे छाल, त्रिफला, मोथा, पाठा, रसौंत, दूर्वा, तेजोह्वा—इनका चूर्ण

१. यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।
कफोपदिग्धेष्वनिलायतेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात्स्वरघ्नः॥

२. प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः॥

३. सदाहशोथं श्वयथुं प्रसक्तमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात्स तु येन शेते॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मधु में मिलाकर कवल धारण करना या सेवन करना कंठ रोगों में महौषध माना जाता है। उपर्युक्त तीन योग क्रमशः वात, पित्त और कफ के नाशक हैं। यवक्षार, तेजोवती, पाठा, रसांजन, दारुहल्दी, मरिच इन द्रव्यों का मधु के साथ गुटिका बनाकर मुख में धारण करना सर्व प्रकार के गले के रोगों में लाभप्रद है। (यो० र०)

—ooo—

१०

समस्त मुखरोग

(Affections of the mucous membrane of the Buccal Cavity.)

सर्वसररोग या मुखपाक (Stomatitis)—*व्याख्या*—सर्वसररोग उस रोग को कहते हैं जो सम्पूर्ण मुख में हो अथवा मुखगत (ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, गल प्रभृति) सप्त स्थानों में व्याप्त हो अथवा जो रोग सम्पूर्ण मुख में सरण करते हों वे सर्वसर रोग कहलाते हैं। ये सर्वसर रोग चार प्रकार के होते हैं—वात, पित्त, कफ और रक्त से होने वाले। वाग्भट और शार्ङ्गधर तथा अन्य तंत्रकारों ने सर्वसर रोग का मुखपाक नाम से वर्णन किया है। वाग्भट और शार्ङ्गधर ने मुखपाक के पाँच प्रकार बतलाये हैं अर्थात् उन्होंने सन्निपातज मुखपाक एक अधिक माना है। आचार्य सुश्रुत ने वास्तव में तीन ही प्रकार का माना है—रक्तज का पित्तज में ही अंतर्भाव कर लेते हैं एवं वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न होनेवाले तीन ही सर्वसर रोग माने हैं और सर्वसर का पर्याय नाम ही मुखपाक है ऐसा लिखा है।[1]

१. स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्यस्याचितं सर्वसरः स वातात् । रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् । कण्डूयुतैरल्परुजैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन । रक्तेन पित्तोदित एक एव कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः । (सु०) न चत्वारः सर्वसराः किन्तु त्रय एव । (ड०)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

'रक्तेन पित्तोदित एक एव' इस वाक्य से एक अर्थ यह भी हो सकता है कि मुखपाक रक्त और पित्त से उत्पन्न हुआ एक ही प्रकार का है। इस अवस्था में यह एकीय सूत्र है जिसका संग्रह आचार्य ने किया है। संभव है तत्कालीन शास्त्रकारों में मुखपाक के प्रकार—भेद में भिन्नता रही हो और एक दल ऐसा रहा हो जो मुखपाक का एक प्रकार मानता रहा हो। अस्तु, उस मत का भी आचार्य ने संहिता में उल्लेख आवश्यक समझा है।

पाश्चात्त्य परिभाषा के अनुसार इस विकार को 'स्टोमेटाइटिस' कहा जा सकता है। इसमें मुखगह्वरगत श्लेष्मलकला का शोफ होता है। विशेषत: बच्चों में और कृत्रिम दूध पर जीनेवालों में अधिक देखने में मिलता है।

प्रकार—१. स्रावी पाक (Catarrhal)—यह अयुक्त भोजन, विषमाग्नि, विषमाशन, औपसर्गिक ज्वरों की दुर्बलता और रोमान्तिका प्रभृति ज्वरों के काल में दिखलाई पड़ता है। वयस्कों में कृमिदन्त, खुरदरे दाँत, अत्यधिक धूम्रपान, ठीक न बैठने वाले कृत्रिम दाँत (Dentúres), दुग्ध और भोजनगत क्षोभ प्रभृति कारण उत्तरदायी होते हैं। श्लेष्मलकला में रक्ताधिक्य और शोथयुक्त स्थान बन जाते, बाद में छाले पड़ते, ऊपरी भाग छिल जाता और व्रणोत्पत्ति हो जाती है। चिकित्सा में कारणों को दूर करना, सामान्य स्वास्थ्य का परिरक्षण, जीवाणुनाशक मुखप्रक्षालनों का गण्डूष (Mouth washes) का प्रयोग (जैसे 'लायकर थायमल को' या 'हाइड्रोजेन पेराक्साइड', 'लाइजोल', 'डेटाल' या 'सेवलान') करना चाहिये।

२. धूसरमुखपाक—(Aphthus)—यह अधिकतर बच्चों में मिथ्या अशन (Badfeeding) की वजह से होता है। देखने में छोटे-छोटे वर्ण के स्थान मुख में दिखलाई पड़ते हैं जो पश्चात् व्रणित एवं युक्त हो जाते है।

३. दुर्दम पाक (Due to thrush)—दुर्बल स्वास्थ्य के बड़ी आयु के व्यक्तियों में तथा बच्चों में यह प्रकार पाया जाता है। प्रत्यक्ष

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

...उपर्युक्त की भाँति ही दिखलाई पड़ते हैं। इसके उत्पादन में कारण-भूत एक छत्रकाणु (Fungus) माना जाता है जिसको अंग्रेजी में 'ओडियम् एल्बिकन्स' (Odium Albicans) कहते हैं। यह अधिकतर खट्टे दूध में मिलता है।

४. कर्दमपाक (Gangrenous)—यह एक प्रकार का प्रसारयुक्त निर्जीवाङ्गत्व है जो दो से पाँच वर्ष की आयु के बच्चों में विशेषतः मुख में होता है। खासकर उन बच्चों में ज्यादा होता है जो रोमान्तिका प्रभृति औपसर्गिक विस्फोटक ज्वरों से पीडित हो सुधार की ओर चलते रहते या दुर्बल हो गये रहते हैं।

मुख के भीतर एक शोफयुक्त स्थान उत्पन्न होता है और तीव्र गति से प्रसरित होना प्रारंभ कर देता है। प्रथम तो काला और निर्जीवाङ्गत्व युक्त होता है पश्चात् बादामी रंग का (कपिल) और पूययुक्त (Pus-cilous) हो जाता है। श्वास से बदबू आती है, कपोल की दीवाल गलती और सड़ती चली जाती है, पश्चात् हनु भी प्रभावित हो जाती है। उच्च तापक्रम, विषमयता, पूयमयता, जीवाणुमयता (Septicaemia) हो जाती है। तीन से चार दिनों के भीतर मृत्यु हो जाती है। इस रोग में उत्तरदायित्व रक्त द्रावक मालागोलाणु (Streptococcus haemoliticus) और 'विन्सेण्ट' तृणाणुओं का रहता है।

इस वर्णन की बहुत कुछ समता गले के असाध्य रोगों से विशेषतः 'विदारी' नामक रोग से है।

५. पारदजन्य मुखपाक (Murcurial ginginitis)—दन्तमांस शोथयुक्त एवं स्पर्शासह्य हो जाते हैं और तनिक दबाव पर ही उनसे रक्तस्राव होने लगता है। बहुत तीव्रावस्था में दाँत ढीले पड़ जाते, गिरने लगते और हन्वस्थि का भी कोथ शुरू हो जाता है। लालास्राव और मुख से बदबू आना भी शुरू हो जाता है। इस अवस्था की चिकित्सा करते हुए पारद-सेवन को बंद करना 'पोटेशियम क्लोरेट' या हल्के 'लवणाम्ल' से मुख धावन (Mouth wash) करना तथा लवण रेचनों का (Mag sulph or soda sulph) प्रयोग लाभप्रद होता है।

६. फिरंगज (Syphilitic)—मुख की पूरी श्लेष्मलकला 'टान्सिल',

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

शुण्डी (Uvula), कोमल तालु, जिह्वा और कपोल के भीतरी भा श्वेतवर्ण श्लेष्मलव्रण (Muccous patches or shallow ulce हो जाते हैं ।

इन कारणों के अतिरिक्त अन्य रोगों के (जैसे रोहिणी, वि उपद्रव रूप में मुखपाक हो जाता है ।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा—१. शिरावेध । २. शिरोविरे ३. विरेचन । ४. मधु, मूत्र, घृत और क्षीर के द्वारा शीतल कवल ५. जातीपत्र (चमेली), गुडूची, द्राक्षा, जवासा, रसोंत, त्रिफला काथ को शीतल करके मधु मिलाकर गण्डूष करना । ६. चमे पत्ती का नित्य पान के समान चर्वण ७. काला जीरा, कूठ और इन इनको मिलाकर चर्वण करने से मुखपाक से उत्पन्न व्रणों के क्ले दौर्गंध्य का नाश तीन दिनों के प्रयोग से ही हो जाता है । ८. प निम्ब, जामुन, आम और मालती इनके नये पत्तों से बने मुखधावन (Mouth wash) । ९. पंच पल्लवों में त्रिफला मि बने काथ से प्रक्षालन । १०. दार्वी का काथ बनाकर उसे गाढ़ा रसक्रिया के द्वारा बने घनसत्त्व का मधु मिलाकर प्रयोग करने मुखरोग, रक्तविकार एवं नाडीदोष ठीक हो जाता है । ११. गूल छाल का काढ़ा या उदुम्बर-घनसत्त्व को पानी में घोलकर कवल करना अपने ग्राही गुण के कारण मुख एवं गले के व्रणों का करता है । १२. चमेली की पत्ती के काढ़े से कुल्ली करना अपने गुणों (Caustic action) से मुखगत व्रणों में लाभप्रद होता १३. सहिजन की छाल का काढ़ा भी अपने व्रण-शोथ (anti septic, antiphaugistic & decongestent) गु मुखपाक में उत्तम कार्य करता है । इसका गण्डूष के रूप में के लिये भी प्रयोग करना चाहिये । १४. त्रिफला और रीठे का भी कुल्ली के लिये मुख एवं गले के रोगों में उत्तम कार्य कर १५. भेंड़ का दूध का लगाना भी मुखपाक में बड़ा उत्तम कार्य है । यह व्रणों का उत्तम रोपण करता है । १६. शुद्ध टंकण को मिलाकर मुखगत व्रणों में लेप करना भी उत्तम लाभ दिखला

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

१७. एलादि प्रतिसारण—छोटी इलायची, कबाबचीनी (शीतलमिर्च), कत्था और संग जराहत प्रत्येक समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर रख ले। मुँह के छालों में इसको कई बार लगाकर पानी से कुल्ली करना या निम्नलिखित जात्यादि कषाय से कुल्ली करना भी उत्तम रहता है। १८. जात्यादि कषाय—चमेली की पत्ती, अनार की पत्ती, बब्बूल की छाल, बेर की जड़ की छाल प्रत्येक ६-६ माशा लेकर जौकुट करके ६४ तोले पानी में पकावे आधा शेष रहने पर कपड़े से छानकर उसमें फिटकिरी १० रत्ती और शुद्ध सुहागा १० रत्ती मिलाकर कुल्ला करने में मुख, जिह्वा और गले के पकने या छाले में अच्छा लाभ होता है। मुखपाक में रोगियों में विबंध (क़ब्ज) प्रायः पाया जाता है अस्तु यष्ट्यादि चूर्ण ६ माशा की मात्रा में देकर कोष्टशुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये। १९. सप्तच्छदादिकषाय—छतिवन, खस, पटोल, नागरमोथा, हर्रे, चिरायता, कुटकी, मुलैठी अमलताश एवं चंदनक्वाथ पीने से मुखपाक का रोपण होता है। २०. तिलादि गण्डूप—तिल, नीलोत्पल, घृत, शर्करा, क्षीर एवं लोध्र का बना क्वाथ गंडूष रूप में लेने से दग्ध (जले हुए मुँह के छाले) मुखपाक को ठीक करता है।

हरिद्रादितैल—हल्दी, निम्बपत्र, मुलैठी, नीलकमल—इनसे सिद्ध तैल का कवल या गण्डूष। यष्टीमध्वादितैल-मुलैठी १ पल, नीलोत्पल ३० पल, तैल १ प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ-डालकर तैलपाक विधि से सिद्ध किये तैल का नस्यरूप में प्रयोग करना मुखपाक में हितकर है।

खदिरादिगुटिका—एक पाठ का वर्णन सामान्य मुखरोग की चिकित्सा में हो चुका है। यहाँ पर एक और योग का प्रसंग योगरत्नाकर से दिया जा रहा है—इसमें विशेषता यह है कि ताम्बूल का बीड़ा खाते हुए चूने के अधिक लग जाने से जो मुख में छाले पड़ जाते हैं ऐसे मुखपाक में इसका प्रयोग श्रेयस्कर है।[1] इसमें केवल तैल एवं कांजी को मिलाकर कुल्ली का विधान है।

१. ताम्बूलमध्यस्थितचूर्णकेन दग्धं मुखं यस्य भवेत्कथञ्चित्। तैलेन गण्डूष-मसौ विदध्यादम्लारनालेन पुनः पुनर्वा। (यो० र०)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कत्था और उसके बराबर चमेली की पत्ती, कंकोल, कपूर और सुपारी को मिश्रित मात्रा में मिलाकर गोली बनाकर मुख में धारण करना और बार-बार कांजी से गण्डूष करना चाहिये ।

मुखपाक या सर्वसररोग में दोषविभेद से विशिष्ट चिकित्सा-आचार्य सुश्रुत ने लिखा है-कि *वातज* सर्वसररोग में सैंधवनमक के द्वारा प्रतिसारण करके वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध तैल या घृत का कवल और नस्य लेना चाहिये । पश्चात् उसे स्नैहिक धूमपान कराना चाहिये ।[1] जैसे शाल, राजादन (खिरनी), एरण्ड, खदिर, इङ्गुदी (हिंगोट), महुआ, गुग्गुल, गंधतृण, जटामांसी, कालानुसारिवा, लवङ्ग, राल की गोंद, शैलेय और मोम-इन द्रव्यों में घृत या तैल मिला कर लुग्दी जैसे बनाकर मधु मिलाकर एक सोनापाठा का डंठल लेकर उसमें लपेट कर लम्बी सिगरेट जैसे बनाकर उसे एक ओर जलाकर धूमपान करे। यह स्नैहिक धूम है एवं कफ और वायु का शामक है । यदि पित्तज मुखपाक हुआ हो तो रोगी का रेचन कराके विशुद्ध काय हो जाने पर पित्तघ्न मधुर और शीतल उपचारों को करना चाहिये । मधुरादिगण की ओषधियों से प्रतिसारण, गण्डूष, धूम तथा संशोधन करना चाहिये ।[2]

कफात्मक सर्वसर में कफघ्न विधियों का अनुष्ठान करना चाहिये ।[3] अतिविषादियोग-अतीस, पाठा, मोथा, देवदारु, कुटकी, इन्द्रजौ, गोमूत्र के साथ एक धरण सेवन करने से (सुश्रुत-मात्रा के अनुसार चौबीस रत्ती- डल्हण) कफकृत रोग नष्ट होते हैं । इसी योग से सिद्ध गण्डूष, तैल, शोधन और कवल तथा नस्य प्रभृति कर्मों को भी करना चाहिये ।

---

१. वातात्सर्वसरं चूर्णैर्लवणैः प्रतिसारयेत् । हितं वातहरैः सिद्धं तैलं कवलनस्ययोः । ततोऽस्मै स्नैहिकं धूममिमं दद्याद्विचक्षणः ।।

२. पित्तात्मके सर्वसरे शुद्धकायस्य देहिनः । सर्वपित्तहरः कार्यः विधिर्मधुरशीतलम् ।

३. कफात्मके सर्वसरे विधिं कुर्यात्कफापहम् ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

शालाक्यतन्त्र

कर्णरोगाध्याय

(Affections of the Ear)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

१

कर्ण–रोग

(Affections of the Ear)

व्याख्या—कर्णरोग का अर्थ होता है कान में होने वाले रोग। व्यव-र में कान से बाह्य कर्ण या कर्णपाली का ही ग्रहण होता है, परन्तु की शास्त्रीय व्याख्या है 'कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते' मधुकोष) अर्थात् शष्कुली से युक्त (अप्रत्यक्ष) अदृष्टज्ञेय श्रोत्र लाता है। इसका मतलब यह है कि शास्त्र में इन्द्रिय को सूक्ष्म नते हैं उसका प्रत्यक्ष (चर्मचक्षु) से नहीं होता। जो कुछ देखने को मिलता है वह इन्द्रियाधिष्ठान है। फलतः कर्णेन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय अदृष्ट है एवं जो दृष्ट है वह कर्णेन्द्रियाधिष्ठान । जैसे कृत्रिम विद्युत् में जहाँ उसका उत्पादन होता है जिस गं से तारों के जरियें लाई जाती है अथवा जिस स्थानविशेष पर सका कार्य होता है सभी देखा जा सकता है, परन्तु वे सभी पदार्थ द्युत् के अधिष्ठानमात्र हैं उसके शक्तिविशेष को आँख से नहीं देख कते। ठीक इसी प्रकार इन्द्रिय के सूक्ष्मत्व या अतीन्द्रियत्व की रचना प्राचीनों ने की है।

अब यहाँ प्रश्न स्वाभाविक है फिर कर्णरोगों में इन्द्रियाधिष्ठान की कृति का वर्णन होगा या श्रोत्रेन्द्रिय का इसका उत्तर यह है कि यहाँ दोनों का वर्णन अभीष्ट है। इसके बाद दूसरी शंका यह हो सकती कि इन्द्रियाधिष्ठान तो बहुत बड़ा और गूढ़ रचना का है, इसके भिन्न अवयवों या भागों में विकृति हो सकती है तो उनका स्वतन्त्र तन्त्र उल्लेख क्यों नहीं किया गया। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि समें रोग एकदेशगत होता है फिर भी अवयव में समुदाय का उपचार

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

करके कर्ण का अर्थ ग्रहण किया गया है या[1] निर्देश किया जाता है।

कर्ण-शारीर—प्राचीन ग्रन्थों में कर्ण की रचना का उतना वि वर्णन नहीं पाया जाता जितना कि आधुनिक युग की शरीर रचना पुस्तकों में प्राप्त होता है। संभव है उन ग्रन्थकारों को दोषनि करके चिकित्सा करते हुए उस अङ्ग की आंतरिक रचनाओं के वि में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती हो अथवा निदान और चिकि की दृष्टि से कुछ सीमित रोगों और कुछ सीमित उपचारों के विचार ही काम चल जाता हो। फिर भी अति संक्षेप में कान की रचना सम्बन्ध में कुछ मोटी बातों का जानना आवश्यक है। क्यों अधिष्ठानभेद से या एकदेशगत विकृति का आधुनिक दृष्टि से सम करते हुए उसका प्राग् ज्ञान का हो जाना उचित ही है। विशेष के लिये तो शरीररचना-सम्बन्धी किसी पुस्तक की ही शरण पड़ेगी। प्रस्तुत निबन्ध में जितना नितान्त ज्ञातव्य है उत कहा जायगा।

कर्णेन्द्रियाधिष्ठान को आधुनिक युग के ग्रन्थों में तीन भा त्रिभाजित करके वर्णन किया जाता है। १. बाह्यकर्ण २. मध्यकर्ण ३. अन्तःकर्ण।

(१) बाह्यकर्ण—में दो भाग हैं। एक वह जो सीपी की तरह है उसमें कई उभार और दबाव होते हैं। यह भाग कड़ा होता है तरुणास्थि (कार्टिलेज) का बना होता है यह बाहर से रहता है तरफ से त्रिकोणाकार कड़ा भाग रहता है। इसमें बाहरवाले भा कर्णशष्कुली, त्रिकोणाकार हिस्से को पुत्रिका और कर्णशष्कुली के वाले भाग को जो मुलायम होता है, सौत्रिक धातु और मेद होता है कर्णपाली संज्ञा प्राचीन ग्रन्थों में दी गई है। बाह्यकर्ण दूसरा भाग कान की तली है जिसको कर्णकुहर या श्रुतिपथ क यह लम्बाई में सवा इञ्च की होती है, और टेढ़े-मेढ़े घूमक

१. तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णश

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

Drum) तक पहुँचती है। यह पटह बाहरी तथा मध्य कान के बीच होता है। इसके पश्चात् मध्यकर्ण शुरू हो जाता है।

(२) *मध्यकर्ण*—यह एक प्रकार की कोठरी है जो बाहर की ओर चौड़ी और भीतर की ओर सँकरी है। यह कोठरी कनपटी की हड्डियों के भीतर रहती है। इसमें से एक नली जिसे श्रुति सुरंगा (Eustrachian tube) कहते हैं गले की ओर जाती और गले से कर्ण गुहा को युक्त करती है। इसके द्वारा बाह्य वायुमण्डल तथा मध्यकर्णगत वायुमण्डल के भार का सामञ्जस्य ठीक बना रहता है। मध्यकर्ण में तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ होती हैं जो पटह से लेकर मध्यकर्ण की भीतरी दीवाल तक फैली रहती हैं। ये आपस में बंधनों द्वारा बँधी रहती हैं इनमें घूमने और हिलने वाली संधियाँ होती हैं। पटह के पासवाली हड्डी को मुद्गर (Hammer) बीचवाली को निहाई (Anvil) एवं तीसरी जो भीतरी कान के समीप होती है उसे रकाब (Stirrup) कहते हैं। इन हड्डियों के नाम उनकी बनावट के अनुसार ही हैं। इनके द्वारा पटह तक आई हुई वाचिक लहरियाँ अन्तःकर्ण तक पहुँचती हैं।

(३) *अन्तःकर्ण*—इसकी बनावट बड़ी जटिल है। इसकी जटिलता के कारण इसे घूमघुमैया (Labryinth) भी कहा जा सकता है। इसकी दीवालें शंखास्थि से बनती हैं। अस्थिकृत अन्तःकर्ण के भीतर का भाग झिल्ली से बना रहता है। अस्थिकृत नलियों के भीतर झिल्लियाँ रहती हैं। अस्थिकृत कर्णगुहा में झिल्ली के कोष्ठ रहते हैं। अस्थिकृत श्रुतिशंबूक में झिल्ली की कोकिला रहती है। अस्थि का आवरण उसके भीतर की रचना की रक्षा करता है। इस प्रकार अस्थिकला के बीच में एक प्रकार का द्रव (Perilymph) और कलामय आगार के भीतर भी एक जलीय रस (Endolymph) भरा रहता है। झिल्ली की जड़ में संवेदना ले जानेवाली नाड़ियों के छोर होते हैं। जब ध्वनि की लहरें कान में पहुँचती हैं तो बाहरी कान उनको संग्रह करके श्रुतिपथ के द्वारा बढ़ाते हुए कर्णपटह तक पहुँचा देता है। वहाँ पर पहुँचकर पटह में वे पुनः स्पन्दन पैदा करती हैं। जैसा कि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

ऊपर कहा जा चुका है, पटह बाहरी कान और मध्य कान के होता है। इस पटह से मुद्गर जुड़ा हुआ रहता है। इसके पटह का स्पन्दन निहाई तक पहुँचता है। यही स्पन्दन पीछे रकाब द्वारा जो एक ओर निहाई से और दूसरी ओर भीतरी कान से रहता है, भीतरी कान तक पहुँचता है। यहाँ पहुँचने पर यह भीतरी कान की झिल्ली में स्थित छोटे-छोटे बालों की कोठरियों उत्तेजित करता है। इन बालों के उत्तेजित होने पर ध्वनि ग्रहण वाली नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं और वे ध्वनि संवेदना को मस्तिष्क तक ले जाती हैं। मस्तिष्क में ध्वनिज्ञान को उत्पन्न करनेवाले केन्द्र पहुँच कर यह उत्तेजना ध्वनिज्ञान में परिणत हो जाती है।

अर्द्ध चन्द्राकार नलिकायें (Semicircular canals)—ये कर्ण से सम्बद्ध हैं इनका उपयोग शरीर की हलचल और समता या संतुलन रखने में है। श्रवण कार्य में इनका कोई नहीं है, इनके अधिक उत्तेजित होने पर चक्कर आने लगता है।

२

कान में होनेवाले रोग, उनकी संख्या एवं प्रकार

कर्णशारीर में पूरे इन्द्रियाधिष्ठान को तीन देशों में बाँट गया है फलतः उनके विकार भी तीन हिस्सों में विभाजित किये सकते हैं जैसे—

बाह्यकर्ण में—१. सहज विकार (Congenital Abnormalities)—जन्म से ही शष्कुली (Pinna) का अथवा पालि का या श्रुतिपथ के छिद्र का बन्द हो जाना या कान का बहुत बड़ा हो जाना या छोटा हो जाना या कर्णशष्कुली के ऊपर कुछ 'कार्टि और मेद के संचय से एक और कान का हो जाना। ये सब विकार हैं जिनके सुधार का कोई सरल उपचार नहीं है। बाह्य

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

'कर्णपिप्पली' नामक विकार इसी कोटि का है। वाग्भटोक्त 'कूचिकर्णक' भी ऐसा ही एक विकार है।

२. कर्णरक्तजग्रन्थि (Heamatoma Auris)—यह रोग अभिघातजन्य होता है अधिक मल्लयुद्ध करनेवालों या कुश्ती लड़नेवालों में पाया जाता है। इस विकार में कर्ण लाल और शोफयुक्त हो जाता है। जब तक वेध करके उसका दोष न निकाल दिया जाय, पेशियों के संकोच के कारण बीभत्सता (Deformity) बनी रहती है। शोपावसेचन से प्रकृतावस्था आ जाती है। इसी रोग को वाग्भट ने 'परिपोटक' बतलाया है। इसी से मिलते-जुलते रोग 'उन्मथ' और 'दुःखवर्धन' भी हैं।

३. विचर्चिका या रकसा—कर्णशष्कुली और पाली रकसा और विचर्चिका (Fczema) का एक सामान्य स्थान है। आमतौर से नये या पुराने त्वक् रोग यहाँ पर होते रहते हैं। इनकी चिकित्सा में शामक योग प्रयुक्त होते हैं।

४. बाह्याभिघात जन्य कर्णशष्कुली या कर्णपालि का छिन्न हो जाना (Traumatic affection of the Ear)।

उपर्युक्त चारों प्रकार की विकृतियों में शलाकाप्रवेश की या कर्णदर्शक (Auroscope) यन्त्र से परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती अस्तु, सुश्रुतसंहिताकार को इन विकृतियों को शालाक्यतन्त्रान्तर्गत व्याधियों में सम्मिलित करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उन्होंने शल्यतन्त्र में ही इनका समावेश कर लिया है और एक स्वतन्त्र अध्याय जिसमें कर्णवेधसंस्कार तथा कर्ण के आघातजन्य, या पालि के बढ़ते और उसकी द्विधा छेदजन्यविकृतियों का उपचार बतलाते हुए (Accidental & Traumatic injuries) प्रसंगवश कर्णपालि के विविध आमयों (रोगों) का वर्णन और उनकी चिकित्सा लिखी है[1]। एक दूसरा कारण भी उपर्युक्त रोगों का शालाक्य में वर्णन नहीं करने का है

१. लेखक की 'सौश्रुती' का संधानकर्मीयाध्याय देखें। सु. सूत्र. 'कर्णव्यधबन्धविधि' अध्याय भी देखें।

Jangamwadi Math / RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

वह यह है कि कुछ त्वग्रोगों (विचर्चिका, रकसा आदि) को छोड़ बाह्यकर्ण के उन रोगों में सन्धानकर्म (Plastic surgery) की आवश्यकता पड़ती है और यह सन्धान कर्म का विषय शल्याङ्ग से अधिक सम्बन्धित है। अस्तु, शल्यान्तर्गत सन्धान कर्मीयाध्याय में ही उसका वर्णन संगत रहा। इसी लिये सुश्रुताचार्यने अपने शालाक्य विषय के अन्तर्गत उत्तरतन्त्र में कर्णगत रोगों के पाठ में ऐसे रोगों का वर्णन नहीं आने दिया जिसका परवर्त्ती आचार्यों (वाग्भट) ने अपने कर्णरोग के संग्रह में वर्णन किया है। उदाहरण के लिये कर्ण-पिप्पली[1], विदारिका[2], पालिशोष[3], तन्त्रिका[4], परिपोट[5], उत्पात[6], उन्मन्थ या गल्लिर[7], दुःखवर्धन[8], लेहिका या परिलेही[9]। इनमें से

१. एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसाङ्कुरः स्थिरः। पिप्पली पिप्पलीमानः।
२. सन्निपाताद्विदारिकाः। सवर्णः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः स उपेक्षितः। कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति। संकोचयति रूढाश्च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलीम्।
३. शिरास्थः कुरुते वायुः पालिशोषं तदाह्वयम्।
४. कृशा दृढा च तन्त्रीवत् पाली वाते च तन्त्रिका।
५. सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्ट सहसातिप्रवर्द्धिते।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्॥
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात्परिपोटकः।
६. गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद् घर्षणादपि।
शोथः पाल्यां भवेत् श्यावो दाहपाकरुजान्वितः॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यां उत्पातः स गदो मतः।
७. कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति।
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम्॥
उन्मथकः सकण्डूकः विकारः कफवातजः।
८. संवर्द्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः॥
९. कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूपाकरुजान्विताः॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पिप्पली और कूचिकर्णक[1] सहज विकार की श्रेणी में, विदारिका शष्कुली की शोफ की श्रेणी में एवं पालि के रोगों में पालिशोष और तन्त्रिका अपक्रान्ति (Degenerative change) तथा परिपोट, उत्पात, उन्मन्थ, दुःखवर्धन पालि के शोफसम्बन्धी विकारों में (Heamatoma Auris) साथ ही परिलेही विचर्चिका (Eezema) के प्रकारों में आ जाता है। इनकी चिकित्सा सामान्य शल्यतन्त्रान्तर्गत रोगों की भाँति होगी। फलतः सुश्रुत ने कर्णरोगों में जो शालाक्य के वर्ग में आते हैं इन रोगों का उल्लेख ही नहीं किया।

परन्तु इसके अतिरिक्त श्रुतिपथ में होने वाले बाह्य कर्ण के रोगों या अथवा मध्य या अन्तस्थ कर्ण विकृतियों का अपनी परिभाषा, दोष-भेद और व्याधि भेद से उल्लेख किया है।

५. कर्ण शल्य (Foreign body)—कर्ण कृमि, धान्य प्रभृति विजातीय द्रव्यों का प्रवेश हो जाना।

६. कर्ण के भीतर (Furnculosis) फुन्सी या फोड़े का होना।

७. कर्ण के भीतर मैल (Ceruman) गूथ का इकट्ठा होना।

८. कर्ण के भीतर छोटे छोटे अर्बुद या मस्सों का निकलना।

ऊपर कहे चार प्रकार के विकार कर्ण के भीतर प्रायः होते हैं जिनका विस्तार से वर्णन आगे होगा। *मध्यकर्ण* में शोफ सम्बन्धी विकार तीव्र या जीर्ण (Acute or chronic Inflammation of the middle Ear) रूप के होते हैं इनके कारण पूयस्राव या बाधिर्य प्रभृति लक्षण हो सकते हैं। *अन्तःकर्ण* के विकारों में शोथजन्य विकृतियाँ (Labrynthitis) पाकजन्य विकृतियाँ, इन्द्रियविकार बाधिर्य (Ostosclerosis) भ्रम (Vertigo) प्रभृति होते रहते हैं।

कफासृक्क्रिमिसम्भूतः सविसर्पन्नितस्ततः।
लिहेत् सशष्कुलीं पालिं परिलेहीति स स्मृतः॥

१. गर्भेऽनिलात्संकुचिता शष्कुली कूचिकर्णकः।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

संहिता प्रन्थों में संख्या और प्रकार की दृष्टि से चरक में (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सान्निपातिक) भेद बतलाये गये हैं। सुश्रुत संहिता ने कुल संख्या कर्णरोगों की अट्ठाइस बतलाई है। मत का समर्थन प्रायः सभी परवर्त्ती ग्रन्थकार जैसे भावप्रकाश, निग्रह, योगरत्नाकर और आयुर्वेदविज्ञान के रचयिता करते हैं। ने कुल मिलाकर पच्चीस कर्णरोग गिनाया है। क्ष्वेड, स्राव, और गूथ इन्होंने अलग नहीं लिखा। तथा अर्श, शोथ और अर्बुद के भेदों अलग-अलग करके नहीं लिखा। कर्णपाली के रोगों को जिन्हें आचार्यों ने अन्यत्र दिया है इसी में शामिल कर लिया है। आ वाग्भट ने कर्णपिप्पली, त्रिदोषात्मक शूल और कूचिकर्णक को अ तथा पालि रोगों में तन्त्रिका को याप्य माना है।

यहाँ पर सुश्रुतोक्त अट्ठाइस रोगों का वर्णन ही अभीष्ट है[१]। रोगों के नाम, स्थान भेद से कान के किस भाग में होता है, यह उनके अंग्रेजी पर्यायों का नामोल्लेख किया जा रहा है, साथ में भेदों का भी वर्णन दिया जा रहा है।

---

१. कर्णशूलो कर्णनादः बाधिर्यं क्ष्वेड एव च।
कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णगूथस्तथैव च॥
प्रतिनाहो जन्तुकर्णौ विद्रधिर्विविधास्तथा।
कर्णपाकः पूतिकर्णः तथैवार्शश्चतुर्विधम्॥
तथार्बुदः सप्तविधः शोफश्चापि चतुर्विधः।
एते कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः।

२. नादोतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात्।
वैश्रुत्यकण्डुस्थिरशोफशुक्लस्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः। च. चि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

रोग	अधिष्ठान भेद	दोष प्रावल्य	अंग्रेजी पर्य्याय
...र्ण कण्डू	बाह्य कर्ण	वात कफ	Itching sensation in the Ear
...र्ण गूथ	"	पित्त कफ	Wax in the Ear
...मि कर्ण	"	त्रिदोषज	Worms in the Ear
...र्ण विद्रधि	"	वा. पि. श्लै. सन्नि. क्ष. अ.	Furnculosis in the Ear or Herpes in Ext. Ear
...र्णार्श	"	वा. पि. श्लै. त्रि.	Polypus in the Ear
...र्णार्बुद	"	वा. पि. श्लै. त्रि. र.	Hard tumour in Auditory Meatus
...र्ण स्राव	मध्य कर्ण		Otorrhoea
...प्रतिनाह	"	त्रिदोषज	Obstruction of Eustrachian Tube
...र्ण पाक	"	पित्त	Suppuration in the Ear
...कर्ण	"	"	Foetid discharge from the Ear
...द वा ...र्णनाद	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात	Tinitus
...क्ष्वेड	अन्तः कर्ण	वात एवं पित्त	Labrynthitis
...धिर्य	मध्य तथा अन्तःकर्ण	वात	Deafness
...र्ण शोथ	बाह्य मध्य तथा अंतःकर्ण	वा. पि. श्लै. आगन्तुक	Inflammatory Condition of the Ear
...र्ण शूल	बाह्य तथा मध्य	सुश्रुतानुसार केवल वायु अन्यों के अनुसार. वा. पि. श्लै. त्रि. र.	Earache
चरक ने ४	सुश्रुत ने २८	वाग्भट ने २५	कर्ण रोग बतलाया है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

३

कर्णरोगों के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति

अवश्याय (ओस) का अधिक सेवन, जल में क्रीड़ा करना, के खुजलाने प्रभृति कारणों से कर्णगत वायु कुपित होती है। इसी शस्त्र के मिथ्या या अन्यथा प्रयोग होने से (कर्णशलाका का ठीक न कर पाने से) वायु कुपित होकर कान की शिराओं को प्रा कर्णस्रोत (श्रुतिपथ) में वेग के साथ शूल पैदा करता है। कर्णगत रोग कहलाते हैं और उनकी कुल संख्या अट्ठाइस होती है।

प्राचीन दृष्टि से यह एक सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति कर्णगत की है। कान में अनेक प्रकार के रोग होते हैं उनमें प्रत्येक के विशिष्ट हेतु बतलाये जाते हैं फिर भी कुछ ऐसे साधारण कारण हैं जिनसे कर्णरोगों को उत्तेजना मिलती है। प्रत्येक रोग के सम्ब निदान या आदि कारण दो प्रकार के होते हैं–विप्रकृष्ट (Predisp तथा सन्निकृष्ट (Direct), विप्रकृष्ट कारणों में प्रायः सभी वि सामान्यता होती है जैसे—असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध काल की संप्राप्ति। दूसरे वर्ग या सन्निकृष्ट हेतुओं के वर्ग में कर्ण हेतु, अवश्यायसेवन, जल-क्रीडा, कर्णकण्डु, शस्त्र का मिथ्या प्रभृति कारण आते हैं। इन कारणों की व्याख्या इस प्रकार सकती है—१. अवश्याय या ओस में अधिक रहने से प्रतिश्या होना सम्भव है जिससे नासाग्रसनिका, कण्ठशालूक प्रभृति रो

---

१. अवश्यायजलक्रीडाकर्णकण्डूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शस्त्रस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः ॥
प्राप्य श्रोत्रशिराः कुर्यात् शूलं स्रोतसि वेगवान् ।
ते वै कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

शोथ हो जाना सम्भव है। नासाग्रसनिका (Nasopharynx) से उपसर्ग का प्रसार मध्य कर्ण तक श्रुति सुरङ्गा (Eustrachian tube) के द्वारा पहुँच जाता है। वहाँ पर उपसर्ग के पहुँचते ही मध्यकर्णशोथ आरम्भ हो जाता है, जिसके द्वारा कर्ण के नाना प्रकार के रोग (कर्णस्राव, पूतिकर्ण) हो सकते हैं। अस्तु, अवश्यायसेवन कर्णरोगों के उत्पादन में एक महत्त्व का कारण हुआ। Inflammation of middle ear is extremely common and due in practically all cases to extension of injection from the Nasopharynx through the Eustrachian tube. अर्थात् मध्यकर्णशोथ अधिकतर नासाग्रसनिका शोथ के उपसर्ग से जो श्रुति सुरङ्गा के द्वारा फैलता है, पाया जाता है।

२. जल क्रीडा—लापरवाही से स्नान करते हुए कई बार कान के छिद्र से पानी श्रुतिपथ (बाह्य) में चला जाता है और वहाँ पड़े हुए मैल (Wax) को तरकर फुला देता है जिससे बाह्य छिद्र बन्द हो जाता है जिससे चक्कर आना, छर्दि, कर्णनाद, शूल प्रभृति कई प्रकार के कर्णरोग हो जाया करते हैं। अस्तु, कर्णरोगों के सामान्य हेतु में जलक्रीडा का कथन भी युक्तियुक्त है। जलक्रीडा का एक और दोष है—बार-बार डुबकी लगाने से अचानक कान के पर्दे पर वायु का भार पड़ता है जिससे पर्दा फटने का भय रहता है। Plugs of Wax often collect in the ear causing deafness which may become worse after bathing as the result of the moistened wax swelling up and occluding the meatus. Giddiness Vomiting and noises in the ear are symptoms resulting from pressure of wax on the Tympanic membrane. अर्थात् कान में मैल इकट्ठी होकर बहरापन पैदा करती है। जब आदमी पानी में डुबकी लगाकर नहाता है तो इसकी हालत और बदतर हो जाती है। वह मैल पानी खींचकर फूलती है एवं बाह्य स्रोत को भर देती है। कान के पर्दे पर इस मैल का दबाव पड़ने से चक्कर, कै और कान में आवाज का होना ऐसे लक्षण रोगी में उत्पन्न हो जाते हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

इसके अतिरिक्त जल के दूषित होने से भी जीवाणुओं का सं होकर कान तक उपसर्ग पहुँच कर शोथ, कण्डु प्रभृति लक्षण हो हैं। लकड़ी, सींक, तृण से कान खुजलाने में क्षत हो जाता है उनके दूषित होने से पूय जनक जीवाणुओं का उपसर्ग कान में कर कान में विकार पैदा होते हैं।

३. कर्णकण्डूयन (कान खुजलाने की आदत) या शस्त्र के मि प्रयोग (मैल निकालते हुए शलाका या तालयन्त्र का प्रयोग करते अथवा शस्त्र के अभिघात से भी कई प्रकार के कर्णरोग हो सकते इनमें सर्व प्रथम विकृति का हेतु अविशोधित यन्त्र (Un sterili का प्रयोग, ऐसे यन्त्रों के (Un sterilized) प्रयोग से कई प्रक पूयजनक जीवाणुओं का श्रुतिपथ में प्रवेश हो जाता है। द्वितीय अभिघात (Violence) है। ये अभिघात भी दो प्रकार के हो हैं प्रत्यक्ष—सीधे (Direct) तथा अप्रत्यक्ष (Indirect)। प विजातीय द्रव्यों का कर्णकुहर में प्रवेश अथवा उनको हटाने नि के लिये गल्ती ढंग से कोशिशें (Unskillfull attempt at t removal is responsible) जबाबदेह होती हैं। अप्रत्यक्ष अभि का फल हठात् वायु का श्रुतिपथ में दबाव बढ़ जाना होता है। जै कान पर तेज चोट का लगना, बन्दूक या तोप का उच्चशब्द या कि सुनाई पड़ना अथवा जलक्रीडा करते डुबकी मारना—इन कार कर्णपटह का विदीर्ण होना सम्भव है। ऐसी दशा में (कान के के फटने में) कर्ण में पीडा, बाधिर्य, कर्ण से रुधिर का स्राव सम्भव है। कर्णपटह का विदारण कपालास्थियों के अभिघात में है। अस्तु, कणकण्डूयन, अभिघात, शस्त्र का मिथ्या प्रयोग प्र कारण निम्न प्रकार से विभिन्न प्रकार के कर्ण रोगों के उत्पाद सहायभूत होते हैं—

Rupture of Tympanic membrne may be du direct or indirect violence. In the former case, intr ction of foreign bodies or unskillfull attempts at t removal is responsible. Indirect violence acts by su

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

compression of air in the meatus e. q. from a blow on the ear heavy gun explosion or in diving. Fracture of the middle fossa of the skull are frequently associated with rupture of the Tympanic membrane.

कर्णरोगों में सामान्य चिकित्साक्रम—सामान्यतया सभी कर्णरोगों में घृतपान अव्यायाम (कसरत न करना) अशिरस्क स्नान और अधिक न बोलना तथा ब्रह्मचर्य से रहना रसायन है[1]।

(१) *घृतपान*—प्रायः सभी प्रकार के कर्णरोगों में घृतपान रसायन माना जाता है। घृत में गोघृत हो तो श्रेष्ठ है। घृत को गर्म दूध में मिला कर पीना चाहिये। मात्रा-गोघृत २ तोला गाय का दूध १ पाव।

कर्णरोग नाशक घृत—केमुक कन्द, अङ्कोल (ढेरे का फल), अदरक का रस, जटामांसी, सहिजन, इन्द्रजौ, देवदारु, बाँस की छाल, लहसुन, हींग, सैन्धव, सोंठ, मिर्च, पीपल प्रत्येक का एक-एक तोला लेकर पीस कर पाव भर पानी में कल्क बना कर तीन पाव तेल या घृत लेकर उसमें डाल कर गोमूत्र, बकरी का मूत्रादि आठ प्रकार के मूत्रों का डेढ़ पाव लेकर तैल या घृतसिद्ध करे। इससे तैल या घृत सिद्ध करे। इस तैल या घृत को कुनकुना कान में डाला करे, इससे समस्त कर्ण रोग नष्ट होते हैं। इसका पिलाने में उपयोग हो सकता है।

(२) *सिर में तैल का अभ्यंग*—अधिकतर बला तैल का सिंचन, तैल में रुई को भिगो कर सिर पर रखना अथवा अभ्यंग करना प्रशस्त है।

(३) स्वेदन *तथा कर्ण पूरण*[2] (Eardrops or Injection)—

१. सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम् ।
अव्यायामोऽशिरःस्नानं ब्रह्मचर्यमकत्थनम् (भाषणम्) । (सु. चि.)

२. स्वेदयेत्कर्णदेशं तु किंचित्तु पार्श्वशायिनः ।
मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्तैश्च श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥
कर्णं च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि च ।
सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

गोमूत्र, औषधसिद्ध घृत या तैल का कोष्ण (गुना गुना) कान में डालना पूरण कहलाता है। इन तैलों के पूरण के अनन्तर स्वेदन किया जाता है। यह पूरण या स्वेदन की क्रिया रोगी को किसी पार्श्व पर लेटा कर की जाती है। कितनी देर तक कान में औषध द्रवौषधियों को रखना चाहिये उसका विधान इस प्रकार का है कि कान में दवा को छोड़कर सौ या पाँच सौ मात्रा तक रखना चाहिये। यदि कान का रोग बड़ा प्रबल हो अथवा कण्ठ एवं सिर में भी रोग हो तो सहस्र मात्रा तक भी धारण किया जा सकता है। मात्रा की परिभाषा यह है कि अपनी जानु (घुटने) के चारों ओर हाथ को घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय लगे, वह एक मात्रा हुई। इस हिसाब से पाँच सौ मात्रा या हजार मात्रा तक तैल को पूरण करके धारण करता रहे। एक मात्रा का समय घड़ी के हिसाब से सामान्यतः $\frac{1}{6}$ मिनट का होना चाहिये। इस हिसाब से ५०० से १००० मात्राओं में सवा घंटे से ढाई घंटे का समय होता है।

कान में स्वरसादि का पूरण करना हो तो भोजन के पहले और तैल इत्यादि से पूरण करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् अर्थात् रात्रि में करना चाहिये।

कर्ण पूरण में प्रयुक्त होने वाले पाश्चात्य चिकित्सा में बहुत से योग हैं उनकी कुछ बूँदें कान में डाल कर रूई से बाह्यछिद्र को बन्द कर देते हैं। पूरण के पूर्व कान की शुद्धि कर ली जाती है और कान को साफ कर लेने के पश्चात् दवा डालते हैं। ये योग अधिकतर रासायनिक द्रव्यों 'स्प्रिट' या परिस्रुत सलिल में बनाये घोल रहते हैं। इनका पाठ विविध रोगों के प्रसंग में दिया जायगा।

कर्णरोगों में सामान्य व्यवहृत होने वाले योग—तैल १. हिंग्वादि

स्वजानुनः करावर्त्त कुर्यात् त्रोटिकया युतम् ।
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवं विनिश्चयः ॥
रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते ।
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ (यो. र.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

हींग, देवदारु, मिसि, मूलक भस्म, भूर्जपत्रत्वक्, क्षार, सेंधा नमक, क लवण, उद्भिद लवण, सहिजन, सोंठ, सज्जीखार, विड्लवण, , अंजन (रसौंत), बिजौरा नीबू, केले का रस और मधुसूक्त से क प्रसिद्ध हिंग्वादिक्षार तैल होता है। यह सभी प्रकार के कर्णरोगों दूर करने वाला हैं विशेषत: मनुष्यों के कर्णनाद तथा बाधिर्य में कर होता है। वातिक शूलों में कर्णशूल, भ्रूशूल, मस्तकशूल, शङ्कुल्य-पलशूल में शूल को दूर करने वाला माना जाकर चरक तथा सुश्रुत ों के द्वारा प्रशंसित है।

इसमें मधुसूक्त जो बनता है उसके बनाने का विधान इस प्रकार जम्भीरी (बिजौरा नीबू) का रस एक प्रस्थ, माक्षिक (मधु) कुडव, और पिप्पली एक पल की मात्रा में लेकर घी के वर्तन में मिलाकर धान्यराशि (नाज की ढेरी) में रख देते हैं। एक मास संधान करके पड़े रहने देते हैं। इस रस को मधुसूक्त कहते हैं। का प्रक्षेप तैलपाक के प्रयोग में आता है।

कुष्ठादि तैल—कड़ुवा कूट, सोंठ, बच, हींग, सौंफ, सहिजन के अथवा छाल और सेंधा नमक एक-एक तोला लेकर कल्क बना पाव तेल में कल्क के साथ डेढ़ पाव पानी और साढ़े चार पाव र का मूत्र डालकर तैल सिद्ध करे। इस तैल के उपयोग से समस्त रोग नष्ट होते हैं।

दार्व्यादि तैल—एक सेर तिल के तेल में एक सेर दारुहल्दी का ढ़ा, एक सेर दशमूल का काढ़ा, एक सेर मुलेठी का काढ़ा, एक सेर ली कन्द का स्वरस डाले और कूट, बच, सहिजन की छाल, सौंफ, व, देवदारु, यवक्षार, सज्जीखार, बिड् नमक और सेंधा नमक, दो-दो तोले लेकर पीसकर कल्क बना उसी में छोड़ कर तेल सिद्ध । इस तेल को कान में डालने से कर्णशूल, कर्णनाद, बधिरता, कर्ण, कर्णक्ष्वेड, जन्तुकर्ण, कर्णपाक, कर्णकण्डू, प्रतीनाह, कर्णस्राव, शोथ, आदि सम्पूर्ण कर्णरोग कितने ही भयङ्कर हों अवश्य नष्ट ते हैं।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

मूलिका तैल—यदि कान के भीतर फुंसी हो जावे तो फिटकरी और समुद्रफेन पीसकर कान में डाले। उसके ऊपर से नींबू का रस डाल दे। इस प्रयोग के कई बार करने से कान की बन्द होगी और मवाद का आना भी बन्द होगा। इसके बाद तेल में मूली के पत्ते डालकर तेल को आग पर चढ़ा दे। तेल में जल जावें तब वर्तन उतार कर तेल छान ले। इसके से कान के भीतर के शेष सब विकार आराम होंगे।

(४) *शोधन*—वमन, विरेचन, नस्य, धूम, सिरावेध प्रभृति से कर्णरोगियों का यथायोग्य शोधन करना चाहिये।

योग (आभ्यन्तर प्रयोग)—

इन्दुवटी—शिलाजीत, अभ्रकभस्म, लौहभस्म सब एक-एक स्वर्णभस्म तीन माशे लेकर मकोय, शतावर, आँवला और रस से अलग-अलग भावना दे, दो-दो रत्ती की गोली बनाकर इसकी एक गोली नित्य सबेरे आँवले के रस में मिलाकर लिया इसके सेवन से कर्णनाद आदि समस्त कर्णरोग वातप्रकोप से रोग, बीस प्रकार के प्रमेह नष्ट होते हैं।

सारिवादिवटी—सारिवा-अनन्तमूल, मुलेठी, कूट, तेजपात, चीनी, बड़ी इलायची, नागकेसर, प्रियंगु (अभाव में मालकांगनी), कमल (अभाव में गुलनीलोफर), गुर्च, लौंग, आँवला, हर्रा, अभ्रक भस्म और लौहभस्म सब बराबर-बराबर लेकर भांगरा, इन्द्रजव, मकोय और घुँघची की जड़ के स्वरस या क्वाथ से एक भावना दे। इसके बाद चार-चार रत्ती की गोली बना रखे। एक गोली धारोष्ण दूध से या शतावरी के स्वरस से अथवा चन्दन के साथ लिया करे। इससे सब प्रकार के कर्णरोग, प्रकार के प्रमेह, रक्तपित्त, क्षय, श्वास, नपुंसकता, जीर्ण-ज्वर, अर्श, हृद्रोग, मदात्यय और सम्पूर्ण स्त्रीरोग नष्ट होते हैं।

कर्णरोगहर रस—हीरे की भस्म, वैक्रान्त भस्म, विमलभस्म, की भस्म, नागभस्म, शुद्ध सींगिया, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

र्णमाक्षिकभस्म समान भाग लेकर पहले पारद और गन्धक की ज्जली बनावे। फिर सब ओषधियों को एक-एक कर घोटता हुआ लाता जावे। इसके बाद लहसुन के रस की सात भावना दे, श्चात्, अदरख, सहिंजन की छाल का काढ़ा, इन्द्रवारुणी की जड़ काढ़ा और कदलीकन्द के स्वरस की क्रमशः सात-सात भावना दे। सके बाद तीन-तीन रत्ती की गोली बनाकर रखे या यों ही भावना पर पिसी हुई दवा बोतल में भर तीन-तीन रत्ती की खुराक से या करे। इससे समस्त कर्णरोग ठीक होते हैं।

रास्नादिगुग्गुल—(१) रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, देवदारु और ठ समान भाग लेकर सब की तौल के बराबर शुद्ध गुग्गुल लेकर ड़ा-थोड़ा घी डाल कर खरल में सब को खूब कूटे। जब सब एक हो जायँ तो एक-एक माशे की गोलियाँ बनाकर रखे। इस रास्नादि गुल के सेवन से सम्पूर्ण कर्णरोग, वातरोग, शिरोरोग, नाड़ीव्रण और न्दर रोग नष्ट होते हैं।

(२) सब प्रकार के कर्णरोगों में अपामार्गक्षार तैल, लहसुनादि , बिल्व तैल, स्वर्जिकाद्य तैल, दशमूली तैल, कुष्ठाद्य तैल, क्षार तैल, म्यादि तैल तथा निशादि तैल का उपयोग हितकारी होता है।

(३) कान में कृमि पड़कर दुर्गन्धि होती हो तो गोमूत्र में हरताल सकर कान में डाले और कान में गुग्गुल की धूनी दिया करे। इसी र वायविडङ्ग का चूर्ण और हरताल पीसकर गोमूत्र में मिला कर न में डाला करे।

महारस—व्योष, इज्जलबीज, शंखभस्म, वत्सनाभ और काली च समान भाग में लेकर मिला ले। ४ रत्ती की मात्रा में कर्ण रोग सेवन हितकर होता है।[1]

कर्णरोग पर पथ्यापथ्य—कर्णरोग पर स्वेदन, रेचन, वमन, नस्य,

१. व्योषमिज्जलबीजञ्च शंखभस्म विषान्वितम् ।
मरिचं सदृशं खादेत् कर्णरोगे महारसम् ॥

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

अवधूलन (Dusting) शिरावेध आदि हितकारी हैं। गेहूँ, मूँग, जव, पुराना घी, लवापक्षी, मोर, हरिण, तीतर, बनमूर्गा का परवल, सहिजन, बैंगन, चौपतिया और करैले की तरकारियाँ में लेना हित है। च्यवनप्राश आदि रसायन प्रयोग, रात में और मधु, घृत का सेवन, ब्रह्मचर्य का पालन, अधिक भाषण न हितकारी है। दोषविकृति देखकर उचित यत्नविधान करना चाहिये। कर्ण रोगी को खाने की दवा सबेरे और कान में डालने की दवा के पश्चात् रात में डालनी चाहिये।[1]

दातून करना, शिर पर पानी डालकर या पानी में डुबकी ल स्नान करना, अधिक व्यायाम, कफवर्धक और भारी पदार्थों का कान को खुजलाते रहना या खोदते रहना, सर्दी-तुषार और तेज में रहना हानिकारक है।[2] इस प्रकार इन सब बातों को ध्यान में कर व्यवहार करे तो कर्णरोग से छुटकारा ही न मिले, बल्कि आरोग्य सम्पादित हो और श्रवणशक्ति सम्पन्न रहे।

४

कर्ण-शूल

(Otalgia or Earache)

व्याख्या—कान में दर्द या पीड़ा होने को कर्णशूल कहते हैं में इसका पर्याय नाम 'ओटैल्जिया' है। इसमें मुख्य विकृति होती है। जब आहार-विहार के द्वारा वायु के प्रकुपित करने कारण उपस्थित होते हैं तब श्रोतगत वायु संचित होता है। सं

---

१. स्वेदो विरेको वमनं नस्यं घूमं शिराव्यधः ।
गोधूमः शालयो मुद्गाः यवाश्च प्रतनं हविः ॥

२. दन्तकाष्ठं शिरःस्नानं व्यायामं श्लेष्मलं गुरु ।
कण्डूयनं तुषारं च कर्णरोगी परित्यजेत् ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

...द उसका प्रसर, प्रसर के बाद स्थान-संश्रय, स्थान-संश्रय से व्यक्ति और तदनन्तर भेद होता है। इसके पश्चात् वह वायु, पित्त, कफ या रक्त के द्वारा आवृत होकर विपरीत गमन करता हुआ शूल का लक्षण उत्पन्न करता है। वायु के अतिरिक्त यदि उस पित्त, कफ या रक्त का भी संसर्ग हो जाता है तो रोग अधिक तीव्र एवं कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

'अपने-अपने निदानों से प्रकुपित दोषों से आवृत प्रतिलोमचारी वायु श्रोत्र (कर्ण) में जाकर चारों ओर तीव्र शूल पैदा कर देता है। इस व्याधि को कर्णशूल कहा जाता है। यह कर्णशूल दुश्चिकित्स्य होता है।'[1] अर्थात् इसकी चिकित्सा में कठिनाई होती है।

पाश्चात्य वैद्यक की दृष्टि से विचार किया जाय तो कर्णशूल एक लक्षण मात्र है जो कर्णेन्द्रिय के विविध भागों में होने वाली विविध विकृतियों के कारण हो सकता है जैसे—

बाह्यकर्णगत विकृतियों में—कान के अन्दर फोड़ा या पनसिका (Furunculosis) में तीव्र पीड़ा हो सकती है। कई बार यह पीडा इतनी तीव्र होती है कि तीव्र चौचुकशोथ (Acute Mastoiditis) से भेद करना कठिन हो जाता है। इस प्रकार शंखास्थिका शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ, करोटि की अस्थियों के मध्य में किसी प्रकार का शोथ या पाक होने से भी कर्णशूल होता है। ऐसी पीड़ा अपने स्थान से होती हुई सिर के एक भाग में पहुँचकर गर्दन तक फैल जाती है। कई बार कान के भीतर पानी जाने से कान की मैल (Wax) फूलकर श्रुतिपथ को बन्द कर पीड़ा पैदा करती है। कर्णपटह का विदीर्ण होना (Rupture of Tympanic membrane) बड़ा कठिन रोग है, जिसमें बधिरता और कान से रक्तस्राव होने के साथ ही साथ तीव्र शूल होता है। इसमें प्रधान विकृति वायु के भार की विगुणता के कारण होती है। (Sudden compression of air in the meatus) प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष अभिघात से ही तीव्र पीड़ा कान में होती है।

१. समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यतश्चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतं स कर्णशूलः कथितो दुराचरः। (सु. २।१६)

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

कर्णशूल से यद्यपि एक साधारण कान की पीड़ा का ग्रहण है परन्तु संभवतः दुश्चिकित्स्य कर्णशूल कहने का तात्पर्य कर्णप विदीर्ण होना ही है।

मध्यकर्णगत विकृतियाँ—मध्यकर्णशोथ (Otitis Media) के प्रकारों में तीव्रावस्था (Acute condition) में अनवरत तीव्र कान में होता है। जब वही पाक या शोथ पुराना पड़ जाता है रोग की जीर्णावस्था (Chronic stage) में पीड़ा नहीं या अल्प है तथापि यदि ऊपर वाले जबड़े के किसी दाँत में कृमिदन्त हो या खोंखले में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँच जाय या दन्त शोथ हो जाय; तो पीड़ा नाड़ी द्वारा संवाहित होकर कान में होने है। इसी प्रकार गले की विकृतियाँ (Laringitis or Phary or tumours of these organs) पैदा हो जावें तो पीड़ा कान में होगा। तीव्र प्रतिश्याय में गले की खराबी से श्रुति (Eustrachian tube) में शोथ का प्रसार होता हुआ मध्यक पहुँच कर कर्ण में पीड़ा उत्पन्न कर सकता है। कई बार श्रुतिमू (Parotiditis) भी कर्णशूल पैदा करता है।

अन्तःकर्णगत विकृतियों में—कान में अन्तःकर्ण भाग की विकृ कान्तारक में शोथ या पाकोत्पत्ति होने के कारण तीव्र पीड़ा हो है। इसमें कान्तारक शोथ (Labrynthitis) के कारण अ शूल होता है। तीव्र शोथ में यह पीड़ा नाड़ीशूल (Neuralgi समान असह्य हो जाती है। इसी प्रकार श्रुति नाड़ी शोथ या श्रव शोफ (मस्तिष्कगत भाग) में भी कर्णशूल संभव है। क शोफजन्य अथवा चौचुकशोथ जन्य शूल सोपद्रव होने से भी होते हैं।

जब पीड़ा कान के ऊपरी और पिछले भाग में हो तो स चाहिये कि पीड़ा का कारण करोटि में है। वायु के कारण क प्रौढ़ (४० वर्ष से ऊपर की आयु वाले) व्यक्तियों में कर्णशूल हो परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर कोई पीड़ा का कारण या स्थानिक वि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

लाई पड़ता। ऐसी दशा में कर्णपाली के नीचे मूल भाग में शंखास्थि र अधोहन्वस्थि की संधि में शोथ होने से प्रायः ऐसा कष्ट होता है।

कई बार बच्चों में कर्णशूल का निदान करना कठिन हो जाता है कि बच्चे अपनी व्यथा को कह तो पाते नहीं। काश्यप संहिता में ों के कर्णशूल के ज्ञान के लिये निम्नलिखित लक्षण तथा चिह्न ये गये हैं :—

'बालक बार-बार हाथों से कान का स्पर्श करता है, बार-बार जोर से सिर हिलाता है, कान धोने या छूने से बेचैन होकर रोता है। दूध पीने में इच्छा का न होना (अरति) तथा अरुचि हो जाती निद्रा का अभाव हो जाता है अथवा नींद में भी चैन नहीं पड़ता। लक्षणों से युक्त यदि बच्चा मिले तो कर्ण में शूल हो रहा है ऐसा कना चाहिये।'[1] तीव्र प्रतिश्याय ब्रांकोन्यूमोनिया अथवा अन्य प्रकार संतत ज्वरों से पीड़ित बच्चों में कर्णशूल प्रायः होता है।

आचार्य वाग्भट ने दोषों के बल की अंशांश कल्पना के द्वारा कर्ण- के पाँच भेद बतलाये हैं। वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और ोषज। जैसा कि शिरःशूल के सम्बन्ध में होता है; परन्तु सुश्रुताचार्य कर्णशूल के इतने प्रभेद मान्य नहीं, उन्होंने कर्णशूल को एक प्रधान मानते हुए वायुदोष की ही प्रबलता बतलाई है एवं चिकित्सा में केवल वातघ्नोपचारों का ही निर्देश किया है। अस्तु, इस निबंध में शूल को एक ही मानते हुए उसकी चिकित्सा के उपक्रमों का लिखना ध्येय है।

कर्णशूल का *सापेक्षनिदान*—इसी प्रकार के विचार आधुनिक ास्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं, जिसे कर्णशूल का सापेक्ष निदान

१. कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम्।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम्।
मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा।
उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः।
(विदेह का वचन मधुकोष से उद्धृत)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कहा जाता है। मध्य कर्णशोथ या चौचुकशोथ के कारण जो
पीड़ा हो वह निश्चित रूप से उस पीड़ा से जो बाह्यकर्ण को
(Furunculosis) के कारण होती है; भिन्न प्रकार ही होगी।
विद्रधि या बाह्यकर्ण शोथ की पीड़ा मंदस्वरूप की होती है
चौचुक शोथ और मध्य कर्णशोथ में अत्यन्त तीव्र वेधनवत् पीड़ा
है। पीड़ा का स्थान भी भिन्न हो सकता है। बाह्य विकृति में पीड़ा
स्थान विशेष में सीमित रहती है जैसे कान के नीचे या सा
ओर। चौचुक शोथ अथवा मध्यकर्ण शोथ में पीड़ा को कान में
ओर और कान के पीछे की ओर को बतलाते हुए रोगी मिलते हैं
बार कर्णशूल कर्णशल्य (Foreign bodies) के कर्णस्रोत (Me
के अस्थिमय भाग में अँटक जाने से होने लगता है और
(Excruciating pain) होता है। इस अवस्था में कर्णस्रो
परीक्षा करके और शल्य को निकालने से ही पीड़ा शान्त होती है

साध्यासाध्यता—'जब रोगी को (कर्णरोग में) मूर्च्छा आ
अत्यन्त दाह हो, ज्वर होने लगे, खाँसी आवे, श्वास बढ़ जाय,
हो तब वह कर्णशूल उपद्रवयुक्त हो जाता है। उपद्रवयुक्त कर्ण
रोगी को आराम नहीं मिलता और वह रोगी प्रायः मर जाता है।
प्रकार त्रिदोषात्मक शिरःशूल को भी वाग्भट ने असाध्य माना है।
तक उपरोक्त उपद्रव कम रहते हैं तब तक साध्यता की आशा र
जैसे-जैसे उपद्रवों की संख्या अधिक होगी वैसे ही रोग की
अधिक होती जायगी। उसी के अनुसार असाध्यता भी बढ़ती ज

आधुनिक ढंग से विचार करने पर ऊपर लिखी बातें अधि
हो जाती हैं। कान में दर्द होना तो एक उपलक्षण मात्र है। इस
में कर्ण के विविध भागों की विकृतियाँ हेतुभूत होती हैं।
देखना है कि इतने उपद्रवों का कर्णशूल के साथ होना कि
अवस्थाओं में संभव है। बाह्यकर्ण में होनेवाली विकृतियों में इन
लक्षणों का मिलना संभव नहीं होता मध्यकर्ण शोथ में भी साथ
श्वास, वमन, मूर्च्छा, भ्रम प्रभृति लक्षण प्रायः नहीं मिलते।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

कर्ण पाक तीव्र (Acute suppurative otitis media) हो और का उपसर्ग यदि अंतःकर्ण की तरफ बढ़े तो शिरोगुहा के अंगों में तीव्र शोथ होकर (Intracranial Complication) कई प्रकार के गुहा के उपद्रव होने लगते हैं। जैसे कान्तारक शोथ (Labrynth-) बाह्यमस्तिष्कावरणविद्रधि (Extra dural Abscess) पार्श्ववर्ती जाल (Sinus) में रक्त का जमना और मस्तिष्कावरण शोथ। जब विकृतियों में उपर्युक्त लक्षण (सोपद्रव कर्णशूल के) होने लगते हैं, रोग की साध्यता घट जाती है एवं रोग असाध्य हो जाता है।

मध्यकर्ण शोथ के रास्ते शंखकूट या प्रवर्द्धन में भी पूयजनक जीवाणुओं का (Mastoiditis Acute or Abscess) उपसर्ग पहुँच कर शोथ या विद्रधि होने का भय रहता है। इस अवस्था में शंखकूट वायु कोषों में शोथ होकर कई प्रकार के स्थानिक तथा सार्वदैहिक लक्षण पैदा होते हैं। कान की पीड़ा अधिक तीव्र हो जाती है पीड़ा का कर्ण के पश्चाद्भाग में शंखकूट प्रदेश तक हो जाता है। इस प्रदेश (Mastoid region) सूजन, लालिमा, स्पर्शनाक्षमता आ जाती कुछ रोगियों में जिनके कान से स्राव भी होता रहता है स्राव बन्द जाता है, परन्तु साधारण स्वास्थ्य गिरता जाता है, शीत के साथ (Rigor) चिड़चिड़ापन, क्षोभ, तन्द्रा प्रभृति लक्षण प्रबल हो है। यही उपसर्ग यदि मस्तिष्क तक पहुँचे; तो फिर बहिर्मस्तिष्कावरणविद्रधि, मस्तिष्कावरणशोथ, बृहन्मस्तिष्कविद्रधि, लघु मस्तिष्कविद्रधि, प्रभृति, शिरोगुहान्तर्गत विकार होकर मस्तिष्क क्षोभ लक्षण होने लगते हैं। मूर्छा, दाह, ज्वर, कास, हृल्लास, वमन प्रभृति होकर मृत्यु भी हो सकती है।

कान्तारक शोथ (Labrynthitis)—उपसर्ग का प्रसार होकर अंतःकर्ण का शोथ हो जाता है। यह उपसर्ग या तो अण्डाकार छिद्र के द्वारा 'रोटंडम' के छिद्र के द्वारा अथवा बाह्य अर्द्ध चन्द्राकार नलिकाओं दीवालों के जरिये पहुँचता है। भ्रम, तन्द्रा, मूर्छा तथा वमन लक्षण और चिह्न यदि अर्द्ध चन्द्रनलिकायें विकृत हो जायँ तो

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

होने लगते हैं और श्रुति शम्बूक (Cochlea) की खराबी से
तथा कर्ण क्ष्वेड (Deafness & tinitus) होने लगते हैं।

चिकित्सा—कर्णशूल में वायुदोष की प्रधानता होती है।
चिकित्सा में वायुशामक या वातघ्न उपक्रमों का बरता जाना
है। ओषधियों से सिद्ध स्नेह का पूरण तथा स्वेदन
होता है।

कर्णपूरण—(१) सहिजन की गोंद को तिल तैल में गर्म करके
में छोड़ना या सैंधव लवण मिलाकर आर्द्रकस्वरस का (२)
वच, सोंठ, सैन्धव समान भाग में लेकर इस परिमाण से चतुर्गुण
एवं तैल के बराबर आर्द्रकस्वरस डाल कर तैल सिद्ध करके
करना। (३) लहसुन, अदरख, सहिजन, मूली तथा केले
का पृथक्-पृथक् या मिश्र कदुष्णपूरण। (४) तिलपर्णीपत्रस्वरस
अर्कपत्रस्वरस सिद्ध तैल। (५) आर्द्रक, सूर्यावर्त (
हुरहुर, सहिजन और मूली का रस पृथक्-पृथक् मधु, तेल और
नमक मिलाकर पूरण करना। (६) कान में सर्षपतैल
ऊपर से समुद्रफेन का चूर्ण का अवघूलन करके भीतर में प्रक्षिप्त
(७) गाय, भैंस, बकरी, गदही, घोड़ी, ऊँटनी, हथिनी और
से किसी एक के मूत्र को गर्म करके कान में डालने से
शान्त होती है। (८) बहुत से पीपल के पत्तों को लेकर
चुपड़ कर एक के ऊपर एक रखकर द्रोण के आकार का गड्ढा
ले उसी गड्ढे में एक चिनगारी रख दे। अंगार की गर्मी से
कर तैल और स्वरस कान में पहुँचेगा, इसके पूरण से कर्णशूल
हो जाता है। (९) मदार के पत्ते जो अपने आप पक
उनमें एक दो को लेकर घी में चुपड़कर अग्नि पर तपा कर
निकाल कर गर्म गुनगुना कर कान में डाले। इससे पीड़ा
होती है[१]। (१०) स्योनाक (सोनापाठा) मूल से सिद्ध तैल

१. अर्कस्य पत्रं परिणामपीतमाज्येन लिप्तं शिखिनावतप्तम्।
आपीड्य तोयं श्रवणे निषिक्तं निहन्ति शूलं बहुवेदनञ्च॥ (यो.

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(११) केवल सरसों के तेल को गर्म करके डालना। अथवा (१२) हिंगु, शुण्ठी, सैंधव से सिद्ध सर्षपतैल पूरण के द्वारा कर्णशूल को शमन करता है। (१३) कर्णशूल के साथ यदि[1] कर्ण में नाद और क्लिन्नता हो तो बस्तमूत्र (बकरे के मूत्र) को गर्म करके सैंधव नमक डालकर उसका पूरण करे। (१४) दीपिका तैल का पूरण।

दीपिका तैल निर्माण विधि—बृहत् पंचमूल के किसी एक वृक्ष की गीली लकड़ी लेकर उसको आगे की ओर से आठ अंगुल तक किसी क्षौम (रेशमी) वस्त्र से लपेट कर तिल तैल में अच्छी तरह से आप्लुत करे। फिर उसे जला दे। लकड़ी से टपकते हुए तेल का संग्रह करे और उसका कान में गुनगुना पूरण करे तो कर्णशूल तत्काल शान्त हो जाता है। (१५) मातृस्तन्य का पूरण। सोपद्रव कर्णशूल में यदि इन उपक्रमों से लाभ न हो तो शस्त्रक्रिया करनी चाहिये। उसके द्वारा शोधन होकर रोग में कुछ लाभ हो सकता है।

आधुनिक ग्रन्थों में कर्णशूल के कारणों के अनुसार चिकित्सा करने का विधान है फिर भी कई प्रकार के संशामक तथा पीडाशामक योग सामान्यतया व्यवहार में आते हैं।

दोषभेद से विचार करने पर सुश्रुताचार्य के अनुसार कर्णशूल, कर्णनाद, क्ष्वेड और बाधिर्य सभी में वायु की विकृति होती है। अस्तु वायु की विकृति को ठीक करने के लिये चिकित्सा में एक ही उपक्रम बताये जाते हैं।[2]

कर्णशूलहर योग—

कर्णबिन्दु तैल—तिल तैल १ सेर, धतूर के फल आधा सेर, अहिफेन १ तोला, तैलपाक विधि से सिद्ध तैल का पूरण कर्णशूल में लाभप्रद होता है।

---

१. व्रणे शूलोत्तरे कर्णे सशब्दे क्लेदवाहिनि।
वस्तमूत्रं क्षिपेत्कोष्णं सैन्धवेनावचूर्णितम्॥

२. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च।
चतुर्ष्वपि च रोगेषु सामान्यं भेषजं स्मृतम्॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्णशूल में कान में निम्नलिखित बूँदों का पूरण भी सद्यः लाभ होता है। कर्ण विन्दुद्रव-प्रोकेन हाइड्रोक्लोर १ ग्रेन, मेन्थाल ५ ग्रे कैम्फर ७ ग्रेन, परिस्रुतजल आधा आउंस।

—००:००—

५

कर्णनाद या प्रणाद

(Noises in the Ear)

व्याख्या—'जब शब्द को वहन करने वाली शिरा में वायु आ स्थित हो जाता है तब उस वायु के आघात से कान में अकस्मात् बारम्बार अनेक प्रकार के शब्द सुने जाते हैं उसे कर्णनाद' कहते हैं।

'कर्णस्रोत (विवर) में वायु के स्थित होने से विविध प्रकार स्वर सुनाई पड़ते हैं जैसे भेरी (शहनाई) मृदङ्ग और शंख की ध्वनि के समान। उस व्याधि को कर्णनाद कहते हैं।'[2]

'कानों में जब सिरागत वायु प्राप्त होती है तब नाना प्रकार शब्दों को कानों में पैदा करता है. भौरों के गुञ्जार के समान, (कुररी) की करकराहट सदृश, दादुर ध्वनि के सदृश, कौवे के काँव सा, सितार (तंत्री) या मृदंग जैसे, वेद पाठ ध्वनि सदृश, सदृश, गाने के समान, पढ़ने जैसे, बाँसों के कूजन के समान (वादन) तुरही के शब्द सदृश, नदी के प्रपात के समान, गाड़ी के के समान और साँप के फुफकार के सदृश शब्द सुनाई पड़ते हैं।'[3]

१. शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः।
नादानकस्माद्विविधान् कर्णनादं वदन्ति तम्। (वा०)

२. कर्णस्रोतस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते। (सु०)

३. सिरागतो यदा वायुः स्रोतसोः प्रतिपद्यते।
तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कर्णक्ष्वेड (Tinitus)

व्याख्या—कर्णनाद से मिलता-जुलता एक दूसरे रोग का वर्णन ाचीन ग्रन्थों में मिलता है वह है कर्णक्ष्वेड। इसे कर्णनाद का ही क भेद समझना चाहिये। अंतर यह है कि जहाँ कर्णनाद में नाना कार शब्द होते हुए कान में सुन पड़ते हैं वहाँ इस रोग में एक विशेष ार ध्वनि क्ष्वेड (वंशीरव) वंशी बजने के समान ध्वनि सुनाई ड़ती है।

'वायु पित्तादि के साथ संयुक्त होकर वेणुघोष (वंशी की आवाज) समान कान में शब्द पैदा करता है उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं।' 'वायु क पित्त और शोणित के साथ संयुक्त हो वंशी ध्वनि जैसी आवाज न में पैदा करता है, उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं।"[1]

आधुनिक प्रविचार—कर्णनाद या कर्णक्ष्वेड (कान में आवाज) े की तकलीफ बतलाते हुए प्रायः रोगी मिलते हैं। वास्तव में रोगी लिये यह होता भी बड़ा कष्टकर है। इस लक्षण की तीव्रता में ुत विषमता देखने को मिलती है। यह मामूली तकलीफ से लेकर ना बढ़ा हुआ भी मिल सकता है कि रोगी बेचैन हो जाय, उसे ेक प्रकार के उचित विश्राम से हाथ धो देना पड़े अथवा बहुत बढ़े रूप में उसकी अवस्था पागलपन की आ जाय या पागल हो जाय। यह एक उपलक्षण मात्र है जो विभिन्न रोगों से तथा विषों के प्रयोग

भृङ्गारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा।
तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा।
गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा।
अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः।
श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः। (विदेह)

१. वायुपित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते। (सु०)
मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च।
कर्णक्ष्वेडं स जनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्। (विदेह)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

से उत्पन्न होता है। यदि एक वाक्य में इस लक्षण के उत्पन्न होने वाले कारणों को कहा जाय तो कहना होगा 'कोई भी परिस्थिति कान के अवयवों के ऊपर अथवा मस्तिष्क की आठवीं नाड़ी के ऊपर प्रत्यक्ष (direct) या विष प्रभाव के द्वारा अपना असर दिखा उसके कारण कान में आवाज होने की तकलीफ होने लगती है।

कर्णनाद को अंग्रेजी में 'टिनिटस आरियम्' कहा जाता है। आधुनिक वैद्यक में 'काकलिया' नामक अंग की विकृति में जो अंतः कर्ण में स्थित है उसकी खराबी होने से बताई जाती है। इस अवस्था में रोगी को बराबर भनभनाहट, गर्जन, हथौड़ा पीटने की सी आवाज सुनाई पड़ती है। 'अस्थित्रय सम्मिलन' (Osteosclerosis) में कर्णगत अस्थियों के स्तम्भ में भी इस प्रकार का कान में शब्द होना पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कर्ण के विकारों के सिवा अन्य सार्वदैहिक रोगों में भी कान में शब्द होने का (कर्णनाद) लक्षण पाया जाता है। उदाहरणार्थ—वृक्क की खराबी, हृदय के रोग, रक्तभाराधिक्य (High blood Pressure), रक्ताल्पता या पाण्डु तथा कीनीन प्रभृति कुछ तीव्र औषधियों का निरन्तर सेवन। इस रोग की चिकित्सा कर्णशूलवत् की जाती है तथा कारणों को दूर करने के लिये सार्वदैहिक उपचारों का भी उपयोग करना चाहिये।

यहाँ पर प्रसंगवश कान्तारक शोथ (Labyrinthitis) का भी संक्षेप से वर्णन कर दिया जाता है।

यह रोग मध्यकर्णशोथ का एक आम उपद्रव है। यह मध्यकर्णशोथ के प्रारंभ में ही या बहुत बाद में भी हो सकता है। प्रधान मार्ग जिनसे कान्तारक को उपसर्ग पहुँच सकता है ये हैं :—

१. अर्द्धचंद्राकार नलिका—सम्बन्धी नाड़ी (Fistula) व्रण से।

२. रकाबास्थि के पाद-पीठ के अभिघात से बने अण्डाकार वातायन से।

३. गोल वातायन (Round window) से।

४. शंबूकालिका (Promontory) के भाग से।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

प्रकार—

कान्तारकशोथ

- मर्यादित (Circumscribed)
- विस्तृत (Diffuse)
  - विस्तृत सद्रव कान्तारक शोथ (Diffuse serous labyrinthitis)
  - विस्तृत सपूय कान्तारकशोथ (Diffuse purulent Labyrinthitis)

कान्तारक शोथ की आधुनिक चिकित्सा—जब से रामबाण ओषधियों (Chemotherapy) का प्रयोग चिकित्सा जगत् में आया है तब से कान्तारक शोथ की चिकित्सा में आमूल परिवर्तन हो गया है। इससे तीन लाभ होते हैं—प्रधान व्याधि वश में आ जाती, उपद्रवों का परिहार हो जाता या रोक दिये जाते हैं और शस्त्र कर्म काफी आशाजनक परिस्थिति में किये जा सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसी भी अवस्थायें है जिनमें इन ओषधियों के उपयोग की आवश्यकता नहीं है।

यदि कान्तारक में इस प्रकार के चिह्न विद्यमान हों कि वह कार्य क्षम है तब तो इन रामबाण भेषजों के प्रयोग (पेंसिलीन प्रभृति योग) से जरूर उपशम का प्रयास करना चाहिये। परन्तु कान्तारक की परिस्थिति इसके विपरीत हो तो निर्जीव कान्तारक को बचा कर रखना खतरे का घर बना रहता है यदि सम्भव हो तो उसको दूर ही कर देना चाहिये।

मर्यादित कान्तारक शोथ—रोगी को शय्याशायी करके पूर्ण विश्राम दें, शोथ को उपशमित होने दे। इससे ज्वर, भ्रम, वमन, कर्णनाद प्रभृति विषमयता शान्त हो जाती है। श्रवणशक्ति की परीक्षा बार-बार करे, यदि पूर्ण बाधिर्य हो तो शस्त्रकर्म की तैय्यारी (Labyrinthectomy) करे। अन्यथा कुछ दिनों की और प्रतीक्षा करके जब शोफ का पूर्ण उपशम हो जाय, चौचुक निर्मूलन नामक शल्यकर्म

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(Radical mastoid) करे। विस्तृत कान्तारक शोथ में जब कि कान्तारक की क्रियाशक्ति विद्यमान है तब तक उसकी निगरानी रखनी चाहिये। ज्यों ही उसके कर्म का अभाव हो शस्त्र कर्म (Labyrinthectomy) करे। मध्यकर्ण के शोथ के उपद्रव रूप में होने वाले कान्तारक शोथ में शस्त्र कर्म ही अधिक हितकर होता है।

कर्ण क्ष्वेड और कर्ण नाद की चिकित्सा—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, यह विकार विभिन्न व्याधियों के परिणाम स्वरूप होते है—चिकित्सा करने में उन-उन व्याधियों के अनुसार भेषज का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु यदि कारण का ज्ञान न हो पावे अथवा लाक्षणिक चिकित्सा ही लक्ष्य हो तो आयुर्वेद में वर्णित निम्नलिखित सामान्यतया लाभप्रद योगों का व्यवहार करना चाहिये। ये अधिकतर संशामक (Sedative) या बल्य (Tonic) हैं।

कर्णनाद एवं कर्णशूल—बाधिर्य और कर्णक्ष्वेड में वायुदोष की विकृति रहती है। अस्तु, इनकी सभी चिकित्सा में सामान्यतया वात या वात-शामक प्रयोगों को करना चाहिये। कड़वे तैल का कान पूरण करना लाभप्रद होता है।[1]

कर्णक्ष्वेड में पित्त का संश्रय रहता है। अस्तु, रेचन देकर कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिये। दूध में घी डाल कर पिलाना चाहिये। कर्ण नाद में कफ का संयोग हो तो वमन करा कर कान का पूरण करे—

(१) सहिजन के छाल का रस कोष्ण छोड़े।

(२) आर्द्रक के स्वरस में सैंधव मिला कर कोष्ण छोड़े।

(३) अजामूत्र में लहसुन, आर्द्रक और अर्कपत्र का स्वरस मिला कर छोड़े।

(४) एरण्ड शिग्रु वरुण इनका मूल त्वक् और मूली के पत्र का स्वरस एक सेर लेकर पाव भर तिल तैल में पकावे उसमें दूध दो सेर

१. कर्णशूले कर्णनादे वाधिर्ये क्ष्वेड एव च।
पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमेव च। (यो. र.)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मुलैठी तथा क्षीरकाकोलि ढाई-ढाई तोले कल्क बना कर प्रक्षिप्त कर पकावें—इस तैल का नस्य तथा कर्ण पूरण के रूप में प्रयोग करने से क्ष्वेड तथा नाद में लाभ होता है।

(५) अतीस, हींग, सौंफ, दालचीनी, सज्जीखार, कालीमिर्च प्रत्येक का एक-एक तोला, सिरका डेढ़ पाव, तिल तैल डेढ़ पाव सिद्ध कर कर्ण पूरण करें।

(६) अपामार्ग क्षार तैल। (७) हिंग्वादि तैल।
(८) दीपिका तैल। (९) निर्गुण्डी तैल।
(१०) मधुशुक्त। (११) बलातैल पूरण और नस्य।
(१२) नारायण तैल का पूरण।
(१३, सारिवादि वटी का आभ्यन्तरीय प्रयोग।

कर्णनाद की आधुनिक चिकित्सा—यथा संभव कारण को दूर करे। कारण रूप में कोई ऐसी दशा हो सकती है जिसका प्रभाव कान के ऊपर या कान की (आठवीं नाडी) वातनाडी के ऊपर पड़े। यह प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सार्वदैहिक किसी रोग की विषमयता के फलस्वरूप हो सकता है।

जहाँ पर रोग का कोई निश्चित कारण न ज्ञात हो सके संशामक या अन्य योगों को देना चाहिये। संशामक औषधियों में 'ल्युमिनाल' एक सर्वोत्तम संशामक है। अन्य कोई योग भी जो रोगी को अनुकूल पड़े दिया जा सकता है।

बहुत से शल्य कर्मों का भी रोग की चिकित्सा में उल्लेख मिलता है—जैसे नाडी छेदन (Nerve section) तथा कान्तारक का विनाशन (Destruction of labyrinth)। इन शस्त्र कर्मों का प्रयोग हुआ है; परन्तु प्रायः सफलता नहीं मिलती है साथ ही जिस कान में कर्म किया जाता है उसमें बाधिर्य भी आ जाता है। अस्तु इन शल्य कर्मों को चिकित्सा में कोई महत्त्व का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्ण नाद एवं क्ष्वेड के भेद प्रदर्शक कोष्ठक

कर्ण नाद	क्ष्वेड
१. इसमें कर्ण स्रोतःस्थित वायु शब्द पैदा करता है।	१. इसमें वायु के साथ … का संश्लेष हो कर अथवा वायु … या कफ या रक्त के द्वारा संसृ… कर शब्द पैदा करता है।
२. इसमें आवाज अवस्थानुसार भेरी, मृदंग जैसी मोटी और भद्दी होती है।	२. इसमें वंशी के स… सुरीली एवं पतली आवाज … को प्रतीत होती है।
३. चिकित्सा में केवल वात शामक उपचारों को बरतना आवश्यक होता है।	३. इसमें पित्तघ्नोपचार … भी आवश्यकता पड़ती है।
४. यह अवस्था अधिकतर सार्वदैहिक विकारों के परिणामस्वरूप अथवा बाह्य कर्ण, मध्य कर्ण के विकारों में मिलती है।	४. यह अवस्था अधि… अंतःकर्ण के विकार (कान… शोथ) में मिलती है।

मधुशुक्त—जम्बीरी नीबू का रस ६४ तोले, मधु १६ तोले, … पीपल ४ तोला। सबको एकत्र कर घृतलिप्त भाण्ड में मुख… कर एक मास तक धान्य की राशि संधानविधि से रखे। पश्चात … कर शीशियाँ भर ले। यह मधु शुक्त कहलाता है। कर्णरोगों… लाभप्रद होता है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

६

कर्णविट्क या कर्णगूथ

(Wax in the Ext. Meatus or Cerumen)

व्याख्या—'कर्णाश्रित श्लेष्मा जब पित्त की ऊष्मा से सूख कर कान मैल की तरह जम जाता है तब उसे कर्णगूथ कहते हैं।'[1] कर्णगूथ शब्द से कान में होने वाली मैल का अर्थ ग्रहण किया जाता है यह मैल जमे हुए मोम की तरह मालूम होता है इसी लिये अंग्रेजी में इसको 'वैक्स' कहते हैं।

सम्प्राप्ति तथा कारण—कान में गूथ या मैल का होना एक प्राकृतिक घटना है यह कान की त्वचा के नीचे अवस्थित ग्रन्थियों (Cerumino-us glands) का स्राव है। यह मैल प्रकृति का एक दान है जिससे कान की नलिका की रक्षा होती रहे तथा धूल और विजातीय पदार्थ दूर किये जा सकें। इसमें एक तेज वास होती है तथा चिपचिपापन होता है जिससे मक्खी वगैरह भीतर नहीं जा सकतीं। मैल का यह व्यवसाय भिन्नता के अनुसार व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न हो सकता है। इसका सञ्चय होना अधिकतर उन आदमियों में बहुलता से पाया जाता है जो धूल वाले कार्यों में लगे रहते हैं जैसे—खदान खोदने वाले, कोयला झोकने वाले (Fire man) तथा धूल और मिट्टी के काम करने वाले। क्योंकि ऐसे व्यक्तियों में धूल और रजः-कण उड़ कर कान में जाते और मैल में बैठ जाते हैं।

लक्षण—कर्णगूथ में कई प्रकार के लक्षण मिलते हैं, प्रधान एक लक्षण बधिरता होती है। कान में क्षोभ होने की वजह से थोड़ी पीड़ा का भी अनुभव रोगी को होता है। कर्णपटह पर दबाव (Owing to pressure upon the drum) पड़ने से कान में शब्द होना भी पाया जाता है।

---

१. पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम्।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्णगूथ में बाधिर्य का होना कैसे सम्भव है इसके सम्बन्ध
सिद्धान्त हैं—(१) यदि मैल के इकट्टी हो जाने की वजह से श्रु
(Ext. meatus) की नलिका बहुत संकरी हो गई हो, हठात् क
किसी प्रकार की तेज गति हो गई और मैल ने टूट कर सँकरे मा
अवरुद्ध कर दिया तो श्रवण कार्य में बाधा होने लगती है। (
दूसरी आम घटना इस प्रकार के बधिरता का कारण प्रभूत स्न
कान का धोना है। बाह्य श्रुति पथ में पानी जाकर मैल को
देता है जिससे नलिका का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और सु
पड़ना कठिन हो जाता है।

चिकित्सा—कर्णगूथ की चिकित्सा है—गूथ या मैल को क
बाहर निकाल देना। इसका निकालना कोई कठिन कार्य नहीं है
कि कुशलता और ध्यान से काम किया जाय। इसको निकाल
दो उपाय बरते जा सकते हैं (१) कर्णशलाका (Wax pr
तालयन्त्र (Ear scoope or Wax curette), कर्णस्वस्तिक (
forcep), सलाई या सींक में रुई लपेट कर कान की मैल सा
जाय अथवा (२) पिचकारी से कान का प्रक्षालन कर लिया
यदि कर्णगूथ बहुत कड़ा पड़ गया हो तो कान में क्षारतैल, स
क्षारीय जल (Saturated solution of Soda Bicarb) ि
पैराफीन या अन्य कोई तैल दो तीन दिनों तक दिन में तीन बार
कर मैल को फूल जाने दे, पश्चात् उसको निकालें।

यदि रोगी इतनी देर तक प्रतीक्षा नहीं करना चाहता हो तो
में 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड' की कुछ बूँदें डालकर कुछ देर पड़
दे। इससे भी कर्णगूथ के शोधन में सहायता मिलेगी। गूथ के
की दूसरी प्रक्रिया कर्णवस्ति (पिचकारी) के द्वारा कर्ण का प्र
करना है।[1] इसके लिये सुरसादि गण की अथवा राजवृक्षादि

१. प्रक्लिद्य धीमाँस्तैलेन प्रविलाप्य च शोधनम् ।
कर्णगूथं तु मतिमान् भिषग्जह्याच्छलाकया ॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

औषधियों का क्वाथ व्यवहृत किया जा सकता है।[1] कर्णप्रक्षालन की यह क्रिया इतनी सरल नहीं है, जितनी सरल जान पड़ती है। इसमें गलत और ठीक ऐसे दो प्रकार हैं। इसका नेत्र (Nozzle) बहुत पतला न हो इसके द्वारा द्रव की धारा जो छोड़ी जाय वह ऊपर और पीछे की ओर श्रुतिपथ (Meatus) की पश्चाद् दीवाल के साथ जाकर जानी चाहिये। अन्यथा करने से यदि द्रव की पिचकारी सीधे कर्णपटह पर पड़े तो उसके फटने का भय रहता है। इसीलिये सुश्रुत ने स्पष्टतया धीमान् या मतिमान् भिषक् को विशोधन का अधिकारी माना है।

पश्चात्कर्म—गूथ को निकालने के बाद कर्णदर्शक यंत्र से कान की परीक्षा कर लेनी चाहिए कहीं कान की नलिका की दीवाल में कोई व्रण न हो गया हो, यदि ऐसा मिले तो कान में संशामक ओषधियों के तेलों को डालकर अथवा (Gauze Soaked in Aluminum Acetate Solution) कान में स्निग्धवर्ति डालकर बारह से चौबीस घंटों के लिये व्रणबन्ध कर दे। कई बार कर्णगूथजन्य बधिरता में गूथ के निकल जाने के बाद एक दो दिनों तक श्रवणशक्ति पूर्णरूप से नहीं आ पाती, पश्चात् आ जाती है।

उपर्युक्त चिकित्सा उपक्रमों को यदि सूत्ररूप में लिखना हो तो इस प्रकार का होगा—

१. कर्णगूथ को द्रवों के द्वारा प्रक्लिन्न करना।
२. तैलों के पूरण द्वारा प्रविलापन करना (पिघलाना)।
३. शोधन—शलाका अथवा वस्ति के द्वारा। इन्हीं क्रियाओं का स्पष्ट रूप से आयुर्वेद के ग्रन्थों ने प्रतिपादन किया है।

१. कर्णप्रक्षालने शस्तं कवोष्णं सुरभीजलम्।
पथ्यामलकमञ्जिष्ठालोध्रतिन्दुकवाथ वा॥
राजवृक्षादितोयेन सुरसादिजलेन वा। कर्णप्रक्षालनं शस्तम्।
२१ शाला०

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्ण—कण्डु

(Itching sensation in the Ext. Meatus)

सामान्य व्याख्या:—'कर्णगत वायु कफ से संयुक्त होकर खुजली पैदा करता है—उसे कर्ण कण्डु कहते हैं ।'[1]

अवयवानुसार:—कान की खुजली का अनुभव बाह्य कर्ण विकृतियों में होता है। बाह्य कर्ण के दो प्रमुख भाग हैं। १. शष्कुली (Auricle) २. श्रुतिपथ (Ext. Meatus)। इन में से शष्कुली के ऊपर, पामा, विचर्चिका, कक्षा (Herpes), (Erysipelas), शोफ प्रभृति कई एक रोग हैं जिनमें खुजली है, परन्तु यहाँ कर्णरोग में कण्डु का पाठ करने का भाव बाह्य श्रुति के भीतर होने वाली किसी विकृति से है। क्योंकि (१) शष्कुली (Auricle) में होनेवाली विकृतियों का प्रायः वर्णन कर्णरोगाधिकार में नहीं पाया जाता है। (२) चिकित्सा में भी इसकी कोई विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसमें शल्यतंत्रात्मक सामान्य उपक्रमों का ही व्यवहार है। अस्तु, कर्णकण्डु से पठित, शालाक्य तन्त्रांतर्गत कर्णरोगाधिकार में वर्णित यह रोग निश्चितरूप से श्रुतिपथ (Ext. Meatus) की किसी विकृति का द्योतक है। विकार बाह्य कर्णशोथ (Otitis Externa) के कारण हो सकता

वाह्य कर्णशोथ—इस रोग में श्रुतिपथ की पूरी दीवाल के अधि (Epithelium) का शोफ हो जाता है। विकारी जीवाणु में कोकस' प्रधान होता है। प्रसार होते-होते शोफ का प्रभाव कर्ण की झिल्ली पर भी हो जाता है। इस शोफ के दो प्रकार देखे मिलते हैं—(१) शुष्क या खुरण्डयुक्त (Scaly) (२) (Moist type), प्रथम में त्वचा की शुष्कता मिलती है एवं विशेष प्रकार की असह्यता (Allergic Manifestation) भी होती है, इस प्रकार में विशेष चिह्न कान में खुजली का होना,

१. मारुतः कफसंयुक्तः कर्णे कण्डुं करोति हि ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(Irritation) तथा पतला स्राव का आना मिलता है। कई बार यह स्राव सूख जाता है और कभी पुनः होने लगता है। पश्चात् अपिस्तर घना (Thickening) हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप श्रवण की नलिका सँकरी होती जाती है। यह अपिस्तर का घनीभवन या मोटा होना (Thickening of Epithelium) स्थायी हो जाता है। जिसमें उपचार से थोड़े दिनों तक अस्थायी लाभ हो जाता है, परन्तु लघु उपसर्ग से भी रोग के पुनः पैदा होने की संभावना रहती (Patient Continually liable to reinfection) है। कर्ण दर्शक यंत्र से बाह्य श्रुतिपथ की परीक्षा करने पर अपिस्तर सफेद दिखलाई पड़ता है और कई बार खुरण्ड (Flakes and Small Crusts) दिखलाई पड़ते हैं जिनको चिमटी से निकाला जा सकता है। कई बार थोड़ी क्लिन्नता भी अल्प स्राव के कारण मिलती है। त्वचा भी कुछ मोटी हो जाती है और बाह्य छिद्र से दिखाई पड़ सकती है, जिसके कारण कर्णपटह भी दिखलाई नहीं पड़ता; जब तक कई दिनों तक उसके भीतर में 'पैकिङ्ग' करके सफाई न कर दी जाय। इसी प्रकार विशेष को संभवतः प्राचीनों ने कर्णकण्डु[1] नामक रोग से अभिहित किया है।

दूसरे प्रकार में स्राव और पीडा होती है। श्रुतिपथ लाल एवं शोथ युक्त होता है। इसमें पूयस्राव अधिक मात्रा में और बदबूदार होता है। इसमें कान के आस-पास की धातुओं में (Mandibular region, below and behind the auricle) स्पर्शनाक्षमता होती है, ग्रन्थियाँ पाई जा सकती हैं। यन्त्र का प्रवेश (Speculum) इस प्रकार के रोगी में पीडाकर होता है।

---

१. कफेन कराडूः प्रचितेन कर्णयोर्भृशं भवेत्स्रोतसि कर्णसंज्ञिते।
विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणां भवेत्स्रोतसि कर्णगूथकः।
यहाँ पर कर्ण-स्रोत का अर्थ Ext. Meatus बाह्यश्रुतिपथ है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्णगूथ और कर्णकण्डु की तुलना

कर्णगूथ	कर्णकण्डु
१. दोनों संसर्गज व्याधियाँ (द्विदोषज) हैं ।	×
२. दोनों ही बाह्य श्रुतिपथ के रोग हैं । (Ext. Meatus)	×
३. दोनों में ही कफ दोष का संचय होता है ।	×
४. पित्त के तेज से शुष्क श्लेष्मा गूथ पैदा करता है ।	संचित श्लेष्मा कर्ण मे… पैदा करता है ।
५. वायु और कफ की विकृति होती है ।	पित्त और कफ की … होती है ।
६. आधुनिक दृष्टि से एक प्रकार का स्राव जो धूल और रज के मेल से कड़े मैल (wax) के रूप में हो जाता है ।	आधुनिक दृष्टि से शो… विकृति (Otitis extern… सकती है ।

कर्णविद्रधि (Furuculosis)

व्याख्या तथा लक्षण—'विद्रधि दो प्रकार की होती है एक क्ष… अभिघात से होने वाली, दूसरी दोषज । यह विद्रधि लाल, पी… अरुण स्राव वाली होती है । इसमें प्रतोद (सूई चुभाने की सी … धूमायन (कान से भाप सी निकलने के समान वेदना) औ… (चूसने की सी पीडा) होता रहता है ।'[1]

१. क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् । (सु. …

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

विद्रधि (६ प्रकार)

आगन्तुक (Traumatic)
१. क्षतज
२. अभिघातज

दोषज (Idiopathic)
३. वातिक
४. पैत्तिक
५. श्लैष्मिक
६. त्रिदोषज

इस प्रकार कर्णविद्रधि के मूलतः दो भेद आगन्तुक और दोषज ते हैं। फिर इन दोनों के उपभेदों को मिलाकर छः भेद हो जाते हैं।

वक्तव्य—कर्णविद्रधि जैसा नाम से ही स्पष्ट है, बाह्यकर्णस्रोत Ext. Meatus) में होने वाला एक फोड़ा (Boil) है। इस प्रकार दशा कर्णस्रोत के उस भाग में हो सकती है, जहाँ पर केशाङ्कुर Hair follicles) हैं, क्योंकि इस अवस्था में भी अन्य विद्रधियों सदृश ही केशाङ्कुरों के मूल में पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग चकर रोग पैदा होता है। कर्णगत विद्रधि एक या अनेक भी हो कती है।

लक्षण—कर्णविद्रधि में तीव्र पीड़ा का होना एक प्रधान लक्षण —यह पीड़ा फैलकर सिर के एक पार्श्व में, जबड़े तक, अथवा गले नीचे तक या कंधे तक जा सकती है। यह इतनी तीव्र हो सकती कि रोगी को आराम की आशा भी नजर नहीं आती। कान के र्गिर्द सूजन, कान की नलिका के भीतर चारों ओर शोफ, शंखप्रदेश, चुक (Mastoid) में भी सूजन मिल सकती है। स्पर्शनाक्षम ान कान के सामने या नीचे अधिक मिलता है। कान के शष्कुली भाग, पुत्रिका (Cartilaginous portion) को जरा सा हिलाने भी पीड़ा बढ़ जाती है। कई बार विद्रधि के बड़े होने से जब तस का अवरोध हो जाय तो बाधिर्य भी हो सकता है। यदि विद्रधि अवस्थान बहुत गहराई में हो तो दर्शन परीक्षा से निदान कठिन जाता है।

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पनसिका और कर्णविद्रधि में अंतर—क्षुद्ररोगाधिकार में पनसिका नामक एक विद्रधि का वर्णन आता है। 'कान के आभ्यंतर भाग में उग्र वेदनावाली पिडिका जिसका पाक भीतर ही होता है, पनसिका कहलाती है।' यद्यपि यह पिडिका भी कान के भीतर के भाग में होने वाली बतलाई गई है; परन्तु यह कर्णस्रोत के भीतर नहीं, जैसा कि इसके चिकित्सा-विधानों से ज्ञात होता है—इसमें स्वेद तथा लेप लगाने का विधान है—जिसका लगाना बाह्य दृष्ट पिडिका में ही संभव है।[1] अस्तु, पनसिका नामक पिडिका कर्ण के बाह्य भाग (Auricle) के भीतर में होनेवाली विद्रधि (Furunculosis of the Auricle) है। यह (स्थिरा) एक विशेष स्थान पर स्थिर रहती है—यद्यपि इसका भी प्रसार होकर कर्णस्रोत की भी विद्रधि हो सकती है। परन्तु कर्ण विद्रधि से इस अधिकार में आने वाली विद्रधि निश्चित रूप से कर्ण स्रोत में पाई जाने वाली पिडिका (Furunculosis of the Ext. Meatus) ही है।

कर्णकण्डु में शास्त्रीय चिकित्सा—१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. वमन, ४. धूम, ५. ऊर्ध्व विरेचन (शिरोविरेचन) प्रभृति कफघ्न उपचारों को बरतना चाहिये।[2]

विद्रधि में—[3] विद्रधि के अधिकार में प्रोक्त चिकित्सा के उपक्रमों को रखना चाहिये। विद्रधि जब तक पकी नहीं उसको बैठाने के लिये संशामक उपचारों में अन्तर्विद्रधि के अधिकार में पठित योगों

---

१. कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडिकामुग्रवेदनाम्।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम्॥ (चि०)
भिषक् पनसिकां पूर्वं स्वेदनैरपतर्पणैः।
जयेद्विदारिवल्लेपैः शिग्रुदेवद्रुमोद्भवैः॥

२. स्नेहः स्वेदोऽथ वमनं धूमं मूर्ध्नि विरेचनम्।
विधिश्च कफहा सर्वः कर्णे कण्डूमतीष्यते॥ (यो. र.)

३. विद्रधौ च प्रकुर्वन्ति विद्रध्युक्तं चिकित्सितम्।
विशेष वर्णन के लिये लेखक की सौश्रुती का विद्रधिचिकित्सीयाध्याय

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

व्यवहार करे जैसे—शिग्रमूल क्वाथ मधु के अनुपान से देना। यदि पाकोन्मुख हो और पकाना आवश्यक हो तो दारक योगों से या शस्त्रक्रिया से विदारण करे पश्चात् शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये। कर्णशूल के लिये कर्णशूल में प्रयुक्त होनेवाले पूरण द्रव्यों से पूरण करे या आभ्यन्तरीय पीडा शामक योगों को दे।

इसी भाव का द्योतन निम्नलिखित अंग्रेजी गद्यांश में मिलता है—'The general treatment of Furunculosis does not differ from the treatment of boils elsewhere in the body so it need not be discussed here.'

कान पनसिका की सामान्य चिकित्सा, अन्य स्थानों पर पाये जाने वाले फोड़ों से भिन्न नहीं होती अस्तु यहाँ पर इसकी चिकित्सा की विस्तृत विवेचना अपेक्षित नहीं है।

आधुनिक चिकित्सा—(Treatment of Otitis Externa & Furunculosis) इन दोनों रोगों की चिकित्सा में बहुत कुछ साम्य है। अस्तु, दोनों का एक ही साथ वर्णन किया जा रहा है—प्रारम्भिक अवस्था में कान को संशामक घोल से 'पैक' कर देते हैं तथा बाहर से स्वेदन करते हैं। कान में भरने के लिये दो द्रवों का (Icthеol in Glycerine 10% तथा Aluminum Acetate 8%) व्यवहार होता है। इसके लिये तीन इञ्च लम्बा कपड़े का टुकड़ा (Gauze) जो चौथाई इञ्च चौड़ाई का हो लेकर उसे घोल में भिगोकर विशेष प्रकार के सन्दंश (Politzer Angled forcep) के जरिये कान में काफी गहराई तक पहुँचा कर भर देते हैं। यदि विद्रधि बढ़ी हुई या पाकोन्मुख है तो उसका शस्त्र के द्वारा भेदन भी करते हैं; परन्तु विद्रधि छोटी हुई तो भेदन अवांछनीय है क्योंकि इससे पूय का प्रसार होकर नये-नये केशाङ्कुर (Follicles) दूषित होकर रोग के अधिक फैलने की आशंका रहती है।

बाह्य कर्णशोथ में भी प्रारम्भिक अवस्था में इन्हीं घोलों की विकेशिका से कान को भरना चाहिये। 'एल्युमिनम् एसिटेट' का घोल कर्ण-

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

स्रोत गत स्राव सुखाने में बड़ा अच्छा काम करता है। दो तीन
के भीतर ही पर्याप्त लाभ रोग में पाया जाता है। कर्णस्रोत
जाना, शोफ का नष्ट हो जाना, रोगी का कष्ट (पीड़ा) से नि
कर्ण पटह का दिखाई पड़ना प्रभृति परिणाम. औषध के प्रयो
देखने को मिलते हैं। इन अच्छे लक्षणों के बाद भी कुछ दिनों
कर्णस्रोत की दीवाल में 'एल्कोहोलिक जेनेशियनवायलेट' द्रव
कर देना चाहिये, इससे अवशिष्ट दोष भी दूर हो जाते हैं।

पानी का प्रयोग किसी भी प्रकार इस चिकित्सा में नहीं
चाहिये। क्योंकि पानी के घोल या 'हाइड्रोजेन पेरोक्साइड'
प्रक्षालन में व्यवहृत होने वाले जल की बूँदें रोग की अवधि
देती हैं। यदि स्राव बहुत अधिक हो तथा प्रक्षालन अत्यावश्यक
तो प्रयोग के बाद कान को खूब सुखा लेना चाहिये।

बाह्यकर्ण शोथ में बहुत प्रकार के मल्हम और क्रीम जो अधि
'अमोनियेटेडमर्करी' या 'रीसार्सिन' के यौगिक हैं, प्रयोग में लाये
हैं। इसी प्रकार 'सल्फोनैमाइड' और 'पेन्सीलीन' भी चिकि
व्यवहृत होते हैं जिनसे अधिकतर लाभ और बहुत-सी असफ
पाई गई हैं। अनेक ओषधियों के बावजूद भी अभी तक कोई रा
(Specific) योग नहीं है।

पथ्यापथ्य—क्षोभक कारणों को दूर करना, कान का खुज
खुरचना, कुरेदना छोड़ देना चाहिये। चावल, कुलथी की दाल,
करैला, घी, तेल, मूँग, परवल, पकाकर ठण्डा किया जल पथ्य
शुष्क शाक, गुड़, दधि, मिठाई, खटाई और दाहकारक वस्तु
सेवन नहीं करना चाहिये।

—:o:—

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

७

कर्णार्बुद

(Out growths in connection with the External Ear)

व्याख्या—प्राचीन वैद्यक में ग्रन्थि, अर्बुद, अलजी और विद्रधि प्रायः एक ही जाति की व्याधियाँ मानी गई हैं—क्योंकि सभी में शोफ (उभार) समान रूप से होता है। इसी 'शोफसमुत्थान' के कारण इनों की समानता है। परन्तु भेद प्रधान यह है कि विद्रधि में पाक होता है और ग्रन्थि और अर्बुद में प्रायः पाक नहीं होता। कर्णार्बुद की चिकित्सा भी सामान्य शल्यान्तर्गत अर्बुद की भाँति ही होती है। परन्तु माधवनिदानकारने कर्णार्बुद की स्वतन्त्र व्याख्या नहीं करते हुए 'कर्णशोथ, कर्णार्बुद और कर्णार्श को पूर्वोक्त शोथ अर्बुद और अर्श के लक्षणों से जानना चाहिये' इतना ही लिखा है।[1]

प्रकार—अर्बुद के सामान्य प्रकार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, मेदोर्बुद, मांसार्बुद और रक्तार्बुद नाम से शल्यतन्त्र के भीतर बतलाये गये हैं। यहाँ पर कर्णार्बुद में कुछ विशेषता दिखलाते हुए शालाक्यतन्त्र में एक स्वतन्त्र सिराज अर्बुद भी माना है। यहाँ पर आचार्य कार्तिक का मन्तव्य है कि यद्यपि सिरानिमित्तज अर्बुद वातजार्बुद में अंतर्गत हो जाता है, किन्तु फिर भी इसका पृथक् उल्लेख शालाक्य सिद्धान्त के अनुसार किया गया है। जैसा कि आचार्य सुश्रुत ने ही कर्ण रोगों के निर्देशानन्तर 'तीनों दोषों से तीन और सन्निपात से एक इस तरह चार प्रकार के अर्श तथा शोफ होते हैं'—इसी प्रकार शालाक्यतन्त्र के सिद्धान्त को देखकर सर्वात्मक सातवाँ अर्बुद है'[2] ऐसा कथन नासा-

१. कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः। (मा. नि.)

२. दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथार्शांसि तथैव शोथान्।
शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदन्तु। (सु. उ. २२)

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

रोगाधिकार में किया है। इस वर्णन में सातवाँ अर्बुद सान्निप होता है, फिर ऐसी दशा में सिराज अर्बुद को रक्तार्बुद में अन्त करके पुनः सान्निपातिक भेद को रख लेने से अर्बुद के सात की सं में कोई अन्तर नहीं आयेगा। फलतः कर्णगत अर्बुद के सात प्र वातज, पित्तज, श्लेष्मज, रक्तज, मांसज, मेदज सिराज या सन्निप होते हैं।

अर्बुद को सामान्यतया अंग्रेजी में 'ट्यूमर्स' कहते हैं। इनके प्र दो भेद होते हैं—सौम्य (Simple) तथा घातक (Malignan यद्यपि इनके लक्षण विस्तृत रूप से कर्णार्बुद के पाठ में वर्णित मिलते फिर भी विचारना है; कि प्रत्यक्षतया इस प्रकार के ट्यू कौन-कौन से हो सकते हैं। इन अर्बुदों का अवस्थान कर्ण के भाग में जैसे कर्ण पाली, शष्कुली और पुत्रिका (Tragus) बाह्य श्रुति पथ में होता है। पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों के आधा कुछ कर्णार्बुदों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

बाह्योत्थान—(Exostosis) यह अस्थि की वृद्धि (अस्थ्य है जिसका उद्भव बाह्य श्रुतिपथ की दीवाल से होता है। यह अस्थि (Cancellous bone या Ivory bone) का बना हो सकता प्रायः ऐसा अस्थ्यर्बुद एक ही होता है; परन्तु बहुत भी हो सकते यह पूर्व भाग या पश्चात् भाग में पाया जा सकता है। इस अ में रोगी को रोग का कुछ भी अनुभव नहीं होता और कभी बधिरता की तकलीफ पाई जाती है, दर्शन परीक्षा से बाह्य श्रुति इस अर्बुद के कारण पूर्णतया रुद्ध हो जाता है। इस अवस्था में बार बाह्य कर्णशोथ भी रहता है जिससे कर्ण स्रोत पूर्णतया रु जाता है। ऐसी अवस्था में बाह्यकर्ण शोथ की चिकित्सा भी हो जाती है। इस अस्थ्यर्बुद को काट कर निकालना सरल नहीं है। अस्तु, जब तक उसका निकालना नितान्त आवश्यक न पड़े वैसे ही छोड़ देना चाहिये। यदि कहीं अर्बुद का अवस्थान के पश्चाद् भाग में हो तो शस्त्र कर्म में कई महत्त्व के अवय कटने का भय रहता है विशेषतः मुखगत नाडी (Facial Ner

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

की क्षति पहुँचने की सम्भावना रहती है। दूसरी बाधा इसके शस्त्र कर्म यह होती है कि अर्बुद को निकालते समय कर्णस्रोत की दीवालों चूर्णित हो जाता है जो बढ़ता हुआ काफी दूर तक चला जाता है और अन्य रचनाओं को हानि पहुँचा सकता है।[1]

शष्कुली के घातकार्बुद—मांसार्बुद तथा रक्तार्बुद नामक अर्बुद असा- माने गये हैं। इनका बहुत कुछ साम्य 'कार्सिनोमा' नामक आधुनिक थों में वर्णित रोग से है। 'कार्सिनोमा' बाह्यकर्ण और 'स्रोत' का ने को मिलता है—कई बार ये 'रोडेण्ट अल्सर' के रूप में कई 'पैपीलोमैटस' वृद्धि के रूप में मिलते हैं। इस 'कार्सिनोमा' का उत्तान अपिस्तर नामक (Squamous Epithelium) विशिष्ट पिस्तर से होता है और इस स्तर की, प्रचुर मात्रा बाह्य कर्ण में पाई ती है।

इसमें प्रारम्भिक चिह्न, स्राव का होना है। यह स्राव स्वतन्त्रतया र्सिनोमा' से न होकर औपद्रविक होता है। जब अर्बुद में पूयजनक वाणुओं का उपसर्ग होकर वह व्रणित हो जाता है तब स्राव आने ता है। बाह्य श्रुतिपथ के भीतर इनका अवस्थान कर्ण पटह के मीप कर्णस्रोत की दीवाल के फर्श में या पश्चाद् भाग में होता है। ने से काले भूरे वर्ण के (Dark Purplish looking) दूह के में मिलते हैं।

प्रतिषेध—यदि कर्णशष्कुली में अवस्थान हो और अर्बुद छोटा हो उसका छेदन (Excision) करके छोटे 'रेडियम् प्लेक (Pleque) ाने से लाभ हो जाता है। कर्णस्रोत में अवस्थान होने पर पूर्णरूप कर्णस्रोत के कण्डरास्थिमय भाग को काटकर निकाल (Complete Excision of Cartilagenous portion of the Meatus) देना हिये। पश्चात् कर्ण ग्रन्थि वाले क्षेत्र को रेडियम् के प्रयोग से निर्वीर्य देना चाहिये। जहाँ पर अर्बुद कर्ण पटह की झिल्ली के निकट न्य में हो—वहाँ पर चौचुक निर्मूलन शल्य कर्म (Radical

१. लेखक की सौश्रुती के अर्बुद का अध्याय देखें।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

Mastoid operation) के द्वारा अस्थिमय भाग तथा अ (Epithelium) का निर्मूलन करना चाहिये ।

इन अर्बुदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में कई एक कर्ण अर्बु वर्णन मिलता है जैसे—'सारकोमैटा' 'लाइपोमैटा' (मेदो 'काण्ड्रोमैटा' (कण्डरास्थिभाग के उद्भव से) तथा अन्य भी वर्णन अनपेक्षित प्रतीत होता है क्योंकि इनकी चिकित्सा में वैशिष्ट्य नहीं है । चिकित्सा शल्यतन्त्रान्तर्गत कथित अर्बुद चिकि के समान ही की जाती है ।[१]

कर्णार्श

(Polypus, warts or Condylomata in the Ext. Ea

व्याख्या—कान में अर्श के मस्सों के समान पाये जाने विकृति को कर्णार्श कहते हैं । ये अंकुर सदृश होते हैं और अ विकार कहलाते हैं ।[२]

भेद—सुश्रुत के अनुसार इनके चार भेद हैं—वातज, पि श्लेष्मज और रक्तज ।

सादृश्य—कर्णार्श का सादृश्य रखते हुए कई एक विकार बा में देखने को आधुनिक (पाश्चात्य वैद्यक) ग्रन्थों में वर्णि जाते हैं ।

क्षयज ग्रन्थि—(Tuberculosis of the ear or Lupus) छोटी ग्रन्थियाँ कान के बाह्य भाग में पाई जाती हैं जो अधिकत जन्य होती हैं । इन अंकुरों को अंग्रेजी में 'ल्युपस' कहते हैं ।

फिरङ्गार्श—(Condylomata) फिरंग की द्वितीयावस्था विकार हो सकता है ।

---

१. कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोर्बुदवद् भिषक् । (यो० र०) चिकित्सा चतुर्विध औषध, शस्त्र, क्षार एवं अग्निकर्म के द्वारा ।

२. कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कर्ण वल्मीक—(Otomycosis) यह एक बाह्य कर्णस्रोत का 'फंगस' के उपसर्ग से होने वाला विकार है (The most usual Fungus is Asperigillosis.) इस विकृति में भूरे काले वर्ण की झिल्ली स्रोत में बनती है—जिसके हटाने या बाह्य कर्णशोथ की चिकित्सा के बावजूद भी पुनरावर्त्तन (Recurrence) होता रहता है।

सस्फोट पटहशोथ—(Myringitis Bullosa) यह विकार स्राव-हीन बाह्य कर्णशोथ की प्रारंभिक अवस्था में देखने को मिलता है। प्रायः वातश्लेष्मोल्वणज्वर (Influenza) के मरक में रोगियों में पाया जाता है। इसमें रक्तस्रावजन्य छाले (Haemorrhagic Bullae) कर्णपटह के ऊपर दिखलाई पड़ते हैं जो फैलते हुए बाह्य कर्णस्रोत की दीवालों पर भी आ जाते हैं। स्रोत के पीछे और ऊपर की ओर (Postero-Superior aspect) आमतौर से दिखलाई पड़ते हैं। वर्ण में लाल या घने नीले (Darkblue) उभार के रूप में एवं परिमाण में मटर की दाल के बराबर होते हैं। इनके लक्षणों में कुछ बाधिर्य और पीड़ा का अनुभव रोगी को होता है। यदि इनका उपशम हुआ तो काले खुरण्ड बनकर छिल्के निकल जाते और स्थान स्वस्थ हो जाता है अन्यथा कर्णस्राव पैदा करके मध्य कर्णशोथ पैदा कर देते हैं—उस अवस्था में चिकित्सा में तत्परता दिखलाना आवश्यक हो जाता है।

कई बार मध्यकर्ण की विकृतियों के कारण भी इस प्रकार के कर्णार्श दिखाई पड़ते हैं जैसा कि निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होता है—

कर्णार्श का निर्माण—जीर्ण मध्यकर्ण शोथ में पूयोत्पत्ति होने के परिणाम स्वरूप मध्यकर्ण की श्लेष्मल कला से रोहणाङ्कुरों के परिवर्त्तित रूप में इन उभारों की उत्पत्ति होती है।

रोहणाङ्कुरों को देखने से वे चमकते हुए लाल रंग के दिखाई पड़ते हैं उनके छूने से उनसे रक्त स्राव होता है—उनका एषणी या संदंश (चिमटी) से स्पर्श किया जा सकता है या पकड़ा जा सकता है। इनमें छूने से वेदना नहीं होती है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

कर्णार्श ऊपर के वर्णन सदृश ही होते हैं, क्योंकि रोहणाङ्कुरों से इनकी उत्पत्ति मानी जाती है। कई बार कर्णार्श रोहणाङ्कुरों से मृदु एवं अधिक गुलाबी रंग के होते हैं; परन्तु अंतर यह होता है इनके छूने से रक्तस्राव नहीं होता है। इनका सर्वाधिक परिच वाला चिह्न यह है कि ये कर्णपटह (Drum) को छिद्रित करके को निकले हुए दिखलाई पड़ते हैं। इनका परिमाण विविध हो है और ये बाह्य-कर्ण-स्रोत में बाहर को निकले हुए दिखाई पड़ते हैं

(२) कर्णार्बुद तथा कर्णार्श से मिलता जुलता एक और का वर्णन मिलता है इसका भी उद्भव मध्यकर्ण से होता है और के फटे हुए छिद्र से बाहर के स्रोत में दिखाई पड़ता है—इसको में 'कालोस्टीटोमा' कहते हैं। इन अर्बुदों को शलाका या छूने पर वेदना नहीं होती, स्पर्श में मृदु होते हैं एवं आसानी से टूट हैं। ये अपिस्तरके टुकड़े एवं 'कोलीस्टरीन' के कणों से बने होते

—ooXoo—

८

कृमिकर्ण[1] या जन्तुकर्ण

(Secondary infection of magates or eggs of flies or living insects in the Ext. Ear)

व्याख्या हेतु—'जब अधिक मल या क्लेद के कारण कान के का कोई भाग सड़ने लगता है, तब उसमें कृमियों की उत्पत्ति हो

१. यदा तु मूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
(मूर्च्छन्ति उच्छ्रिता
तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते भिषग्वराद्यैः कृमिकर्णको गदः।
(सु०

श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे ।
मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णताम्रसितारुणाः ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

है। अथवा मक्खियाँ कान के भीतर जाकर बैठती और अंडे देती हैं, उससे घाव पर साई पड़ जाती है, तब वहाँ अधिक कृमियों की उत्पत्ति होती है। अथवा सड़ने के कारण उत्पन्न हुए कीड़े अपनी वंश-वृद्धि कर कीड़े बढ़ा देते हैं, ऐसी व्याधि को भिषग्वर कृमिकर्णक कहते हैं।"

यह व्याधि त्रिदोषज मानी गई है—इसमें क्लेद या क्लिन्नता कफ के कारण, कोथ या सड़न, ऊष्मा (पित्त) के द्वारा और वेदना वायु की वजह से होती है। आचार्य निमि ने इसी रोग का वर्णन और स्पष्ट करते हुए लिखा है—'रक्त और मांस में होने वाले कोथ के साथ पित्त और जल (लसीका) के मिल जाने पर कृमियाँ पैदा होती जो अनेक प्रकार की (वात, पित्त और कफ की तोद, दाह एवं कण्डु) पीड़ाओं को करते हुए कान को खाती रहती हैं। ये कृमियाँ वर्णों की, जैसे—कृष्ण, ताम्र, श्वेत और अरुण वर्ण की होती हैं। इस रोग को कृमिकर्ण कहते हैं और यह त्रिदोषज होता है।'

प्रविचार—अब यह देखना है कि यह अवस्था कैसे पैदा होती है। इस प्रकार की कोथ या सड़न कान की सफाई ठीक न करने से ही संभव है। यदि बाह्यकर्ण शोथ हुआ, उससे स्राव होने लगा अथवा कोई विद्रधि हुई उससे मवाद बहने लगा—अब उस मवाद की सफाई न की जाय अथवा दवादारू के द्वारा उसकी हिफाजत न की जाय तो इसी से उस पर मक्खियाँ बैठतीं और जन्तुओं का उपसर्ग उस स्थान पर पहुँचा देती हैं। फिर भी यदि सफाई न हो पाई तो जन्तुओं की संख्या बढ़ती चली जाती है। बहुत मात्रा में कृमियाँ पैदा होकर गिरने लगती हैं। जब कीड़े पड़ जाते हैं तो कान में खुजली होती है, कीड़ों के चलने से कान में सुरसुराहट और उनके काटने से तीव्र वेदना

भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः।
कृमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम्। (मधुकोष निमि)
वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम्।
खादन्तो जन्तवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः। (वाग्भट)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

होती है वहाँ पर स्थानिक धातुओं (कान के भीतर के मांस और ... का बड़ा नाश होता है।

वास्तव में यह एक कर्णस्राव, विद्रधि, प्रभृति रोगों का औप... स्वरूप (Secondary infection) है जो मक्षिकाओं से, अस्वास्थ्य... वातावरण में, सफाई की कमी से लापरवाह रोगियों में हो सकता है।

बाह्यकृमि प्रवेश—कृमिकर्ण रोग का एक और भी प्रकार हो... है 'कीड़े, पतङ्ग, मधुमक्खी, गोजर या कानखजूरा कान के छि... भीतर की ओर कर्णस्रोत में प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ पर पहुँच कर... कीड़ा चलने लगता है तो कान में फरफराहट तथा अत्यन्त ... होती है; किन्तु जब वह कीड़ा चलना बन्द करके शान्त हो जाता ... तो वेदना मंद पड़ जाती है। यह एक ऐसी अवस्था है जो रोगी ... तीव्र वेदना के कारण अशान्त एवं अत्यन्त व्याकुल कर देती है।[1] कई प्रकार की गोमक्षिका, चींटी, कनसरैया प्रभृति पहुँचकर ऐसी ... वेदना करते हैं।

इस अवस्था को प्रथम वर्णन से बिल्कुल स्वतंत्र मानना चाहिए ... आधुनिक पाश्चात्य शालाक्य ग्रन्थों में इस दूसरे प्रकार को जि... कीड़े, पतंगे कर्णस्रोत में प्रविष्ट हो जाते हैं कर्णशल्य (Foreign body in the External Meatus) के अंतर्गत माना जाता ... जिसका आगे वर्णन किया जायगा। प्रथम वर्णन में जहाँ पर क... गन्दगी के कारण कीड़े पड़ जाते हैं—वह अस्वास्थ्यकर वाता... और अशोधन में संभव है। मक्खियाँ गंदगी से बैठती और ... देकर या अण्डों का उपसर्ग कराके कीटकों को पैदा करती हैं। शोधन ... के कारण होने वाले कीड़ों को 'मैगेट्स' (Magates) कहा जाता ...

---

१. पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।
अरतिं व्याकुलत्वञ्च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ।
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना । (मा० नि०)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

चिकित्सा—कान के कृमियों की चिकित्सा तुरन्त और सावधानी से ...नी चाहिये क्योंकि यदि वे संख्या में अधिक बढ़े और स्थानिक ...तुओं का भक्षण करने लगे तो पहुँचकर कान के पर्दे (Drum) को खाते जाते हैं और उसको झर्झर करके या नष्ट करके रोगी को जीवन ... के लिये बधिर कर देते हैं।

१. कृमिघ्न क्रिया प्रारंभ करना—

(अ) वार्त्ताकु धूम—बैंगन का धुँवा कान में देना[१]।

(आ) भटकटैया के फल का धुवाँ कान में डालना।

(इ) सर्षप तैल का पूरण।

(ई) हरताल मिलाकर गोमूत्र का पूरण।

(उ) गुग्गुलु का धूपन।

(ऊ) सिरके में पापड़ाखार, मुसब्बर, अजमोदा और इन्द्रायण गूदा मिलाकर पूरण।

(ए) सीताफल का स्वरस कान में डाले, सिंदुवार स्वरस, सूर्यावर्त्त स्वरस, इन्द्रायण मूल या लाङ्गली मूलस्वरस का कान में प्रक्षेप करे।

(ऐ) हल्दी की गाँठ, १, नीम की पत्ती का रस १ तोला डालकर ...प तैल को पकाकर पूरण करे।

२. प्रक्षालन—जब कृमि मर जायँ तो पिचकारी के द्वारा पानी से ...कर कृमियों को निकाल देना चाहिये।

---

१. कृमिकर्णविनाशाय कृमिघ्नीं कारयेत्क्रियाम्।
वार्त्ताकुधूमश्च हितः सार्षपः स्नेह एव च।
पूरितं हरितालेन गव्यमूत्रेण संयुतम्।
धूपने कर्णदौर्गन्ध्ये गुग्गुलुः श्रेष्ठ उच्यते।
सूर्यावर्त्तरसं वापि रसं वा सिन्दुवारजम्।
लाङ्गलीमूलतोयं वा त्र्यूषणं वापि चूर्णितम्।
एते योगास्तु चत्वारः पूरणात्कृमिकर्णके।
कृमीन्निर्मूलयन्त्याशु शतपद्यस्रपादिकान् (वृ० मा०)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

(क) कान में कड़वे बादाम का तेल डालकर पिचकारी से कान को साफ करना।

३. नस्यकर्म—कई बार नकछिकनी का नस्य देने से भी कृमि छींक के कारण बाहर आ जाते हैं। कट्फल के महीन चूर्ण का नस्य उत्तम कार्य करता है।

४. *निष्कासन के अन्य उपाय*—(१) यदि मक्खी या कानखजूरा कान में गया हो तो एक बत्ती में मांस का टुकड़ा लगाकर कान के भीतर डाले—मांस की लोलुपतावश उसमें वे चिपक जायँगे और बत्ती के साथ निकल आने में सरलता होगी। (२) कान के स्रोत के अन्दर 'क्लोरोफार्म' की पिचकारी दे उससे कीट मूर्छित हो जायगा या मर जायगा। पश्चात् पिचकारी के पानी से धोकर अथवा चिमटी से पकड़ कर कीट को बाहर कर ले[1]। (३) स्रोत में त्रिकटु चूर्ण छोड़ने से कीट उद्विग्न होकर बाहर आ जाता है। (४) जामुन के पत्तों का रस या जामुन के फल का रस कान में पूरा भर दे। इसके द्वारा बाहर से प्रविष्ट कीट, पतंग या भीतर पैदा हुए कृमि बाहर आ जाते हैं और वेदना शान्त होती है। (५) कान में शराब डालने से भी यही लाभ होता है। (६) पशुओं में पाई जाने वाली मक्खी यदि कान में प्रविष्ट हो तो कान में प्याज का रस भरे या मकरा के पत्तों का रस निचोड़ कर कान में भरे इससे मक्खी निकल जायगी। (७) गोमक्षिका को निकालने के लिये एक और प्रयोग वृन्दमाधव ने दिया है। नन्द्यावर्त और पलाश के मूलों को लेकर दाँत से खूब चबाये उससे जो लाला (लार) निकले उसको कान में भर दे इससे मक्षिका निकल जाती है।[2] (८) कलिहारी, भृंगराज, त्रिकटु को एक में मिलाकर पानी के साथ पीसकर एक कपड़े की पोट्टली में बाँधे और कान में उसका रस टपका कर भरे इसके द्वारा, कर्णजलौका, कृमि, कीट, चींटी,

१. कर्णच्छिद्रे वर्त्तमानं कीटं क्लेदमलादि वा।
शृङ्गेणापहरेद्धीमानथवापि शलाकया॥ (सु. उ. २१)

२. दन्तेन चर्वयेन्मूलं नन्द्यावर्त्तपलाशयोः।
तल्लालापूरणं कर्णे ध्रुवं गोमक्षिकां जयेत्॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

था अन्य जीव यदि काफी गहराई तक भी पहुँच गये हों अथवा उनका शिरोभाग शेष हो, तो भी निश्चित निकल जाते हैं।[1]

अन्य कर्णशल्य (Foreign body in the Ear)—इनके अति-रिक्त भी कर्णशल्य हो सकते हैं। अधिकतर ऐसे कर्णशल्य बालकों में देखने को मिलने हैं। कर्णशल्य के दो प्रधान भेद हो सकते हैं (१) वानस्पतिक (Vegetable origin) (२) अवानस्पतिक। इस भेद का महत्त्व चिकित्सा के उपक्रमों से है, यदि विजातीय द्रव्य अवानस्पतिक (Non Vegetable form) का हुआ तो उसके लिये सर्वोत्तम कर्णवस्ति है एक पिचकारी के द्वारा प्रक्षालन करके निकालना। परन्तु यदि वानस्पतिक पदार्थ हुआ तो उसके निकालने में पिचकारी का प्रयोग खतरनाक हो सकता है। उदाहरण के लिये मटर के दाने को लीजिये, यह एक आम चीज है जिसको बच्चे कान में डाल लिया करते हैं। यदि पिचकारी का प्रयोग किया तो वह फूल जायगा और संभव है कर्णस्रोत के अस्थिमय भाग में जाकर अँटक जाय जिससे कर्ण में तीव्र पीडा शुरू हो जायगी। शल्य का आहरण भी कष्टहो जाता है, ऐसी अवस्था में उसके टुकड़े-टुकड़े काटकर निकालना होता है।

ऐसी शल्यभूत चीजें 'बीड' (काँच का मोती) रबर के टुकड़े, कंकड़ प्रभृति द्रव्य आसानी से वस्ति (Syringing) के द्वारा बारीक चिमटी के द्वारा निकाले जा सकते हैं। छोटे बच्चों में, यदि वे चंचल हों तो संज्ञाहर द्रव्यों का भी सहारा लिया जा सकता है। क्योंकि चिल्लाते और रगड़ते बच्चों के कान में से शल्य का आहरण उनके कान के अवयवों को सुरक्षित रखते हुए निकालना असंभव है। संज्ञाहर द्रव्यों के संबन्ध में भी एक बात को पहले ही ध्यान में रख

---

१. हलिरविभक्तिव्योषान्येकीकृत्य प्रकल्पयेद्बद्ध्वा।
वसनान्तरे रसेन श्रवणे पूरयेद्युक्त्या ॥
कर्णांजलौकानियतं कृमिकीटपिपीलिकास्तथान्येऽपि।
निपतन्ति निरवशेषाः कारण्डाश्चापि मुण्डस्थाः ॥ (वृन्द)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

लेना आवश्यक है, वह यह कि अचानक भयभीत बच्चे को ... विभाग से ले जाकर संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग करके शल्य का ... नहीं शुरू कर देना चाहिये। उसके पहले उसको विधिवत् ... (Proper Preparation) कर लेना चाहिये अन्यथा ... संभावना रहती है।

इस प्रकार बच्चों के कर्ण शल्याहरण में यदि संज्ञाहर द्रव्य ... प्रयोग आवश्यक हो तो उसकी विधिवत् तैयारी कर ले पश्चात् ... शस्त्रास्त्रों से सुसज्ज होने पर ही आहरण कर्म प्रारम्भ करना चाहिये ... उपयुक्त यन्त्रों के अभाव में किसी अन्य सुसज्ज चिकित्सालय में ... देना चाहिये। क्योंकि थोड़ी-सी असावधानी से जैसे मोटी ... के प्रयोग से या मिथ्या प्रयोग से वह शल्य आगे की ओर ... चला जायेगा और कर्णपटह को छेद कर मध्य कर्ण में चला ... उस समय उसका निर्मूलन शंखकूट शस्त्रकर्म (Radical Ma... operation) के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जायेगा।

—o—

९

कर्ण-प्रतीनाह

(Perforation of the drum and catarrh of Eustachian tube)

व्याख्या हेतु संप्राप्ति—'वही कर्णगूथ जब पिघल जाता है ... हो कर नासा तथा मुख द्वारा आने लगता है तब उस विकार ... प्रतीनाह कहते हैं, और उसमें आधे शिर में दर्द होने लगता है ... विकार त्रिदोषज है।'[1]

१. स कर्णगूथो द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्द्धभेदकृत् ॥ (सु...)
कफाद्वा मारुताद्वापि संनिपातेन वा पुनः। (विदेह—मधु.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jal...

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

वक्तव्य—भाव यह है कि श्लेष्मा कानों में संचित हो पूर्वोक्त कर्णकण्डु रोग उपजाता है तदनु पित्त की ऊष्मा से शोषित होकर कर्णगूथक रोग बन जाता है। कर्णगूथ की अवस्था में आया हुआ वही श्लेष्मा जब पुनः पिघल कर विलीन हो नासा और मुख के रास्ते निकलने लगता है तो उसको कर्णप्रतीनाह की संज्ञा दी जाती है जिसमें आधे सिर में पीड़ा भी होने लगती है। यहाँ शंका उठती है कि यदि कर्णकण्डु, कर्णगूथ, कर्णप्रतीनाह एक ही रोग की अवस्था विशेष हैं तो उन्हें एक वृन्द और वृन्द की तरह एक ही क्यों नहीं मान लिया गया। इसका समाधान इस प्रकार है जैसे अभिष्यन्द, अधिमन्थ और हताधिमन्थों को उत्तरोत्तर अवस्था विशेष होने पर भी धर्मान्तर के साथ योग होने से नामभेद, अधिक गणना और पृथक्-पृथक् रोग स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार इस स्थल पर भी लक्षण विशेष तथा धर्मान्तर के योग होने से नाम भेद एवं अधिक गणना तथा पृथक् रोग स्वीकृति है। दूसरी बात यह है कि यहाँ एक रोग से दूसरे रोग की उत्पत्ति है। जैसे, कर्णकण्डु से कर्णगूथ और कर्णगूथ से कर्णप्रतीनाह की। यहाँ पूर्व पूर्व रोग उत्तर उत्तर रोग के प्रति कारण हैं, रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति तथा पूर्व रोग की शान्ति शास्त्र सम्मत है।[1] अस्तु ये रोग पृथक्-पृथक् हैं और इनका कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। तीसरी बात इनके पृथक् मानने में यह भी है कि कई बार पूर्वावस्था अत्यल्प होने के कारण लक्षित नहीं होती एवं उत्तर अवस्था स्फुट होती है। अर्थात् कभी-कभी कर्णकण्डु अलक्षित रहता है परन्तु कर्णगूथ स्पष्ट लक्षित होने लगता है। इसीलिये इनका स्वतन्त्र प्रतिपादन किया गया है। चौथी बात दोष-भेद से इनमें विभिन्नता होती है अस्तु स्वतन्त्र रोग माने गये हैं, जैसे कर्णकण्डु में वायु युक्त कफ, कर्णगूथ में पित्तोष्मशोषित कफ और कर्णप्रतीनाह में वात, पित्त, कफ तीनों दूषित होते हैं। पाँचवाँ भेद इनमें अंगविकृति की दृष्टि से कर सकते

१. ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः।
कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति॥ (च. २.)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

हैं। कर्णकण्डु एक लक्षण मात्र है जो कर्णगूथ में भी हो सकता है प्रधानतया बाह्यकर्ण स्रोत शोथ (Otitis Externa) में होता कर्णगूथ में कोई विकृति नहीं होती (No pathological Changes but a mere physiological disease or Mechanical disease) है और प्रतीनाह में पुनः वैकृतिक परिवर्त्तन (Pathological Changes) होते हैं और वह द्रवीभूत होकर बाह्यश्रुति पथ को पार कर के बाह्य छिद्रसे न स्रवित होकर घ्राण या नासा से स्रवित होता है।

आधुनिक प्रविचार—अब यहाँ विचारणीय है कि कर्णगूथ तो कर्ण का विकार है। नासा ग्रसनिका का सम्बन्ध तो केवल मध्य से है मध्य कर्ण में श्रुति सुरंगा (Eustachian tube) नलिका द्वारा गले से मध्य कर्ण का सम्बन्ध सम्भव है। मध्य कर्ण और कर्ण के बीच कान का पर्दा (कर्ण पटह) रहता है—जब तक उस विदारित होना सम्भव नहीं है तब तक स्राव का मध्य कर्ण तक या मध्यकर्ण से गले तक और गले से नासा तक आना सम्भव नहीं अस्तु यह तभी हो सकता है जब कि कर्ण पटह सछिद्र हो जाय। इस विकार में (Rupture of the Tympanic membrane) जाना आवश्यक है तदनन्तर बाह्य कर्ण का स्राव श्रुति सुरंगा के नासाग्रसनिका तक पहुँचकर मुख या नासिका के द्वार से आ सकता है।

कुछ विद्वानों ने इस विकार (कर्णप्रतीनाह) को श्रुतिसुरंगा तीव्र अवरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) माना है—यह भी बहुत कुछ ठीक है जैसा कि वाग्भट के वर्णन ज्ञात होता है 'कर्णगत श्लेष्मा वायु के द्वारा सूख जाता है अव वह स्रोतसों में लिपट जाता है जिससे पीड़ा, गुरुता और अवरोध अनुभव होता है उसे कर्ण प्रतीनाह कहते हैं।'[1] यह विकार निश्चित रूप से श्रुति-सुरंगावरोध ही भासता है। परन्तु सुश्रुताचार्य के मत में कर्णपटह विदरण (Ruptre) और श्रुतिसुरंगा का खुला हो

१. वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत् ।
रुग्गौरवपिधानञ्च स प्रतीनाहसंज्ञितः ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

आवश्यक है जिससे स्राव बाहर आवे। साथ ही अर्धावभेदक जैसे तीव्र शिरःशूल का होना जो बतलाया गया है वह निश्चित रूप से कर्णपटह का विदार द्योतित करता है। अर्थात् सुश्रुत के अनुसार विकृति को कर्णपटह का सच्छिद्र होना (Perforation of the Tympanic membrane) और वाग्भट के अनुसार श्रुतिसुरंगा का तीव्रावरोध (Acute obstruction of Eustachian tube) कहना चाहिये।

चिकित्सा—आयुर्वेद की दृष्टि से १. स्नेहन २. स्वेदन ३. शिरोविरेचन तथा ४. अन्य कर्णशूलोक्त तैलों का पूरण, यही चिकित्सा है।[1] चूंकि कर्णपटह यदि छिद्र युक्त है तो बाह्य कर्ण का उपसर्ग मध्य कर्ण में पहुँच कर कर्णस्राव प्रभृति रोगों को पैदा कर देगा। फिर चिकित्सा सामान्य कर्णस्राव की ही करनी होगी; परन्तु यदि छिद्र छोटा हुआ और उसमें पूयोत्पादक जीवाणुओं का उपसर्ग नहीं पहुँचा तो रोहणाङ्कुर उत्पन्न होकर पुनः कर्णपटह भर कर स्वस्थ हो जाता है।

कर्णपटह के फटने के हेतु *तथा प्रकार*—कर्णपटह पर आघात बाह्य या भीतरी दोनों कारणों से हो सकता है जिससे उसमें छेद हो जाता है—बाह्य कारणों में १. बहुत प्रकार के कर्ण के शल्य जैसे 'हेयर पिन' 'सेफ्टी पिन' या ऐसे यंत्र जिनका बलपूर्वक शल्यों के निकालने में प्रयोग होता है। कई बार निकालते हुए वह शल्य ही प्रयास में आगे जाकर पटह को फोड़कर मध्य कर्ण में पहुँच जाता है। कई बार दन्त निर्लेखन, दियासलाई की बत्ती, सींक आदि के कान में खुजलाने के लिये डालते समय हठात् हाथ की कर्पूर संधि में धक्का लग जाने से भी कर्णपटह सच्छिद्र हो जाता है। कानपर लगा जोर का आघात थप्पड़ या मुष्टि का कर्णस्रोत में हठात् वायु का दबाव पैदा कर (Compression of Air in the Ext. Ear) के कर्णपटह को फोड़ने में कारणभूत होता है। बन्दूक की आवाज से भी यह दोष हो सकता है। भीतरी

१. अथ कर्णप्रतीनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्रोक्तां समाचरेत्॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

कारणों में अश्मास्थि (Petrous bone) का जिससे मध्य… छत बनी हुई है, भग्न होकर अभिघात पहुँचाकर कर्णपटह के… भाग में छेद कर सकता है। तीन प्रकार के छिद्र पटह के प्रत्य… देखने को मिलते हैं। (१) केंद्रीय (Central perforation) (२) परिसरीय (Marginal) और (३) पटहान्तिक (Attic Perfora-tion) छिद्रता। इनमें पटहान्तिक सबसे उपरितन भाग में, मध्य… के पूयस्राव (Suppuration) के परिणामस्वरूप होता है।

चिकित्सा—में सभी प्रकारों में समानता है-(१) कान को … वर्ति से बन्द कर (२) रोगी को पूर्ण विश्राम देना। (३) पिचकारी… प्रयोग कान में नहीं करना चाहिये। (४) यदि बहुत ही आवश्यक है… कान को पूरे जीवाणु हीनता के विधान (Aseptic precautions) रखते हुए करना चाहिये। (५) यदि छिद्र के फलस्वरूप मध्य… शोथ हो जाय जिसकी सम्भावना रहती है तो तदनुकूल चिकि… करनी चाहिये (६) शुल्वाधिकार (Sulpohnamide group) … ओषधियों का अनागतबाधाप्रतिषेध की दृष्टि से प्रयोग किया… सकता है।

इस अवस्था में लक्षण रूप में पीडा, बाधिर्य, रक्तस्राव प्र… लक्षण मिल सकते हैं।

श्रुतिसुरंगा के विकार शोथ तथा अवरोध—श्रुतिसुरंगा का मध्य… के क्रिया-विज्ञान में एक महत्त्व का स्थान है। कर्णरोगों में प्रायः … महत्त्व की रचनाओं में प्रथम स्थान है।

श्रुतिसुरंगा का श्लैष्मिक शोथ (Catarrh)—बाधिर्य का प्राय… कारण होता है। मध्य कर्ण शोथ का पूर्व कारण और नव प्रतिश्याय… सहगामी होता है। इस शोथ में बच्चों में और कभी कभी वयस्कों… भी थोड़ी पीडा बनी रहती है। यदि यह शोथ जीर्ण हो जाय तो… बार मध्यकर्णशोथजन्य बाधिर्य हो जाया करता है।

चिकित्सा—इसकी चिकित्सा (१) 'पोलिट्ज़र' की विधि से … के द्वारा (२) नियमित समय पर कुछ दिनों का अन्तर दे कर बा…

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

श्रुतिसुरंगा नाडी का प्रवेश (Catheterization) करना (३) 'वेब-सील' की नलिका द्वारा बीच बीच में उड़नशील तैलों तथा अन्य औषधियों का पूरण (Injection) करना हितकर होता है। (४) कभी कभी स्वयमाध्मापन (Self Inflation) प्राणायाम विधि से करना भी हितकर होता है। नाक के दोनों छिद्रों को अंगुली और अंगूठे से दबा कर मुँह से हवा को भर कर गाल को फुला कर साँस का रोकना। इसे अंग्रेजी में 'वाल्सल्वा' (Valsalva's Method) की विधि कहते हैं।'[1] इस रोग की चिकित्सा में कोई सफल प्रयोग ज्ञात नहीं है फिर भी उपर्युक्त विधियों से लाभ होता है।

यदि नासाग्रसनिका में कोई रोग हो तो यह विधि हितकर नहीं होती क्यों कि उससे ग्रसनिका का उपसर्ग नलिका से हो कर मध्य कर्ण तक पहुँच कर शोथ पैदा कर देता है।

इस मार्ग के द्वारा बाह्य कर्ण का स्राव, यदि पटह छिद्रयुक्त हो तो मध्य कर्ण में होता हुआ नासाग्रसनिका तक पहुँच सकता है और फिर वहाँ से नासा मार्ग से होता हुआ नासा-छिद्र से या मुख के द्वारा बाहर आ सकता है। और कर्णप्रतीनाह की अवस्था उपस्थित हो जाती है।

श्रुतिसुरंगावरोध—यह अवस्था कण्ठशालूक (Adenoids), मध्य-कर्ण श्लैष्मिक स्राव, पूयकर्ण (Suppuration in the Ear) के कारण हो सकती है। इसमें रोगी को बधिरता का अनुभव होता है। श्रुतिसुरंगा नाडीप्रवेश (Catheterization) से लाभ होता और बधिरता दूर हो जाती है। परन्तु जब नलिका में सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति से नलिका स्थिर रूप से चिपक जाती (Adhesive) है तो केवल वायु के पूरण से लाभ नहीं होता है। उस दशा में नलिका में श्रुतिसुरंगा नाड़ी से सुरंगा के जरिये श्रुति शलाका (Bougies) प्रवेश करके मार्ग को खोलने की आवश्यकता होती है। यह चिकित्सा ऐसी है कि इसमें अनुभव, और विशेषज्ञता तथा कुशलता की आवश्यकता

१. इस विधि का नामकरण प्राणायाम विधि भी हो सकता है क्यों कि इस क्रिया में प्राण वायु का आयमन किया जाता है। अस्तु शास्त्रीय नाम सार्थक है।

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पड़ती है। यदि अवरोध बहुत दिनों का हो तो सभी उपाय ... भी हो सकते हैं।

एक और उपाय 'रेडियम्' चिकित्सा का है—कई बार इससे ... सफलता मिलती है।

१०

कर्ण-शोथ

(Inflammation of the Ear)

शल्यतन्त्रोक्त शोथ निदान में वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और ... पातिक शोथ के लक्षण कह दिये गये हैं। अतः कर्ण में होने ... वातादि जन्य चतुर्विध शोफों का भी लक्षण उन्हीं लक्षणों के ... पर जानना चाहिये। भेद केवल इतना होगा कि स्थानिक लक्षण ... पर इस अवयव विशेष के अनुसार होंगे—वहाँ पर शोथ के लक्षण ... उन स्थानों के अनुसार होते हैं किन्तु जो स्थानिक लक्षण उभय ... सकते हैं उभयत्र मिलेंगे। यह त्रिविध हो सकता है १. बाह्य कर्ण... २. मध्य कर्णशोथ और ३. अन्तः कर्णशोथ।

कर्ण-पाक (Suppuration in the Ear)

'कर्णपाक पित्त से कर्णविद्रधि के पकने से, कर्ण के जलपूर्ण... से, कोथ (सड़ान) और क्लिन्नता को करने वाला कर्ण पाक होता... तन्त्रान्तर में एक और वाक्य भी मिलता है 'पित्त के कोप से ... होता है जिसके कारण कान में स्थानिक कोथ और क्लिन्न... जाती है।'[1]

---

१. कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृत् भवेत्।
कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात्।
भवेत् प्रपाकः खलु पित्तकोपतो विकोथविक्लेदकरश्च कर्णयोः।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

'यहाँ शंका होती है कि पित्तदोष के कारण कर्णगूथ में सूखना लाया है यहाँ पर उसी के कारण क्लिन्नता कैसे हो सकती है। इसका ष्टीकरण करते हुए श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि जब पित्त इस प्रकार विकार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुए भाग वाला होता है तो आर्द्रता (क्लिन्नता) आती है तब पित्त उस कार को उत्पन्न करने वाले सहकारी कारण वाला तथा बढ़े हुए तेज भाग वाला होता है तो शुष्कता करता है। फलतः कर्णगूथ में कर्ण-त्पादक सहकारी कारण तथा तेज भाग वाले पित्त से कर्णगूथक होता है तथा कर्णपाक में कर्णपाकोत्पादक सहकारी कारण तथा द्रवांश अधिकता वाले पित्त से कर्णपाक रोग होता है जिसमें कि आर्द्रता रहती है।'[1]

कर्ण-संस्राव (Otorrhoea)

'सिर में चोट लगने के कारण, जल में गोते लगाने के कारण, अथवा कर्णविद्रधि के पक जाने के कारण, वायुदोष से प्रपीडित होकर तोदादि वातिक वेदनाओं वाला कान, पूय को स्रवित करता है। यह रोग कर्णस्राव कहलाता है।'[2]

इस सूत्र में पूय का स्रवण उपलक्षण मात्र है—इसमें रक्त और जल का भी स्राव हो सकता है, ऐसा मानना चाहिये। क्यों कि सिर पर चोट लगने से या जल में डुबकी लगाने से पूय का स्राव नहीं हो सकता अतः चोट से रक्त, जल निमज्जन से जल और विद्रधि से पूय का स्राव होना चाहिये। अथवा प्रपाक का सभी के साथ सम्बन्ध जोड़ कर भाव-ग्रहण हो सकता है जैसे 'सिर में चोट लगने से प्रपाक (पूय जनक जीवाणु का उपसर्ग) होने पर, जल में डुबकी लगाने से प्रपाक होने पर वायु से पीडित कर्ण, पूय का स्राव करता है। इस प्रकार मानने से स्राव पाक से पृथक् नहीं कहा जा सकता क्योंकि पाक का सम्बन्ध

१. एवं विकारजनककर्मसहकारिणा द्रवांशोद्रिक्तेन पित्तेनार्द्रता तत्र तु एतद्वि-परीतेन शोषः। (मधुकोष)

२. शिरोभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सर्वत्र स्वीकृत हो चुका है। ऐसा आचार्य कार्तिक का मत है। व्याधि को अनिलार्दित कहने का तात्पर्य है कि अधिक स्राव के कारण वायु का ही कोप होता है।

पूतिकर्ण (Foulsmell discharge from the Ear)

'जिस कर्ण-रोग में पूयस्राव, दुर्गंधित स्राव या घना (गाढ़ा) स्राव हो उसको पूतिकर्ण कहते हैं।'[1] यह एक प्रकार का कर्णस्राव ही है जिसमें विशेषता घन स्राव (गाढ़ा स्राव) तथा दुर्गन्धयुक्त स्राव की होती है। इसकी व्याख्या में आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि पित्त के तेजोंश द्वारा कर्ण-स्रोत में स्थित श्लेष्मा के सन्तप्त एवं विलीन होने पर वेदनारहित वा वेदनासहित घने एवं दुर्गन्धित स्राव स्रवित करने वाला कर्णगत रोग पूतिकर्ण।'[2] पूतिकर्ण शब्द का शाब्दिक अर्थ भी ही होता है पूतिमान् कर्ण (बदबूदार कान)।

वक्तव्य—कर्णशोथ, कर्णपाक, कर्णस्राव, पूतिकर्ण तथा कृमिकर्ण ये रोग क्रमशः कर्णशोथ (Inflammatory condition of ...) के ही द्योतक हैं। शोथ का परिणाम पाक में (विद्रधि में), पाक (Suppuration) का परिणाम कर्णसंस्राव (Otorrhoea) में, उसका विपरिणमन कोथ का उपद्रव हो कर यूतिकर्ण में होता है, उसमें उपद्रव रूप में कृमि पैदा होकर कृमिकर्ण का रूप ले लेते हैं।

दूसरा विचारणीय कान के अवयवों के सम्बन्ध में है कि तीन भागों में से किस अवयव का यह विकार है—उपर्युक्त के आधार पर उसकी भी स्थिर मर्यादा नहीं बाँध सकते; फिर भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जब तक मृदुरूप का है उसे बाह्य कर्णस्रोत-शोथजन्य, अधिक उपद्रुत रूप स्राव को मध्य-शोथजन्य या अन्तःकर्ण-शोथजन्य मान सकते हैं। इसमें मध्य

१. पूयं स्रवति पूतिर्वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः। (मा. नि.)

२. स्रोतः स्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने भृशसम्प्रतापिते। अवेदनो वाथ सवेदनो वा घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णकः। (सु.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ही महत्त्व का भाग है। अस्तु, यहाँ उसी का विस्तृत वर्णन करना संगिक ज्ञात होता है। बाह्यकर्णशोथका वर्णन कर्णकण्डु प्रभृति रोगों किया जा चुका है।

मध्यकर्णशोथ (Otitis media)

व्याख्या—उस विकृति को कहते हैं जिसमें मध्य कर्ण के भीतर की ाल की श्लैष्मिककला (Lining Membrane) शोथयुक्त हो ती है। इस दशा में सभी उपसर्ग की अवस्थाओं का समावेश हो ता है अर्थात् मामूली शोथ से लेकर, कर्णपाक, कर्णस्राव, पूतिकर्ण श्लैष्मिककला का परिवर्तन तक इसी एक विकार के भीतर आ ते हैं। मध्य कर्ण एक ऐसे महत्त्व का अंग है कि इसके शोफ का ार पूरे अन्तःकर्ण तथा शङ्खकूट तथा उसके वायुविवरों (Mastoid-sinuses) तक पहुँच सकता है। क्यों कि मध्य-कर्ण की भीतर की र मढ़ी हुई श्लैष्मिककला अविच्छिन्न वायुकोषों (Mastoid antrum) ा शङ्खकूट कोटर (Mastoid cells) तक चली जाती है। जैसे ासाशोथ का उपसर्ग अविच्छिन्न भाव से ऊपर तक बढ़ता हुआ नासा-ारों तक पहुँच जाता है उसी प्रकार मध्य कर्ण की श्लैष्मलकला शोफ शंख प्रवर्द्धन के अन्त भाग तक पहुँच जाता है। कई बार शोथ का ार कान तक ही मर्यादित रहता है अथवा गोस्तन शोथ (Mastoitis) शोथ करके स्थिर रहता है—तथापि इन परस्पर सम्बन्धित विध अवयवों के शोफों को एक ही रोग समझना चाहिये और यह नहीं मझना चाहिये कि यह रोग इस प्रकार का है कि पहले मध्य-कर्ण की कृति करता है पश्चात् दूसरे अवयवों अथवा रचनाओं पर अपना ाव दिखलाता है। और फिर इसके कई प्रकार के उपभेद अल्पस्रावी Catarrhal), अनौपसर्गिक (Non-Infective) तथा औपसर्गिक Infective) करना भी कुछ अर्थ नहीं रखता क्योंकि इसका निर्णय ा कठिन होता है क्यों कि कई बार प्रथम जो अल्पस्रावी मालूम होता पूतिकर्ण (Purulent) का रूप ले लेता है एवं कहीं पर अत्यन्त ल्प शोथ प्रकार में पूययुक्त स्राव का रूप होने लगता है।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

मध्य कर्णशोथ का उद्भव—१. श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian t... मध्य कर्णशोथ को पैदा करने वाला बहुत महत्त्व का मार्ग है। ... का कारण प्रायः नासाग्रसनिका (Nasopharynx) के रोग ... नासाग्रसनिका शोथ, कोटरशोथ, कण्ठशालूक, (Adenoids) ... या अन्य रोग में श्रुतिसुरंगा से होकर ऊपर की ओर उपसर्ग की ... हो जाती है। श्रुतिसुरंगा का उपसर्ग किसी भी क्षण, मध्य ... शोथयुक्त कर सकता है। मामूली प्रतिश्याय में श्रुतिसुरंगा का ... शोफयुक्त हो जाता है, परन्तु ऊपर वाले भाग में शोफ का लक्षण ... हो पाता फलतः मध्य कर्णशोथ भी नहीं होता। ऐसा (मध्य कर्ण ... तभी होता है जब कि उपसर्ग पहुँचते हुए मध्य कर्ण की श्लेष्मलकला ... पहुँच जाय। इस अवस्था में तीव्र मध्य कर्णशोथ हो जाता है। ... भी सीधा उपसर्ग उपसर्गयुक्त स्राव के हठात् श्रुतिसुरंगा से हो... मध्य कर्ण की श्लेष्मलकला तक पहुँचने से हो सकता है—ऐसा ... प्रतिश्याय के रोगियों में जोर-जोर से अधिक बार नाक साफ करने ... (Blowing of the nose) हो जाता है।

२. जल निमज्जन—पानी में अधिक डुबकी लगाने यानी ... डूब कर तैरने से नासाग्रसनिका की विकृति होने पर उसका ... स्राव जबर्दस्ती श्रुतिसुरंगा के द्वारा मध्यकर्ण तक पहुँच जाता है ... पहुँच कर शोफ पैदा कर देता है। इसकी उत्पत्ति के लिये दो बातों ... आवश्यकता रहती है प्रथम तो यह कि (१) पहले से नासाग्रसनिका ... विकृति हो (२) किसी कारणवश साधारण से अधिक वायु भार ... भीतर (Exposed to pressure above normal) हो जावे। ... डुब्बी जहाजों के नाविकों में जिनको प्राणवायु यन्त्र (Oxygen ... ratus) लेकर चलना पड़ता है यदि उनमें नाक या गले ... पहले से विद्यमान रहा हो तो उनमें मध्यकर्णशोथ की घटनाएँ ... देखने को मिलती हैं।

३. सामूहिक स्नानागारों में जहाँ पर पानी के शोधन का (... के द्वारा शोधन का) अति योग किया गया रहता है वहाँ पर रासायनिक ... द्रव्य का क्षोभजन्य मध्यकर्ण शोथ उपर्युक्त विधि से ही हो जाता है ...

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

४. बच्चों में अधिकतर मध्य कर्णशोथ, कण्ठशालूक (Adenoid) नामक ग्रन्थि के विकार में होता है। श्रुतिसुरंगा का छोटा होना, खुला होना और उसकी स्थिति (Position) की विशेषता होने से बच्चों में नासाग्रसनिका का उपसर्ग बड़ी आसानी से मध्य-कर्ण में पहुँच जाता है। तीव्र नासा-शोथ (Rhinitis), नासाग्रसनिका में पूय का संचय होना साथ ही बच्चे की क्षीणता के कारण नासा के द्वारा संचय हुए पूय को साफ करने में असमर्थता बहुधा उपसर्ग को मध्य-कर्ण तक पहुँचा देती है।

५. नासा या नासानलिका को साफ करने के लिये पिचकारी का मिथ्या योग (Unwise use) उपसर्गयुक्त स्राव को बलात् मध्यकर्ण तक भेज देता है।

६. कई बार नासागत रक्त रक्तस्राव को रोकने के लिये नासाग्रसनिका भर दिया जाता है अथवा नासाग्रसनिका में अर्बुद की उत्पत्ति होकर स्वयं भर जाता है। ऐसी अवस्था में (Proper aeration) उचित वायु-सम्बन्ध अवरुद्ध हो जाता है। फलतः मध्य-कर्णशोथ होना सम्भव रहता है।

७. मध्यकर्णशोथ, रक्तवाहिनियों के द्वारा भी उपसर्ग पहुँचने पर (Blood stream infection) भी हो सकता है।

८. विपर्यय से भी मध्यकर्ण शोथ होने का प्रमाण मिला है जैसे मस्तिष्कावरणशोथ या अंतःकर्णशोथ का उपसर्ग मध्य-कर्ण में पहुँच कर सूजन पैदा करे।

९. बाह्यकर्ण से भी मध्यकर्ण तक उपसर्ग पहुँच सकता है, परन्तु बहुत कम होता है जब करोटि के आधार का भग्न हो जाय या पटह का आघात के कारण विदार हो जाय। यदि कहीं पटह में छिद्र हो तो स्राव या द्रव मध्य भाग तक पहुँच जाता है और सूजन पैदा कर सकता है। इसलिये कर्णगूथ को पिचकारी से साफ करते हुए इन बातों को ध्यान में रखना चाहिये।

लक्षण तथा चिह्न—१. पीडा—यह सर्वाधिक व्यक्त लक्षण है। पीडा का भाव या अभाव द्रव या स्राव के संचय के ऊपर निर्भर करता है

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

यदि स्रावाधिक्य हो और उसके कारण मध्यकर्ण में तनाव (Ten
अधिक हो जाय तो पीडा अधिक महसूस होगी और तनाव कम
पर कम। इस रोग में पीडा तीव्र (Sharp) वेधनवत् (L
nating) होती है, और कान में ही मर्यादित रहती है।

२. बधिरता—मध्यकर्ण में स्राव का संचय अधिक हो तो उसे
चिह्न व्यक्त मिलता है। प्रारम्भिक अवस्थाओं में मध्यकर्णशोथ
चिह्न अनुपस्थित रहता है। यह एक ऐसी शोफ की अवस्था
जिसमें स्राव के बाहर निकलने का साधन नहीं होता। जब स्राव
होना शुरू हो जाता है, श्रवण संवेदन क्रमशः कम होने लगता है
अधिक मात्रा में स्राव का संचय हो जाता है, तब कर्णास्थियों की
उनके बन्धनों की गति, एवं बन्धनों के ढकनेवाले श्लैष्मिक क
गति में बाधा पड़ती है, परिणामस्वरूप सुनने की क्रिया में कमी
जाती है। बधिरता का विचार मध्यकर्ण के शोथ की अवस्था
में बहुत सहायक होता है, मध्यकर्ण शोथ कहाँ तक बढ़ चुका है
ज्ञान हो जाता है। यदि रोगी को सुनने की शक्ति है तो मध्य कर्ण
में खतरा कम रहता है और शोथ का संशमन भी हो जाता है।

३. कर्णनाद या क्ष्वेड—कई बार कर्णशूल के साथ कान में
होती है, कई बार शूल नहीं भी होता और आवाज होती रहती है

४. प्रतिध्वनि—(Vocal resonance) रोगी को ऐसा
होता है कि वह किसी पीपे (Barrel) में बातें कर रहा है।

५. भ्रम (चक्कर)—यह बहुत कम पाया जाता है जब शोथ
क्षोभ अन्तः कर्ण में भी होने लगे।

६. सार्वदैहिक लक्षणों में मध्य कर्ण शोथ में ज्वर, नाडी
तीव्र, जिह्वा दरारयुक्त शुष्क, अग्निमांद्य, क्षुधाभाव, प्रतिश्याय
लक्षण मिल सकते हैं।

मध्यकर्णशोथ का निदान—कर्णपटह के दर्शन से प्रारम्भ में
कर्णशोथ का ज्ञान कर्णपटह की प्रत्यक्ष अवस्था देखकर हो
अस्तु, यदि कर्णपटह की कला साफ न दिखाई पड़े, जैसा कि

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

कुशलता की कमी से अथवा बाह्य कर्ण स्रोत में चिट्क या विद्रधि की वजह से संभव है तो कर्णशोथ का निदान अनुमान से ही ना संभव है, परन्तु इसके ऊपर पूर्णरूप से विश्वास भी नहीं किया सकता। अस्तु, सभी रोगियों में जहाँ प्रारम्भिक अवस्था में मध्य-शोथ का निश्चित निदान करना होता है; वहाँ कर्णपटह की परीक्षा श्यक हो जाती है। इसके लिये बाह्य कर्ण स्रोतगत गूथ, विद्रधि दि को शलाका, चिमटी या पिचकारी से दूर करके पटह की श्लकला की यथोचित परीक्षा करनी चाहिये।

मध्यकर्ण शोथ की अवस्था में पटह की चमक (Lustre) जाती है उसका वर्ण भूरे से भूरे गुलाबी (Greyish pink) और नो से बिल्कुल चमकता हुआ लाल (Bright red) हो जाता है। स्राव काफी इकट्ठा हो जाता है तब पटह की कला अपनी पीछे की ह्न की ओर उभरी हुई (Bulging) दीख पड़ती है, सूजन बढ़ती ती है और कला के सम्मुख की ओर भी आ जाती है। फिर अन्त कला दुहरी (Doubled roll) के समान दीखने लगती है एवं केन्द्र र्त (Dimple) हो जाता है। जहाँ पर मुद्गरक का वृन्त पटह से रहता है वहाँ पर इस कला तक पहुँचते पहुँचते पटह-कला का गाढ़ा लाल हो जाता है। जब पाक की दशा बहुत बढ़ी रहती है उस काल में कला की लालिमा में पीलापन भी झलकता है। कई एक रेखा सी भासती है जो मध्य कर्ण में भरे हुए द्रव की ऊँचाई त करती है। यदि फटने की स्थिति में पटह का निरीक्षण किया तो उभार में एक पीला चूचुक-सा (Yellow nipple) दिखाई ता है। जो मवाद (Sloughing) बनने की प्रक्रिया का द्योतक है।

स्वरद्विशूल परीक्षा (Tuning fork test)—यह परीक्षा मध्यकर्ण विकृति का ज्ञान कराने में महत्त्व का भाग लेती है। इस परीक्षा के रम्भ करने के पूर्व इस बात का निश्चय हो जाना चाहिये कि कर्णस्रोत अवरोध नहीं है। कर्णस्रोत में यदि मैल हो तो साफ कर लेना हिये। शोथ की प्रारम्भिक अवस्थाओं में 'राइनेने' की परीक्षा ध्यात्मक हो सकती है, परन्तु यदि विकार बहुत बढ़ा हुआ है तो

Jangamwadi Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

परीक्षा प्रायः नास्त्यात्मक होती है। यदि दोनों पार्श्वों में शो 'वेवर' की परीक्षा दोनों कानों के विभेद के लिए की जाती है में कि स्वर अच्छा सुनाई पड़ता है उसमें उपसर्ग का बढ़ा हु (उग्र) समझना चाहिये।

अस्थि की स्पर्शासह्यता—जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कर्ण की आवृत करने वाली झिल्ली का अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रवर्द्धन तथा उसके वायुविवरों (Mastoid Antrum & toid cells) से है। यदि इन अंगों में शोफ हो जाय तो इस के ऊपर तीव्र स्पर्शनाक्षमता आ जायगी। अस्तु, कान के हड्डी पर दबाने से कुछ पीड़ा होगी। यदि मध्यकर्ण शोथ में हुआ, तो मध्यकर्ण का स्राव शोषित हो जाता है एवं धीरे धीरे ऊपर की स्पर्शनाक्षमता गायब हो जाती है। परन्तु यदि उप हुआ और विकृति का आगे की ओर बढ़ना जारी रहा तो शं शोथ स्थायी होकर 'मास्टायडाइटिस' का रूप ले लेता है। इस पूर्वरूप की अवस्था को 'मास्टायडिस्म' कहते हैं।

बच्चों में मध्यकर्णशोथ—बच्चों के निदान में बड़ी कठिनाई है और अधिकतर निरीक्षण के अनुभवों पर निदान करना ह छोटे बच्चों में बेचैनी, चिल्लाना, रोना, चौंकना, चीखना (Sc ng) विशेषतः रात्रि में, हाथ को ऊपर उठा कर सिर पर या रखना, शिर को तकिये पर रगड़ना, शिरोभ्रमण ये चिह्न मि जिसमें कान की परीक्षा आवश्यक हो जाती है।[1] कई बार जिससे वेदना की कमी हो जाय यह भी एक लक्षण मिलता है।

छोटे बच्चों के कान की परीक्षा करने के लिये उनकी द्रव्यों से संज्ञाहरण करके कान की परीक्षा कर लेनी चाहिये पर ठीक निदान न हो पाता हो वहाँ पर यह विधि निदान में की सहायता पहुँचाती है।

१. कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रामयते भृशम्।
अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम् ॥ (काश्यपसंहिता)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

...0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra...

कर्णपटह में छिद्र हो जाने के बाद—निदान अपेक्षाकृत सरल हो ...ता है। रोगी इस प्रकार का कथन करते मिलते हैं कि कर्ण के शूल ...तीव्रता कान बहने के बाद कम हो गई। पश्चात् देखने पर कर्ण ...त स्राव से भरा हुआ दीखता है। जो पतला या गाढ़ा (Sero-...nguineous fluid) या पीले पूय के रूप में रहता है। जब इसको ...ई से साफ कर लिया जाता है तो स्राव एक पतले छिद्र से आता ...र होने लगता है। उस छिद्र का स्थान निश्चित करना कठिन होता ...क्योंकि पटह शोथयुक्त रहता है और स्राव अनवरत बहता रहता ...। बाधिर्य भी स्राव की अवस्था में पहले की अपेक्षा कम हो जाता ...। यदि कम न हो तो किसी अन्य उपद्रव की आशंका करनी चाहिये ...था यह समझना चाहिये कि कर्णशोथ सुधर नहीं रहा है। स्वर-...यन्त्र की परीक्षा से मध्य कर्ण की बधिरता मालूम होती है और क्ष्वेड ...अनुभव रोगी को कर्णपटह के छिद्रयुक्त होने पर होता है जो ...ड़ी समय तक रहता है। सार्वदैहिक लक्षणों से ज्वर शान्त हो जाता ...नाड़ीगति प्रकृत पर आ जाती है। परन्तु पटह के छेद होने पर भी ...ि ज्वर बना रहे या नाड़ीगति तीव्र रहे तो समझना चाहिये कि ...रोग आगे की ओर बढ़ रहा है।

तीव्र मध्यकर्णशोथ का सुधार (Recovery from Acute otitis ...dia)—यह विकृति निम्नलिखित तीन प्रकारों में से किसी एक ...के अनुसार ठीक हो जाती है।

(१) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से बिना छिद्र के सुधार हो जाना।

(२) अपने आप या स्वाभाविक क्रम से छिद्र हो जाने के बाद (After perforation) सुधरना।

(३) पटहभेदन (Myringotomy) के पश्चात् विकार का ठीक हो जाना।

तीव्र मध्यकर्णशोथ की चिकित्सा—तीव्र मध्यकर्णशोथ की चिकित्सा ...मुख्य ध्येय श्रवण क्रिया को सुरक्षित रखना है।

...a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao...

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पटह में छेद होने के पूर्व (१) रोग की तीव्रावस्था में शूल स्व से उत्कट लक्षण मिलता है, जो पटहकला के नाड्यग्रों (endings) के क्षोभ के कारण होता है। अस्तु इसके लिये (Soothing) ओषधियों का जैसे 'एस्प्रिन' एवं 'कोडीन' प्रयोग करना चाहिये। ऐसी ओषधियाँ जिनका स्थानिक संज्ञा प्रभाव हो इस अवस्था में बड़ी मूल्यवान् होती हैं। 'ग्लिसरीन' 'कार्बोलिक एसिड' १०% का मिला हो अथवा ऐसी ही अन्य जैसे 'संशामक पूरण (Sedative drops) का प्रयोग हितक है। (२) दूसरी आवश्यकता श्रुतिसुरंगा के प्रवाह का पुनः करने की रहती है। इसके लिसे वाष्पध्मापन (Inhalation) 'फायर का बालसम' या बहुत ही अल्प मात्रा में पिपरमेण्ट (Me मिली हो दे—अथवा लवणविलयन में सोम डाल कर बनाया (Ephebrine in saline drop) यदि आवश्यक हो तो (Eustachian catheter) के द्वारा सीधे श्रुतिसुरंगा में (Ephedrine) बना कर डाले। इस क्रिया से श्रुतिसुरंगा दूर हो कर प्रवाह शुरू हो जायेगा।

सामान्य चिकित्सा—१. सहायक कारणों को दूर करना २. ढङ्ग से नाक की सफाई (नेटा निकालने की क्रिया Improp wig of the nose) को छोड़ना ३. जल निमज्जन अथवा समय कान में पानी के प्रवेश को बचना ४. नासाकोटरों में हो तो ठीक करना ५. रोगी को प्रारम्भिक अवस्था में शय्या कर गर्म तथा हवादार कमरे में रखना। ६. उष्ण स्वेद, सूखा, विद्युत्स्वेद करना। ७. प्रारम्भिक अवस्थाओं में 'शुल्वाधिकार (drugs) या 'पेन्सिलीन' का व्यवहार करना। इन उपक्रमों के रोगी को रखने से प्रारम्भिक अवस्था में उपशम हो जाता है।

यदि प्रारम्भिक उपायों से रोग की प्रगति न रोकी जा स पटह की कला भरी मालूम हो और पीछे के द्रव के भार से जान पड़े, रोगी की सामान्य दशा में भी कोई प्रशस्तता न बल्कि दिनानुदिन खराब होती जाय तो कर्णपटह वेधनकर्म (

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

(…tomy) नामक शस्त्र-कर्म करने का विचार आवश्यक हो जाता है कि संचित हुए द्रव का निर्बाध निर्हरण हो जाय।

कर्णपटहवेधन या भेदनकर्म का निर्देश—निम्नलिखित अवस्थाओं में है—

१. अत्यधिक शूल जिसमें वेदना को तत्काल कम करने की आवश्यकता हो।

२. मध्यकर्ण में पूय के सञ्चयजन्य उच्च तापक्रम या तीव्र ज्वर प्रभृति विषमयता के चिह्न की उपस्थिति।

३. मध्य कर्ण में अधिक द्रव के सञ्चय होने के कारण बढ़ते हुए …कार्य के दोष की विद्यमानता। (अर्थात् भार के कारण यदि …रता बढ़ती ही चली जाय)।

इस शस्त्र कर्म से लाभ—तीव्र लक्षण तथा उपद्रवों की शान्ति हो …ी है—उपसर्ग का आगे की ओर प्रसार रुक जाता है—सब से बड़ा …यह होता है—कि विशोधित कुशल चिकित्सक-कृत भेदन के द्वारा …का निर्हरण हो कर व्रण का रोपण ठीक हो जाता और कला के …निर्माण हो जाने से सुनने की क्रिया में किसी प्रकार की बाधा नहीं …पाती है। ये विशेषतायें अपने आप कला के कारण विदीर्ण हो …में नहीं आतीं और न रोपण ही आशु होता है, एवं न श्रवणक्रिया …प्रकृत रूप में आने की आशा रहती है।

…विधि—(Technique) १. *संज्ञाहरण*—'गैस आक्सीजन' या …थाल' के द्वारा संज्ञाहरण अनुभवी शालाक्यविदों के लिये पर्याप्त …है; परन्तु यदि अनुभव की कमी हो तो ऐसे संज्ञाहर द्रव्य का …करे जिसमें पर्याप्त समय शस्त्रकर्म करने के लिये मिल जाय। कई …जहाँ पर पटह की कला द्रव के भार से पर्याप्त फैली हुई हो 'ब्लेग- …की बूंदों (Blegvad's drop) द्वारा भी स्थानिक संज्ञा हरण का …हो सकता है।

२. *वाह्यश्रुतिपथ का विशोधन*—'स्पिरिट' की पिचु से पोंछने या …णु नाशक घोल में भिगाये प्लोत (Gauze) से कान को कुछ …ट के लिये भर देने से कार्य हो जाता है। जब रोगी संज्ञाहीन हो

…a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

जाय तो कर्णवीक्षण यन्त्र (Speculum) को कान की बाहरी में डाल कर पटह की स्थिति का पूर्ण निरीक्षण कर लेना चाहिये। कोई मैल, गूथ, नष्ट हुई किट्ट (Debris) के कारण अवरोध हो उनको साफ कर पटह का दर्शन ठीक हो सके ऐसा कर लेना चा

३. *भेदन कर्म*—अब उस स्थान का चयन करना चाहिये पटह में भेदन कर सके-इस अवस्था में एक विशेष प्रकार के का जिसका वृन्त कोणदार (Angled) हो, प्रयोग में लाना जिससे शस्त्रकर्म के समय में स्थान स्पष्ट देखा जा सके। इस भेदन (J) अंग्रेजी के 'जे' अक्षर के आकार का किया जाता है का स्थान पटह के पश्चात् भाग में उस सतह की रेखा में करना जो कि पटह को ऊपर और मध्य तृतीयांश में बाँट दे। फिर भेद दूर तक खड़े (Vertically) ले आकर घुमाते हुए नीचे मुद्गरास्थि के वृन्ताग्र के नीचे तक ले आना चाहिये।[1] वृद्धि नोक भीतर में उतनी ही गहराई तक जानी चाहिये जितने में कला कट जाये अन्यथा भीतर रचनाओं की क्षति का भय रह भेदन के साथ ही पूय, रक्त प्रभृति स्राव निकलने लगते हैं, पिचु के जरिये साफ करना चाहिये। शस्त्रकर्म के पश्चात् ही तापक्रम दूर हो जाता है और साधारण दशा अच्छी हो जाती है। रोगी में कर्म के बावजूद भी लाभ नहीं नजर आवे तो विचार करना चाहिये अधिकतर शंखकूट उपसर्ग का भय रह (Advancing mastoid infection).

४. *श्रुति सुरंगानिरीक्षण*—शस्त्रकर्म के पश्चात् इस अंग का करके आवश्यकता के अनुसार निर्ध्मापन (Inflation) भी

1. Thd icision is J shaped and should commence in the part of the drum about the level of the line dividing the horizontaly into upper and middle thirds. The ioision is then down vertically and curved round well below the tip of the of the malleolus.

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

...ता है—यह क्रिया भी इस चिकित्सा में सहायभूत होती है—...को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसके अभाव में कई बार रोगी को ...बाधिर्य का आजीवन शिकार बना रहना पड़ता है।

५. *चिकित्सा में*—सुविधा प्राप्त करने के लिये स्राव की तृणाणु विषयक ...क्षा (Bacteriological examination) की भी आवश्यकता ...ती है।

...मध्यकर्णशोथ की कर्णपटह भेदन या छेद हो जाने के बाद की चिकित्सा—१. प्रथम आवश्यकता स्राव या मवाद को अच्छी तरह साफ हो जाने ...रहती है (Adeqate drainage) २. दूसरी आवश्यकता स्राव को ...ने की (Drying up the discharge) ३. पीड़ा की चिकित्सा—...अवस्था में उसका अभाव रहने से कोई आवश्यक नहीं रहती ...कहीं इस दशा में भी पीड़ा बनी रहे तो उपसर्ग का प्रसार हो ...है ऐसा समझना चाहिये, उस अवस्था में विकृति के अनुसार ...कित्सा करे। कई बार स्राव के बाह्यकर्णस्रोत में भर जाने या पटह ...छिद्र या मुख के रुद्ध हो जाने पर भी पीड़ा बढ़ जाती है उस ...स्था में कर्णशोधन कर देने से पीड़ा शान्त हो जाती है। ४. यदि ...जारी रहे तो उसको शुष्क करे या आर्द्रपद्धति से चिकित्सा करे।

शुष्क पद्धति—कर्णस्रोत की वस्त्रावेष्टित एषणी (Dressed probe) ...या रुई की पिचु से खूब सफाई कर लेना होता है। इसके लिए अच्छा ...रा, कुछ कुशलता और कुछ प्रारंभिक अभ्यास की जरूरत होती ...कान की नलिका को साफ कर लेने के बाद उसमें ऊन की वर्त्ति ...ick of worsted) भर के छोड़ देते हैं—इस वर्त्ति के द्वारा मध्य ...गत स्राव बाहर निकलता रहता है।

आर्द्र पद्धति—"हाइड्रोजेन पेराक्साइड' की बूँदें कर्णस्रोत में डाल ...आधे से एक मिनट तक छोड़ दें, इससे संग्रह पिघल कर बाहर आ ...ता है—स्राव की सफाई के लिये बोरिक एसिड का लोशन (टंकण ...) बनाकर पिचकारी के जरिये मुलायम हाथ से धोकर कान साफ कर लें—पश्चात् कान को रुई से पोंछ कर पूर्ण शुष्क कर

...Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

लें यह चिकित्सा दिन में एक बार या स्रावाधिक्य होने पर दो बार की जा सकती है।

स्राव को सुखाने के लिये टंकण (बोरिक एसिड) को रेक्टीफाइड स्प्रिट (१५ ग्रेन बोरिक एसिड एक औंस स्प्रिट) में घोलकर और रात में छः बूंद कान में डालने का प्रयोग करना चाहिये।

बोरिक ऐण्ड आयोडायड चूर्ण—(७५ प्रतिशत आयोडीन अनुपात से बोरिक एसिड में मिला लेना चाहिये) यह सबसे प्रचलित योग है। उद्देश्य स्राव को सुखाना ही रहता है—बोरिक के स्राव में घुल कर आयोडीन को मुक्त करता है—जो जीवाणु नाशन की क्रिया करता है—इस चूर्ण को निध्मापक (Insufflator) के द्वारा कान में ध्मापित किया जाता है।

शुल्वाधिकार के योग—"सल्फामेज़ाथीन" का भी उपयोग कार्य में होता है; परन्तु प्रयोग बहुत आशाजनक नहीं रहता, कई बार चूर्ण के उपयोग से बने खुरण्ड कर्णस्रोत को रुद्ध करके पैदा कर सकते हैं।

पेन्सिलीन—इसके घोल या चूर्ण का व्यवहार भी होता है; बहुमूल्य नहीं, हाँ, कोटरों में जैसे शंखकूट खात में इसका प्रयोग मूल्य सिद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य 'एण्टीबायटिकों' से बने बूंदों का जैसे 'क्लेरेमायसेटिन' 'सिन्थोमायसेटिन' से या 'टेरामाइसिन' आटिकड्राप इस काम में उत्तम लाभ दिखलाते हैं।

उपसर्ग के अन्य कारणों का दूर करना जैसे नासाप्रसनिका रोग, कोटरशोथ या वायुविवरशोथ (Sinusitis) इन रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये।

—ꝏ—

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

११

जीर्ण मध्यकर्णशोथ

व्याख्या—यदि मध्यकर्णशोथ का उपशम न हो तो उसका परिणाम जीर्ण मध्यकर्णशोथ में होता है 'अधिक दिनों से कान का स्राव जिसमें तीव्र शोथ का कोई भी चिह्न न हो।' संभवतः 'कर्णस्राव' नामक विशेष रोग इसी जीर्ण मध्यकर्णशोथ की अवस्था विशेष का ही नाम है।

लक्षण—स्राव सबसे प्रधान लक्षण है। यह स्राव पतले (Muco-purulent) से लेकर गाढ़े तक कई प्रकार का हो सकता है—कई बार बदबूदार भी हो सकता है इस अवस्था में इसकी प्राचीनों द्वारा स्वीकृत "पूतिकर्ण" की संज्ञा दी जा सकती है। कई बार यह स्राव इतना गाढ़ा होता है कि कर्णस्रोत के बाहर नहीं आता और स्रोत में तेल या मोम जैसे जमा रहता है।

बाधिर्य—प्रायः कुछ न कुछ रहता है। इसकी उपस्थिति अत्यन्त अल्प बधिरता से लेकर पूर्ण बाधिर्य तक कई रूपों में मिल सकती है। इसके अतिरिक्त भी भ्रम, ज्वर, प्रभृति कई लक्षण मिल सकते हैं; परन्तु ये उपद्रवरूप में मिलते हैं जब कि उपसर्ग का प्रसार नजदीक की रचनाओं में भी हो जाता है।

जीर्ण कर्णस्राव के सम्बन्ध में विचारणीय

जीर्ण कर्णस्राव के रोगियों में कई बातों के विचार या शोध कर लेने की आवश्यकता पड़ती है जैसे १. कर्णपटह की परीक्षा २. मध्यकर्ण-शोथ के कारण के अनुसार प्रकार[1] ३. कर्णार्श (या कर्णार्बुद) (Mass

1. Types of middle ear infection (1) Eustachian infection (2) Catarrhal otitis media (3) Mastoid infection (4) Attic suppuration (5) Presence of granulation Tissues or polypus.

SanjGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

granulaion or polypus or Cholestetome) ४. श्रवणज्ञान स्वरद्विशूल यंत्रपरीक्षा ६. अन्तःकर्ण परीक्षा ७. नाड़ीव्रणचिह्न (Fist symptom) ।

चिकित्सा—यदि इस बात का निर्णय हो जाय कि व्याधि अवस्थान बहुत गहराई में नहीं है, रोहणाङ्कुर या अर्श नहीं है अस्थि के कोथ अथवा 'कोलीस्टीटोमा' और पटह का केन्द्रीय छेद तो सुगम (Conservative) चिकित्सा का प्रारंभ करे । इस चिकि के दो ही उद्देश्य रहते हैं; प्रथम कर्ण की पूरी सफाई, द्वितीय स्राव शुष्क करना । सबसे सन्तोषजनक सफाई कान की पिचकारी से है । पहले कान में ['हाइड्रोजेपेरोक्साइड' की कुछ बूँदें डाल कर मिनट तक उसी में पड़े रहने देते हैं; फिर उसके बाद किंचित 'बोरिक लोशन' से पिचकारी के जरिये कान को धो लेते हैं। कान को रुई की पिचु से साफ करके सुखा लेते हैं और 'बो एसिड इन रेक्टीफाइड स्प्रिट' (१५ ग्रेन एक औंस में) द्रव का बूंद कान में छोड़ते हैं। इस चिकित्सा का परिणाम यह होता है स्राव बिल्कुल रुद्ध नहीं हो पाता साफ हो जाता और सूख जाता यह क्रिया दिन में एक बार अथवा स्रावाधिक्य में दो बार तक की सकती है ।

रामाबाण ओषधियों का पूरण (Instillation of Chemot raputical drugs)—'पेनीसीलीन' ड्राप और शुल्वाधिकार के का प्रयोग जीर्ण मध्यकर्णशोथ में कम सफल रहा है । अधिक प्रयोग हानि की भी संभावना रहती है इस दृष्टि से जीर्ण मध्यकर्णशोथ में ओषधियों का कोई विशिष्ट मूल्य नहीं ।

चूर्णों का आध्मापन बोरिक और आयोडीन चूर्ण आज भी उपयोगी ओषधि है यह उस समय के लिये उचित है जब कि गाढ़ा न हो या जहाँ पर कान की सफाई करके स्राव को कम कर गया हो । प्रारंभ में यह क्रिया नित्य की जाती है; परन्तु ज्यों ज्यों के सुधार में प्रगति नजर आवे अवकाश या अन्तराल देकर जा सकता है ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

अण्वायन (Ionization)—यह चिकित्सा की एक दूसरी पद्धति है। इसका भी उद्देश्य पूर्ववत् दो ही है—स्राव का विशोधन-उपसर्ग पैदा करने वाले जीवाणुओं का नाश जिससे स्राव का अभाव हो जाय या सूख जाय। यशद लवण (Zinc sulphate) का घोल भर कर इसमें कान के स्रोत में विद्युत् की धारा छोड़ी जाती है। सिद्धान्ततः इस क्रिया के द्वारा यशद के अणु मुक्त होते और उपसर्ग के सीधे सम्पर्क में आते हैं। यशद का घोल ׃% का बनाया जाता है और इसका पूरण मध्यकर्ण में ही करना होता है पश्चात् कान में भरे यशद द्रव के भीतर एक यशदशलाका (rod) रख दी जाती है और १५ से २० मिनट तक विजली की धारा चलायी जाती है। यदि अस्थि का नाश या शेहणाङ्कुर कर्ण में न हुआ हो तो यह चिकित्सा की पद्धति बहुत लाभप्रद है।

अन्यकारणों को दूर करना—यदि नासाप्रसनिका का कोई विकार हो तो उसे दूर करना आवश्यक है। यदि कर्णार्श तथा कर्णार्बुद (Granulation & Polypi) की उपस्थिति हो तो चिकित्सा के प्रारम्भ करने के पूर्व ही इनको दूर कर लेना चाहिये। इन विकारों की विद्यमानता इस बात को सूचित करती है कि पाक (Suppuration) बहुत बढ़ा हुआ है। अस्तु, इनके दूरीकरण का काम पहले कर लेना चाहिये बशर्त्ते कि उपद्रवयुक्त न हों। इनके आहरण हो जाने से कर्णस्राव में शीघ्र सुधार होता है।

कर्णार्श—(Granulaion) का लेखन एक विशेष प्रकार के लेखन यंत्र (Curette) के द्वारा जो इसी कार्य में व्यवहृत होता है—करना चाहिये। कर्णार्बुद (Polypi) यदि बहुत बड़े हों तो संदंशविशेष (A pair of tag forcep) और मृदु तार की जाली (Soft wire snare) के द्वारा निकालना चाहिये।

शस्त्रकर्म करने के पूर्व कान को १०००० के 'ए' 'ड्रेनेलीन द्रव' में भिगोकर प्लोत में भरकर रखने से रक्तस्तंभन होता रहता है। एवं रक्तस्राव अधिक नहीं होने पाता।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

इन अर्शों की अस्त्रचिकित्सा में सार्वदैहिक संज्ञाहरण के [...] क्रिया की जाती है; परन्तु छोटे छोटे अंकुरों को दूर करना हो तो [...] की आश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि 'क्रोमिक एसिडबीड' से अंकुरों [...] छुवाकर ही लेखन के द्वारा आहरण किया जा सकता है।

यदि रोग का अवस्थान बहुत गहराई में हो तो शस्त्रकर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।[१]

मध्यकर्णशोथ के उपद्रव:—

१. तीव्रगोस्तन प्रवर्द्धन विवरशोथ (Mastoiditis.)
२. अर्दित (Facial Paralysis.)
३. परिकोटर विद्रधि (perisinsus Abscess.)
४. पार्श्व शिरा कुल्यास्तम्भ (Lateral Sinus Thrombosis
५. घातक परिणाम (विषमयताजन्य) (Fatal Terminatio[n]
६. मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis.)
७. तीव्र मस्तिष्क विद्रधि (Acute Brain Abscess.) लघु मस्तिष्क तथा बृहन्मस्तिष्कगत।
८. कान्तारक शोथ (Labrynthitis.)
९. बहिर्मस्तिष्कावृति विद्रधि (Extra dural Abscess.)
१०. अश्मास्थिशोथ (Petrositis.)

शास्त्रीय चिकित्सा—कर्णशोथ में सामान्य व्रणशोथ की चिकि[त्सा] तथा कर्णपाक में क्षत विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिये। [...] कर्ण की चिकित्सा पहले ही बतायी जा चुकी है। कर्णस्राव, पूति[कर्ण] और कृमिकर्ण की चिकित्सा में समानता है।[२] जैसा कि पहले कहा [...]

१. Two operations are regarded as standard for this disease. Ra[di]cal Mastoid operation & Modified radical mastoid operation.

२. चिकित्सा कर्णशोथानां तथा कर्णार्शसामपि।
कर्णार्बुदानां कुर्वीत शोथार्शोर्बुदवद् भिषक्। (यो. र)
कर्णस्रावे पूतिकर्णे तथैव कृमिकर्णके।
समानं कर्म कुर्वीत योगान् वैशेषिकानपि।
शिरोविरेचनञ्चैव धूपनं पूरणं तथा।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

चुका है कि ये सभी विकृतियाँ मध्यकर्णशोथ की ही अवस्था विशेष हैं। अस्तु, इनकी चिकित्सा पूर्वोक्त पाश्चात्य वैद्यकोक्त विधानों से ही करनी चाहिये। यहाँ पर कुछ प्राचीन योगों का उल्लेख करके इस पाठ को समाप्त करने का विचार है। इन उपक्रमों का यदि अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों में भाषान्तर कर दिया जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि कर्णस्राव की चिकित्सा में प्राचीन तथा अर्वाचीन का कुछ भी अन्तर नहीं। हाँ, उनके योगों में या द्रव्यों में अन्तर जरूर है पर उपक्रमों के उद्देश्य और प्रक्रिया एक ही हैं। आचार्य सुश्रुत के अनुसार कर्णस्राव की चिकित्सा में अवस्थानुसार इन उपक्रमों के बरतने का उल्लेख मिलता है—

१. शिरोविरेचन (Irritants to re-establish drainage of Eustachian tube)
२. धूपन (Hot dry fomentation & antiseptic methods)
३. पूरण (Instillation or drops)
४. प्रमार्जन (Dry method of treatment, canal should be cleansed by mopping)
५. धावन (प्रक्षालन) (Syringing gently with lotions or decoctions)
६. अवचूर्णन (Powders to be introduced by means of insufflator)
७. आभ्यन्तरीय योग (Oral use of medicines to combat the increasing growth of Bacterias)

१. पूरण—सर्जिकाक्षार में नीबू का रस डाल कर कान में पूरण करें (Effervesence)। इससे बहुत कुछ कार्य हाइड्रोजेन पेरोक्साइड

प्रमार्जनं धावनं च वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ।
राजवृक्षादितोयेन सुरसादिगणेन वा ।
कर्णप्रक्षालनं कुर्याच्चूर्णैरेतैस्तु पूरणम् । (सु. उ.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सदृश हो सकता है। इसके द्वारा कर्णस्राव, पीडा और दाह का शमन होता है।

२. सर्ज (राल) की छाल का चूर्ण और कपास के फल का रस मिला कर कान में डालने से व्रण की सान्द्रता और पूयस्राव शीघ्र दूर होता है। इस क्रिया से कार्य सल्फा चूर्णों के अवचूर्णन सदृश होता है।

३. जामुन, आम, कैथ, कपासफल समान भाग में आर्द्र लेकर स्वरस निकाल कर मधु के साथ कान में छोड़ने से स्राव नष्ट होता है। इसी योग में सरसों, निम्ब और करञ्ज डाल कर तैल सिद्ध कर लिया जाय तो वह भी लाभप्रद होता है। (Astringentand anti-septics)

४. आम, जामुन, महुआ, बट और चमेली के पत्ते इन से पकाया हुआ तैल पूतिकर्ण में लाभप्रद है।

५. तिन्दुक, अभया, मंजिष्ठा, लोध, आमलकी, कपित्थस्वरस मधु के साथ मिलाकर पूरण करना स्रावापह है।

६. दूर्वा, सेहुण्ड, जामुन, आम के पत्र, कर्कटशृंगी, मण्डूकपर्णी से सिद्ध तैल स्रावापह पूरण होता है।

७. स्त्री के दूध में रसाञ्जन को घिसकर मधु में मिलाकर कान में पूरण करने से चिरकालीन स्राव या पूतिकर्ण में भी लाभ होता है।

८. निर्गुण्डी या मेउडी के स्वरस, सैन्धव, गृहधूम का चूर्ण और गुड़ मिलाकर पकाया तैल मधु मिलाकर पूरण करने से पूतिकर्ण का शमन होता है।[1]

९. शंम्बूक तैल—शंबूक (घोंघे) के मांस से सर्षप तैल को पका कर पूरण करने से कर्णनाडी में लाभ होता है।

१०. कुष्ठादि तैल—तिल तैल १ सेर, छागमूत्र ४ सेर कल्कार्थ कु-

१. निर्गुण्डीस्वरसैस्तैलं सिन्धुधूमरजोगुडैः।
पूरणः पूतिकर्णस्य शमनो मधुसंयुतः॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

हींग, बच, देवदारु, सोंठ, सैन्धव कुल २० तोले। यथाविधि पका तैल का कान में पूरण स्राव में लाभप्रद होता है।

११. चमेली के पत्तों के स्वरस में शहद मिलाकर प्रतिदिन कानों में डालना पूतिकर्ण को दूर करता है।

१२. केवल गोमूत्र का कानों में प्रक्षेप स्राव को कम करता है। इसमें हरताल का २ रत्ती महीन चूर्ण मिला लिया जाय तो और उत्तम लाभ होता है।

१३. कान को रूई से साफ पोछकर उसमें शुद्ध स्फटिका का महीन चूर्ण बनाकर छोड़ने से भी उत्तम लाभ होता है। यदि कानों में चूर्ण का संचय अधिक हो जाय तो बीच बीच में सरसों का तेल डालना चाहिये।

१४. हस्ती के विष्ठा के ढेर पर उत्पन्न हुए छत्रकों को लेकर पुटपाक विधि से स्विन्न करके निकाले हुए स्वरस में आधा सरसों का तैल तथा चौथाई सैंधव लवण मिलाकर कानों में डालते रहने से कर्ण-स्राव नष्ट होता है।

१५. निशा तैल—सरसों का तैल ८ पल, हरिद्रा एवं गंधक का कल्क १-१ पल, धतूर का स्वरस १० पल लेकर यथाविधि तैल को सिद्ध कर कान में पूरण करने से कर्णनाडी तथा जीर्ण कर्णस्राव ठीक होता है।

१६. कुम्भी तैल—जलकुम्भी का कल्क १६ तोले, सरसों या तिल का तेल ६४ तोले, जलकुम्भी का स्वरस २५६ तोले। तेल को मंद आँच पर पकाकर छान कर शीशी में भर ले।

इस तैल को कान साफ करके उसमें डालने से, कानदर्द, पकना या कान से मवाद का आना बन्द होता है। यह एक सिद्ध एवं अनुभूत योग है।

अवचूर्णन—(Insufflation or Dusting) १. समुद्रफेन के

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

चूर्ण को कर्णस्रोत में डालने से स्राव नष्ट होता है।'[1] २. लाक्षा, रसाञ्जन और सर्जचूर्ण का ध्मापन भी लाभप्रद है।[2]

कर्णप्रक्षालन—(Syringing) १. किंचिदुष्ण सुरभिजल (गोमूत्र) से प्रक्षालन करना। २. हर्रे, आमलकी, बिभीतक, मंजिष्ठा, लोध्र और तिन्दुक के क्वाथ से प्रक्षालन करना। ३. राजवृक्षादिगण या सुरसादिगण की ओषधियों से प्रक्षालन करना।

आभ्यन्तर प्रयोग—रास्नाद्य गुग्गुलु या त्रिफला गुग्गुलु २, २ वटी की मात्रा में दिन में तीन बार केवल जल से या शिग्रुकषाय के साथ देना उत्तम लाभप्रद योग है।

चित्रकहरीतकी—बालकों को जहाँ पर कर्णस्राव का हेतु नासाग्रसनिका (Naso Pharynx) के विकार प्रतीत हों इस योग की ६ माशे से १ तोले की मात्रा में दिन में दो बार गर्म दूध के साथ देने से अच्छा लाभ मिला है।

१२

कर्ण-बाधिर्य

(Deaf Mutuism or Nerve deafness)

व्याख्या हेतु *तथा सम्प्राप्ति*—'जब केवल वायु या श्लेष्मान्वित वायु शब्दवह स्रोत को रोक लेता है तब उससे बधिरता हो जाती है। इस रोग को बाधिर्य कहते हैं।'[3]

---

१. समुद्रफेनचूर्णन्तु न्यस्तं श्रवणसंस्रवे ।
पूयास्रावं व्रणं सान्द्रं हन्ति ध्वान्तमिवांशुमान् ।। (योर. र.)

२. लाक्षा रसाञ्जनं सर्जश्चूर्णितं कर्णपूरणम् ।

३. यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति ।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते ।। (मा. नि.)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

वही शुद्ध वायु कफ से संश्लिष्ट होकर शब्दवह शिरा में विविध ...ों को आवृत करके रुक जाती है। यदि ऐसा मनुष्य चिकित्सा नहीं ...ता है तो उस व्यक्ति को निश्चितरूप से बाधिर्य रोग हो जाता है।"[1]
शब्दवह सिरा का विकार कहने से (Nerve deafness of ...rious types) वातिक नाडीजन्य विकृति ज्ञात होती है।

वार्द्धक्य नाडीबाधिर्य—यह एक स्वाभाविक व्याधि (Physiologi-... disease) है। यह क्रमशः बढ़ने वाली बधिरता है। सामान्यतः ...ठ या सत्तर वर्ष की आयु के बाद ऐसा अनुभव होता है। इसी ... प्राचीनों ने 'वृद्धोत्थबाधिर्य' की संज्ञा दी है और चिकित्सा में ...ाध्य बतलाया गया है।

विषमयताजन्य नाडीबाधिर्य—कई प्रकार के रोगों में जैसे पाषाणगर्दभ ...स प्रकार की बधिरता आती है। इसका ठीक उद्भवकारण अभी तक ... नहीं है। कई बार आन्त्रिक ज्वर, रोमान्तिका, प्रभृति रोगों में यह ...ार आ जाता है।

व्यवसायजन्य नाडीबाधिर्य—कई काम-धन्धे वाले आदमियों में इस ...ार का बाधिर्य दिखलाई पड़ता है। जैसे बायलर बनाने वालों में ... फैक्टरी में काम करने वालों में। इनमें ऐसा होता है कि शब्दा-...ात से अन्तःकर्ण कोकिला का कुछ भाग नष्ट हो जाता है, इन में ...ा यह है कि शब्दों के पुनः पुनः एवं अनवरत (आघात) श्रवण ... उनके सम्बन्धी नाडीसमुदाय की अपक्रान्ति कर देते हैं।

भेषजजन्य नाडी बाधिर्य—क्विनीन, सैलिसिलेट के प्रयोग से भी ...धिर्य होता है। प्रथम तो यह अल्पकालीन रहता है, परन्तु अधिक ...त तक सेवन से उत्पन्न हुआ नाडीबाधिर्य स्थायी हो जाता है।

मानसिक नाडीबाधिर्य (Psychogenic)—यह रोग अधिकतर ...द्ध के काल में फैला है, इसमें अन्तःकर्ण की रचना में कोई विकार ...हीं रहता। फिर भी अभिघात और मर्माभिघात (Shock) इसकी

१. स एव शब्दानुवहा यदा सिराः कफानुयातो व्यवसृत्य तिष्ठति।
तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु॥ (सु. उ. २०

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

उत्पत्ति में कारणभूत होता है। चिकित्सा भी मानस शास्त्रियों
विषय है। इस अवस्था में मानसिक या आध्यात्मिक चिकि
करनी चाहिये।

वालोत्थ बाधिर्य या सबाधिर्य मूकता

(Deaf–Mutuism)

जो लोग गूँगे होते हैं वे प्रायः बधिर होते हैं। शब्द का ज्ञान न
सकने से ऐसे मनुष्य में उच्चारण की क्षमता नहीं विकसित हो पाती,
लिये वह रोगी यथार्थ शब्दोच्चारण नहीं कर पाता। इस अवस्था
बाधिर्य समूक या सबाधिर्य मूकता कहते हैं। यह दो प्रकार की
सकती है, १. सहज (Congenital) २. जन्मोत्तर (Acquired)

सहज—अन्तःकर्ण के श्रवणयन्त्र (Labyrinth) का अभाव
अपूर्ण विकास या अपूर्ण बनावट (Mal development) अथवा स
विकार पैदा करनेवाली (फिरङ्गादि) व्याधियों के कारण गर्भाशय
भीतर की विकृतिजन्य यह विकार होता है।

जन्मोत्तर—प्रारम्भिक आयु में कान के रोग जैसे मध्यकर्णशो
'एडीनायड्स' आदि या उपसर्ग-विशेष के कारण होने वाले रोग का
हैं। मस्तिष्क सुषुम्ना मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कावरण के सा
अन्तःकर्ण की विकृति हो जाने के कारण होता है। आयु के प्रारम्भि
दिनों में इसका निदान कठिन होता है क्योंकि उस आयु में सभी
बोलना सीखते रहते हैं। कई बार अन्तःकर्ण कोकिला (Cochlea
का आंशिक भाग विकृत होता है, ऐसा या तो किसी रोग के का
या अविकास (Mal development) के कारण हो जाता है।
अवस्था में इन व्यक्तियों में श्रवण के द्वीप (Islands of hearing
बन जाते हैं। अर्थात् श्रवणेन्द्रिय के किसी एक भाग से ये ही सुनते
समूचे से नहीं।

मूक बाधिर्य (Deaf-Mutuism)—की कोई सफल चिकित्सा न
है, ऐसे रोगियों की आवाज कर्कश, कांस्यपात्रस्वन (Metallic)
विरक्तिकर (Un-interesting) होती है। इस अवस्था की प्रा

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

संज्ञा 'बालोत्थ बाधिर्य' है। चिकित्सा में ऐसे रोगी अचिकित्स्य बतलाये गये हैं।

बाधिर्य (Deafness)—जन्मोत्तर पाये जाने वाले बाधिर्य में वातिक नाडीजन्य बधिरता होती है। कई बार बाह्यकर्ण की विकृतियों में कर्णस्रोत का अवरोध (जैसे कर्णगूथ, कर्णविद्रधि, बाह्य-शोथ, स्रावाधिक्य के कारण), कान के पटह के सछिद्र होना या जीर्ण होना, मध्यकर्ण के विकारों में शोथ या पाकोत्पत्ति, अन्त:कर्ण विकारों में कोकिला या कान्तारक के विविध कारण बाधिर्योत्पादन होते हैं। तीव्र प्रतिश्याय में भी बधिरता होती है।

चिकित्सा—कारणों के अनुसार की जाती है फिर भी कुछ सामान्य जो शास्त्रीय वर्णनों में पाये जाते हैं उनका उल्लेख नीचे किया गया है।

सामान्यतया बाधिर्य वाले रोगियों को क्रोध, मैथुनाति सेवन, रूक्षा-विहार का परिहार करना चाहिये। चिकित्सा में वातनाशक प्रयोगों काम में लाना चाहिये। वात रोगाधिकार में पठित माषादि, नारायणादि तैलों को कान में भरना उत्तम है।[1]

'कर्णशूल, कर्णनाद, बाधिर्य और क्ष्वेड में एक ही चिकित्सा का क्रम अर्थात् वातघ्न उपक्रमों को ही रखना चाहिये। 'सभी प्रकार के कर्ण के रोगों में विशेषत: बाधिर्य में घृतपान कराना चाहिये, घृत कर्ण रोगों में रसायन है। एवं कटु तैल का पूरण कराना चाहिये।'[2]

अपामार्गक्षार तैल—अपामार्ग पचाङ्ग को अच्छी तरह जलाकर एक सेर लेवे, छः सेर पानी में रात भर भिगो दे, फिर उस क्षार-जल

१. वातोक्तं माषतैलादि बाधिर्यादौ तु योजयेत्।
वर्जयेद् मैथुनं क्रोधं रूक्षं बाधिर्यपीडितः॥ (भै. र.)

२. कर्णशूले कर्णनादे बाधिर्ये क्ष्वेड एव च।
पूरणं कटुतैलेन हितं वातघ्नमौषधम्॥ (यो. र.)
सामान्यं कर्ण-रोगेषु घृतपानं रसायनम्। (सु.)
वातव्याधिषु यश्चोक्तो विधिः स च हितो भवेत्॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

में अपामार्ग का ही कल्क डाल कर तिल तैल सिद्ध करे, इसके पू
से कर्णनाद और बाधिर्य शान्त होता है।

बिल्व तैल—बिल्वमज्जा (कच्ची) एक पाव, गोमूत्र एक से
कल्क बनाकर, तिल तैल एक सेर, गोदुग्ध एक सेर डालकर सि
किया तैल। इससे कर्णनाद और बाधिर्य शान्त होता है।

काकजंघा तैल—काकजंघा स्वरस एक सेर लेकर उसमें एक पाव
डालकर सिद्ध कर ले। इसी तैल के पूरण से बाधिर्य में लाभ होता है
दशमूल तैल—दशमूल की ओषधियों के कषाय से सिद्ध
का पूरण करे।

नागरादि तैल—सोंठ, सेंधानमक, पीपल, नागरमोथा, हींग, घोड़
और लहसुन प्रत्येक का एक एक तोला, मदार के पके पत्तों
डेढ़ सेर, पलाशपत्र का स्वरस डेढ़ सेर और तैल डेढ़ पाव विधि
सिद्ध किये तैल के कर्णपूरण से कर्णनाद एवं बाधिर्य में लाभ होता

लशुनाद्य तैल—लहसुन की गिरी, आँवला तथा हरताल प्र
२ तोला लेकर कल्क बनाकर; तिल तैल २४ तोला, दुग्ध ९६ तो
सम्यक् पाकार्थ जल चतुर्गुण मिलाकर यथाविधि सिद्ध कर तैल
निर्माण करे। इस तैल का पूरण (कान में भरना) बाधिर्य
अच्छा लाभ करता है।

आभ्यन्तर प्रयोग—१. दशमूलादि कषाय, दशमूल, त्रिफला,
फल, वच और भारंगी प्रत्येक का एक तोला लेकर क्वाथ बनाकर
रूप में त्रिकटु और भुनी हींग डाल कर पीने से बाधिर्य ठीक होता है

२. काली मुसली और बाकुची समान भाग में लेकर चूर्ण करे।
से तीन माशे की मात्रा में प्रातः सायं खाने से बाधिर्य नष्ट होता है

साध्यासाध्यता—जो बाधिर्य बालकपन से हो, बुढ़ापे के कारण
या बहुत पुराना हो गया हो उसकी चिकित्सा व्यर्थ है, वह अस
है।[1] शेष साध्य होते हैं।

---

२. बाधिर्यं बालवृद्धोत्थं चिरोत्थञ्च विवर्जयेत् ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

शालाक्य तन्त्र

नेत्ररोगाध्याय

(Diseases of the Eye or Pathological Conditions of the Eye)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalg

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे शिरागते ते बहुधा च नेत्रे।
ता म्रक्षणोद्वर्त्तनलेपनादीन् पादप्रयुक्तान्नयने नयन्ति॥
मलौष्ण्यसंघट्टनपीडनाद्यैस्ता दूषयन्ते नयनानि दुष्टाः।
भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मादुपानदभ्यञ्जनधावनानि॥(अ.हृ.उ.

चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यैर्यत्नः कर्त्तव्यो जीविते यावदिच्छा
व्यर्थो लोकोयं तुल्यरात्रिर्दिवानां पुंसामन्धानां विद्यमानेऽपि वि
त्रिफलारुधिरस्रुतिर्विशुद्धिर्मनसो निर्वृतिरञ्जनं सनस्यम्।
शकुनाशनता सपादपूजाघृतपानञ्च सदैव नेत्ररक्षा॥
अहितादशनात्सदा निवृत्तिर्भृशभास्वच्चलसूक्ष्मवीक्षणाच्च।
मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत् परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम्॥
(अ० हृ० उ. १

पैर के तलवे में दो मोटी सिरायें हैं जो ऊपर में सिर तक पहुँच हैं और नेत्र में जाकर बहुत सी शाखाओं में बँट जाती हैं। अतः पैर में प्रयुक्त उद्वर्त्तन और लेप का प्रभाव नेत्रों तक पहुँचता और रक्षा करता है

इसके विपरीत मल, उष्णता, रगड़ या दबाव प्रभृति का पैर में हु प्रभाव नेत्रों को हानि पहुँचाता है। अस्तु, दृष्टि के हित के लिये मालि धोना और जूते का पहनना आवश्यक है।

यदि जीने की इच्छा हो तो नेत्र की रक्षा में मनुष्य को सदैव त रहना चाहिये, क्योंकि धन रहने पर भी अंध के लिये दिन और र समान होती है, संसार व्यर्थ जान पड़ता है।

त्रिफला, रक्तविस्रावण, शोधन, मानसिक निवृत्ति, अंजन, नस्य मांसाहारी पक्षियों के मांस का सेवन, पैर की सेवा, घृतपान प्र आहार-विहारों के सेवन से नेत्र की रक्षा होती है।

अहित भोजन से परहेज करना, प्रकाशमान् चंचल या सूक्ष्म चीज़ के अधिक देखने से बचना, नेत्र की रक्षा के लिये श्रेष्ठ उपाय हैं निमिमुनि का उपदेश है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

१

नेत्ररोगों के सामान्य विवरण तथा नेत्र शारीर

प्राच्य और पाश्चात्य शालाक्य विषयक ग्रंथों में नेत्र में होने वाले [रोग]ों के विवरणों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है, और उनका [तुल]नात्मक दृष्टि से अध्ययन किये जाने पर उनके ऊपर निर्धारित [सम]न्वयात्मक ज्ञान गूढ़ व्याधियों को भी यथार्थ में स्पष्ट कर देता है। [प्राची]न ग्रन्थों में नेत्र रोगों का बड़ा विशद वर्णन पाया जाता है। [और] इनकी विशेषता प्राचीन ऋषियों के सूक्ष्म निरीक्षण (Observa-[tion]) में है। सुश्रुत के अनुसार नेत्रगत रोगों की संख्या ७६ है।[१]

---

१. षट्सप्ततिविकाराणामेषा संग्रहकीर्तना ।
नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः ।।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ।
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ।।
वाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ।
वाताद्दश तथा पित्तात्कफाच्चैव त्रयोदश ।।
रक्तात् षोडश विज्ञेयाः सर्वजाः पञ्चविंशतिः ।
तथा बाह्यौ पुनर्द्वे च रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ।।

अनुवाद—अर्थात्—नेत्र में होने वाले कुल विकार ७६ बतलाये गये हैं जिनमें [९ स]न्धिगत, २१ वर्त्मगत, ११ शुक्लगत, ४ कृष्णगत, १७ सर्वाश्रय, १२ दृष्टिगत [तथ]ा वाह्य दो होते हैं जो परम दारुण होते हैं। दोषों के अनुसार गणना की [जाय] तो वायु से दस, पित्त से दस, कफ से तेरह, रक्त से सोलह, सान्निपातिक [पच्ची]स और वाह्य दो, कुल मिलाकर ७६ हो जाते हैं। बाह्य जो दो प्रकार के नेत्र [रोग हो]ते हैं वे आगन्तुक के भेद हैं इन में एक सन्निमित्त—जो अभिघातज होता है [दूसर]ा अनिमित्त सुरर्षिगन्धर्वदर्शनादिकारणों से दृष्टिशक्ति का नष्ट हो जाना है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

आचार्य चरकने दोष प्रधानता की दृष्टि से और दोषपरक सिद्धान्तों के आधार पर नेत्ररोगों को चार माना है। वाग्भट तथा शार्ङ्गधर ने रोगों की संख्या ९४ बतलाते हैं।

आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में रोगों की कोई विशेष संख्या निर्धारित की गई नहीं मिलती तथापि प्राचीनों के वर्णनों के भीतर सभी आधुनिक नेत्रगत विकारों (Pathological conditions of the Eyes) का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

नेत्र रोगों के सामान्यतया हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा आधुनिक रोगों के वर्णनों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। फलतः इनका तुलनात्मक विचार आगे पृष्ठों में रखा गया है। रोगों के आधुनिक पर्याय तथा आनुमानिक साम्य निम्नलिखित बातों के ऊपर निर्भर करता है यथा:—

१. रोग का अधिष्ठान
२. रोग का लक्षण
३. पूर्वापर विषय
४. अन्यग्रन्थोक्त विषय
५. आधुनिक लक्षण
६. साध्यासाध्य विवेक
७. चिकित्सा के उपक्रम

अत एव उपर्युक्त बातों को ही ध्यान में रखते हुए प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारों में सामञ्जस्य-स्थापना की चेष्टा की गई है।

आचार्य सुश्रुत ने उत्तरतंत्र में जहाँ उत्तमाङ्गस्थान अथवा शालाक्यतंत्र का वर्णन प्रारंभ किया है—उस स्थल पर सर्वप्रथम नेत्र रोगों का ही प्रसंग आता है। डल्हण ने इसका कारण यह बतलाया है कि 'सभी इन्द्रियों में प्रधान इन्द्रिय नेत्र है अतएव उसका प्रथम उल्लेख तथा वर्णन करने के तत्पश्चात् कर्ण, नासा और शिरोरोगों का प्रसंग दिया गया है।'

सुश्रुतानुसार नेत्र शारीर (Anatomy)—आचार्य सुश्रुतने अपनी परिभाषा के अनुसार नेत्र या नयन का अंतःप्रवेश (गहराई), आयाम और विस्तार (लम्बाई एवं चौड़ाई) के मान या माप तथा आकृति का वर्णन किया है। उन्होंने आँख को नयन बुद्बुद् या नेत्र बुद्बुद् बतलाया है जिसका अर्थ अक्षिगोलक या नेत्रगोलक होता है। अंग

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में भी इसका अविकल पर्याय 'आई बाल' Eye ball) करके ही वर्णन मिलता है। इस प्रकार नेत्र की स्थूलता अंतःप्रवेश्यस्थान या गहराई दो अङ्गुष्ठोदर के प्रमाण की मानी जाती । यह अङ्गुष्ठोदर अपने अपने अङ्गुष्ठोदर के अर्थ में है किसी दूसरे क्ति के अङ्गुष्ठोदर से मापने से यह छोटी बड़ी भी हो सकती है; न्तु व्यक्ति भेद से उसकी गहराई स्वांगुष्ठोदर से दो ही की होती है। र्थात् नेत्र गोलक की भीतरी लम्बाई अर्थात् कर्णिका (Cornea) से नाडी (Optic Nerve) तक का व्यास २ अङ्गुष्ठोदर अर्थात् दो गुल का होता है। जैसा कि डल्हण ने लिखा है :—'द्व्यङ्गुल बाहुल्य-मन्तःप्रवेशं विद्यात्। इत्याह स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मित्, एतेनैतदुक्तं ति स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मितं यदङ्गुलं तदङ्गुलद्वय प्रमाणं नेत्र बुद्बुदस्यान्तः शं विद्यात्।'

इसी प्रकार नेत्र गोलक आयाम (लम्बाई) बाहर से लेने पर अपांग कनीनिकातक (Antero-Posteior Diameter) ३ अङ्गुल से र २३ अङ्गुल तथा विस्तार (Vertical Diameter) बाहर से लेने ढाई अङ्गुलों का ही होता है। इस तरह सब ओर से नेत्रगोलक परि-न गोल होने से ढाई अङ्गुल का ही ठहरता है। फलतः सुश्रुत ने के आकार को 'सुवृत्तं गोस्तनाकारं' अर्थात् गोल एवं अण्डाकार बत-ता है, एवं इसकी उपमा गोस्तन या पक ताजे गाम्भारी या द्राक्षा-ल से दी है। अङ्गुली का माप व्यक्ति विशेष की अंगुलि ही ठीक ccurate) बैठता है। फिर भी एक औसत मान माना जा सकता है।[1]

नेत्र गोलक को सर्वभूत-गुणोद्भव माना जाता है अर्थात् इसकी त्ति सभी भूतों से तथा भूतों के गुणों से होती है। इसमें सभी तों से सिरा, स्नायु, अस्थि और अश्रुमार्ग के सहित नेत्र बुद्बुद उत्पन्न ता है एवं भूतों के गुणों से नेत्रगत रक्त, श्वेत तथा कृष्णवर्णता उत्पन्न

1. विद्याद्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् ।
द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्द्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम् ।
सुवृत्तं गोस्तनाकारं सर्वभूतगुणोद्भवम् ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

होती है। कुछ व्याख्याकारों ने गुण शब्द से भूतगुण न मानकर ... प्रसाद (पंचभूत प्रसाद) माना है; परन्तु यह व्याख्यान जेज्जट ... रुचिकर नहीं मालूम हुआ अस्तु, डल्हण ने भी गुण का प्रसाद ... अर्थ ग्रहण नहीं किया है।

इसके पश्चात् जिन भूतों से (पंचमहाभूतों से) नेत्र गोलक ... आरम्भ होता है अथवा जिन से आँखों में रक्तादिवर्णों या भागों ... उत्पत्ति होती है उसका दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य की उक्ति है ... पल (मांस का भाग) अर्थात् ठोस भाग पृथिवीभूतसे, अग्नि ... पित्तरूप रक्तवर्ण का भाग (लाल हिस्सा), जल नामक महाभूत ... नेत्रगत श्वेत भाग की तथा आकाश नामक महाभूत से अश्रुमार्गों ... उत्पत्ति होती है।[1]

इसके बाद आचार्य ने कृष्ण-मण्डल तथा दृष्टि का माप बतला ... है। नेत्र विशारद अर्थात् विदेह की उक्ति है कि नेत्रों के आयाम ... तृतीयांश परिमाण का कृष्ण-मण्डल होता है एवं कृष्ण-मण्डल ... सातवाँ भाग दृष्टि का होता है। अन्य शालाकियों का मत है कि इस ... परिमाण मसूर की दाल के बराबर का होता है। जैसा कि आगे ... वर्णनों से स्पष्ट होगा।[2] यहाँ पर एक शंका उठती है कि 'आतुरोप ... णीयाध्याय' में दृष्टि का परिमाण बतलाते हुए सुश्रुतने लिखा है '... स्तारकांशो दृष्टिः' अर्थात् तारक (कृष्णमण्डल) का नवाँ भाग दृष्टि ... है और यहाँ पर सप्तमांश लिख रहे हैं, यह विरोधाभास कैसे। इस ... समाधान में डल्हण ने लिखा है कि महापुरुषों तथा पूर्णायु का ... करनेवाले व्यक्तियों की विशेषता के अनुसार भिन्नता है ऐसा सम ...

---

१ पलं भुवोऽग्नितो रक्तं वातात्कृष्णं सितं जलात्।
आकाशादश्रुमार्गाश्च जायन्ते नेत्रबुद्बुदे॥

२. दृष्टिं चात्र तथा वक्ष्ये यथा ब्रूयाद्विशारदः।
नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते।
कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

चाहिये। इसके अतिरिक्त कई अन्य भी इसके समाधान पंजिका में …क हैं जिनका विस्तार-भय से उल्लेख नहीं किया गया है।

सूत्र में यदि उपर्युक्त परिमाणों को लिया जाय तो सिद्धान्त इस प्रकार का ठहरता है[1]—

नेत्र का अन्तःप्रवेश्यस्थान (Vertical diameter) = २ अंगुल
" आयाम (Antero-Posterior diameter) = २½ अंगुल
" विस्तार (Horizontal diameter) = २½ अंगुल
" कृष्णमण्डल—विस्तार का तीसरा भाग = $\frac{5}{2}$ का $\frac{1}{3}$ = $\frac{5}{6}$ अंगुल
" दृष्टि—कृष्णमण्डल का सातवाँ भाग = $\frac{5}{6}$ का $\frac{1}{7}$ = $\frac{5}{42}$ अंगुल
मसूरदाल मात्र

यह माप बिल्कुल ठीक (Accurate) है अपने-अपने अंगुष्ठोदर परिमाण से अपने-अपने नेत्रगोलकों का माप इतना ही होगा। …आजकल के वर्णनों में औसतन विचार किया जाता है जो प्राचीनों के …तों से अधिकांश में मिलता-जुलता है। दृष्टि का विशेष वर्णन दृष्टि-रोगों के अध्याय में आगे किया जायगा।

आधुनिक ग्रन्थों में नेत्रगोलक का अनुलम्ब (पूर्व-पश्चिम) व्यास (Antero-Posterior or sagital diameter) बाह्य भाग २४·१५ मिलीमीटर (१·०२३ इञ्च) और भीतर के भाग में २२·१२ मिलीमीटर …बताया गया है। नेत्र के दोनों कोनों के बीच का अनुप्रस्थ (उत्तर …) व्यास (Horizontal diameter) २४·१३ मिलीमीटर और …खड़ाव्यास (Vertical diameter) २३·४८ मिलीमीटर का …माना गया है। सामान्यतः स्थूलरूप में नेत्रगोलक-व्यास सब …लगभग एक इञ्च का है। सामान्यतः जन्म के समय में सबल …के नेत्र का अनुलम्ब व्यास लगभग १७·५ मिलीमीटर और युवा-…में पहुँचने पर २०·२१ मिलीमीटर होता है फिर पूर्ण वृद्धिकाल …२४·१५ मिलीमीटर का हो जाता है। अनुलम्ब व्यास यह अनुप्रस्थ …उत्तान व्यास की अपेक्षा अधिक होता है। उत्तान (Vertical)

1. सर्वतः सार्द्ध द्व्यङ्गुलं अर्धतृतीयाङ्गुलम्। (डल्हण)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

व्यास सबसे न्यून है। पुरुषों के तीनों व्यास स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं।

देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो नेत्रगोलक के दो भाग होते हैं। आगे के हिस्से में ⅙ भाग जो अवस्थित है और जो घड़ी के काँच के समान दीखता है उसे कृष्ण मण्डल कहते हैं यह पारदर्शक है। शेष रहा हुआ ⅚ भाग जो अपारदर्शक है उसे नेत्र का वाह्य-पटल कहा जाता है। दृष्टिमण्डल का आयाम यदि कनीनिका का आयाम मान जाय तो आधुनिक ग्रंथों में यह लिखा है कि कनीनिका व्यास सब मनुष्यों में समान नहीं होता लगभग २·५ मि. मी. से ६ मि. मी. तक का होता है। कृष्णमण्डल का आड़ा व्यास ११·६ मि. मी. का होता है।

नेत्र के *भाग*—सुश्रुत ने नेत्ररचना तथा रोगाधिष्ठान-वर्णन की इच्छा से नेत्र को तीन भागों में बाँटा है—मण्डल, सन्धि और पटल। इनमें मण्डल पाँच, सन्धियाँ छः तथा पटल भी छः होते हैं।[1] मण्डलों को पाश्चात्य ग्रन्थोक्त परिभाषा के अनुसार 'सर्किल्स' (Circles) सन्धियों को जंकशन्स (Junctions) और पटलों को 'लेयर' या 'ट्यूनिक' (Layers or Tunic) कहा जाता है। नेत्र में ये मण्डल क्रमशः एक के बाद दूसरी पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि नाम से पाये जाते हैं।

मण्डल—इनकी संख्या पाँच होती है।

१. *पक्ष्म-मण्डल*—(Intermarginal circular area)—अंग्रेजी नामकरण में 'आई लैशेज (Eye lashes) कह सकते हैं। ऊपर और नीचे की पलकों में जो पक्ष्म (रोम या केश) होते हैं वे मिलकर मण्डल या गोलाकार आकृति सी बना देते हैं।

---

१. मण्डलानि च सन्धींश्च पटलानि च लोचने।
यथाक्रमं विजानीयात्पञ्च षट् च षडेव च॥
पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि च।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

२. वर्त्म-मण्डल—(Palpebral area) ऊपर और नीचे के नेत्र-च्छदों के मिलने से एक 'सर्किल' सा बन जाता है। इसी को अंग्रेजी में 'टार्सी' या (Eyelids) कहा जाता है।

वास्तव में पक्ष्म एवं वर्त्म नेत्र के अङ्ग नहीं बल्कि उपाङ्ग हैं। इनकी बनावट में दोनों पलकों के बाहर की ओर त्वचा है। उसका रङ्ग अन्य त्वचा के समान है। पलकों के भीतर श्लैष्मिक कला का आवरण है। त्वचा और आवरण का जहाँ संगम होता है इस स्थान को पलक किनारा या वर्त्मान्त भाग कहा जाता है। इस किनारे में एक श्वेताभ रेखा प्रतीत होती है। उस रेखा पर बालों की एक-एक पंक्ति है। इस रेखा के नीचे निरीक्षण करने पर छोटे-छोटे छिद्र मालूम पड़ते हैं। पलकों को दो कठोर पदार्थों के भीतर दबा दिया जाय तो उन छिद्रों से श्वेत गाढ़ा एक प्रकार का स्राव निकलता है। यह पदार्थ पलकों के भीतर स्थित जल-पिण्डों (Meibomian glands) में बनता है। इससे दोनों पलक ऐसे स्थिर बन्द हो जाते हैं कि वायु तक का भी प्रवेश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त बालों (बरौनी) के मूल में कई जल पिण्ड (Zeis glands) होते हैं। इनके स्राव से बरौनी तर या नम रहती और बालों या पक्ष्मों का पोषण भी होता है।

ऊपर जो श्वेताभ रेखा कही गई है उसका विशेष महत्त्व परवाल शस्त्रक्रिया से है। जब यह कर्म किया जाता है तो इस रेखा में शस्त्र प्रवेश कराके पलकों में इस प्रकार का चीरा दिया जाता है कि पलक के दो विभाग हो जाते हैं। ऊपर के विभाग में त्वचा, मांस, पेशी और पलक धारा के बाल तथा निम्न भाग में तरुणास्थि एवं नेत्र श्लेष्मावरण रहते हैं। पलकों के बाहर की पर्त्त त्वचा की और उसके नीचे की पर्त्त मांस पेशी की आती है।

इस वर्त्म से सम्बन्धित माँस-पेशियाँ दो हैं—नेत्रोन्मीलनी और नेत्र निमीलनी। पेशियों के नीचे का भाग तरुणास्थिच्छद पत्रक(Tragus) है। इस कोमलास्थि के हेतु ही पलक का आकार बना रहता है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

दोनों पलकों की धारा के भीतरी सिरे पर दो छिद्र होते हैं जिन्हें अश्रुद्वार कहते हैं। यह अश्रुद्वार एक ऊपर की पलक में दूसरा नीचे की पलक में होता है।

३. श्वेत-मण्डल (Sclerotic circular area)—इसे 'कञ्जंक्टाइवल' सैक कह सकते हैं। पलक की धारा से प्रारम्भ होकर पलक के भीतर की ओर आकर, समस्त नेत्रगोलक पर श्लैष्मिककला का पतला आच्छादन होता है उसे नेत्र श्लेष्मावरण निर्मित श्वेत मण्डल कहा जा सकता है। बाहर से देखने पर जो नेत्र का श्वेत भाग दिखलाई पड़ता है वह श्वेत मण्डल (Sclera) है। वास्तव में रोगों के वर्णनों के प्रसङ्ग में जो रोगों का वर्णन आगे पाया जाता है उसमें केवल नेत्रश्लेष्मावरण की व्याधियों (Diseases of the conjunctiva) का ही वर्णन मिलता है। अस्तु, श्वेत मण्डल से निश्चित रूप से 'कञ्जंक्टाइवल सैक' का ही ग्रहण करना चाहिये।

४. कृष्ण-मण्डल (Uveal, Iris and Corneal area)—बाहर से देखने पर जो आँख में काला भाग दिखलाई देता है उसे कृष्णमण्डल की संज्ञा प्राचीनों ने दी है। इसे आधुनिक भाषा में 'कार्नियल सर्किल' (Corneal circle) कहा जा सकता है। नेत्र गोलक के अग्र भाग में जो काला सा पारदर्शक स्थान है उसे कृष्ण मण्डल कहा जाता है।

यह भाग समस्त चक्षु के ऊपर घड़ी का काँच जैसे एक गोल ... पर बैठाया गया हो, उसी प्रकार का प्रतीत होता है। वह पारदर्शक और चमकीला दीखता है। कृष्णमण्डल बाह्य-गोल है और नेत्र के बाह्य पटल के साथ चपकाया सा प्रतीत होता है, आगे से देखने पर वह अण्डाकार विदित होता है। उसका आड़ा व्यास ११·६ मि० मी० तथा खड़ा व्यास (Vertical Diameter) १०·६ मि० मी० का होता है। इसके मध्य का ⅓ भाग पूर्णतया बाह्य गोल शेष ⅔ भाग चिपटा सा है। शेष भाग अन्तर्गोल है। मध्य भाग में वह पतला और परिधि के भाग में कुछ मोटा होता है। युवावस्था तक कृष्णमण्डल पूर्णतया पारदर्शक रहता है फिर कितने मनुष्यों में वृद्धावस्था प्रारम्भ होते ही शुक्लमण्डल की परिधि का भाग अपारदर्शक (Opaque) और श्वेत ...

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

ने लगता है । इस अवस्था को वृद्धावस्था जन्य श्वेत परिधि (Arcus nilis) कहा जाता है । यह स्थिति किसी प्रकार का रोग नहीं है; तु वृद्धावस्था जनित एक स्वाभाविक विकार है । इससे दृष्टि को सी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती ।

दृष्टि-मण्डल (Pupillary Circular area)—इसको 'सर्किल ऑफ दी प्युपिल' कह सकते हैं । इस मण्डल का संक्षिप्त वर्णन आधुनिक यों के आधार पर इस प्रकार का मिलता है । तारामण्डल (Iris) प्रकार का पर्दा है । यह कृष्णमण्डल (Cornea) के पीछे जो जलमय का खण्ड है, उसके पीछे रहता है । इसका रंग भारतवासियों में काला और गोरे मनुष्यों में भूरा होता है । भारत में भी किसी-किसी के नेत्र में भूरे रंग का दीखता है । जो लोग जन्म से ही रंग-हीन या भूरे होते हैं उनके तारामण्डल का रंग रक्ताभ भूरा होता है । तारामण्डल, सूक्ष्म-मृदु और एक रंगदार पर्दा है ।

तारामण्डल (Iris) के बीच में एक गोल छिद्र रहता है उसे कनीनिका (Pupil) कहते हैं । कनीनिका में संकोच एवं विकास का गुण रहता है । नेत्र पर जब प्रकाश गिरता है तो कनीनिका संकुचित होती है । जब प्रकाश हटा दिया जाता है तो संकोच दूर हो जाता और वह पुनः विस्तृत हो जाती है । इसी प्रकार जब मनुष्य दूर तक देखता है तब कनीनिका चौड़ी होती है और जब समीप देखता है, तब संकुचित होती है । भय, विस्मय और शारीरिक दुःख इन सब हेतुओं से कनीनिका विस्तृत होती है । निद्रा में कनीनिका संकुचित रहती है ।

तारामण्डल के दो मुख्य कार्य हैं १. नेत्र में प्रवेश करनेवाले प्रकाश और दृष्टि-किरणों को केवल कनीनिका के अतिरिक्त नेत्र-गोलक के भीतर में प्रवेश न होने देना । २. कनीनिका के संकोच और विकास से नेत्र के समीप और दूर की वस्तुओं को स्पष्ट देखने की शक्ति देना ।

कुछ विद्वानों के विचार से दृष्टि का अर्थ नेत्र काच (Lens) होता है जिसका प्रसंग आगे आयेगा ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

सन्धि—दो भागों के मिलने के स्थान को संधि कहते है। अं में इसका पर्याय 'जंक्शन' है। नेत्र में छः संधियों का वर्णन आच ने किया है।[1]

१. *पक्ष्मवर्त्मगत सन्धि* (Ciliary Junction)—पलकों में पर बरौनी लगी रहती है, पलकों को वर्त्म (Eyelids) और बरौनी पक्ष्म (Eye lashes) कहा जाता है, जहाँ पर इनका संयोजन है उस संधिविशेष को पक्ष्मवर्त्मसंधि कहते हैं।

२. *वर्त्म शुक्लगत सन्धि* (Fornix)—पलक की धारा से प्रा करके पलक के भीतर की ओर आकर समस्त नेत्रगोलक पर श्ले त्वचा का जो महीन आच्छादन आ जाता है वह नेत्र श्लेष्मा (Conjunctiva) कहा जाता है। इसी का वर्णन 'श्वेतमण्डल' के से पूर्व में हो चुका है। यथार्थ में देखने पर इस रचना का आकार थैली जैसा होता है और उस थैली का मुँह ऊपर की ओर नीचे अक्षिपक्ष्म की धारा के पास मुक्त है, ऐसा जान पड़ता है। यह आव ऊपर की पलक की धारा के पास से प्रारम्भ होकर पूरी पलक के के भाग को आच्छादित करता है। ऊपर की पलक की धारा से भीतर की ओर एक लम्बी परिखा-सी मालूम होती है। उसमें बार क्षुद्र शल्य पहुँच कर नेत्र में व्यथा पैदा करते हैं।

यह आवरण ऊपर की पलक को आच्छादित करके नेत्रगोल जाता है जिस स्थान पर पलक और नेत्र गोलक (Palpebral Bulbur conjunctiva) के ऊपर मढ़े श्लेष्मावरण का संगम होता उसी संगम को प्राचीनों ने वर्त्म शुक्लगत सन्धि के नाम से अभि किया है। इस स्थान पर पाश्चात्य उल्लेखों के आधार पर चार में निम्न पुट बन जाते हैं।

---

१. पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः ।
शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः ॥
ततः कनीनिकागतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

(क) ऊर्ध्वपुट, ऊर्ध्ववर्त्म कोण (Superior fornix)
(ख) अधःपुट, निम्नवर्त्म कोण (Inferior „)
(ग) मध्यपुट—मध्यवर्त्म कोण (Medial „)
(घ) पार्श्वपुट—पार्श्ववर्त्म कोण (Lateral fornix)

३. *शुक्ल कृष्णगत संधि* (Limbus)—श्वेत मण्डल से (Sclera) स्क्लेरा' का ग्रहण करके जहाँ पर उसका कृष्ण मण्डल (Cornea) साथ संगम होता है उस स्थान को शुक्ल कृष्णगत संधि (Corneo-scleral junction) कह सकते हैं। यहीं पर 'स्लेम' का जलमार्ग Canal of Schlemn) भी अवस्थित है।

४. *कृष्ण दृष्टिगत सन्धि* (Pupillary Margin) यह कृष्णमण्डल और दृष्टि-मण्डल के बीच का संगमस्थल है। संभवतः इस संधिविशेष सन्धान-मण्डल (Ciliary body) का वर्णन हो। तन्तुमय समूह सन्धान मण्डल मुख्यतः तीन भागों से बना है—

(क) तन्तुमय मण्डल या सन्धान-वलयिका (Ciliary body).
(ख) तन्तुमय पुट या सन्धान दर्शिका (Ciliary processes).
(ग) तन्तुमय पेशी या सन्धान-पेशिका (Ciliary muscles).

५. *कनीनकगत सन्धि* (Interanl Canthus)—डल्हणाचार्य ने कनीनक को नासासमीपस्थित सन्धि विशेष बतलाया है। यह भाग नासा के समीप दोनों वर्त्मों के मिलने से बनता है। अंग्रेजी में यह 'इनर कैन्थस' कहलाता है।

६. *अपाङ्ग संधि* (Outer Canthus)—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण इस संधि की स्थिति भ्रू (भौं) के पुच्छ के अन्त भाग में स्थित करता है। यह दोनों वर्त्म के बाहर के संगमस्थल का द्योतक है। अंग्रेजी में इसे 'आउटर कैन्थस' कहते हैं।

वर्त्म (नेत्रच्छद या पलक) का प्रसंग मण्डलों के वर्णन में आ चुका है। ऊपर और नीचे के दो पलक होते हैं उन पलकों के भीतर भाग को नेत्रद्वार, पुटान्तरीया परिखा (Palpebral fissure) कहते हैं। जब पलक बंद होते हैं तब यह द्वार केवल एक दरार के

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

समान संकुचित रह जाता है। जब दोनों पलक पूरे खुलते हैं तो यह द्वार लगभग ३० मि० मी० लम्बा, १५ मि० मी० चौड़ा हो जाता है। यथार्थ में यह चौड़ाई केवल बीच के भाग में प्रतीत होती है, कोने की ओर जाने पर यह चौड़ाई कम होती जाती है। इस द्वार के दोनों कोनों को नेत्रकोण कहते हैं। भीतर के कोण को नेत्रान्तःकोण (Inner canthus) और बाहर के कोण को नेत्रबहिःकोण (Outer canthus) की संज्ञा दी गई है। इन दोनों अंगों की प्राचीन संज्ञा क्रमशः कनीनक तथा अपाङ्गगत संधि है।

बाह्यनेत्रकोण (कनीनक) एक न्यून कोण जैसा और अंतःकोण अण्डाकार छोटे खण्ड सदृश जान पड़ता है। अंतःकोण में अश्रु संगृहीत होता है और वहाँ से अश्रु छिद्र द्वारा नासिका में चला जाता है। इसी कोण में नेत्रपिण्ड (Caruncle Lacrimalis) रहता है।

पटल—आचार्यों ने नेत्र में छः पटलों का अवस्थान बतलाया है। उनमें वर्त्मपटल दो तथा अन्य चार और पटल होते हैं जो सीधे अक्षिगोलक से सम्बद्ध हैं—उनमें तिमिर नामक परम दारुण व्याधि (रोग) होती है। अक्षिगोलक के पटलों में बाहरी भाग तेजोजलाश्रित होता है। तेजः शब्द से आलोचक तेज का आश्रयभूत सिरागत रक्त तथा जल त्वचागत रस धातुविशेष (Blood vessels and lymphatics) समझना चाहिये। द्वितीय पटल मांसाश्रित (Muscular) तृतीय मेदाश्रित (Made of fatty tissues) और चतुर्थ अस्थ्याश्रित होता है। इनमें अक्षिगोलकगत पटलों की स्थूलता या मोटाई दृष्टि के पंचमांश के समान अर्थात् ($\frac{1}{42}$ का $\frac{1}{5}$) = $\frac{1}{42}$ अंगुल होती है[1]।

१. द्वे वर्त्मपटले विद्याच्चत्वार्यन्यानि चाक्षिणि।
जायते तिमिरं तेषु व्याधिः परमदारुणः।
तेजो जलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्।
मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम् (त्वक्षि चापरम्)
पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इन पटलों में वर्त्म पटल तो अक्षिगोलक के उपाङ्ग हैं—अक्षिगोलक पाये जाने वाले चार पटलों का विशेष वर्णन यहाँ प्रासंगिक है।

पाश्चात्य ग्रंथों में नेत्रगत तीन पटलों का वर्णन मिलता है। अंग्रेजी पटलों को 'ट्यूनिक आफ दी आई' कहते हैं। वह क्रमशः १. बाह्य मध्य तथा ३. अंतःपटल कहा जाता है। जैसे—

१. सौत्रिक पटल (Fibrous Tunic), नेत्रबाह्य पटल (Sclera) था कृष्ण मंडल (Cornea)

२. रक्तवाहिनीमय रंजित पटल (Vascular Pigment Tunic), तारामण्डल (Iris), नेत्र मध्य पटल या कृष्ण पटल (Choroid), धान मण्डल (Ciliary body),

३. नेत्रान्तर नाड़ी पटल (Nervous tunic), तथा दृष्टि वितान Retina).

पटलों की विस्तृत विवेचना—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि कुल पटल होते हैं—उनमें दो पटल वर्त्म में और शेष चार नेत्र गोलक रचना में पाये जाते हैं।

वर्त्मपटल—स्थूल दृष्टि से विचार करने पर ऊर्ध्वाधः भेद से ऊपर र नीचे के दोनों वर्त्म दो पटल हो जाते हैं—एक ऊपर का पलक दूसरा नीचे का। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करें तो वर्त्म पटल तथा आभ्यंतर भेद करना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।

बाह्य वर्त्म (Papebral Layer or external) तथा आभ्यंतर र्म (Papebral layer internal or Conjuctiva) भेद से वर्त्म पटलों का मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। पलक के री स्तर चर्म एवं मांस का निर्मित रहता है, इसमें वसाग्रंथि, कोचनापेशी, पक्ष्ममूल ग्रन्थियाँ तथा पक्ष्म (बरौनी या Eyelashes) रहते हैं। आभ्यन्तर स्तर या पटल एक पतली श्लेष्मलकला से र्मित रहता है। इसको (Conjunctiva) कहते हैं—इसमें से एक श्लेष्मलद्रव निकलकर पलकों को मृदु और सिक्त किये रहता है जिससे आँखों के खोलने और बन्द करने में आसानी रहती है।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इसमें अश्रु प्रणालियाँ एवं अश्रु ग्रन्थि रहती हैं जिनका मुख कनी- संधि में खुलता है जिसे प्रणाली मुख या (Panctum) कहते हैं।

पलकों का प्रधान कार्य नेत्र गोलक की रक्षा करना है। बाह्य क्षत, आघात, धूल, कृमि या कीट आदि से नेत्र की रक्षा इनका कार्य है। नेत्र को यथावश्यक स्निग्ध रखना यथा समय खोलना या बन्द करना भी इनका कार्य है।

नेत्र गोलक के पटल—तेजोजलाश्रित या बाह्य पटल—प्रथम पटल है इसे श्वेत पटल भी कहते हैं। नेत्र गोलक के सम्मुख दिखाई देने वाला पलकोंके बीच का श्वेत भाग श्वेत मण्डल कहलाता है।

इस पटल के दो भाग होते हैं—शुक्लपटल (Sclera)—यह गोलक का बाहरी सौत्र निर्मित भाग है जो गोलक के ⅚ भाग पर लगा रहता है। यह एक श्वेत वर्ण की लचकीली, घनी कला है जिससे नेत्र गोलक का आकार स्थिर रहता है। इसके आगे वाले भाग में कर्णिका (Cornea) लगी रहती है और पीछे का भाग दृष्टि नाड़ी (Optic Nerve) इसमें प्रविष्ट होती है। इस भाग पर नेत्र की पेशियाँ लगी रहती हैं।

कर्णिका—श्वेत पटल का आगेवाला, पारदर्शक भाग है। इसमें वात नाडी की शाखायें तो बहुत मिलती हैं, परन्तु रक्तवाहिनियों का अभाव पाया जाता है। यह शुक्ल पटल में घड़ी के कांच के समान लगी रहती है। यह सामने से उन्नतोदर, परन्तु पीछे से नतोदर होती है। पारदर्शक होने के कारण नीचे के कृष्ण मण्डल के भासित होने से यह कृष्ण वर्ण की दिखाई देती है—प्राचीन वैद्यक मत से इसी लिये यह कृष्ण मण्डल नाम से कथित हुई है।

आचार्य सुश्रुत ने इस बाह्य या आद्य पटल को तेजोजलाश्रित बतलाया है। आधुनिक रचना शारीर के अनुसार भी 'कार्निया' के सामने एक अवकाश पाया जाता है जिसमें तेजो जल भरा रहता है जिसे 'एकसह्यूमर' कहा जाता है। अस्तु शास्त्रीय संज्ञा सार्थक हो गई है। अंग्रेजी में इस पटल को (Fibrous Tunic) कहा जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

पिशिताश्रित पटल—द्वितीय पटल को मांसाश्रित या पिशिताश्रित बतलाया गया है। रंग में काला होने की वजह से उसको कृष्ण पटलकी संज्ञा दी गई है। कृष्ण पटल की बनावट में मांसपेशी स्तरों की बहुलता पाई जाती है—इसी लिये प्राचीन आचार्यों ने इस पटल की मांस धातु के प्रसाद रूप में उत्पत्ति मान कर उसे मांसाश्रित पटल कहा है। आधुनिक रचना शारीर के अनुसार प्राचीनों के इस पटल को रक्त वाहिनीमय या रंजित पटल (Vascular Tunic) कहा जाता है—क्योंकि यह रक्तवाहिनियों का बना हुआ और रंजक पदार्थ युक्त होता है। इस में बाहर से भीतर की ओर क्रमशः पुतली एवं तारामण्डल (Pupil & Iris), संधान मण्डल या तारानुमण्डल (Ciliary Body) तथा कृष्ण (Choroid) नामक तीन भाग पाये जाते हैं।

तारामण्डल (Iris)—नेत्र जल में गतिशील पर्दे के रूप में यह पाया जाता है—यह संधान मण्डल को मूल से संसक्त रखता है। सुश्रुत ने इसे 'तारक' या 'दृष्टि' की संज्ञा दी है। कई वैद्यक ग्रन्थकारों ने इस अवयव को कई नामों से अभिहित किया है। जैसे—कुमारिका, कनीनिका, कुमारिका, तारका, तारिका या तारा आदि। इस तारा की बनावट में छिद्र मय भाग को व्यवहार में पुतली कहा जाता है और उसके पार्श्वीय शेष भाग को कृष्ण होने से कृष्ण मण्डल या तारानुमण्डल (Iris) कहा जाता है। तारा से समग्र 'आयरिस' के भाग को न लेकर केवल विवराकृति प्युपिल या पुतली का ही ग्रहण करना चाहिये। कृष्ण मण्डल का ⅙ दृष्टि या पुतली होती है। 'कृष्णात् सप्तमिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टि विशारदाः।'

तारानुमण्डल (आयरिस) में रंजक धातु की अधिकता होती है—इसमें रक्तवाहिनियों, नाड़ियों और मांसपेशियों का समन्वय रहता है। स्वच्छ मण्डल (Cernea) और तारा मण्डल (Iris) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पूर्व वेश्म (Anterior Chamber) कहते हैं और इसमें तेजोजल अर्थात् 'एकसह्यूमर' भरा रहता है। तारा-मण्डल के पीछे, संधान मण्डल एवं काच (Lens) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पश्चिम वेश्म (Posterior Chamber)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कहा जाता है। इसमें भी एक तेजोजल ही भरा रहता है जिसे 'विट्रियिसह्यूमर' कहते हैं। इस द्रव की अधिकता से अधिमंथ नामक रोग होता है।

तारानुमण्डल में संयोजक धातु, रक्तवाहिनियों तथा साम्वेदनिक नाडी सूत्रों की बहुलता होती है। फलतः इसमें संवेदना ग्रहण की शक्ति तीव्र होती है—नेत्र की रक्षा की दृष्टि से यह यथासमय संकोच एवं विस्तार करती हुई पुतली को छोटी बड़ी यथावश्यक करती रहती है। 'धूप में यह संकुचित हो जाती है और छाया में विस्तृत हो जाती है।' 'संकुचत्यातपेत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्।'

संधान मण्डल या तारानुमण्डल (Ciliary Body)—यह एक कृष्णवर्ण, त्रिकोणाकार, विषमरचना है जो तारानुमण्डल (Iris) के चारों ओर पाया जाता है एवं वलयाकार अवयव है जो स्थानिक मांसपेशी सूत्रों का बना होता है। इसके दो भाग होते हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य भाग श्वेत पटल से लगा रहता है और भीतरी पूर्व वेश्म में 'आयरिस' से लगा रहता है। इसका शीर्ष भाग कृष्णमण्डल (Choroid) से मिला रहता है।

कृष्णमण्डल (Choroid)—रक्त वाहहिनियों के संयोग से बना हुआ यह एक रक्तमय पटल है। यह पटल श्वेत पटल के नीचे चारों तरफ पाया जाता है और आगे की ओर काचमणि (Lens) तक पहुँचता है और वहाँ पर कई प्रवर्द्धनों के रूप में काच के किनारों पर लगा रहता है जो तारानुमण्डलीय प्रवर्द्धन (Ciliary processes) कहलाते हैं। भीतर में पीछे की ओर यह दृष्टि पटल से दृढ़ता के साथ संबद्ध रहता है। इसमें चार स्तरें पाई जाती हैं—

१. अधिकृष्ण मण्डल (Supra-choroid)
२. रक्तवाहिनी स्तर
३. रक्तवह केशिकास्तर
४. स्थितिस्थापक आवरणस्तर

तृतीय पटल या मेदाश्रित पटल या मेदस्पटल—इस पटल में मेदोद्रव और काच की गणना जी जाती है। काच (Lens) के दोनों

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

एक मेदस कला (Hyaloid membrane) के द्वारा आवृत एक प्रकार मेदोद्रव जो स्वच्छ, स्फटिकोपम गाढ़ा होता है और जो नेत्र गोलक के $\frac{2}{3}$ भाग में भरा रहता है—इसे मेदाश्रित पटल कहा जा सकता है। इस मेदस द्रव के बीच एक लम्बी पतली नलिका पाई जाती है जो लसीका से पूर्ण रहती है और जो आगे काच पृष्ठ से और पीछे दृष्टि नाड़ी के प्रवेश स्थान तक होती है, इसे मेदस द्रवान्तरी प्रणाली (Canalis Hyaloidens) कहते हैं।

मेदस पटल से दृष्टि पटल को सहायता मिलती है। मेदस पटल के महत्त्व का दूसरा अवयव काच या दृष्टि मणि (lens)का होता है।

काच की सामान्य रचना—देखने की क्रिया का यह एक प्रधान घटक होता है। यह मेदस पटल के आगे उसकी दृष्टि-मण्डल-धानिका (Fossa Palellaris) में लगा रहता है इसके सामने तारा व उपतारा (Pupil or Iris) का भाग रहता है। यह काच चिपटे मोती के आकार का, किन्तु युगलोन्नतोदर (Biconvex) और पारदर्शक होता है। इसमें कई स्तर (layers) पाये जाते हैं। काच एक प्रकार की कला द्वारा (Hyalin Membrane) से पूर्णतया आवृत पाया जाता है जो सामने मोटी और पीछे की ओर पतली होती है। इसको काच कोष (Lens Capsule) कहते हैं। काच अपने स्थान पर लटकने वाले बन्धनों (Suspensary Ligaments) से स्थिर रहता है। ये बंधन संधान मण्डल (Ciliary Body) के परिवर्धित सूत्रों के समूहरूप में रहते हैं।

काच (lens) कई स्तरों का बना होता है—इसके मध्य का मण्डलाकार स्तर (Nucleuslentis) कठिन एवं दृढ़ होता है। काच के स्तर जैसे-जैसे भीतर को होते जाते हैं कठिन और पारदर्शक होते हैं। काच की रचना में शिरा-धमनी या नाडी प्रतान नहीं पाये जाते—इसका पोषण इसके चारों ओर पाये जाने वाली लसीका द्वारा होता है। काच की पारदर्शकता सदैव बनी रहती है क्योंकि इसके सभी स्तर दृढ़ होते हुए भी एक समान पारदर्शक होते हैं। आयु की वृद्धि के साथ वृद्धावस्था में या किसी रोग विशेष के कारण अल्प आयु में

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

भी इनकी पारदर्शकता कम होने लगती है एवं धुँधलापन आने लगता है, जिससे भविष्य में मोतियाबिन्द या लिङ्गनाश नामक रोग पैदा हो जाता है जिसमें देखने की क्रिया पूर्णतया लुप्त हो जाती है।

चतुर्थ पटल—अक्षिपटल या दृष्टिपटल—सुश्रुत ने 'चतुर्थं तेजः चापरम्' अर्थात् आँख में पाया जाने वाला चौथा पटल दूसरा ही है। कहीं पर 'चतुर्थं त्वस्थि चापरम्' ऐसा भी पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ होता है कि चौथा पटल अस्थि के आश्रित रहता है। इनमें प्रथम पाठ ही युक्तियुक्त है जिसमें अक्षिपटल या दृष्टिपटल वर्णन प्रासंगिक है।

दृष्टिपटल, कृष्णपटल के नीचे का स्तर है। यह दर्शन-व्यापार में सर्वाधिक महत्त्व का पटल है। यह वातनाडी सूत्रों का बना होता है अस्तु उसे (Nervous Tunic) कहा जाता है। दृष्टिनाडी (Optic Nerve) नेत्र गोलक के पश्चात् पृष्ठ का भेदन करके भीतर प्रवेश करती है और यहाँ पर फैलकर नाड़ियों का जाल फैला कर इसके विस्तार को बढ़ाती है। इस नाडी का सम्बन्ध नेत्र कोटर से सीधे मस्तिष्क तक होता है।

दृष्टि पटल में तीन प्रधान अवयव होते हैं—

१. दृष्टि वितान (Retina), २. पीत विन्दु (Macula lutia) तथा ३. नेत्र बिम्ब (Optic Disc or Optic Papilla)।

दृष्टि-वितान (Retina)—अणुवीक्षणात्मक अध्ययन से यह कई स्तरों का बना होता है। संक्षेप में १० स्तर बतलाये गये हैं। इन स्तरों में नाडी कोषाणुओं की अधिकता पाई जाती है। इस पटल के महत्त्वपूर्ण भाग वे हैं जिनमें दण्ड एवं शंकु (Rods & cones) पाये जाते हैं।

पीतविन्दु—दृष्टिपटल के पीछे के भाग पर एक छोटा-सा उभार है, जिसकी परिधि ·०४ इंच होती है, यह वर्ण में पीला होता है। इसके बीच में कुछ दबा हुआ होता है। इसके पीत रंग के उभार को पीत विन्दु कहते हैं (Yellow spot)। दबे हुए निम्न भाग के मध्य में एक

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

…र्त होता है जिसे केन्द्रीय गर्त्त (Fovia centralis) कहते हैं। यह …पटल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सांवेदनिक भाग होता है।

सितबिम्ब या नेत्र बिम्ब (Disc)—दृष्टिपटल का वह भाग …हाँ दृष्टिनाडी, धमनी एवं शिरायें प्रविष्ट होती हैं। यह दृष्टिपटल …सतह से कुछ उभरा हुआ स्थल है। यह श्वेत विन्दु-सा दिखलाई …ता है। इसमें दृष्टि शक्ति का सर्वथा अभाव होने से यह अंध-बिन्दु …सित बिन्दु भी कहलाता है।

इस तरह आयुर्वेदीय मत से अक्षि में आश्रित चतुर्थ पटल दृष्टि-…ल है। दृष्टिपटल नाम से अभिहित करने का उद्देश्य यह है कि नेत्र …दर्शन व्यापार को यही पटल निश्चित करता है और दर्शन का प्रधान …सम्पादन इसी उपाङ्ग के द्वारा होता है। यह समग्रतया सूक्ष्म …ी तन्तुओं के जाल से निर्मित रहता है।

आधुनिक नेत्र चिकित्सा ग्रंथों में नेत्र शरीर का विशद वर्णन पाया …ता है। उदाहरणार्थ—

नेत्र के अंग (Organs)—

१. नयन बुद्बुद, नेत्रगोलक (Eye ball)
२. नेत्रगत धमनियाँ, शिरायें और रसवाहिनियाँ
३. नेत्रचालक पेशियाँ
४. नेत्रश्लेष्मावरण अथवा श्वेत मण्डल (Conjunctiva)

नेत्र के उपाङ्ग (Appendages)—

१. नेत्र वर्त्म या नेत्रच्छद (Eye lids)
२. भ्रू (Eye brow)
३. अश्रुजनक पिण्ड (Lachrymal glands) अश्रुवाहक प्रणा-…(Lachrymal duct) अश्रुप्रपिका (Canalicula), अश्रुद्वार (Puncta Lachrymalis), आश्रवाश्रय या अश्रुकुम्भिका (Lachry-…al sac), अश्रुवह नासा सुरंग (Nasal duct)
४. नेत्र गुहा (Orbit)
५. दृष्टि के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मस्तिष्कगत अंग

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

नेत्रगोलक के *मुख्यभाग*—

(अ) कृष्णमडल या कर्णिका (Cornea)
(आ) नेत्रबाह्यपटल-शुक्लवृत्ति (Sclerotic coat-sclera)
(इ) तारामण्डल (Iris)
(ई) तन्तुसमूह संधान मण्डल (Ciliary body)
(उ) नेत्र मध्य पटल या कर्बुर वृत्ति (Choroid)
(ऊ) नेत्रदर्पण या दृष्टि वितान (Retina)
(ए) अग्रिमा जलधानी या पूर्ववेश्म (Anterior chamber)
(ऐ) पश्चिमा जलधानी या पश्चाद् वेश्म। (Posterior chamber)
(ओ) दृष्टिमणि (Crystaline lens)
(औ) दृष्टिमण्डलधर कलाकोष—दृष्टिमणि आवरण (Lens Capsule)
(क) सान्द्रजल या मेदोद्रव (Vitreous Humour)
(ख) दृष्टिनाड़ी (Optic Nerve)।
(ग) बिम्बांकुरिका—सित बिम्ब (Optic disc)

अंगों और उपाङ्गों की रचना के अनन्तर उनके पृथक् पृथक् विशेष क्रियाविज्ञान का वर्णन पाया जाता है। इन क्रियाओं को सं... में बतलाने के लिये उनका पाँच वर्गों में विभाजन हो सकता है।

१. *दृष्टि से संबन्ध रखनेवाले अंग*—इस वर्ग में कृष्णमण्डल, जल... रस, तारामण्डल, तन्तुसमूह या संधानमण्डल, दृष्टिमणि के ... एवं आवरण (Zonnule of Zinn & lens Capsule) नेत्र ... पटल, दृष्टिवितान, सान्द्रद्रव तथा दर्शननाड़ी (Optic Nerve)... अंगों के द्वारा विभिन्न कार्य होकर परिणाम स्वरूप वस्तु ... जाती है।

२. *नेत्र गोलक आर्द्र रखनेवाले भाग*—नेत्र गोलक को आर्द्र ... वाले भाग अश्रुजनक पिण्ड, अश्रुवाहक नलिकायें प्रभृति रचनायें ... इनके द्वारा नेत्र को गीला रखने के लिये जितना द्रव चाहिये ... अश्रुस्राव उत्पन्न होकर नेत्र की प्राकृतिक आर्द्रता बनी रहती है।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

३. *नेत्र गोलक के संरक्षक अवयवों की क्रिया*—इनमें नेत्रगृह (Orbit), पलक (वर्त्म), पक्ष्म (बरौनी) 'मेई बोमियन' और ...' पिण्ड प्रभृति रचनायें हैं। इनके द्वारा नेत्र की रक्षा होती ...ी है।

४. *नेत्रगोलक के चालक भाग*—नेत्रगोलक को विभिन्न भागों में ...न करनेवाली मुख्य छः पेशियाँ बाह्यस्था सरला (External ...ctus), अंतस्था सरला (Internal Rectus), ऊर्ध्वस्था सरला (Superior Rectus), अधस्था सरला (Inferior Rectus), ...स्था वक्रा (Superior oblique), अधस्था वक्रा (Inferior ...que) है। इनके द्वारा नेत्रगोलक नामानुसार सरल या वक्र ...में ऊपर या नीचे की ओर हुआ करता है। इन पेशियों के ...में पुनः मस्तिष्कगत नाड़ियों की क्रियायें होती हैं। बाह्या ...को छठी नाडी द्वारा, ऊर्ध्व वक्रा को चतुर्थ नाड़ी द्वारा और शेष ...को तृतीय नाड़ी के द्वारा हलचल करने की शक्ति प्राप्त होती है।

नेत्रगत मांस पेशियाँ दो प्रकार की हैं। बाह्यस्था और अंतःस्था। ...स्था तो ऊपर कही हुई छः मुख्य हैं। अंतस्था में तीन मुख्य हैं— ...निका संकोचक (Sphinctre Pupillae muscle), कनीनिका ...सारक (Dilator Pupillae muscle) तथा संधान पेशिका (...ary muscle) नाम से ही इनके कार्यका ज्ञान प्रायः हो जाता है।

५. *नेत्रगोलक की आकृति और कठिनता के संरक्षक अंग*—नेत्रगोलक ...कार संरक्षक अवयव, नेत्र बाह्य पटल, शुक्ल मण्डल, टेनन का ...ण, नेत्रगोल की पेशियाँ, सान्द्रद्रव (V. H.), सजलद्रव (Aquo... Humour) और दृष्टिमणि प्रभृति रचनायें हैं। संक्षेप में पूर्वोक्त ...के तीनों पटल बाह्य, मध्य तथा अंतःनेत्र के आकार को प्रकृता... में बनाये रखते हैं। नेत्रगत मध्य पटल या कर्बुरवृत्ति (Choroid) का प्रधान कार्य पोषण का होता है। इनसे पोषकस्राव ...होता है और नेत्रगोलक में अवस्थित जो उसके समीप या ...में है उसका पोषण करता है। क्योंकि नेत्रमध्य पटल में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

विशेषतः धमनी, शिरा और रंग के परमाणु रहते हैं। इन भागों मुख्यतया दृष्टिवितान (Retina) दृष्टिमणि और सान्द्रद्रव (Vitreous Humour) आदि का अन्तर्भाव होता है। पोषण के आधिक्य नेत्रमध्य पटल में रक्त की पूर्णता होने से वह मोटा बनता है तथा की न्यूनता होने पर पतला पड़ जाता है। ऐसे अवसर पर के भीतर द्रव के दबाव को न्यूनाधिक करने में अति महत्त्व का लेता है।

इस प्रकार आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में नेत्रगत जिन अंगों उपाङ्गों का विशद वर्णन मिलता है, उसी का सूत्ररूप में आचार्य सु ने अपने शब्दों में संग्रह किया है। नेत्र की रचना तथा क्रिया अस्तित्व दिखलाते हुए तथा अक्षि में उन अंगों एवं उपाङ्गों की मानता दिखलाते हुए एक श्लोक में लिखा है।[1] 'सिरा से कालास्थि पर्यन्त रचनाओं का परं गुण अर्थात् यथोत्तर उत्कृष्ट (क्रमशः परम् उत्कृष्ट गुण) नेत्र के बन्धन में लगते हैं अर्थात् दूसरे को स्थिर रूप से जकड़कर गठित रूप में (संहनन) रखते हैं

---

[1]१. सिराणां कण्डराणां च मेदसः कालकस्य च ।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेऽक्ष्णोः शिरायुतः ॥ (सु)
सिराणां कण्डराणां च मेदसः कृष्णबन्धने ।
गुणाः कालात्परः श्लेष्मा बन्धनेक्ष्णोः शिरायुतः ॥ (पाठान्तर)

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jal

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

संहितोक्त नेत्ररोगों की विवरणतालिका

अधिष्ठान	दोष प्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम
कनीनक संधि (Inner canthus Lacrimal sack)	सन्निपातजः	Acute Dacryo cystitis	रक्त दिस्रावण स्वेदन
"	कफज	Lacrymal cyst	छेदन
"	त्रिदोषज	Affection of L. apparatus	असाध्य
कृष्ण और शुक्ल की संधि (Sclero-corneal junction)	रक्तज	Marginal ulcers of Cornea	छेदन
कनीनक	त्रिदोषज	"	असाध्य
वर्त्म और पक्ष्म संधि	कफज	Pediculi ciliaris	साध्य, भेदन
अधोवर्त्म (Lower lids)	सन्निपातज	Chalizion	भेदन
वर्त्म (Lids)	त्रिदोषज	Internal stye (H)	"
"	रक्तज	External stye (H)	"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रोग	अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय
लगण	वर्त्म (Lids)	कफजसाध्य	Meibomium cyst or Molluscum simplex
वर्त्मशर्करा	वर्त्मान्तःप्रदेश	सन्नि० साध्य	Granular form of lids
बहलवर्त्म	वर्त्म	"	Multiple stye or chalazion
वर्त्मबंध	"	"	Non inflammatory oedema of the Eye lids
क्लिष्टवर्त्म	"	"	Angio Neurotic oedema
वर्त्मकर्दम	"	"	Nunulcerati ve Blepharitis
श्याववर्त्म	"	"	Ulcerative Blepharitis
क्लिन्नवर्त्म	"	कफजसाध्य	Ankelo Blepharon
अक्लिन्नवर्त्म	"	सन्नि० साध्य	Blephaphimosis
वातहतवर्त्म	"	वातज असाध्य	Paralysis of the VIIC. N. Lagopthalmus or Ptosis
निमेष	"	"	"
वर्त्मार्बुद	"	रक्त और पित्त	Tumours of the lids (Angioma)
वर्त्मार्श	"	त्रिदोष	Molluscum Contagiosm or warts
विसवर्त्म	"	त्रिदोषज	Xanthalasma.
पक्ष्मकोप	वर्त्म एवं पक्ष्म	सर्वजयाप्य	Trichiasis, Districhiasis and Entropion.
पोथकी	वर्त्म	त्रिदोषज साध्य	Trochoma or Granular lids
अर्शोवर्त्म	"	"	Papillary form
शुष्कार्श	"	"	Chronic papillary form

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalda

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

...रोग	अधिष्ठान	दोष प्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि. चि. क्रम्
...तरोग ...ses of ...Conju- ...a or ...sclera				
	नेत्रश्लेष्मावरण (Conjunctiva)	×	Pterigium.	छेदन
	"	त्रिदोषज	"	"
	"	कफज	"	"
	"	त्रिदोषज	"	"
	"	"	"	"
	"	रक्तज	"	"
	"	पित्तज (साध्य)	Xerosis	पैत्तिक अभिष्यंदवत्
	"	श्लेष्मज (साध्य)	Pingulecula	श्लैष्मिक अभिष्यंदवत्
	"	रक्तज (साध्य)	Deep scleritis	छेदन
	"	कफज (साध्य)	Perinaud's Conjunctivitis	लेखन
	"	रक्तज (साध्य)	Sub-Conjunctival Ecchymosis or Phlyctenular Conjunctivitis	औषधसाध्य
...रोग ...ses of ...Cornea				
	कृष्णमण्डल (Cornea)	रक्तज	Ulcerative keretitis or Corneal ulcer	×
	"	"	Opacity of Cornea,	×

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

). In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रोग	अधिष्ठान	दोष प्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	वि.वि.
अक्षिपाकात्यय	कृष्णमण्डल (Cornea)	त्रिदोषज	Hypopyon or Kerato malacia	
अजकाजात	"	श्लेष्मज (साध्य)	Anterior Staphylomo	
सर्वगतरोग (Diseases of the Conjunctiva, Eye bal or orbital cavity)				
अभिष्यंद	नेत्रश्लेष्मावरण	×	Conjunctivitis (Catta-rrhal)	
वाताभिष्यंद	"	वा०	"	
पित्ताभिष्यंद	"	पि०		
श्लेष्माभिष्यंद	"	श्ले०	Chronic Catarrhal Conjunotivitis	
रक्ताभिष्यंद	"	र०	Conjunctival Echymosis	
अधिमंथ	"	वा. पै. श्लै. र०	Clau com.	
हताधिमंथ	सर्वगत (Eye ball)	वा०	Atrophy of the Eye ball	
वातपर्याय	"	वा०	V Cranial Nerve atrophy	
अन्यतोवात	"	वा०	"	
शुष्काक्षिपाक	"	वा०	Opthalmoplagia	
अम्लाध्युषित	"	पै०	×	
सिरोत्पात	"	"	Hyperaemia of the Conjunctiva	
सिराहर्ष	"	"	Orbital Cellulitis	

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अधिष्ठान	दोषप्रावल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	चि. चि. क्रम
प्रथम एवं द्वितीय पटलगत	वा., पै., श्लै., सा., रक्त., संसर्गज	Progressive Cataract	औषध साध्य
तृतीय चतुर्थ पटलस्थित दोष	दोषभेद से पूर्ववत् छ प्रकार	Opacity of the lens Cataract Matured or Immatured	शस्त्रसाध्य
दृष्टिमण्डल	पि०	Retinitis Pigmentosa or Amblyopia or Day blindness.	औषध साध्य
,,	श्ले०	Degenerative Diseases of the Retina. Night blindness	औषध साध्य
,,	पि०	Glaucomatic stage	,,
,,	पित्तज	Retinitis Pigmentosa or Central opacity of the lens	असाध्य
,,	सर्वज		
,,	वातज	Paralysis of the VI Cranial Nerve.	,,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

रोग	अधिष्ठान	दोषप्राबल्य	आनुमानिक अंग्रेजी पर्याय	चि. वि.
नयनाभिघात (Injuries to the orbit)				
अतिनिर्गतनयन	×	×	Exopthalmos	शस्त्र
अतिप्रविष्टनेत्र	×	×	Enopthalmos	
कुकूणक	वर्त्म	कफ वात रक्त पित्त	Trachomatic lids or Folliular Conjunctivitis.	लेखन
पिल्लरो (वा०)	सर्वगत	१८ संख्या में	Chronic inflammatory Conditions of the Eye ball.	

दोषभेद से नेत्ररोगों की संख्या एवं साध्यासाध्यता—

१ वात से दस रोग होते हैं। उनमें से हताधिमन्थ, निमिष, गम्भीरिका, वातहत मर्म ये असाध्य तथा वातज काच याप्य और शुष्काक्षिपाक, अधिमंथ, वातपर्याय, अन्यतोवात और अभिष्यन्द साध्य हैं।[1]

---

[1]. हताधिमन्थो निमिषो दृष्टिर्गम्भीरिका च या।
यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिद्धयन्ति वातजाः॥
याप्योथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुताः।
शुष्काक्षिपाकाधीमन्थस्यन्दमारुतपर्यया:।
असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः।
परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः॥
अभिष्यन्दोधिमन्थोऽम्लाध्युषितं शुक्तिका च या।
दृष्टिः पित्तविदग्धा च धूमदर्शी च सिद्धयति॥
असाध्यः कफजः स्रावो याप्यः काचश्च तन्मयः।
अभिष्यन्दोधिमन्थश्च बलासग्रथितञ्च यत्॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

२. पित्त से भी दश ही रोग होते हैं। इनमें ह्रस्व जाड्य और पैत्तिक जलस्राव साध्य हैं। परिम्लायि तथा पैत्तिक नील काच याप्य हैं। अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शुक्तिका पित्तविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगण, कलाम्युषित ये साध्य हैं।

दृष्टिः श्लेष्मविदग्धा च पोथक्यो लगणश्च यः ।
क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः ॥
श्लेष्मोपनाहः साध्यास्तु कथिताः श्लेष्मजेषु तु ।
रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोव्रणान्वितम् ॥
शुक्रं न साध्यं काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्तितः ।
मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातौ तथैव च ॥
सिराजाताऽञ्जनाख्या च सिराजालञ्च यत्स्मृतम् ।
पर्वण्यथा व्रणं शुक्रं शोणितार्मार्जुनश्च यः ॥
एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ।
पूयास्रावो नाकुलान्ध्यमक्षिपाकात्ययोऽलजी ॥
असाध्याः सर्वजा याप्यः काचः कोपश्च पक्ष्मणः ।
वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडका च या ॥
प्रस्तार्यर्माधिमांसार्म स्नाय्वर्मोत्संगिनी च या ।
पूयालसश्चार्बुदं च श्यावकर्दमवर्त्मनी ॥
तथार्शोवर्त्म शुष्कार्शः शर्करावर्त्म यच्च वै ।
सशोफश्चाप्यशोफश्च पाको बहलवर्त्म च ॥
अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका बिसवर्त्म च सिद्ध्यति ।
सनिमित्तोऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु वाह्यजौ ॥ सु उ. २

उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्दूरेक्षणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकक्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ॥
शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाषनिषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च ।
स्वेदादथो धूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥
वाष्पग्रहात्सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः । सु.
अवाक्शिरोत्युच्छ्रितशायितस्य ज्वरोपताप हतुपर्ययाच्च ।

(डल्हण)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

३. कफ से तेरह रोग होते हैं इनमें से कफज जलस्राव अ... कफज काच याप्य होता है और अभिष्यन्द अधिमंथ, बलास... श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगण, कृमिग्रन्थि, परिक्लिन्नवर्त्म, शु... पिष्टक और श्लेष्मोपनाह साध्य होते हैं।

४. रक्त से सोलह रोग होते हैं, जिनमें से रक्तस्राव, अजका... शोणितार्श, सव्रण शुक्र असाध्य, रक्तजकाच याप्य, अभिष्यन्द, अधि... क्लिष्टवर्त्म, शिराहर्ष, शिरोत्पात, अञ्जननामिका, शिराजाल, प... अव्रण शुक्ल, शोणितार्श और अर्जुन ये साध्य हैं।

५. सन्निपात से पच्चीस रोग होते हैं—इनमें पूय स्राव, नकुलां... अक्षिपाकात्यय और अलजी ये असाध्य हैं सान्निपातज काच तथा प... कोप ये याप्य हैं। वर्त्मावबन्ध—शिरापिडिका, प्रस्तार्यर्म, अधिमांस... स्नाय्वर्म, उत्संगिनी पूयालस, अर्बुद, श्याववर्त्म, कर्दम वर्त्म, अर्शो... शर्करावर्त्म, शुष्कार्श, सशोफ अक्षिपाक, अशोफ अक्षिपाक, बहल... अक्लिन्नवर्त्म, कुम्भिका और विसवर्त्म ये उन्नीस रोग औषध साध्य हैं।

६. आगन्तुक रोग दो हैं सन्निमित्त और अनिमित्त ये दोनों असाध्य माने गये हैं।

३

नेत्ररोगों का सामान्य निदान

(A General Etiology of Eye Diseases)

प्राच्य चिकित्सा प्रणाली में आचार्यों ने प्रत्येक रोग के हेतु रू... दोष एवं धातु में विषमता पैदा होना माना है। नेत्र रोग के अध्याय... बहुत से रोग पठित हैं फलतः इनके उत्पादक हेतु और सम्प्राप्ति भि... भिन्न हो सकती है तथापि कुछ कारण ऐसे हैं जिनका सामान्य नेत्र... के उत्पादन में हाथ रहता है। उन हेतुओं का संग्रह करते हुए ... ने लिखा है—

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

१. उष्णता में रहे हुए व्यक्ति का हठात् शीतल जल में प्रवेश करके अवगाहन या स्नान करना ।

२. दूरेक्षण—बल लगा कर (आँखों पर जोर लगा कर) दूर तक देखना ।

३. सूक्ष्म निरीक्षण—बहुत छोटी आकार की चीजों का देखना ।

४. स्वप्न विपर्यय—नियमित समय पर पूर्ण निद्रा का सेवन न करना ।

५. वाष्पग्रह—आँसुओं का वेग रोकना ।

६. प्रसक्त संरोदन—आँसुओं का वेग रोकते हुए रुदन या अनवरत रुदन करना ।

७. कोप—क्रोध करना ।

८. शोक—शोक करना ।

९. क्लेश—दैहिक तथा मानसिक क्लेश का होना ।

१०. अभिघात—(Mechanicalor Chemical injuries) भौतिक या रासायनिक द्रव्यों के कारण अभिघात होना ।

११. स्वेद का सेवन करना । अधिक स्वेदन वाष्पादि के द्वारा आँखों पर होना ।

१२. धूमनिषेवण—अधिक धुएँ में रहना ।

१३. वेग निग्रह—वेगों का रोकना ।

१४. छर्दि विघात—कै के वेगों का रोकना ।

१५. वमन का अतियोग होना या अधिक कै का होना ।

१६. अतिमैथुन—इसके कारण शरीर (क्षेत्र) हीनबल हो जाता है जिससे अल्प कारणों से नेत्र के रोग हो जाते हैं ।

१७. शुक्त, आरनाल, अम्ल (खटाई) कुलथी, उड़द प्रभृति द्रव्यों का अधिक सेवन करना ।

उपर्युक्त कारणों से दोष विकृत होकर नेत्रों में विकार पैदा करते हैं । इन कारणों में पाठान्तर में आये हुए कारणों का समावेश हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

सकता है जैसे—(१८) अवाक् शिर शयन (नीचे सिर करके सोना) (१९) उच्छ्रित शिर शयन (ऊँचा उठाकर सिर को या अधिक ऊँचा करके सोना) (२०) ज्वर तथा (२१) ऋतुपरिवर्त्तन।

आधुनिक युग के नेत्ररोग विज्ञान के पाश्चात्य ग्रन्थों में नेत्ररोग निदान का वर्णन ठीक इसी प्रकार का मिलता है। इनके सात विभाग किये जा सकते हैं।[1]

१. (क) आदि बल प्रवृत्त (कुलज वंशज or Heriditary defects)।

(ख) जन्मबल प्रवृत्त (Congenital defects)—जन्म ... या सहज विकार।

संघातबल प्रवृत्त

२. दैहिक अभिघातज (Physical injuries)
३. यांत्रिक अभिघातज (Mechanical injuries)
४. रासायनिक अभिघातज (Chemical injuries)

इन तीनों अवस्थाओं को प्राचीन दृष्टि से एकवर्ग के अन्तर 'संघातबल प्रवृत्त' वर्ग में रखा जा सकता है।

१. आचार्य सुश्रुत ने व्याधिसमुद्देशीयाध्याय में सामान्यतया रोगों को ... भागों में विभक्त किया है। यहाँ पर नेत्र रोग का पाठ होनेसे सभी का विवेचन संभव नहीं। केवल तुलनात्मक-विवेचना के विचार से चार का ही उल्लेख किया गया है—वैसे सात भेद होते हैं जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है।

ते पुनः सप्तविधा व्याधयः। आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, संघातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ताः इति।
सु० सू० ...

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

६. कीटाणुजन्य अभिघात से (Parasitic injuries)

७. अपक्रान्तिजन्य विकृति (Degenerative Changes) स्वभाव बल प्रवृत्त नेत्ररोग।

इसको प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार 'दोषबल प्रवृत्त' के अंदर ग्रहण किया जायगा । यद्यपि प्राचीन दृष्टि से ये कारण नहीं कार्य हैं ।

८. अर्बुदजन्य विकार (Newgrowths)—दोषबल प्रवृत्त नेत्ररोग। प्राचीनों ने सामान्य रोगों के उत्पादक कारणों में दो और वर्गों का वर्णन किया है जिन्हें नेत्र रोगों के सम्बन्ध में भी लागू किया जा सकता है। कालबल प्रवृत्त—ऋतुजन्यरोग जैसे वसन्त में 'स्प्रिङ्ग कैटार्ह' तथा वर्षा ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के नेत्राभिष्यंद आदि। दूसरा दैवबल प्रवृत्त रोगों का है जिसमें दैवकोप, बिजली (Lightning) वज्रप्रभृति आघात आदि आकस्मिक (Accidental) अथवा सर्गज या उपसर्गज (Infective or Parsitic injuries) व्याधियाँ जाती हैं ।

जन्मबल प्रवृत्त (Congenital defect)—नेत्रगोलक या उसके किसी अवयव का विकास ही न होना या किसी प्रतिबन्धन के कारण विकास का रुक जाना अथवा नैसर्गिक रूप में प्रसव के पहले जिन-जिन भागों का शनैः शनैः शोषण हो जाना चाहिये वैसा न होकर कुछ अंशों में शेष रह जाना ऐसे ही विकार इस वर्ग में आते हैं। जैसे पलक के उठाने की अशक्ति (Ptosis), तारामण्डल का अभाव, दृष्टि मण्डल का स्थान भ्रंश, जन्मबल प्रवृत्त काच (मोतियाबिन्द), गोलक का अभाव अथवा कृष्णमण्डल के आवरण का अवशिष्ट रह जाना ।

आदिबल प्रवृत्त (Heriditary)—माता या पिता की ओर से अथवा वंशपरम्परा से प्राप्त रोग—जैसे नेत्र शुक्लता (Albinism) नक्तान्ध्य, तिर्यक्पन एवं ह्रस्व दृष्टि प्रभृतिरोग।

भौतिक या दैहिक अभिघात (Physical injuries)—इस प्रकार में नेत्र को हानि पहुँचानेवाला विशेषतः प्रकाश है—सूर्य, अग्नि या विद्युत् से पैदा हुआ किसी भी प्रकार के प्रकाश का अतियोग, अयोग या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

मिथ्यायोग दृष्टि के लिये अहितकर होता है। काँच के कारखानों में जो लोग काँच को गलाने का काम करते हैं उन्हें एक प्रकार का मोति-याबिन्द (Glass blowers Cataract) हो जाया करता है।

भारत और अफ्रिका आदि देशों में जो उष्ण कटिबंध में पाये जाते हैं, सूर्य का ताप (धूप) अत्यन्त प्रचण्ड होता है। वहाँ के रहने वालों को शीत प्रधान देशवासियों की अपेक्षा मोतियाबिंद अधिक होता है। इसका कारण सूर्यताप की उग्रता है। धूप में फिरने से आँख का दुखना और प्रकाश की असहिष्णुता होना एक नित्य का अनुभव है। यदि धूप में तापितव्यक्ति अचानक शीतल जल में प्रवेश करे तो तत्काल नेत्र विकार होने की संभावना रहती है।

अत्यन्त शीत भी नेत्र रोगोत्पादक होता है। पाश्चात्य ग्रंथों में एक प्रकार के आंध्य (Snow blindness) का वर्णन मिलता है—जिसमें अग्नि और बिजली की भाँति बरफ पर चलने वाले व्यक्तियों को उसकी चकमकाहट आँखों में चकाचौंध पैदा कर देती है जिस वजह से नेत्र दर्पण या दृष्टि वितान को हानि पहुँचती है और भविष्य में अंधता भी आ जाती है।

इसी वर्ग के भीतर सुश्रुतोक्त उन कारणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनके द्वारा आँखों पर जोर पड़े (Eye strain) अथवा जिनकी वजह से प्रकाश परावर्त्तन क्रियायें विपरीत होती हों। नेत्र के स्वस्थ रखने में इन बातों का परिहार आवश्यक होता है उदाहरणार्थ—दूरेक्षण सूक्ष्मेक्षण (इनमें 'मायोपिया' और 'मेट्रोपिया' का भय रहता है) स्वप्न विपर्यय प्रभृति कारण अथवा ऐसे कारण जिनसे परावर्त्तन क्रिया (Reflection) के द्वारा आँखों पर बल (Strain) पड़ता हो जैसे—वाष्प ग्रह, प्रसक्त संरोदन, कोप, शोक, क्लेश, छर्दि विघात और वमन-तियोग आदि।

यांत्रिक अभिघात—(Mechanical injury) बाह्याभिघातजन्य नेत्र में आगन्तुक विकार का उत्पन्न होना। ये अभिघात दो प्रकार के हो सकते हैं एक सच्छिद्र (With perforation) दूसरा अछिद्र

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

Without Perforaton)। इनमें प्रथम प्रकार में आँख से रक्तस्राव होता तथा अक्षिपाक होकर नेत्रगोलक का नाश हो जाता है।

दूसरे प्रकार में नेत्र की व्यथा कई बार बिल्कुल मामूली होती है। ...मण्डल के खुरच जाने से या नेत्र के बाह्य पटल पर मामूली घाव ...जाने से नेत्र को हानि नहीं पहुँचती। परंतु रोगी की जीवनीय शक्ति ...हो, वृद्धावस्था हो अथवा कोई शारीरिक रोग हो तो मामूली चोट ...नेत्रपाक पैदा कर देती है।

कई बार नेत्र गोलक के ऊपर बल पूर्वक धक्का (Concussion) ...जाता या नेत्र पर दबाव (Compression) पड़ जाता है—ऐसी ...स्था में भी वह अच्छिद्र नेत्राभिघात या नयनाभिघात के ही वर्ग ...जाएगा। यदि आघात प्रबल रहे और उसका प्रभाव नेत्र के भीतरी ...यवों पर पड़े, उसकी वजह से तारामण्डल या तन्तु समूह को ...ति पहुँचे, तो रक्त स्राव होकर जलमय रस के पूर्वखण्ड के भीतर ...संचित हो जाता है। यदि दृष्टिमणि (Lens) के स्तरों को हानि ...वे तो (Traumatic Cataract) प्रभृति रोग हो सकते हैं। कई ...र दृष्टि मणि के स्थानान्तरित हो जाने पर रक्तस्राव पश्चिम खण्ड में ...चित हो जाता है—और दबाव वहाँ का बढ़ जाने से रक्ताभिसरण में ...धा होती एवं दृष्टि का नाश हो जाता है। इसी वर्ग के विकारों को ...चीन संज्ञा संघात बल प्रवृत्त या अभिघातज रोग है।

रासायनिक द्रव्य जनित (Chemical injuries)—इनसे दो ...से हानि पहुँच सकती है। क—नेत्र में जाकर स्थानिक क्षोभ के ...ण, ख—मुख द्वारा सेवन किये जाने से उनका सार्वदैहिक प्रभाव ...हुआ (रक्त परिभ्रमण के साथ) विशेषतः नेत्र को हानि पहुँचाने ...द्रव्यों के कारण। इनमें प्रथम—वाष्परूप, वायुरूप या धूमरूप, ...या ठोस रूप में क्षोभक रासायिनिपदार्थों या आग की चिनगारी ...ति द्रव्यों का पहुंचना। विविध प्रकार के क्षार, अम्ल, कास्टिक ...डा, अमोनिया, साबुन, चूने का कण, अग्नि को बुझाते हुए उसकी ...ग, आग की लपट, 'एट्रोपीन' 'गोवा पाउडर', 'नेप थैलीन' (इनसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

नेत्र में मोतियाविन्द हो जाता है) प्रभृति द्रव आँख के भीतर प्रविष्ट, कृष्ण मण्डल और नेत्र श्लेष्मावरण शोथ पैदा कर देते हैं। इसी प्रकार का संक्षेप में आचार्यों ने स्वेद और धूम निषेवण करने का वर्णन किया है।

दूसरे वर्ग में विविध प्रकार के शुक्त, कांजी, कुलथी, मसूर प्रभृति द्रव्यों का सेवन किये जाने पर ये कुछ प्रकार के दोष (Toxins) पैदा करते हैं जिनसे नेत्र को हानि पहुँचती है। आधुनिक ग्रन्थों में इन अपथ्यों के प्रकरण में 'क्निीन', 'मेथिलेटेडस्प्रिट', 'सेण्टोनीन' तथा सोमल युक्त ओषधियाँ बतलाई जाती हैं।

कीटाणु जन्य व्यथा—(Parasitic injuries) नेत्र रोगों के उत्पादन में पाश्चात्य विज्ञान के मतानुसार कीटाणुओं का बहुत बड़ा स्थान है। कीटाणुओं का उपसर्ग दो प्रकार से हो सकता है। १. नेत्र एवं नेत्राङ्गों में सीधे सम्पर्क से उपसर्ग पहुँच कर इसे बाह्य या (Ectogenous) तथा २. रक्त में प्रवेश करके नेत्र पर असर पहुँचाने वाले रोगों के परिणाम स्वरूप।

प्राचीन संहिता ग्रन्थों में नेत्र रोगों के उत्पादन में कीटाणुओं की जनकता स्वीकार नहीं की गई है। यत्र तत्र व्रणों में उपसर्ग पहुँचाने वाले 'राक्षसों' या पिशाचों का वर्णन जरूर मिलता है तथा उनके नाश के राक्षसघ्न उपचार जो विशेषतः 'एण्टीसेप्टिक धूपन' के द्रव्य हैं उनका भी वर्णन मिलता है। तथापि दोनों सिद्धान्तों में मूलतः बड़ा भेद है। प्राचीन संहिता की चिकित्सा क्षेत्र प्रधान है। उसमें क्षेत्र को प्रबल बनाना प्रधान कर्त्तव्य माना गया है। जब शत्रु से लड़ने वाला बल अथवा उसका क्षेत्र (शरीर) प्रबल हो तो शत्रुओं का वश नहीं चलता और क्षेत्र (शरीर के प्रबल होने पर शत्रुरूप में आये हुए आगन्तुक कीटाणु वीर्यहीन हो जाते हैं और रोगोत्पादन में समर्थ नहीं होते। इस क्षेत्र (शरीर) में जब दोषों की साम्यावस्था रहती है तब व्यक्ति स्वस्थ रहता है। जब दोषों की विषमता उत्पन्न हो जाती है तब रोग उत्पन्न होता है। नेत्र के रोगोत्पादन के सम्बन्ध में भी

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

…ल्पना काम करती हैं। फलतः केवल कार्य को दृष्टि से 'पैरासाइटिक थियोरी' पर विचार किया जाय तो प्राचीनों के 'दोषबल प्रवृत्त' व्याधि के इस हेतु में ही इस थियोरीका समावेश किया जा सकता है।

दोषों से होने वाले विकार तीन प्रकार से होते हैं 'क्षय स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।' दोषों के क्षय होने से (Defficiency of Nutrition or Vitamins deficiency) स्थानान्तर गमन (Endocrine disturbances) होने से तथा दोषों की वृद्धि (Parasitic injuries) होने से जितने भी नेत्र रोग होते हैं सभी का ग्रहण एक शब्द 'दोषबल प्रवृत्त' के द्वारा ही हो जाता है। ऐसा समझना चाहिये। एक दूसरा समाधान भी इसका यह है कि यहाँ पर प्राचीनों के अनुसार दैवबल प्रवृत्त व्याधि के समुदाय में भी 'पैरासाइटिक' या 'कीटाणु जन्य' आघातों का ग्रहण हो सकता है क्योंकि दैवबल प्रवृत्त व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं संसर्गज (Infective) और आकस्मिक (Accidental)। फलतः 'पैरासाइटिक थियोरी' का ग्रहण दैवबल प्रवृत्त रोगों में भी हो जाता है। फिर आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त योग्य उपचार और पथ्यादि आहार विहारों की व्यवस्था से शरीर के भीतर की रोग निरोधक शक्ति की प्रबलता पैदा करना तथा संरक्षक तत्त्वों का बल बढ़ाना रहता है जिससे रोग का अपुनर्भव होता है।

अपक्रान्तिजन्य विकृति—(Degenerative Processes)—इस प्रकरण के भीतर उन रोगों का समावेश होता है, जो जरावस्था में नेत्रों में विकार पैदा करते हैं। सुश्रुत की परिभाषा के अनुसार इसे स्वभाव बल प्रवृत्त नेत्र रोग कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ—कृष्णमण्डल परिधि की अपारदर्शकता (Arcus Senilis), नेत्र श्लेष्मावरण (श्वेतमण्डल) में पीले दाग (Pinguecula), नेत्र बाह्य पटल का परिवर्तन प्रभृति रोग एक प्रकार से रोग नहीं बल्कि जराजन्य रूपान्तर मात्र हैं। नेत्र के अन्य अंगों में भी इस प्रकार के जराजन्य रोग होते हैं जैसे दृष्टिमणि की अपक्रान्ति से प्रौढ़ दृष्टि (Presbyopia), दृष्टि वितान (Retina) के परिवर्तनों में एक प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

का नक्तान्ध्य (Retenitis Pigmentosa), जराजन्य पीतिबिन्दु
(Central Senile Choroiditis) रक्तवाहिनियों में परिवर्तन
अन्य रूपान्तर, इन सबका कारण जराजन्य विपरिणाम है।
(Cataract) का होना भी एक प्रकार से वृद्धावस्था जन्य ही
मणि का परिवर्त्तन है।

ग्रन्थि या अर्बुदजन्य नेत्र विकार—(Tumours)—नेत्र वर्त्म,
मण्डल, नेत्रमध्य पटल, तारामण्डल, दृष्टि वितान तथा दृष्टि नाडी
विभिन्न प्रकार की ग्रन्थि या अर्बुद (सौम्य तथा घातक) होते रहते हैं।
पाश्चात्य वैज्ञानिकों में इनकी उत्पत्ति का ठीक कारण अभी तक
है। प्राचीन सिद्धान्तों के आधार पर इन्हें भी दोष बल प्रवृत्त
रोगों के वर्ग में ही रखा जा सकता है।

नेत्र रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति

सम्प्राप्ति—(Pathology of the Eye diseases) 'उपर्युक्त
कारणों से विगुण हुए दोष सिराओं का अनुसरण करते हुए (रक्तवाहि-
नियों के द्वारा) ऊपर में आकर नेत्र के अवयवों में परम दारुण रोगों
को उत्पन्न करते हैं।'[1] अर्थात् नेत्र में जब विविध रोग होते हैं,
उन रोगों के कारण नेत्र के अवयवों में विविध परिवर्त्तनों की
होती है। उसे नेत्र रोग की सम्प्राप्ति कहते हैं।

पाश्चात्य मत—नेत्र में कीटाणु, विष या दोष का वैगुण्य दो प्रकार
से होता है, बाह्य (बाहर से) और अंतः (भीतर से)।

बाह्य विगुणता—बाहर से रोगोत्पादक कीटाणुओं का प्रवेश
कभी हो जाता है, इसके परिणाम स्वरूप नेत्र गोलक के अवयवों
व्रण शोथ हो जाता है। वहाँ पर रक्ताधिक्य का होना, रक्त वाहिनियों
का फूलना तथा लसीका स्रवण होने लगता है। पश्चात् पाकोत्पत्ति
होकर पूयस्राव भी होने लगता है इस हेतु नेत्र का बहुत भाग सड़

१. सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमागतैः ।
जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ॥

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

हो जाता है। यदि योग्य उपचार और रोगनिरोधक शक्ति की प्रबलता से संरक्षक तत्त्वों का बल बढ़ा तो शोफ का उपशम होने लगता है और रोहणाङ्कुर एवं पश्चात् सौत्रिक तन्तु बनकर रोग की विनाशकारी क्रिया को बन्द कर देता है। सड़न की क्रिया बन्द हो जाती है। यदि यह पदार्थ कृष्ण मण्डल जैसे पारदर्शक भाग में उत्पन्न हुआ, तो उस स्थान को अपारदर्शक बना देता है। यदि रक्त वाहिनियों से पूर्ण तारामण्डल जैसे प्रदेश में निर्मित हुआ तो वह भाग चारों ओर के अवयवों के साथ संलग्न हो जाता है। यदि वह नेत्र मध्यपटल या दृष्टि वितान में बना तो वहाँ श्वेतचिह्न बना कर दृष्टि के उस भाग का नाश कर देता है।

रक्ताभिसरण द्वारा प्रवेश—देह के किसी भी भाग में पूयोत्पत्ति या कीटाणुजन्य शोथ हो तब कभी-कभी उसका अंश या कीटाणु रक्त में मिल कर सिराओं के द्वारा नेत्र में पहुँच जाता है। इससे नेत्र गोलक का शोथ हो जाता है। फिर नेत्र गोलक एक बड़े विद्रधि का रूप ले लेता है। जिस प्रकार कीटाणु जन्य शोथ होता है उसी प्रकार कीटाणु जनित विष से भी शोथ उपस्थित होता है। इसी भाव का द्योतन उपर्युक्त सम्प्राप्ति में 'सिरानुसारिभिः' श्लोकार्द्ध से किया गया है।

नेत्र रोगों में सामान्य पूर्वरूप—नेत्र आविल या आकुल (अश्रुपूर्ण या आँसू से भरा होना), ससंरम्भ (ईषत् शोफयुक्त) आँसू का निकलना, कीचड़ी का होना, उपदेह (मैल या कीचड़ का होना), गुरुता (भारीपन श्लैष्मिक लक्षण), ओष, चोषा (पैत्तिक लक्षण), तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना वातिक लक्षण) राग या लालिमा (रक्तज लक्षण) प्रभृति सामान्य लक्षणों से युक्त नेत्र, पूर्वरूप की अवस्था में होता है। क्योंकि रोग विशेष के अव्यक्त लक्षण ही पूर्वरूप कहलाते हैं। फलतः गुरुता से लेकर राग पर्यन्त सभी लक्षण पूर्ण व्यक्त नहीं होते।

वर्त्म कोषों (Palpebral sulcus) में अल्प वेदना तथा शूक पूर्णता (किरकिरी पड़ी हो ऐसा अनुभव होना अथवा जौ का शूक पड़ा हो इस प्रकार का अनुभव होना) सा मालूम होता है तथा जिस प्रकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

आँख की क्रिया शक्ति पहले रही उसमें विघात पैदा होता है। इ
पूर्वरूपों को देख कर बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह नेत्र
दोषाधिष्ठित समझे। एवं जैसा सम्भव हो दोषानुसार चिकित्सा
व्यवस्था करें अन्यथा बढ़ कर रोग बलवान् हो सकता है।[1]

४

नेत्र रोगोक्त लक्षणों की विवेचना

पूर्वरूप अधिक व्यक्त हो कर रूप या लक्षण बनते हैं। साम
पूर्वरूपों के अनन्तर रूपों का आख्यान किया जा रहा है। नेत्र रो
में सामान्यतया निम्नलिखित लक्षण एवं चिह्न पाये जाते हैं। जैसे—

आविलता, संरंभ, अश्रुपूर्णता, उपदेह (कीचड़का होना) गुरु
ओष, चोष, लालिमा, वर्त्म में शूकपूर्णाभ प्रतीति (आँख में किर
की सी अनुभूति)। वर्त्म कोषों में वेदना, देखने या रूपदर्शन
कमी आदि।

इन लक्षणों के अतिरिक्त शोथ, ज्वर, भारीपन, शिरःशूल,
एवं भ्रम प्रभृति सार्व दैहिक लक्षण तथा द्विधादृष्टि, बहुदृष्टि, नेत्र
सामने मशक, मक्षिका या जाला का दिखाई पड़ना, दृष्टि का धुँधला
दृष्टि का क्षीण होना, अक्षि-भ्रू एवं शिरोवेदना प्रभृति स्थानिक ल
भी मिल सकते हैं।

सुश्रुत ने लिखा है 'प्रायेण सर्वेनयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यंद नि
मूलाः।' कि प्रायः सभी नेत्र रोग अभिष्यंदमूलक ही होते हैं। अ
अभिष्यंद में पाये जाने वाले कुछ प्रमुख लक्षण सामान्यतया सभी
रोगों में पाये जाते हैं। जैसे—

---

१. तत्राविलं ससंरम्भमश्रुकण्डूपदेहवत्। गुरूषातोदरागाद्यैर्जुष्टं चाव्यक्तलक्ष
सशूलं वर्त्मकोपेषु शूकपूर्णाभमेव च। विहन्यमानं रूपेषु क्रियास्वक्षि यथा पु
दृष्ट्वैव धीमान् बुध्येत दोषेणाधिष्ठितं तु तद्।
तत्र सम्भवमासाद्य यथादोषं भिषग्जितम्। विदध्यान्नेत्रजा रोगा बलवन्तः स्यु

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

१. लालिमा (Conjestion)
२. स्राव (Lacrimation)
३. नेत्र पीडा (Pain)
४. प्रकाश संत्रास या प्रकाशासह्यता (Photophobia)।

अब शंका होती है कि अभिष्यंदमूलक ही सभी नेत्र रोग प्रायः कैसे होते हैं। इसका स्पष्टीकरण टीकाकारों ने इस तरह किया है—

नेत्राभिष्यंद को Cojunctivitis कहते हैं। अभिष्यंद से प्रायः अन्य रोग उपद्रव स्वरूप हो जाते हैं किन्तु अभिष्यंद के बाद किसी रोग की उत्पत्ति सदैव नहीं होती। सभी नेत्र रोग प्रायः अभिष्यंदपूर्वक होते हैं किन्तु बिना अभिष्यंद हुए भी स्वतंत्रतया हो सकते हैं। ...हण का वचन है 'अभिष्यंदाश्च तन्निमित्तानि च तान्येव मूलं येषां तथा। निमित्तशब्दाद्दुष्टा दोषाः दोषकोपनानि च संगृह्यन्ते।' अर्थात् नेत्र रोगों में कभी अभिष्यंद अथवा कभी अभिष्यंदकारक दोष या दोषप्रकोपक अन्य पदार्थ कारण होते हैं। इसमें निज एवं आगन्तुक सभी कारणों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार 'अभिष्यंद-निमित्तमूल' होने से नेत्र रोगों में प्राप्त होने वाले प्रमुख लक्षण भी सामान्य रूप से सभी में मिलते हैं।

लालिमा (Redness)—नेत्र कला के व्रण शोफ युक्त होने से रक्ताधिक्य के कारण नेत्रों में लालिमा आती है। सामान्य व्रण शोफ के अन्य लक्षण ताप (Heat), सूजन (Oedema) वेदना (Pain), क्रिया-हानि (loss of Function) भी पाई जाती है।

स्राव (Lacrimation)—नेत्र में पाये जाने वाली अश्रुग्रन्थियों से अश्रुस्राव स्वाभाविक अवस्था में भी होता है और उससे नेत्र आर्द्र रहते हैं। नेत्र रोगों में अश्रु ग्रंथियों की क्रिया बढ़ जाती है, स्राव अधिक होने लगता है। कभी-कभी नेत्र पाक में अश्रु के साथ पूय, रक्त, श्लेष्म, पित्त आदि द्रव भी निकल सकते हैं। सौम्य प्रकार के नेत्र रोगों में यह स्राव (Secretion) श्लेष्मल स्वरूप का होता है; किन्तु तीव्र प्रकार में पूय भी मिश्रित रहता है। रात्रि में सोते समय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जो गाढ़ा स्राव निकलता है वह सूख कर पलकों के किनारों पर चि
जाता है। इस स्राव से दूसरे स्वस्थ व्यक्तियों पर भी रोग
उपसर्ग पहुँचता है।

वेदना या रुजा (Pain)—पीडा रोगी की अवस्था पर नि
करती है। प्रारंभ में यह कम होती है किन्तु रोग के बढ़ने
यह भी बढ़ जाती है और आँखों में बालू के कण भरे हुए है
प्रतीति होती है। आँखों में वेदना कई स्वरूप की मृदु से तीव्र
हो सकती है। नेत्र के अतिरिक्त सिर में भी पीड़ा होती है।

नेत्र के पूर्व खण्ड में संज्ञावह नाड़ियों की बहुलता होती है
इस खण्ड के अवयवों में शोथ या पाक होने से पीड़ा तीव्र स्व
की होती है। नेत्र के पीछे वाले खण्ड में सांवेदनिक नाडी सूत्र
होते फलतः इस खण्ड के व्याधित होने पर वेदना कम होती
वर्त्म में बहुत से संस्थानों पर सांवेदनिक नाडी सूत्रों का अभाव
है अस्तु उन स्थानों में पाक होने पर रोगी को पीड़ा का अनुभव
होता बल्कि एक भारीपन मात्र का अनुभव होता है। पांशु पू
(बालू या कंकड़ भरे के समान) वर्त्म शोफों में रोगी को अनु
होता है।

शुक्ल पटल या कर्णिका (Scera & Cornea) के पाक में
तेज होती है; परन्तु नेत्रों तक ही सीमित रहती है। पुतली,
मण्डल एवं संधान मण्डल (Iris & Ciliary Body) के शोथ
होने पर वेदना नेत्र गोलक तक सीमित न रह कर ललाट,
ऊर्ध्वहनु एवं दंतादि में विस्तृत एवं तीव्र होती है। कभी
बिना पाक के नेत्र-भार की वृद्धि से भी रुजा हो जाती है
(Glaucoma) में।

नेत्र रोगों में शिरोवेदना—नेत्र के कारण सिर में दर्द का
दो तरह का मिलेगा। १. परावर्त्तन के दोष २. नेत्र के रोग।

परावर्त्तन के दोष जन्य वेदना प्रायः मंद स्वरूप की एक स्थान
सीमित और लगातार लिखने, पढ़ने या बारीक चीजों के देखने से

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

होती है। जैसे मनुष्य को व्यायाम से थकावट का अनुभव होता है उसी प्रकार नेत्र की थकावट से भी शिरोवेदना का होना स्वाभाविक है। कई निकट दृष्टि, दूर दृष्टि या विषम दृष्टि दोषयुक्त व्यक्तियों में शिरोवेदना परावर्त्तन क्रिया के दोष से पाई जाती है। दृष्टि को ठीक बिन्दुपर केन्द्रित करने के लिये तारा एवं संधान मण्डलीय पेशियों को नेत्रगोलक को अनुकूल करने के लिये उसे ऊपर नीचे या तिरछे करने में जो परिश्रम होता है उससे यह वेदना होती है।

नेत्र की रुग्णावस्था में—आयरिस, सिलियरीपेशी, कर्णिका (Cornea) के शोथों में या अधिमंथ में भी तीव्र शिरःशूल पाया जाता है। इन रोगों में नेत्रगत लालिमा, स्रावाधिक्य तथा प्रकाशासह्यता प्रभृति नेत्र लक्षणों के साथ यदि शिरःशूल हो तो शिरोवेदना का निदान सरल होता है, अन्यथा बड़ा कठिन हो जाता है।

प्रकाश संत्रास (Photophobia)—रोगी अंधकार में रहना पसन्द करता है—प्रकाश से उसको भय होता है, प्रकाश में उसकी आँखें नहीं खुलतीं। 'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न नेत्रोन्मीलनक्षमः।'

प्रकाशासह्यता का मूल कारण वर्त्मकला (Conjunctiva) रुग्ण होना है। इसकी तीव्रता सव्रण शुक्र या कर्णिका पाक(Corneal ulcer) में पाई जाती है। आयरिस या सिलियरी पेशियों के शोफ में भी प्रकाश संत्रास तीव्र स्वरूप का ही होता है। वस्तुतः नेत्र में पाई जाने वाली नाड्यग्रों की उत्तेजना से प्रकाश की सहन शक्ति नेत्र की नहीं हो जाती है।

—∞❖∞—

५

नेत्र रोगों की सामान्यचिकित्सा

इस प्रकरण में सब प्रकार के नेत्ररोगों में उपयोगी हो, ऐसी सामान्य चिकित्सा का वर्णन प्रस्तुत है। नेत्ररोग में किस प्रकार की चिकित्सा का आश्रय प्राचीन ग्रन्थकारों ने किया है और उन विधानों के साथ आधुनिक वैज्ञानिक कहाँ तक सहमत हैं इस प्रकरण में दर्शाया जायगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

भिन्न-भिन्न रोगों की विशेष विशेष चिकित्सा पृथक्-पृथक् उन रोगों के साथ यथाक्रम आगे लिखा जायगा। नेत्ररोगों की चिकित्सा में मुख्यतया दो उपक्रम बरते जाते हैं औषध तथा शस्त्र। पुनः उनके दो भेद हो जाते हैं—१. स्थानिक तथा २. सार्वदैहिक।

साध्य रोगों में

औषधोपचार से ठीक होने वाले (Mcdieal cure)	शस्त्रोपचार से ठीक होने वाले (Surgical cure)	
'दृष्टौ न शस्त्रपतनं प्रवदन्ति	अर्शोवर्त्म, वर्त्मार्श, शुष्कार्श	
तज्ज्ञाः'	वर्त्मार्बुद, सिराजपिडिका	
(इनरोगों में विशेषज्ञ शस्त्रकर्म	सिराजाल, पञ्चविध अर्म	छेद्य
का निर्देश नहीं करते।)	पर्वणिका	
शुष्काक्षिपाक	उत्संगिनी, बहलवर्त्म	
कफ विदग्ध दृष्टि	कर्दमवर्त्म, श्याववर्त्म	
पित्त विदग्ध दृष्टि	वृद्धवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म	
अम्लाध्युषित	पोथकी युक्त वर्त्म	लेख्य
शुक्र	कुम्भीक पिडिका, शर्करा	
अर्जुन	श्लेष्मोपनाह, विसवर्त्म	भेद्य
पिष्टक	ग्रन्थिवर्त्म, क्रिमिवर्त्म	
अक्लिन्नवर्त्म	अंजननामिका	
धूम्र दर्शी	सिरोत्पात, सिराहर्ष	
शुक्तिका	अक्षिपाक (सशोफ या अशोफ)	
प्रक्लिन्नवर्त्म		वेध्य
बलास	अन्यतोवात, पूयालस	या
आगन्तुक दोनों नेत्र रोग	वातविपर्यय	सिरा
	अधिमन्थ (चारों)	
	अभिष्यन्द (चारों)	

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सार्वदैहिक उपचार—

१. पथ्यापथ्य (Diet) तथा आहाराचार ।
२. विश्राम (Rest to the Eye) ।
३. मुँह से देने योग्य औषधियों का सेवन (Drugs administered ...y).
४. प्रधान का प्रशमन—नेत्ररोग का कोई उत्पादक कारण शरीर ... हो सके जिसके उपद्रव रूप में नेत्ररोग हुआ हो तो उसका ...रण । (Treating focal Infection).
५. सिरावेध (Venesection) ।
६. लंघन और विरेचन

...युक्त विधानों का प्राचीन ग्रंथों में वर्णन मिलता है । इनके ...रिक्त कुछ अन्य उपचार भी पाश्चात्य विशेषज्ञ नेत्ररोगों में उपयोग ...ते हैं—जैसे १. सूचीवेध के द्वारा औषधियों का अन्तःक्षेपण ...न प्रकार के रक्त रस, (serum and Vaccines) तथा ...त्रिमज्वर (Artifcial fever)

स्थानिक उपचार—

१. शीतोष्ण प्रयोग (Fomentation and stupes) स्वेदन ।
२. औषधोपचार (विविध प्रकार की नेत्र में डालने वाली औषधियाँ ...rium).
३. शस्त्रकर्म (Operation therapy).
४. स्थानिक रक्त-विस्रावण ।

...युक्त उपक्रमों का प्राचीन ग्रंथों में विशद वर्णन है । सुश्रुत ने ...कल्प' नामक एक स्वतंत्र अध्याय ही नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने ...औषधियों के स्थानिक उपचार में व्यवहृत करने के लिये औषध ...तथा उपयोग विधान का उल्लेख किया है । इन उपचारों के ...रिक्त कई एक स्थानिक उपचार पाश्चात्य पद्धति के नेत्रवैद्य ...ते हैं जैसे १. नेत्रश्लेष्मावरण और नेत्र के पीछे के हिस्से में ...ध के द्वारा ओषधियों का अन्तःक्षेपण (Sub. Conjunctival

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

or Retrobulbar injection) २. विद्युत् चिकित्सा ३. नेत्र मर्दन (Massage) ४. प्रकाश चिकित्सा (Photo therapy) ५. किरण और रेडियम् चिकित्सा (X, Ray and Radium therapy)

१. *पथ्यापथ्य*—योगरत्नाकर के निम्नलिखित श्लोकों में नेत्र में पथ्यकर द्रव्यों के नाम गिनाये गये हैं[1]—इन श्लोकों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि नेत्रोपयोगी पदार्थों के चयन करने में आचार्यों ने अटकल से काम नहीं लिया है; अपितु बहुत विचार पूर्वक सिद्धान्त स्थिर करते हुए द्रव्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है।

नेत्र या चक्षु एक इन्द्रिय का अधिष्ठान है। वह इन्द्रिय सबल होने पर वस्तु का दर्शन कराती है अन्यथा नहीं। पदार्थ के दर्शन में नेत्रस्थ आलोचक पित्त हेतु होता है। वह आलोचक पित्त नेत्रस्थ वात और नेत्रान्तर्गत श्लेष्मा से युक्त होने के कारण त्रिदोषात्मक है। उसी प्रकार नेत्र का कृष्ण भाग वातिक, लाल भाग पैत्तिक, और श्वेत भाग श्लैष्मिक होने की स्थूल रूपेण इसी बात की साक्षी देता है। अतः सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों दृष्टियों से नेत्र उतना ही त्रिदोषात्मक है जितना कि शरीर का अन्य भाग। अतः शरीर के जिस भाग में जो भी दोष बढ़ेगा उसका प्रभाव नेत्र पर पड़े बिना नहीं रहेगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण धतूर है, इसके गुणों का वर्णन करते हुए भावमिश्र ने लिखा है 'धतूर मद, वर्ण, अग्नि और वात

१. वार्ताकुकर्कोटकारवेल्लं नवीनमोचं नवमूलकञ्च।
पुनर्नवामार्कवकाकमाचीपत्तूरशाकानि कुमारिका च।
द्राक्षा च कूस्तुम्बुरुमाणिमन्थरोध्रं वरा क्षौद्रमथोपनाहनम्।
नारीपयश्चन्दनमिन्दुखण्डं तिक्तानि सर्वाणि लघूनि चापि।
लावो मयूरो वनकुक्कुटश्च कूर्मः कुलिङ्गोऽथ कपिञ्जलश्च।
विजानता पथ्यमिदं प्रयुक्तं यथामलं नेत्रगदं निहन्ति।
शालितण्डुलगोधूममुद्गसैन्धवगोघृतम्। गोपयश्च सिता क्षौद्रं पथ्यं नेत्रगदे स्मृतम्।
सर्वं शाकमचुष्यं चक्षुष्यं शाकपञ्चकम्। जीवन्ती वास्तु मत्स्याक्षी मेघनादः पुनर्नवा॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0 In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

...न करने वाला ज्वरघ्न एवं कुष्ठघ्न होता है।" इसमें वातकृत (...कारक) शब्द का महत्त्व है। वात के प्रभाव से त्वचा पर असर ...चा में रुक्षता का आना, नेत्र के ऊपर प्रभाव होने से विस्फार...क की विस्तृति, कृष्णभाग की विस्तृति प्रभृति लक्षण धतूर ...में मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार का असर अत्यधिक मद्यपान ...से होता है।[2]

...भावमिश्र ने सभी घृतों को चक्षुष्य माना है।[3] पुनः जब पृथक्-...घृत के गुणों का वर्णन आता है तो केवल गोघृत, अजाघृत, ...घृत, स्त्रीघृत और मक्खन को चक्षुष्य मानते हैं। हरी घास और ...धूप में उगने वाली विटैमीन 'ए' युक्त वनस्पतियों को चरने ...पशुओं के घृत में मेद-विद्रावण नेत्ररोगनाशक तत्त्व अवश्य ही ...अतः सभी घृतों से नेत्र को लाभ हो सकता है फिर अधिक ...करने पर ऐसा भी मालूम होता है कि माहिष घृत और पुराण ...में यह चक्षुष्य गुण नहीं रहता या अत्यल्प रहता है।

...राजनिघंटुकार की दृष्टि से विचार किया जाय तो उनके मत से ...घृत नवनीत ही चक्षुष्य है। भावमिश्र की भाँति गोघृत को पूर्ण-...चक्षुष्य नहीं मानते। माहिषघृत, अजाघृत और नारीघृत में ही ...कारक गुण देखते हैं। इनके विचार से सभी घृत चक्षुष्य नहीं ...आविघृत भी चक्षुष्य नहीं होता।

...गोमूत्र चक्षुष्य है ऐसा भावमिश्र का कथन है, परन्तु राजनिघण्टु ...माहिष मूत्र को चक्षुष्य कहा गया है, गोमूत्र को नहीं।[4]

---

1. धत्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत् ।
2. लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च ।
   रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ।
3. घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ।
   शीतवीर्यं विषालक्ष्मीकफपित्तानिलापहम् ।
4. गोमूत्रं—शूलगुल्मोदरानाहकण्ड्वक्षिमुखरोगजित् । (भावप्रकाश)
   माहिषमूत्र—माहिषं मूत्रमानाहशोफगुल्माक्षिदोषनुत् । (राजनिघण्टु)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust, Funding IKS-MoE-Gra

सार्षप तैल को उष्णवीर्य एवं पित्त को दूषित करनेवाला माने भी राजनिघण्टु में उसे चक्षुष्य बतलाया गया है, परन्तु भावमि ऐसा नहीं लिखा है। उन्होंने धान्यज तैलों पर शोध करके गोधूम को चक्षुष्य माना है। इस गेहूँ के तेल से आधुनिक वैज्ञानिकों ने विशेष प्रकार की जीवतिक्ति (Vitamine E) का पुंस्त्व पोषक वंध्यात्वनिवारक गुण बतलाते और चिकित्सा में प्रयोग में लाते इस तैल में जीवतिक्ति 'बी' के भी कुछ अवयव रहते हैं जो माने गये हैं। जीवतिक्ति 'ई' की नेत्रोपयोगी क्षमता का अभी तक नहीं है। संभव है भविष्य में शोध होकर इस सिद्धान्त का समर्थन होने लगे; परन्तु भावमिश्र ने गोधूम तैल को चक्षुष्य माना

करञ्ज तैल तथा सार्षप तैल नेत्र के लिये लाभप्रद हैं; कुसुम्भ अतसी के तैल हानिकर हैं। क्योंकि एक अत्यधिक अश्रुस्रावक दूसरा कफ एवं पित्त का वर्द्धक है। वैसे कटु तैल का सामान्यतया रोगों में निषेध है मूत्रों के गुणों और दोषों का जो विवेचन प्राचीन ऋषियों ने किया है वैसा अभी तक नहीं हो पाया है। प्रकार के जीवों के मूत्रों में पृथक्-पृथक् गुणों की विवेचना कर चिकित्सा के लिये प्रयोग करने की क्षमता केवल अनुमानतः सकती। इसके पीछे गवेषणाओं का अलिखित इतिहास है, जिसके मसि और कागज को कोई सुरक्षित नहीं रख उसके कुछ सूत्र शेष हैं जो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के लिये देन हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि गाय एवं भैंस का दही नहीं होता। यह कह सकते हैं कि इनके दूध में जब चक्षुष्य गुण है, फिर रूपान्तर में दधि में वह कैसे नहीं रह जाता। इसका यही है कि वह तत्त्व दही के अभिष्यंदी (स्रोतसनिरोधी) होने वह गुण मंद पड़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अचक्षुष्य तो नहीं हो पाते; परन्तु नेत्रविकारहर नहीं होते। और बकरी के दूध में ये नेत्रपोषक तत्त्व इतने प्रबल होते हैं कि

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

...धि के अभिष्यंदी गुणों पर भी विजय प्राप्त करके चक्षुष्य होकर अपनी ...ता स्थिर रखते हैं।[1]

क्षीरों में—गो और माहिष दोनों ही क्षीर इनके घृतों के समान ही ...ई विशेष लाभ नेत्रों को नहीं पहुँचाते। अजा और आवी (भेड़) ...क्षीर भी इस दृष्टि से लाभप्रद नहीं होता; परन्तु हस्तिनी क्षीर और ...नुषी क्षीर ये दो ही नेत्र्य और चक्षुष्य कहे[2] गये हैं।

मधु को साधारणतया चक्षुष्य माना गया है परन्तु विशेष रूप से ...खने पर मधु की आठ जातियों में से केवल क्षौद्रमधु में विशेषतः ...त्रोपकारक गुण है। यह मधु छोटी देशी शहद की मक्खी से बनता ...है। अतः नेत्र रोगी के लिये पहाड़ी शहद न लेकर देशी शहद का ...योग हितकर है।[3]

मधु शर्करा जिसे ग्लुकोज कहा जा सकता है वह चक्षुष्य है।[4]

...रत्नों में हीरकभस्म, मणिक्यभस्म, मुक्ता तथा विद्रुम (प्रवाल) ...भस्म नेत्रोपयोगी हैं।[5]

---

१. दध्याजं कफवातघ्नं लघूष्णं नेत्रदोषनुत्। अश्वीदधि स्यान्मधुरं कषायं.... ...बलालपदं दीपनकारि नेत्रदोषापहं तत्कथितं पृथिव्याम्। चक्षुष्यं ग्रहदोषघ्नं दधि ...स्तन्यसंभवम्।

२. मधुरं हस्तिनीक्षीरं वृष्यं गुरुकषायकम्। स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम्। मधुरं मानुषीक्षीरं कषायञ्च हिमं लघु। चक्षुष्यं दीपनं पथ्यं पाचनं रोचनञ्च तत्।

३. चक्षुष्यं दीपनं स्वर्य्यं व्रणशोधनरोपणम्।
क्षौद्रं तु शीतं चक्षुष्यं पिच्छिलं पित्तवातहृत्।

४. माक्षीकशर्करा प्रोक्ता सिता खण्डश्च खण्डवः।
सिताखण्डोऽतिमधुरश्चक्षुष्यः छर्दिनाशनः। (भा० प्र०)

५. वृष्यं महायुष्यमतीव नेत्र्यं बल्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम्।
मेध्यं विशेषाद्विविधामयघ्नं सुधोपमं स्यात्सुमृतं तु हीरम्। (र० त०)
माणिक्यं लेखनं शीतं कषायं मधुरं सरम्।
चक्षुष्यं मङ्गलं दाहदुष्टग्रहविषापहम्।

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जहाँ अत्यन्त शीतवीर्य उपर्युक्त रत्नोपरत्न नेत्रोपयोगी हैं वहाँ उ... वीर्य वत्सनाभ भी कम उपयोगी नहीं है ।[१]

चूने के विभिन्न यौगिकों में कपर्दक को 'नेत्रदोष निकृन्तन' क... गया है । इसी प्रकार खटी (खड़िया) के सम्बन्ध में भी उसे 'नेत्र... निकृन्तनी' बतलाया गया है । ध्यान देने योग्य बात है कि कपर्द उ... है (कपर्दः कटु तिक्तोष्णः) और खटी शीतल है । (खटिनी मधुर... तिक्ता शीतला……) फिर भी दोनों नेत्र्य हैं । परन्तु शंख और शु... नेत्र्य हों ऐसा वर्णन नहीं मिलता । मुक्ता और मुक्ता-शुक्ति में कोई ... है या नहीं इसका प्रमाण 'कैल्शियम कार्बोनेट' की उपस्थिति मा... बतलाने वाला आधुनिक विज्ञान तथा उसके अनुसरणकर्ता भले ही ... पावें क्योंकि उनका ज्ञान एक स्थूल 'एनालिटिकल' प्रायोगिक परीक्ष... तक ही सीमित रहता है; परन्तु जिनके प्रयोगों की सूक्ष्म विवेच... इनसे कहीं आगे बढ़ी हुई थी वही प्राच्य विद्वान् इन दोनों के गुणों ... अन्तर बतलाते हुए आज भी कहते हैं कि मुक्ता में चक्षुष्य गुण है... मुक्ता शुक्ति में नहीं । यदि नेत्र की दृष्टि से चयन करना है तो मुक्ता के... अभाव में खटी लेना चाहिये मुक्ता शुक्ति नहीं । परन्तु जहाँ अन्य रोगों... (हृद्रोगादि) का विचार हो वहाँ पर मुक्ता के स्थान पर मुक्ता शुक्ति का... प्रयोग रस, गुण, विपाक, वीर्य, कर्म प्रभावात्मक सादृश्य से किया जा... सकता है ।[२]

मौक्तिकञ्च मधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम् ।
विद्रुमं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम् ।
दीपनं पाचनं चैव दृष्टिदोषनिषूदनम् । (रा० नि०)

१. विनिहन्ति विशेषेण तिमिरञ्च निशान्धताम् ।
अभिष्यन्दं कर्णशोथं नेत्रशोथं च दारुणम् । (र० त०)

२. कपर्दक (कौड़ी) गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः ।
खटी (खड़िया) व्रणदोषकफास्रघ्नी नेत्ररोगनिकृन्तनी ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

विभिन्न धातुओं के भस्मों की ओर ध्यान देने पर निम्न लिखित धातुओं को चक्षुष्य माना है ।[1]

नाग, मण्डूर तथा रौप्यमाक्षिक के अतिरिक्त प्रायः सभी धातुओं की क्रिया नेत्ररोगों पर होती है। किसी भस्म का क्या गुण है यह ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि जो भस्म नेत्र्य है वह नयनामयघ्न है या इसका विलोम है यह कहना संभव नहीं। स्वर्ण, स्वर्णगैरिक, स्वर्णमाक्षिक, वंग, कांस्य, लौह और खर्पर जहाँ नेत्रोपयोगी हैं वहाँ ताम्र, तुत्थ, यशद और अंजन नेत्ररोगहर हैं। इनका बाह्य प्रयोग विकृतर नेत्ररोगों में होता है। संभवतः इन धातुओं का अल्प मात्रा में अन्तःप्रयोग नेत्रोपयोगी तथा बाह्यप्रयोग नेत्ररोगहर है। नेत्र्य या नेत्रोपयोगी कहने से 'प्रोफिलैक्सिस' के लिये तथा नेत्रामयहर कहने से 'क्यूरेटिभ' मूल्य के लिये उनका व्यवहार करना चाहिये।

अभ्रकभस्म विशेषकर मधु और त्रिफलाचूर्ण के साथ अन्तःप्रयोग द्वारा नेत्रों के लिये अतीव हितकर है ।[2]

---

१. स्वर्ण—शीतं स्वादु रसायनञ्च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुष्प्रदम् ।
कांस्य—कांस्यन्तु तिक्तमुष्णं चक्षुष्यं वातकफविकारघ्नम् ।
ताम्र—दुर्नामग्रहणीगदप्रशमनं नेत्रामयेषूत्तमम् ।
वङ्ग—चक्षुष्यं सुमतिप्रदं क्षयहरं शुक्रैकसंवर्द्धनम् ।
यशद—यशदं तुवरं शिशिरं कटुकं परमं नयनामयनाशकरम् ।
लौह—वीर्ये शीतं गुरु च तुवरं लेखनञ्चातिनेत्र्यम् ।
स्वर्णमाक्षिक—तिक्तं स्वर्यं च चक्षुष्यं त्रिदोषघ्नं परं मतम् ।
तुत्थ—कफघ्नमथ चक्षुष्यं व्रणदोषनिषूदनम् ।
खर्पर—चक्षुष्यः सर्वमेहघ्नो रक्तप्रदरनाशनः ।
कासीस—श्वित्रघ्नं नेत्र्यमतुलं विषघ्नं कचरञ्जनम् ।
स्रोतोञ्जन—रक्तपित्तक्षयकरं नेत्रामयनिषूदनम् ।
सौवीराञ्जन—रक्तपित्तप्रशमनं नेत्रामयहरं परम् ।
स्वर्णगैरिक—विषापहं तथा बल्यं मतं लोचनयोर्हितम् ।
२. सक्षौद्रं सवरं व्योमदृष्टिकरं परम् ।

Rajguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

मल्ल, ताल या मनःशिला या अन्य उनके द्वारा निर्मित योग 'इंजेक्शन' नेत्रों के लिये लाभप्रद नहीं होता। अतः इनका प्रयोग समय नेत्र रक्षक उपचार आवश्यक है। सहज फिरंगी के 'केरेटाइटिस' (कृष्णमण्डल शोथ) सेन्द्रियमल्ल के इंजेक्सन का जो प्रभाव है वह फिरंग के चक्रकाणु के कारण है साधारण नेत्ररक्षा की दृष्टि से नहीं।

स्फटिका नेत्ररोगों में बाह्य प्रयोग के लिये चलती है, क्योंकि उसका कषायगुण नेत्र की श्लेष्मलकला पर संकोच प्रभाव डालता है परन्तु स्फटिक भस्म का अन्तःप्रयोग चक्षुष्य है।

राजनिघण्टु के चंदनादि नामक वर्ग के प्रकरण में ३७ औषध द्रव्यों का वर्णन आया है। जिनमें चन्दन, कुंकुम, कस्तूरी, कर्पूर, जातीफल, लवङ्ग, मांसी, गुग्गुलु, सारिवा, पद्मक, पुण्डरीक और अगुरु मुख्य हैं। इनमें से केवल कर्पूर, लाल चन्दन, कस्तूरी, लवङ्ग और प्रपौण्डरीक को चक्षुष्य गिनाया है। शेष द्रव्य चक्षुष्य नहीं माने गये। महत्त्व की बात तो यह है कि अत्युष्ण कस्तूरी और अति शीतल कर्पूर और पुण्डरीक तीनों चक्षुष्य हैं।[1]

भावप्रकाश का फलवर्ग तथा राजनिघण्टु का आम्रादिवर्ग देखने से अनेक लाभ की बातें चक्षु के सम्बन्ध में ज्ञात होती हैं जैसे[2]—

१. आम्रातियोग आम्र का अधिक सेवन नेत्ररोगकर है।

२. लकुच का प्रयोग नेत्रों के लिये अहितकर है।

३. केला साधारणतया नेत्र्य नहीं तथापि नेत्ररोगों में प्रयोग किया जा सकता है।

---

१. कर्पूरः शीतलो वृष्यः चक्षुष्यो लेखनो लघुः। कस्तूरी सुरभिस्तिक्ता चक्षुष्या मुखरोगजित्। लवङ्गं शीतलं तिक्तं चक्षुष्यं भक्तरोचनम्। प्रपौण्डरीकं चक्षुष्यं मधुरं तिक्तशीतलम्।

२. आम्रातियोगे नयनामयञ्च। (लकुच) शुक्राग्निनाशनं वापि नेत्रयोरहितं स्मृतम्। (कतकर फल)—चक्षुष्यं वातकृच्छीतं रक्तपित्तं तृषां वमिम्। कतक बीजन्तु चक्षुष्यं तुवरं गुरुम्॥ द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

४. नारियल, ताड़फल, खजूर, छुहारा नेत्र में लाभप्रद नहीं बतलाये गये हैं।

५. खर्बूजा, तर्बूज और खीरा नेत्र्य नहीं है।

६. अनार, फालसा, और नारङ्गी नेत्ररोगों में प्रयुक्त नहीं होते।

७. निर्मलीफल या बीज (बाह्य प्रयोग), द्राक्षा और निम्बूक (अन्तःप्रयोग) नेत्रोपकारक है।[1]

८. चिरौंजी, फिन्दक, चिलगोजा, अखरोट, मखाना और बादाम चक्षुष्य नहीं हैं।

९. विभीतकी, आमलकी और हरीतकी ये तीनों नेत्र के लिये हितकर हैं।[2] अतएव त्रिफलाघृत की प्रशंसा करते हुए शार्ङ्गधर ने लिखा है कि इस घृत का सेवन, नस्य तथा अंजनादि में प्रयोग करने से विभिन्न दारुण नेत्ररोग अच्छे हो जाते हैं।[3]

राजनिघण्टु के करवीरादि वर्ग में मल्लिका, वल्लिका, त्रिविध तुलसी और नागर को ही चक्षुष्य बतलाया है। अशोक, चम्पा, केवड़ा, जपा आदि के नेत्रों पर कार्य करने का कोई विशेष उल्लेख नहीं।

अन्य वनस्पतियों में निम्न नेत्रों पर प्रभाव डालतीं तथा हितकारी कही गई हैं—मुद्गपर्णी, स्वर्ण जीवन्ती, गिरीकर्णी, इन्दीवरा, श्वेत दूर्वा, श्वेत कण्टकारिका, द्रवन्ती, कुलत्थ, कृष्ण जीरक, हिंगु, सैन्धव, मधुयष्टी, मञ्जिष्ठा, दारुहरिद्रा, लोध्र, समुद्रफेन, सभी क्षार, शिग्रु, श्वेत

---

१. निम्बूफलं प्रथितमम्लरसं कटूष्णं गुल्मामवातहरमग्निविवृद्धकारि।
चक्षुष्यमेतदथ कासकफार्तिकण्ठविच्छर्दिहारि परिपक्वमतीव रुच्यम् ॥

२. (विभीतक)—चक्षुष्यः पलितघ्नश्च विपाके मधुरो लघुः।
(आमलकी)—धातुवृद्धिकरं नेत्र्यं लेपनात्कान्तिकारकम्।
(हरीतकी)—चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमिनी।

३. नक्तान्ध्यं नकुलान्ध्यञ्च कण्डूं पिल्लं तथैव च।
नेत्रस्रावञ्च पटलं तिमिरं काचकं जयेत् ॥
अन्येऽपि प्रशमं यान्ति नेत्ररोगाः सुदारुणाः।
त्रैफलं घृतमेतद्धि पाने नस्यादिषूचितम् ॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

रसोन, कौसुम्भ शाक, पाकड़ (पक्काण्ड) वृश्चिकाली (पुनर्नवा) तथा पुत्रजीव । ये द्रव्य किस प्रकार किन-किन अवस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं, आगे का विषय है ।

नेत्र-स्वास्थ्य-संरक्षण की दृष्टि से नासा से जल पीना नेत्र के लिये परम उपकारक है । यह क्रिया रात्रि के वीत जाने पर प्रभात काल (प्रत्यूषे) करनी चाहिये । घ्राणरन्ध्र से पानी पीने की विधि को प्रातः काल और मुख द्वारा जल पीने का रात्रि में विधान है ।[1]

लंघन—नेत्र रोगों में लंघन (उपवास) करना एक बड़ी उत्तम चिकित्सा है । नेत्र रोगों की आमावस्था (Acute codition) में चार दिनों तक उपवास रोगी को कराना चाहिये । साथ ही पाचन के लिये स्वादु और तिक्त द्रव्यों का सेवन कराना चाहिये । आँख और कुक्षिगत रोग, प्रतिश्याय, व्रण, ज्वर ये पाँच रोग पाँच रात्रि के उपवास से ही ठीक हो जाते हैं ।[2] उपवास का अर्थ यहाँ पर लघु एवं सुपाच्य भोजन लेना चाहिये । 'लङ्घनं लघु भोजनम् ।'

अपथ्य—नेत्ररोगों में सामान्यतया निम्न आहार और विहार अहितकर है ।

क्रोध, शोक, मैथुन, वेगविधारण (अश्रु, वायु, मल, मूत्र, निद्रा, वमन, आदि का) सूक्ष्म वस्तुओं का देखना, दन्तघर्षण, स्नान[3] अधिक रात बीतने पर भोजन करने का अभ्यास, धूप का सेवन, बहुत बोलना (प्रजल्पन), वमन, अधिक जल पीना, महुए का फूल, दधि, पत्र शाकों का सेवन, कालिङ्ग (तबूंज), पिण्याक (खली), विरुद्ध

१. यः पानीयं पिबति शिशिरं स्वादु नित्यं निशीथे
प्रत्यूषे वा पिबति यदि वा घ्राणरन्ध्रेण नीरम् ।
सोऽयं सद्यः पतगपतिना स्पर्द्धते नेत्रशक्त्या
स्वर्गाचार्यं प्रहसति धिया द्वेष्टि दस्रौ च तन्वा ॥ (यो. र.)

२. अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् (यो. र.)

३. नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं च परिवर्जयेत् ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

(अंकुरित धान्य), मत्स्य, सुरा (मद्य), अजाङ्गलमांस, ताम्बूल, अम्ल पदार्थों का सेवन, लवण ज्यादा खाना, विदाही पदार्थों का अधिक सेवन, तीक्ष्ण, कटु उष्ण एवं गरिष्ठ अन्न या पान का सेवन इन पदार्थों को नेत्ररोगी को छोड़ देना चाहिये ।[1]

उड़द, कांजी, कटु तैल, जलावगाहन (जल में डुबकी मार कर स्नान करना), छोटे या महीन अक्षरों का पढ़ना या सूक्ष्म चीजों का अत्यधिक निरीक्षण, मैथुन, रात्रि जागरण, शाक, अम्ल, मत्स्य, दधि-फाणित, वेसवार तथा सूर्यावलोकन (सूर्य की तरफ) देखने से चक्षु का नाश होता है ।[2]

पाश्चात्त्य नेत्ररोग के ग्रन्थों में पथ्यापथ्य का इतना विशद विवेचन नहीं पाया जाता तथापि इसकी विचारणा दो दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये । १. नेत्र की विविध व्याधियों में पथ्यापथ्य का निर्णय, २. भोजन के पोषक तत्त्वों (Vitamins etc;) की न्यूनता से उत्पन्न व्याधियों में उन-उन तत्त्वों की प्रधानता वाला आहार देना चाहिये ।

प्रत्येक नेत्ररोगी में शोफ की अवस्था में अति उत्तेजक आहार नहीं देना चाहिये । मसाले वाले, चरपरे, गर्म पदार्थों का विशेषतः मद्यपियों में मद्य-सेवन का परिहार एवं तम्बाकू पीनेवालों में तम्बाकू का वर्जन कराना चाहिये ।

---

१. क्रोधं शुचं मैथुनमश्रुवायुविएमूत्रनिद्रावमिवेगरोधम् ।
सूक्ष्मेक्षणं दन्तविघर्षणञ्च स्नानं निशाभोजनमातपञ्च ॥
प्रजल्पनं छर्दनमम्बुपानं मधूकपुष्पं दधिपत्रशाकम् ।
कालिङ्गपिण्याकविरूढकानि मत्स्यं सुरामांसमजाङ्गलञ्च ॥
ताम्बूलमम्लं लवणं विदाहि तीक्ष्णं कटूष्णं गुरु चान्नपानम् ।
नरो न सेवेत हिताभिलाषी सर्वेषु रोगेषु दृगाश्रयेषु ॥

२. माषारनालकटुतैलजलावगाहक्षुद्राक्षरैश्च सुरतैर्निशि जागरैश्च ।
शाकाम्लमत्स्यदधिफाणितवेसवारैश्चक्षुः क्षयं व्रजति सूर्यविलोकनाच्च ॥
(यो र.)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

कई प्रकार के रोग न्यूनताजन्य होते हैं। जैसे नक्तांध्य, कृष्णमण्डल का शुष्क शोथ जीवतिक्ति 'ए' की न्यूनता से, शुक्तिका (Phlyctenules) जीवतिक्ति 'बी' की कमी से, नेत्रगत रक्तस्राव, जीवतिक्ति 'सी' एवं 'के' के अभाव से होता है।

एक सांघातिक व्याधि शिशुओं में होती है जिसमें कृष्णमण्डल का कोथ (Necrosis of cornea) होती है। यह व्याधि प्रायः उन शिशुओं में होती है जो अति कृश हों, पुराने अतिसार से क्षीण हों, जिनको माता का दूध नहीं मिल पाता या अत्यल्प मिलता हो या अल्प पोषक तत्त्व युक्त हो, यह रोग अधिकतर जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' की कमी से होता है। अतः रोग के निवारणार्थ जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' युक्त दूध की योजना करनी चाहिये। ऐसे रोगियों में काड, हैलिबट, शार्क प्रभृति मछली का तैल, ताजा मक्खन, ताजा दूध आदि आहार दिया जाय तो शीघ्र लाभ होता है। इन दृष्टियों के अनुसार आधुनिक ग्रन्थों में पथ्य की व्यवस्था की जाती है।

२. *विश्राम*—नैसर्गिक नियम है कि शोथ युक्त अङ्ग को विश्राम देने से शोफ का उपशम शीघ्रता से होता है—इसके विपरीत अङ्ग को क्रियाशील रखने से शोफ का शमन जल्दी नहीं हो पाता। जिस प्रकार यह नियम शरीर के अन्य भागों पर लागू होता है उसी प्रकार नेत्रों की रुग्णावस्था में समझना चाहिये। रोगी की आँख को वायु, जल और प्रकाश से रक्षा करने तथा पूर्ण आराम के खयाल से दोनों आँखों पर चीनपट्ट (आँख पर पट्टी बाँधकर) रखा जा सकता है।

३. *व्यायाम*—जैसे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये व्यायाम एक आवश्यक स्वास्थ्यप्रद अंग माना गया है वैसे ही शीर्षासन, सूर्यनमस्कार प्रभृति व्यायाम नेत्र के लिये हितकर माने गये हैं।

४. *नेत्ररोगोत्पादक कारणभूत देहगत उपसर्गस्थल को दूर करना*—नियम है 'प्रधान प्रशमात्प्रशमः' प्रधान व्याधि के शमन से उपद्रवों का भी शमन हो जाता है। यदि नेत्ररोग औपद्रविक है और कारणभूत शरीर के किसी भाग में यदि कोई विकार केन्द्र या विकारयुक्त स्थान

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

तो उसको दूर करना चाहिये जैसे—दन्तवेष्ट, कण्ठशालूक, नासा र शोथ, गोस्तन प्रवर्द्धन शोथ, अपची क्षय आदि ।

५. *अन्तःप्रयोज्य औषधियाँ*—रोगानुसार आमवात, क्षय या फिरंगि का उपसर्ग नेत्ररोगी में जान पड़े उसके प्रत्यनीक चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिये । यदि नेत्र में पीड़ा अधिक हो तो पीडा-शामक औषधियों का उपयोग करना चाहिये । शोफशामक औषधियों में विशेष प्रोभूजिन (Non specific Protien Therapy) का अन्त-क्षेपण तथा शुल्वयोग (Sulphadrugs) और 'पेन्सिलीन' तथा अन्य बायोटिक्स का व्यवहार भी करना चाहिये । कई प्रकार के रक्त नाली प्रसारक (Vrsodilators) तथा ग्राही (Coagulents) औषधियों का प्रयोग भी रोगानुसार करना होता है ।

६. *शिरावेध*—यदि रोगी का रक्त भार अधिक (२०० मि. मी.) तो शिरावेध करके पचास सी. सी. तक रक्त को निकाल कर (शिरा-वेध के द्वारा) रक्तभार को कम करना चाहिये अन्यथा मस्तिष्क अन्तः-स्राव का भय रहता है ।

कृत्रिमज्वर—(Artificial fever) आधुनिक ग्रन्थों में एक कृत्रिम-ज्वर पैदा करके नेत्ररोग को दूर करने का पाठ मिलता है । कृष्ण मण्डल गम्भीर शोथ यदि किसी उपचार से शान्त न हो तो तृतीयक ज्वर पीडित रोगी की शिरा से १० सी. सी. रक्त निकाल कर नेत्ररोगी शिरा में प्रविष्ट करके ज्वर पैदा किया जाता है । ऐसा करने से उसे आता है कुछ बारीतक आ जाने के बाद पुनः किनीन दे कर ज्वर उतार लेना चाहिये इस विधि से नेत्ररोग में लाभ होता है ।

लंघन तथा शोधन—प्राचीन ग्रंथों में नवीन नेत्ररोगी को लंघन कराने विधान है साथ ही दोषानुसार उसे वमन तथा विरेचन वस्ति एवं विरेचन कोयथावश्यक देकर शोधन करने का भी उपदेश है ।

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

६

नेत्ररोगों के स्थानिक उपचार

शीतोष्ण प्रयोग[1]

शीतल प्रयोग—जब नेत्र लाल हो जाते हैं और उनमें शोथ हो जाता है तो अनेक बार शीतल जल से धोने या शीतल गुलाब जल के फोये, बकरी के दूध की पट्टी, अथवा बर्फ के टुकड़े को कपड़े में लपेट कर नेत्र पर शीतल सेंक करने से बड़ा लाभ होता है। इस प्रयोग से नेत्रगत प्रदाह शान्त होता है और रोगी को शान्ति का अनुभव होता है। शीतल प्रयोग से रक्तवाहिनियों का आकुंचन होता है जिससे रोग की प्रथमावस्था हो, तो शोथ और वेदना का निवारण हो जाता है। अस्तु, शीतल उपचार प्रारम्भ में ही लाभप्रद होता है परन्तु पश्चात् उष्णोपचार करना चाहिये।

उष्ण प्रयोग—इस उपचार के अनेक प्रकार हैं जिनमें मुख्य दो हैं— १. शुष्क या रुक्ष स्वेद (Dry fomentation) २. आर्द्र या स्निग्ध स्वेद (Wet fomentation)

(१) रुई या कपड़े को स्वच्छ कपड़े में लपेट कर एक पोटली बना उसे अंगीठी की आँच पर गर्म कर, जो आँख को सह्य हो, सेंक करना चाहिए। ऐसी दो पोटलियाँ होनी चाहिये एक गर्म होती रहे तथा एक के ठण्डे होने पर दूसरी से सेंकता रहे।

(२) आर्द्र सेंक (उष्णाम्बुकचैलिक स्वेद) की सरल रीति यह है कि एक बर्तन में पानी डालकर अंगीठी पर चढ़ा कर जब पानी खौलने लगे तो उसमें यथावश्यक नमक, फिटकिरी, अफीम की खाली डोडी, त्रिफला चूर्ण या बोरिक एसिड (टङ्कण–५ ग्रेन १ औंस) मिला दें।

१. तत्रोष्मणो निग्रहार्थं तथा दाहप्रपाकयोः।
शीतमालेपनं कार्यं परिषेकश्च शीतलः॥ (सु. चि. २)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

बर्तन को उतार कर उसमें लिण्ट या रुई (जमाई हुई) के चार वस्त्र के दो तीन टुकड़े डाल दे फिर उसको जब सह्य हो पानी निचोड़ कर आँख पर सेंक करे। एक टुकड़ा शीतल होने पर उसे बर्तन में डाल दे, दूसरे टुकड़े को निचोड़ कर नेत्र पर रखे। इस प्रकार १०-१५ मिनट तक दिन में दो तीन बार सेंक करना चाहिये। इसी का उत्तर तंत्र सूत्र में नेत्र रोगों में सुश्रुत ने 'गर्म पानी और वस्त्र के स्वेद' का वर्णन किया है।[१]

स्वेद करने पर सब प्रकार के शोथ में लाभ होता है—यह शोफ का सामान्य उपक्रम है आयुर्वेद के चिकित्सा ग्रंथों में स्वेदन का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसका स्थानिक तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का वर्णन एवं विभिन्न प्रकार के रूक्ष-स्निग्ध स्वेदनों का विधान मिलता है।[२] यहाँ पर एक नेत्र के स्थानिक स्वेदन मात्र का उल्लेख ही प्रासंगिक है। सुश्रुत ने हृदय, वृषण और दृष्टि में स्वेदन करने का निषेध किया है तथापि यदि आवश्यक हो तो आँख को बन्द करके मृदु (Mild) या मध्यम (Moderate) स्वेद किया जा सकता है। सामान्यतया वायु और कफ के विकारों में स्वेदन की क्रिया की जाती है।[३]

औषधोपचार (Collirium)—नेत्र रोगों के चिकित्सा विधान में स्थान स्थान पर तर्पण, आश्च्योतन, सेक, पुटपाक, तथा अञ्जनादि का वर्णन मिलता है। यहाँ पर संक्षेप में इन्हीं विषयों पर शास्त्रोक्त विवेचन किया जा रहा है।[४]

---

१. आद्यन्तयोश्चाप्यनयोः स्वेद उष्णाम्बुचैलिकः।
उष्णाम्बुसिक्तेन कर्पटेन (कपड़ा) स्वेद इत्यर्थः (सु. उ. १८)
सुखोदकं प्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः। (सु. उ. १५.)

२. वातश्लेष्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरूक्षस्तथा स्निग्धो रूक्षश्चाप्युपकल्पितः।

३. वृषणौ हृदयं दृष्टी स्वेदयेन्मृदुनैव वा। मध्यमं वंक्षणौ शेषमङ्गावयवमिष्टतः।
... पिण्ड्या गोधूमानामथापि वा। पद्मोत्पलपलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषी।

४. तर्पणं पुटपाकश्च सेक आश्च्योतनाञ्जने।
तत्र तत्रोपदिष्टानि तेषां व्यासं निबोध मे॥ (चरकः चि. १४)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

तर्पण या सन्तर्पण विषयाविषय (Indicaton and contra-indi- cation)—नेत्रों के म्लान, दृष्टि स्तब्ध, शुष्क, रूक्ष, अभिहत, वात रोग से पीडित, कुटिल, शीर्ण पटल, कठिन वर्त्म, कृच्छ्रोन्मीलन, शिरा- शिरोत्पात, तम, अर्जुन, अभिष्यन्द, मन्थ, अन्यतोवात, वातविपर्यय, रोग से पीडित होने पर अथवा अश्रुस्राव, रक्तिमा एवं रोग का वेग होने पर अक्षि का तर्पण करने से नेत्र का बल बढ़ता है।[1]

तर्पण कर्म के उपयुक्त अवस्था या काल—अत्युष्ण या अतिशीत दुर्दिन, चिन्ता, परिश्रम, भ्रम से थके रोगी में तथा, जब-जब नेत्र रोग के लक्षण हल्के या शान्त न हो जायँ तर्पण की क्रिया नहीं करनी चाहिये।[2]

तर्पण विधान—पूर्वकर्म—वमन एवं विरेचन के द्वारा देह की शुद्धि तथा शिरोरेचन के द्वारा सिर का शोधन हो जाने के पश्चात् जब भोजन जीर्ण हो गया हो शुभ दिन को (शुभकाल में भोजन के पूर्व अथवा भोजन के पच जाने पर) पूर्वाह्न (प्रातः) या अपराह्न (सायं) नेत्रों का तर्पण करना चाहिये।[3]

कर्म—इसकी विधि यह है कि रोगी को एक ऐसे घर में जिसमें वायु, धूप और धूलि का प्रवेश न हो सकता हो, उत्तान (सीधा) लिटा कर उसके नेत्रों के चारों ओर उड़द के आटे की दृढ़ मण्डलाकार बाँध (मेड़) इस प्रकार की बना दी जाती है कि उसमें कोई छिद्र न रहे। पश्चात् घृत मण्ड (घृत के ऊपर का स्वच्छ भाग) को सुखो-

१. ताम्यत्यतिविशुष्कञ्च यद्रूक्षं यच्च दारुणम्। शीर्णपक्ष्माविलं जिह्मं रोगार्तं च यद् भृशम्। तदक्षि तर्पणादेव लभेतोर्जामसंशयम्। (सु. उ. १८)

२. दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायासभ्रमेषु च।
अशान्तोपद्रवे चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते॥

३. संशुद्धदेहशिरसो जीर्णान्नस्य शुभे दिने।
पूर्वाह्णे वापराह्णे वा कार्यमक्ष्णोस्तु तर्पणम्॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

…में मिला कर उससे नेत्र गोलक को पद्म (बरौनी) तक भर …ते हैं ।[1]

अवधि—इस क्रिया में काल का परिमाण इस प्रकार का होता है—

स्वस्थ नेत्र में	५००	मात्रा के	उच्चारण तक।
कफज व्याधिमें	६००	,,	,,
पित्तज ,,	८००	,,	,,
वातज ,,	१०००	,,	,,

इसके अतिरिक्त अधिष्ठानभेद से कालभेद का परिमाण इस …कार का है—

वर्त्मगत रोगों में	१००	मात्रा के	उच्चारण तक।
संधिगत ,,	३००	,,	,,
शुक्लगत ,,	५००	,,	,,
कृष्णगत ,,	७००	,,	,,
दृष्टिगत ,,	८००	,,	,,
सर्वगत ,,	१०००	,,	,,

नेत्र के स्वाभाविक मूंदने और खोलने में जितना काल लगता …था जानु के चारों ओर हाथ घुमाकर चुटकी बजाने में एक बार में

१ वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः ।
आधारौ माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिमण्डलौ ।
समौ दृढावसंबाधौ कर्त्तव्यौ नेत्रकोषयोः ।
पूरयेद्घृतमण्डस्य विलीनस्य सुखोदके ।
आपक्ष्माग्रात्ततः स्थाप्यं पञ्च तद्वाक्छतानि तु ।
स्वस्थे कफे षट् पित्तेऽष्टौ दश वाते तदुत्तमम् ।
रोगस्थानविशेषेण केचित् कालं प्रचक्षते ।
यथाक्रमोर्मदिष्टेषु त्रीण्येकं पञ्च सप्त वा ।
दश दृष्ट्यामथाष्टौ च वाक्छतानि विभावयेत् ।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

जितना समय लगता अथवा गुरु वर्ण के उच्चारण में जितना स[...]
लगता है, उतने की एक मात्रा होती है।[1]

कितने दिनों तक तर्पण का प्रयोग होता रहे, इसके सम्बन्ध[...] सुश्रुत ने न्यून दोष में एक दिन, मध्यम दोष में तीन दिन तथा प्र[...] दोष में पाँच दिनों तक तर्पण की विधि बतलायी है। परन्तु वे[...]चार्य का कथन है कि वातिक रोगों में एक दिन, पैत्तिक में तीन दि[...] और श्लैष्मिक नेत्र रोगों में पाँच दिनों तक यह क्रम रखना चाहि[...] यह तर्पण का परं प्रमाण है, इसके बाद तर्पण नहीं करना चाहिये[...] आचार्य विदेह के मतानुसार वही तर्पण निरन्तर, दिनान्तर (Alter-nate days), द्व्यन्तर (दो दो दिनों के अंतर से) त्र्यन्तर (तीन[...] दिनों के अन्तर से) किया जा सकता है।[3]

पश्चात् कर्म—नियत काल के समाप्त होने पर अपाङ्ग की ओ[...] शलाका से द्वार बनाकर घृतमण्ड को निकाल देना चाहिये और आं[...] का शोधन करना चाहिये। इसके लिये स्वेदित जौ के आटे में स्ने[...] का यथाबल योग करके प्रयोग करना चाहिये। पश्चात् कफघ्न धूमपा[...] कराना चाहिये। सूर्य, आतप आदि तेज चमक वाले पदार्थों से आंखों[...] की रक्षा करनी चाहिये।[4]

सम्यक् तर्पित लक्षण—सुखपूर्वक निद्रा का आना, समय पर ज[...] उठना, नेत्रों में लघुता की प्रतीति, वर्ण की निर्मलता, विशदता, व्य[...]

---

१. निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्योस्त्रोटिकाथ वा।
गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः॥

२. एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं चेष्यते परम्।

३. स्वस्थवृत्ते विधातव्यं द्व्यन्तरं तर्पणं भवेत्।
अहन्यहनि वातोत्थे, रक्तपित्ते दिनान्तरम्॥
तर्पणं सन्निपातोत्थे द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं कफे।

४. ततश्चापाङ्गतः स्नेहं स्रावयित्वाक्षि शोधयेत्।
स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विशोधयेत्।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

...n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

...नाश होना तथा निमीलन और उन्मीलन में कष्ट का न होना सम्यक् ...र्पित नेत्र का चिह्न है ।[1]

अत्यर्थतर्पित लक्षण—नेत्र की गुरुता, आविलता, अतिस्निग्धता, ...में कीचड़ का अधिक पैदा होना, अश्रु का अधिक निकलना, नेत्र ...विशेषरूपेण दोष व्याप्त हो जाना ये अतितर्पित के चिह्न हैं।

हीन तर्पित लक्षण—नेत्र की रूक्षता, आविलता, अश्रुबहुलता (आँसू का अधिक आना), रूपदर्शन की असह्यता (देखने में असम...) तथा रोग का बढ़ जाना प्रभृति लक्षण प्रबल हो जाते हैं।

अति तर्पित या हीन तर्पित नेत्ररोगियों में दोष की बहुलता हो ...ती है। अस्तु, चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है उसके लिये ...नुसार स्निग्ध तथा रूक्ष (वायु एवं पित्त में स्निग्ध तथा कफ में रूक्ष) ..., नस्य, अञ्जन और सेक क्रियाओं के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।[2]

पुटपाक के *विषयाविषय* (Indication and contra-indication)—...टपाक की क्रिया उन्हीं रोगियों में करनी चाहिये जिनमें तर्पण की ...या की जाती है। अर्थात् तर्पण के योग्य जो नेत्र की अवस्थायें मानी ...ई हैं उन्हीं में पुटपाक भी किया जाता है। जिनमें नस्य कर्म वर्जित ... उनमें पुटपाक भी वर्जित है। जो तर्पण के योग्य नहीं वे पुटपाक ... भी योग्य नहीं हैं। जो स्नेहपान के अक्षम (दुर्बलता एवं अरुचि ... पीडित) रोगी हैं वे पुटपाक के क्षम भी नहीं हैं अर्थात् उनमें भी ...टपाक का निषेध है। संक्षेप में जिन रोगियों में तर्पण, नस्य और ...नेहपान किया जा सकता है वही पुटपाक के योग्य हैं। अतएव ...टपाक के योग्य रोगियों के दोषों के शान्त हो जाने पर पुटपाक का ...योग नेत्र में करना चाहिये ।[3]

---

१. सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं वर्णपाटवम् ।
निर्वृतिर्व्याधिविध्वंसः क्रियालाघवमेव च ॥

२. अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सते ।
धूमनस्याञ्जनैः सेकैः रूक्षैः स्निग्धैश्च योगवित् ॥ (सु. उ. १८)

३. पुटपाकस्तथैतेषु, नस्यं येषु च गर्हितम् ।
...र्पणार्हा न ये प्रोक्ताः स्नेहपानक्षमाश्च ये । ततः प्रशान्तदोषेषु पुटपाकक्षमेषु च ॥

Ra... Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

भेद[1]

स्नेहन	लेखन	रोपण
१. अति रूक्ष नेत्र में ।	१. अतिस्निग्ध में ।	१. दृष्टि में बल के लिये या रक्त वात और युक्त नेत्रों में ।
२. स्निग्ध मांस (आनूपदेशज प्राणियों के) मेद, वसा, मज्जा तथा मधुर द्रव्य (काकोल्यादि गण की ओषधियाँ) से सिद्ध (संस्कृत) पुटपाक स्नेहन होता है ।	२. जाङ्गल (हरिण प्रभृति) प्राणियों के यकृत्, मांस तथा अन्य लेखन द्रव्यों से संस्कृत जैसे कान्तलौह भस्म, ताम्र, शंख, प्रवाल, सैन्धव समुद्रफेन, कासीस, स्रोतोञ्जन, दधि, मट्ठा से बना पुटपाक लेखन होता है ।	२. स्त्री स्तन्य (का दूध) पशु पक्षियों के मधु, गोघृत तिक्त द्रव्यों से स्कारित पुट रोपण होता है ।
३. इसका धारण २०० मात्रा के उच्चारण कालतक करना चाहिये ।	३. इसका सौ मात्रा के उच्चारण काल तक धारण करना होता है ।	३. इसका धारण लेखन की त्रिगु अर्थात् तीन मात्राके उच्चारण तक करना चाहिये
४. दो दिनों तक स्नेहन पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ।	४. एक दिन पर्याप्त होता है ।	४. रोपण का तीन तक प्रयोग कर चाहिये ।

१. पुटपाकः प्रयोक्तव्यो नेत्रेषु भिषजा भवेत् । स्नेहनो लेखनीयश्च रोपणीयश्च स हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्यापि च लेखनः । दृष्टेर्बलार्थमपरः पित्तासृग्व वातनुत् । स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः । स्नेहनः पुटपाकस्तु धार्यो वाक्छते तु सः । जाङ्गलानां रसैर्मांसैर्लेखनद्रव्यसंभृतैः ।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पुटपाक का काल—पुटपाक काल के सम्बन्ध में सुश्रुत ने एक, दो दिन या तीन दिन तक करने का विधान सूत्ररूप में दिया है। डल्हण उसकी टीका करते हुए (स्पष्ट करते हुए) दो प्रकार का अर्थ ग्रहण सूत्र से किया है। पहला सामान्य पुटपाक के सम्बन्ध में—पुटपाक अवचारणा श्लैष्मिक नेत्र रोग में एक दिन तक, पैत्तिक में दो दिनों और वातिक में तीन दिनों तक करनी चाहिये। दूसरा विशिष्ट पाक के सम्बन्ध में यह है कि लेखन पुटपाक का एक दिन, स्नेहन दो दिन तथा रोपण का तीन दिनों तक प्रयोग होना चाहिये। यहाँ यह काल मर्यादा विशुद्ध क्रिया काल से मानी गई है स्नेहन स्वेदन आदि पूर्व कर्मों से आरम्भ करके नहीं, क्योंकि यदि पूर्व कर्मों से शुरू किया जाय; तो फिर द्विगुण काल समझना चाहिये। कुछ लोग तर्पण-काल की मर्यादा से द्विगुण मानते हैं वह भी ठीक नहीं है।

पुटपाक का पूर्वकर्म—प्रायः उन सभी पूर्वकर्मों को जो नेत्रों के तर्पण प्रसंग में आचुके हैं, प्रयोग में ला सकते हैं, परन्तु कुछ विशेषतायें जाननी चाहिये। जैसे रोपण, पुटपाक को छोड़कर शेष लेखन और स्नेहन पुटपाकों में धूम का प्रयोग तथा स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये। अर्थात् रोपण पुटपाक में स्नेह, स्वेद तथा धूम का निषेध है शेष दोनों में इन पूर्वकर्मों का विधान है।[1]

पुटपाक के सम्यक् योग के चिह्न—यदि ठीक प्रकार से नेत्रों में पुटपाक किया हुई है, तो नेत्र का वर्ण स्वच्छ रहता है, नेत्र उज्ज्वल हो

कृष्णलोहरजस्ताम्रशंखविद्रुमसिन्धुजैः।
समुद्रफेनकासीसस्रोतोजदधिमस्तुभिः।
लेखनो वाक्छतं तस्य परं धारणमुच्यते।
स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यैर्विपाचितः।
लेखनात्त्रिगुणं धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः।
एकाहं वा द्व्यहं वापि त्र्यहं वाप्यवचारणम्।
यन्त्रणा तु क्रियाकालाद्द्विगुणं कालमिष्यते।
[1]पूर्वैस्तर्पणोक्तं तु धूमं हित्वा तु रोपणम्। स्नेहस्वेदौ द्वयोः कार्यौ कार्यो नैव च रोपणे।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

जाते हैं, वायु और धूप को बर्दाश्त करने की शक्ति आ जाती है (वा-तपसह), नेत्र में लघुता का अनुभव, सुखपूर्वक निद्रा का आना और जागरण का होना चलने लगता है।[१]

अतियोग के चिह्न—अतियोग होने से नेत्रों में पीडा, शोफ, पिडि-काओं का निकलना और तिमिर रोग का उद्भव हो जाता है।[२]

असम्यक् योग या मिथ्या योग के चिह्न—नेत्र में पाक, अश्रुस्राव, हर्ष (एक विशेष प्रकार की वेदना जिसमें रोगी को अन्तः शीत का अनुभव होता है) तथा अन्य दोषों का उद्भव होने लगता है।[३]

मिथ्योपचार जन्य उपद्रवों की चिकित्सा—पुटपाक के मिथ्योपचार से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें अञ्जन, आश्च्योतन एवं स्वेदन के द्वारा प्रतीकार करना चाहिये।[४] अथवा नस्य, धूम तथा अञ्जन से पुट-पाक जन्य व्यापद् को जीतना चाहिये।[५]

पश्चात्कर्म—तर्पण किये जाने पर तथा पुटपाक का उपयोग होने पर रोगी को चाहिये कि नेत्रों के स्वास्थ्य रक्षा के लिये तेजवान् पदार्थ (दीप, प्रकाश, ज्वाला प्रभृति), सामने की वायु, चमकने वाली वस्तु (आकाश, दर्पण आदि) तथा भास्वर पदार्थ (जैसे सूर्य) को न देखे।[६]

पुटपाक तथा तर्पण क्रिया में सामान्य पूर्व तथा पश्चात्कर्म—दोनों क्रियाओं के आदि और अंत में गर्म पानी में कपड़ा भिगोकर और निचोड़कर स्वेदन (Wet Fomentation) करना चाहिये तथा पश्चात् कर्म में यदि कफ का निर्हरण उचित न हुआ हो तो धूम का प्रयोग करना चाहिये।[७]

१. प्रसन्नवर्णं विशदं वातातपसहं लघु । सुखस्वप्नावबोध्यक्षिपुटपाकगुणान्वितम् ॥
२. अतियोगाद्रुजः शोफः पिडिकातिमिरोद्गमः ।
३. पाकोऽश्रुहर्षणं चापि हीने दोषोद्गमस्तथा ।
४. मिथ्योपचारादनयोर्यो व्याधिरुपजायते । अञ्जनाश्च्योतनस्वेदैर्यथास्वं तमुपाचरेत् ॥
५. व्यापदश्च यथादोषं नस्यधूमाञ्जनैर्जयेत् ।
६. तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च । नेक्षेत तर्पिते नेत्रे पुटपाकहृते तथा ॥
७. आद्यन्तयोश्चाप्यनयोः स्वेद उष्णाम्बुचैलिकः । तथा हितोऽवसाने च धूमः श्लेष्मसमुत्थितः ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पुटपाक की कल्पना—चिकने मांस के दो टुकड़े जिनमें प्रत्येक का प्रमाण एक-एक पल (४ तोले का) हो और द्रव्यों का दोष भेद से अथवा स्नेहन, लेखन और रोपण भेद से एक-एक पल ग्रहण करे। इनमें क्रम निम्नलिखित द्रव्य रहेंगे—

स्नेहन पुटपाक में मधुरौषध कषाय क्षीर।

लेखन पुटपाक में मधु, मस्तु, त्रिफलाकषाय।

रोपण पुटपाक में तिक्त द्रव्यों के कषाय।

इनमें द्रव (कषाय या क्षीर या जल) की मात्रा एक कुडव (आठ या ३२ तोले) लेकर एक में मिलाकर पीस कर पिट्ठी बना ले। इस पिट्ठी को गम्भारी, कुमुद, एरण्ड पत्र, पद्मिनी या केले के पत्ते लपेट कर चारों ओर मिट्टी लगाकर या कपड़ मिट्टी कर कुछ सुखाकर गोलक को खदिराङ्गार में पकावे। अथवा कतक, अश्मन्त, एरण्ड, टला, वासा, वेर अथवा दूध वाले वृक्षों की लकड़ियों की आग पर उपले की आग पर युक्ति पूर्वक पाक कर लेना चाहिये। यह ध्यान रखे कि कच्चा न रहे और जले भी नहीं। ठीक प्रकार से पक जाने उसे आग से निकाल कर, मिट्टी, पत्ते आदि को हटाकर निचोड़ कर का रस निकाले। इस निकाले हुए रस का तर्पण में कही हुई विधि अनुसार प्रयोग करना चाहिये। रोगी को नित्य उत्तान (सीधा) लिटा कनीनिका में निषेचन (Drop) करे। यदि व्याधि में रक्त और पित्त की विकृति हो; तो इस पुटपाक स्वरस का ठण्डा प्रयोग करे और वायु और कफ की विकृति हो, तो किंचिदुष्ण प्रयोग करे।

अति उष्ण और तीक्ष्ण पुटपाक का प्रयोग नहीं करना चाहिये, उस निरन्तर दाह और पाक होता है तथा अति शीतल करके नेत्रों में डालने पर अश्रु, वेदना, स्तम्भ और हर्ष प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं। अति मात्रा में उपयुक्त होकर ये कषाय (Astringent) गुण होने के कारण त्वक् संकोच (सिकुड़न), स्फुरण पैदा करता है। और यदि हीन प्रमाण में प्रयुक्त हुआ तो दोषों का उत्क्लेश कारक होता है। जिससे दोष पुनः जागृत हो जाते हैं। उचित मात्रा में प्रयुक्त होने पर शोफ, पीडा, हर्ष, स्राव, कण्डु, उपदेह (मल), नेत्र दूषिका

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(नेत्र मल) और रक्तराजियों प्रभृति का विनाश करता है अतः ... को बचाते हुए पुटपाक का सम्यक् प्रयोग करना चाहिये।

इनकी व्यापत्तियों को दूर करने के लिये नस्य, धूम और अञ्जन ... प्रयोग करना चाहिये।

आश्च्योतन और सेक—जो रोग अति प्रबल नहीं हुआ हो उस ... को दोषों के अनुसार किया हुआ आश्च्योतन कर्म नष्ट करता है ... यदि बढ़कर बलवत्तर हो गया हो तो उसे सेक या सेचन कर्म दूर ... है।[1] विदेह ने भी लिखा है कि नेत्र में रोग उत्पन्न होने के पूर्व ... तीन रात तक लघु भोजन करे या तीन दिनों तक उपवास करे ... केवल रात्रि में भोजन करे पुनः चतुर्थ दिन यदि व्याधि नहीं रुके ... आ ही जाय तो उत्पन्न लक्षणों के आधार पर दोष प्राबल्य का ... करके यथोचित आश्च्योतन या सेक की क्रिया से चिकित्सा प्रारम्भ ... देनी चाहिये।[2]

पुटपाक के सदृश आश्च्योतन के स्नेहन, लेखन और रोपण नामक तीन प्रकार होते हैं।[3] सेक के भी यही तीन प्रकार माने गये हैं।

आश्च्योतन भेद

स्नेहन	लेखन	रोपण
१० बिन्दु (बूंद)	७–८ बिन्दु	१२ बिन्दु

विधि—आश्च्योतन की विधि इस प्रकार है कि रोगी को वातरहित स्थान में बैठाकर बायें हाथ से नेत्र को खोलकर रुई के फाहे से आश्च...

१. यथादोषोपयुक्तं तु नातिप्रबलमोजसा।
रोगमाश्च्योतनं हन्ति सेकस्तु बलवत्तरम्॥ (सु.)

२. प्रागवेक्ष्यामये कार्यं त्रिरात्रं लघुभोजनम्। उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाप्यशनं ... ततश्चतुर्थदिवसे व्याधिं संजातलक्षणम्। समीक्ष्याश्च्योतनैः सेकैः यथास्वमुपपादयेत् ...

३. तौ त्रिविधौ उपयुज्येते रोगेषु पुटपाकवत्।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

लेकर दो तीन अंगुल की ऊँचाई से नेत्र के कृष्ण भाग के ऊपर ८, १२ बिन्दु का निक्षेप (Drop) करे। तदनन्तर कोमल वस्त्र से आँख को पोंछकर, कोष्ण जल में वस्त्र भिगोकर धीरे-धीरे आँखों का स्वेदन करे। यह आश्च्योतन कर्म वात और कफजन्य विकारों में हितप्रद है, रक्तपित्त जन्य रोगों में नहीं।

अत्यन्त तीक्ष्ण या उष्ण आश्च्योतन से वेदना, रक्तिमा तथा दृष्टिनाश आदि लक्षण होते हैं। अत्यन्त शीतल प्रयोग करने से नेत्र में सुई चुभने की सी पीडा, स्तब्धता और शूल होता है। अति मात्रा से वर्त्म आपस में चिपक जाते हैं। कठिनता से खुलते एवं लाल हो जाते हैं। अत्यल्प आश्च्योतन से रोग की वृद्धि होती है और अपरिस्रुत आसेचन से नेत्र का क्षोभ होता है। अतः वातज विकारों में उष्ण, कफज में कोष्ण और रक्तपित्त में शीतल किया जाता है।

सेक—परिषेक एवं आश्च्योतन दोनों का उपयोग पुटपाक सदृश गत वेदना, कण्डु, हर्षण, अश्रुस्राव, दाह और रक्तिमा में होता है। सेक का धारण काल पुटपाक से द्विगुण है जैसे—[1]

लेखन सेक—२०० मात्रोच्चारण तक।
स्नेहन „ —४०० „ „ ।
रोपण „ —६०० „ „ ।

सेक और आश्च्योतन का कर्म कार्य की निवृत्ति (व्याधि के शान्त होने अथवा प्रकृत वर्ण में आ जाने तक) उपयोग करना चाहिये। सेक के करने का समय पूर्वाह्ण, मध्याह्न अथवा सायाह्न जानना चाहिये। कफज व्याधि में लेखन सायाह्न में, वातज में स्नेहन अपराह्ण में और पित्त रक्तज नेत्र रोगों में रोपण का प्रयोग मध्याह्न में करना चाहिये अथवा जिस समय वेदना हो वही उसका उचित समय समझना चाहिये।

१. सेकस्य द्विगुणः कालः पुटपाकात्परो मतः ।
अथवा कार्यनिर्वृत्तेरुपयोगो यथाक्रमम् ।
पूर्वापराह्णे मध्याह्ने रुजाकालेषु चोभयोः ।
योगायोगात्स्नेहकाले तर्पणोक्तान् प्रचक्षते ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-C

सेकविधि—रोगी को लिटाकर, आँखों को बन्द कराकर, चार अं की ऊँचाई से द्रव ओषधियों (कषाय, शीतल जल आदि) को पू पर छोड़ें।[१]

शिरोवस्ति—यह उपक्रम नेत्र रोगों के कारण सिर में होने अति प्रबल शिरोभिताप (शिरःशूल) प्रभृति रोगों को नष्ट कर, में तैल रखने वाले (मूर्ध तैलिक) अन्यान्य गुणों को करता है। (सिर या मस्तिष्क) में चार प्रकार से तैल देने का विधान शा मिलता है—अभ्यंग, परिषेक, पिचु और वस्ति। ये उत्तरोत्तर अ धिक गुण वाले होते हैं।

१. अभ्यंग का प्रयोग सिर की रूक्षता, कण्डु तथा मलादि में।

२. परिषेक का प्रयोग पिडिका, शिरस्तोद, दाह, पाक और व्रण

३. पिचुका का प्रयोग केशपात, सिर का फटना, नेत्र स्तम्भ वेदना में।

४. वस्ति का प्रयोग प्रसुप्ति, अर्दित, निद्रानाश, नासिका तिमिर और दारुणक और शिरोरोगों में (तीव्र शिरःशूलों में) चाहिये।

विधि—दिन के अन्त में वमन विरेचनादि के द्वारा शोधि नस्यादि के द्वारा विशुद्ध मस्तिष्क करके, तैलादि के द्वारा अ स्वेद के द्वारा स्वेदित यथा रोग भोजन किये व्यक्ति को जा ऊँचे आसन में सीधा बैठा दे। फिर रोगी के सिर पर गो या चर्म से निर्मित कोष या वस्तिकोष को सिर के ऊपर बाँध दे। दृढ़ करने के लिये उड़द की पिट्ठी कपड़े की सहायता से बाँ चाहिये। पुनः व्याधि के दोष दूष्य के अनुसार जो हितकर द्र उनसे सिद्ध स्नेह से वस्ति कोष को भर दे। इस शिरोवस्ति को धा

१. सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः।
मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः॥ (यो. र.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

...ने के लिये अवधि तर्पण क्रिया में उक्तकाल प्रमाण से दस गुने ...य तक, दोषानुसार, बतलाई गई है ।[1] अर्थात्—

श्लैष्मिक विकारों में ६००० मात्रोच्चारण तक।
पैत्तिक „ „ ८००० „ „।
वातिक „ „ १०००० „ „।

इस प्रकार का सुश्रुत ने शिरोवस्ति का वर्णन किया है—शिरोरोगा... में भी शिरोवस्ति का प्रसंग आया है वहाँ पर शार्ङ्गधरोक्त शिरो... का उल्लेख किया गया है। उन्होंने स्पष्टतया बारह अङ्गुल ऊँची ...की पट्टी बनाकर कोषाकार करके तैल पूरण का विधान दिया है ...तु सुश्रुत ने वस्तिकोष (Bladder) को बाँध.कर उसमें तैल भरने ...विधान किया है। वास्तव में रचना, कार्य, गुण, विषयाविषय की ...से दोनों एक ही हैं कोई भेद उनमें नहीं।

अंजन—एक नेत्ररोगों के स्थानिक उपचारों में व्यवहृत होने वाले ...ों की एक सामान्य संज्ञा है। गुटिका, रस, चूर्ण त्रिविध कल्पनाओं ...रते हुए लेखन, रोपण और प्रसादन गुणों वाले अनेक प्रकार के ...न होते हैं। इनमें गुटिकादि भेद से जो तीन प्रकार की कल्पनायें ...नमें रोग अति प्रबल हो तो गुटिका का प्रयोग, मध्यम बल हो तो ...क्रिया अंजन का प्रयोग और यदि हीन बल हो तो चूर्णाञ्जन का ...योग करना चाहिये। अर्थात् गुटिका, रस और चूर्णाञ्जन में यथाक्रम ...कहे गये उपचार श्रेष्ठ हैं फलतः गुटिका सर्वश्रेष्ठ अञ्जन प्रकार है।[2]

---

१ रोगाञ्छिरसि संभूतान् हृत्वातिप्रबलान् गुणान्।
करोति शिरसो वस्तिरुक्ता ये मूर्धतैलिकाः ॥
शुद्धदेहस्य सायाह्ने यथाव्याध्यशितस्य च ।
ऋज्वासीनस्य बध्नीयाद्वस्तिकोशं ततो दृढम् ॥
यथाव्याधि शृतस्नेहपूर्णं संयम्य धारयेत् ।
तर्पणोक्तं दशगुणं यथादोषं विधानवित् ॥

२. गुटिका रसचूर्णानि विविधान्यञ्जनानि तु ।
यथापूर्वं बलं तेषां श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ॥

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G...

अञ्जन प्रकार[1]

- **गुण भेद से**
  - **लेखन (शोधन)** (मधुर रस के अतिरिक्त शेष पंचरसों से निर्मित)
    - १. वात॰ में अम्ल लवण सम्पन्न।
    - २. पित्त में तिक्त कषाय ,, ।
    - ३. श्लेष्मा में कटुतिक्त कषाय,, ।
    - ४. रक्त में पित्तवत् ,, ।
    - ५. त्रिदोषज में दो तीन रसों के द्रव्यों से सम्पन्न।
  - **रोपण** — कषाय और तिक्त द्रव्यों से सस्नेह सम्पन्न। } दृष्टि रोपण प्रसादक }
  - **प्रसादन** — मधुर द्रव्य और स्नेह सम्पन्न।—वर्ण एवं दृष्टि बल वर्द्धक }
  - सायंकाल रात्रिकाल
- **औषधकल्पना के अनु[illegible]**
  - **गुटिका (वर्ति)**
    - लेखन–१ हरेणु (कलाय या छोटी मटर) की मात्रा।
    - रोपण–१½ हरेणु की मात्रा।
    - प्रसादन–२ हरेणु की मात्रा।
  - **रस या रसक्रिया रसाञ्जन**
    - मात्रा प्रमाण गुटिकावत्
  - [illegible]
    - प्रसादन–४ शलाका भर।
    - रोपण–३ शलाका भर।

प्रातःकाल { मुखनासाक्षि के द्वारा दोषों को निकालता है। }

१. लेखनं रोपणञ्चापि प्रसादनमथापि वा।
तत्र पञ्चरसान् व्यस्तानाद्यैकरसवर्जितान्॥
पञ्चधा लेखनं युञ्ज्याद्यथादोषमतन्द्रितः।
नेत्रवर्त्मसिराकोशस्रोतःशृङ्गाटकाश्रितम्॥
मुखनासाक्षिभिर्दोषमोजसा स्रावयेत्तु तद्।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga...

n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

अञ्जन तीन प्रकार के होते हैं १. लेखन—यह एक प्रकार का शोधन अञ्जन है, जो नेत्र, वर्त्म, शिराकोष, स्रोत और श्रृङ्गाटकाश्रित दोषों को ...त पूर्वक मुख, नासा और आँख के रास्ते निकाल देता है। यह मधुर ...को छोड़कर शेष सभी रसभूयिष्ठ द्रव्यों के योग से बनता है–इसके ...च प्रकार हो जाते हैं जिनका दोषानुसार प्रयोग होता है।

२. रोपण—कषाय और तिक्त रस भूयिष्ठ द्रव्यों के संयोग से स्नेह ...साथ मिलाकर प्रयुक्त होता है। यह स्निग्ध और शीत गुण युक्त होता ...जिससे दृष्टि का बल बढ़ता है।

३. प्रसादन—मधुर रस भूयिष्ठ द्रव्यों से तथा स्नेह के संयोग से ...हुआ यह प्रसाद गुण वाला अञ्जन है इसके प्रयोग से दृष्टिदोषों का ...ादन होता है।

अञ्जनों के लगाने का काल—इन अञ्जनों के लगाने में सामान्य ...यम यह है कि लेखन (शोधन) अञ्जन को प्रातःकाल रोपण अञ्जन ... सायंकाल तथा प्रसादन अञ्जन को रात्रि में लगाना चाहिये। कुछ ...ों ने दोषानुसार श्लैष्मिक रोगों में प्रातःकाल, वातिक रोगों में ...यंकाल तथा पैत्तिक रोगों में रात्रि में लगाना चाहिये, ऐसा अर्थ ...ण किया है।

भेषजकल्पनानुसार भेद—गुटिकाञ्जन, रसाञ्जन और चूर्णाञ्जन नाम से ...न भेदों का वर्णन आता है। गुटिकायें या वर्तियाँ औषधद्रव्यों के योग ...बनायी जाती हैं, इनकी गोलियाँ या पतली वर्तियाँ बना ली जाती ...। रसाञ्जन में ओषधियों का क्वाथ करके पुनः उसको गाढ़ा कर (रस ...्रिया के द्वारा) रख लिया जाता है पुनः मात्रानुसार घिस कर नेत्रों में ...सका व्यवहार किया जाता है। चूर्णाञ्जन—नाम से ही ज्ञात होता है ...क चूर्णों (Powders) का नेत्र में प्रयोग करने का विधान है।

कषायं तिक्तकं वापि सस्नेहं रोपणं मतम् ॥
तत्स्नेहशैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम् ।
मधुरं स्नेहसम्पन्नमञ्जनं तु प्रसादनम् ॥
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थं च तद्धितम् ।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

इन सभी कल्पनाओं के कार्य या गुण की दृष्टि से प्रत्येक के तीन भेद हो जाते हैं एवं तदनुरूप मात्रा का निर्धारण किया जाता है जैसे गुटिका तथा रसांजन में प्रसादन कार्यों में दो हरेणु (कल्क रोपण में डेढ़ हरेणु तथा लेखन में एक हरेणु की मात्रा काम में चाहिये। चूर्णांजन का प्रयोग शलाका (Rod) के द्वारा किया है। अस्तु, प्रसादनकार्यों में ४ शलाका चूर्ण का, रोपण की क्रिया ३ शलाका चूर्ण का और लेखन में २ शलाका भर चूर्ण का नेत्रों प्रक्षेप करना चाहिये।[1]

यहाँ पर तीन कल्पनायें मौलिक या बीजभूत हैं—इनसे पुनः सह प्रकार की नई नई कल्पनायें की जा सकती है।[2]

अञ्जनों के लगाने की नेत्रावस्था—आश्च्योतन के पश्चात् अञ्जन प्रयोग करना चाहिये। सिराव्यध, विरेचन, निरूहण और शिरोवि चन के द्वारा शोधन होकर जिस व्यक्ति का मल दूर कर दिया गया तथा आमावस्था के दूर हो जाने के पश्चात जब नेत्रगत व्याधि रूप को प्राप्त कर चुकी हो, अर्थात् लक्षण दोषानुसार स्पष्ट हो गये और जब एक ही दोष हो उसमें अन्य दोषों की संसृष्टि न हो तो अवस्था प्राप्त हुए नेत्र में अञ्जन प्रयोग करने का विधान है।[3]

अञ्जन शलाका तथा पात्र—मल्लिका पुष्प के मुकुल सदृश मुख एवं अन्त में कलाय के समान मण्डलाग्र (तीक्ष्णाग्रवाली नहीं) अङ्गुल लम्बी, बीच में पतली, कर्कशादिदोष से रहित एवं अच्छी

१. हरेणुमात्रा वर्त्तिः स्याल्लेखनस्य प्रमाणतः ।
प्रसादनस्य चाध्यर्धा द्विगुणा रोपणस्य च ॥
रसाञ्जनस्य मात्रा तु यथावर्तिमिता मता ।
द्वित्रिचतुःशलाकासु चूर्णस्याप्यनुपूर्वशः ॥
२. पुटपाकक्रियाद्यासु क्रियास्वेषैव कल्पना ।
सहस्रश्चाञ्जनेचेष्टाः बीजेनोक्तेन पूजिताः ॥
३. व्यक्तरूपेषु दोषेषु शुद्धकायस्य केवले ।
नेत्र एव स्थिते दोषे प्राप्तमञ्जनमाचरेत् ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

पकड़ में आ सके (साधुनिग्रहा) इस प्रकार की अञ्जन लगाने की शलाका (सलाई) बनी होनी चाहिये।[1] यह शलाका सुवर्ण, रजत, ताम्र, वैदूर्य, कांस्य, लौह प्रभृति, द्रव्यों में से किसी एक की बनी होनी चाहिये।[2] अथवा विविध कार्यों में आने वाली विविध प्रकार की होनी चाहिये। जैसे—लौही शलाका—रोपणांजन के लिये, ताम्र शलाका—लेखन के लिये और सोने की शलाका प्रसादन के लिये बनी होनी चाहिये।

शलाकाओं के साथ-साथ अञ्जनों के रखने के लिये पात्र भी विविध द्रव्यों के अञ्जनों के तुल्य गुण वाले होने चाहिये। जैसे—सोने के पात्रों में मधुर अञ्जन, चाँदी के पात्रों में अम्ल, मेषशृङ्गमय पात्र में लवण, ताम्र या लौह पात्र में कषाय, वैदूर्य के बने वर्त्तन में कटु, कांस्यपात्र में तिक्त और नलादि के बने पात्र में शीत गुण वाले अञ्जनों को रखना चाहिये।[3]

अंजन लगाने की विधि—बायें हाथ से आँख को खोलकर शलाका से अंजन को लेकर दाहिने हाथ से शलाका के द्वारा आँख में लगावे। शलाका के द्वारा अंजन प्रयोग की विधि यह है कि शलाका को कनीनिका (Inner Canthus) से अपाङ्ग (Outer Canthus) की ओर निकाल कर लगावे। अथवा अपाङ्ग की ओर से कनीनिका को ले जाकर शलाका को निकाले।[4] अथवा यदि वर्त्म के ऊपर लगाना

१. वक्त्रयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला ।
अष्टांगुला तनुर्मध्ये सुकृता साधुनिग्रहा ॥
२. औदुम्बर्यश्मजा वापि शारीरी वा हिता भवेत् ।
३. तेषां तुल्यगुणान्येव विदध्याद् भाजनान्यपि ।
सौवर्णं राजतं शार्ङ्गं ताम्रं वैदूर्यकांस्यजम् ।
आयसानि च योज्यानि शलाकाश्च यथाक्रमम् ॥
४. वामेनाक्षि विनिर्भुज्य हस्तेन सुसमाहितः । शलाकया दक्षिणेन क्षिपेत् नेत्रमञ्जनम् । आपाङ्ग्यं वा यथायोगं कुर्याच्चापि गतागतम् । वर्त्मोपलेपि वा ...ङ्गुल्यैव प्रयोजयेत् ।

२९ शा०

Sanskrit Jangamwadi Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

हो या वर्त्मों में चिपकने वाला हो, तो उंगली से लगावे। चिकि... को चाहिये कि नेत्र में अंजन का अतियोग न करे क्योंकि उसमें... होने की संभावना रहती है।

अक्षिधावन (Eyewash)—जब तक आँख के दोष (... कादि रूप मल कीचड़ वगैरह) अच्छी तरह से निकल न जायँ तब... प्रक्षालन नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से दोष का पुनरा... (Re-infection) होकर नेत्र को अधिक विकारयुक्त कर देते... अस्तु, जब नेत्रगत दोष दूर हो जायँ, अश्रुस्राव बहुत कम हो जाव... सम्यक् रीति से जल से आँख के भीतर का प्रक्षालन करके अंजन... प्रयोग करना चाहिये। भावार्थ यह है कि तीव्रावस्था में आँख... प्रक्षालन न करके जीर्णावस्था में प्रक्षालन करे।

अंजन का निषेध (Contraindication of Collirium)... थकावट, उदावर्त्त, रुदन, मद्यपान, क्रोध, भय, ज्वर, वेगावरोध, शि... रोग से पीड़ित व्यक्तियों में अंजन का प्रयोग नहीं करना चाहिये।... अवस्थाओं में अंजन का प्रयोग करने से नेत्रगत ललिमा, पीड़ा, शि... आस्राव, शूल और संरम्भ (शोथ) बढ़ जाता है।[1]

अकाल में अञ्जन करने से व्यापद्—निद्राक्षय (जागरण) में अ... से क्रियाशक्ति का नाश, प्रवात (हवा के झोंके) में करने से दृष्टि... बलक्षय, धूलि और धुआँ से अभिहत नेत्र में करने से राग, स्राव... अधिमंथ होने का भय रहता है। नस्य के अन्त में अंजनप्रयोग... नेत्र में शोथ और शूल तथा शिरःशूल में प्रयोग करने से अधिक शि... शूल होता है एवं सिर से स्नान किये अथवा अति शीत खाये व्यक्ति... अथवा सूर्य के उदय के पूर्व अंजन करना दोष की स्थिरता के कारण... निरर्थक होता है क्योंकि अंजन दोष का निर्हरण नहीं कर पाता अपि... दोष का उत्क्लेश अधिक बढ़ जाता है। अजीर्ण में भी स्रोतोमार्ग...

१. श्रमोदावर्त्तरुदितमद्यक्रोधभयज्वरैः ।
वेगाघातशिरोदोषैश्चार्त्तानां नेष्यतेऽञ्जनम् ।
रागरुक्तिमिरास्रावशूलसंरम्भसंभवान् ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

...n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran...

...रोध के कारण भी इसी प्रकार हानिप्रद होता है। इसी प्रकार प्रारं-...क अवस्था में जब दोष के वेगों का उदय होता रहता है अंजन-...योग विभिन्न उपद्रवों को पैदा करता है। अत एव इन सभी दोषों ...परिहार करते हुए देश, काल एवं अवस्था का विचार करते हुए ...जन का प्रयोग करना चाहिये। इन नियमों का विशेष करके लेख-...ञ्जन के सम्बन्ध में विचार परमावश्यक है।

लेखनाञ्जन या अन्य अञ्जनों के सम्यक् योग के लक्षण—नेत्रों का ...शद, लघु, स्रावहीन, निर्मल, क्रियापटु (Active) हो जाना तथा ...के सभी उपद्रवों का शान्त हो जाना ये लक्षण सम्यक् विरिक्त ...है।[1]

अतियोग के चिह्न—नेत्र वक्र, कठिन, दुर्वर्ण, स्रस्त (ढीला), अतीव ...तथा अति मात्रा में स्राव का होना ये लक्षण अंजन के अति योग ...मिलते हैं। इसके प्रतीकार में संतर्पण तथा अन्य वात-शामक ...धानों को करना चाहिये।

अंजन के हीन योग के चिह्न—हीन विरिक्त नेत्र उग्रतर दोष-युक्त हो ...ता है—इस के प्रतिकार के लिये धूम, नस्य तथा अंजन के प्रयोग ...दोषों का अवसेचन करना चाहिये।

प्रसादन तथा रोपण अंजनों के सम्यक् योग के चिह्न—नेत्र स्निग्ध, ...एवं वर्ण से युक्त, दोष से हीन और प्रसन्न हो जाता है, सभी उपद्रव ...न्त होकर नेत्र क्रिया-क्षम हो जाते हैं।[2]

हीन या अति योग के चिह्न—कुछ विकार अवशिष्ट हो जाते हैं। ...तीकार में रूक्ष ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

सामान्य अंजन व्यापद् चिकित्सा—अंजनदोष से सामान्यतया जो

१. विशदं लघ्वनास्रावि क्रियापटु सुनिर्मलम्।
सशान्तोपद्रवं नेत्रं विरिक्तं सम्यगादिशेत्।

२. स्नेहवर्णतलोपेतं प्रसन्नं दोषवर्जितम्।
ज्ञेयं प्रसादने सम्यगुपयुक्तेऽक्षिनिर्वृतम्।

...a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon...

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

उपद्रव नेत्रों में हो जाते हैं उनकी चिकित्सा दोषानुसार सेक, आश्च्योतन, धूम और कवल के द्वारा करनी चाहिये ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अंजन के हीन योग या अतियोग व्यापद् पैदा करते हैं । अस्तु, देश-काल-अवस्था का ध्यान रखते हुए सिद्धि चाहने वाले चिकित्सक को मात्रा से ही अंजन का प्रयोग करना चाहिये ।[2]

कुछ राजा के योग्य या श्रेष्ठ अंजनों के योग—रोगनाशक अंजनों के योगों के उल्लेख के बाद कुछ ऐसे अंजन के योगों का आचार्य ने वर्णन किया है-जो स्वस्थ तथा आतुर दोनों के लिए लाभप्रद हों। ओषधियों में जो सार्वदैहिक चिकित्सा में प्रयुक्त होती हैं, बहुत सी ऐसी हैं जिनका उपयोग अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis) में या स्वस्थ को ऊर्जस्कर बनाने में (रसायनादि) होता है और कुछ ऐसी होती हैं जो केवल रोगी के रोग के दूरीकरण के लिये ही दी जाती (Curative) हैं। वैसे ही निम्न लिखित अंजन विशेषतः नेत्र-स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये ही हैं तथापि इनका रोग की अवस्था में भी व्यवहार किया जा सकता है। इसी लिये आचार्य ने लिखा है-"दृष्टि के बल के बढ़ाने के लिये, याप्य रोगों के नष्ट करने के लिये राजयोग्य कुछ श्रेष्ठ अंजन आगे बतलाये जायँगे ।"[3]

श्रेष्ठ चूर्णाञ्जन—नीलोत्पल के सदृश आभावाले अंजन (स्रोतोंजन या सौवीरांजन) का आठ भाग; ताम्र, सुवर्ण, चाँदी प्रत्येक का एक एक भाग कुल मिलाकर ग्यारह भाग द्रव्य को लेकर मूषा में रखे और उसके मुख को आवृत कर मूषा को खैर, अश्मन्तक की लकड़ी के अंगारे या गाय के उपले की तेज आँच पर ध्मापित करे। पुनः ध्मापित

१. व्यापदश्च जयेदेतां सेकाश्च्योतनलेपनैः ।
यथास्वं धूमकवलैर्नस्यैश्चापि समुत्थिताः ।
२. कर्त्तव्यं मात्रया तस्मादञ्जनं सिद्धिमिच्छता ।
३. दृष्टेर्बलविवृद्धयर्थं याप्यरोगक्षयाय च ।
राजार्हाण्यञ्जनाग्र्याणि निबोधेमान्यतः परम् ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

...n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran...

...के उसे गोबर के रस, गोमूत्र, दधि, घृत, मधु, तैल, मद्य, वसा, ...ना, सर्व गंधोदक, शीत द्राक्षारस, इक्षु-रस, त्रिफला स्वरस, सारिवादि ...षाय, उत्पलादि कषाय में पृथक्-पृथक् बार बार ध्मापित करके बुझाते ...दे। पुनः इस बुझाये योग को कपड़े की पोटली में बाँध कर एक ...ाह तक खुले आकाश में पानी में भिगो कर छोड़ दे। (कुछ लोगों ...विचार से सिकहरे (शिक्य) पर पानी में पोटली को रखकर टाँगने ...विधान है।) फिर उसको सुखाकर चूर्ण करे एवं उसमें मुक्ता, ...टिक, विद्रुम और तगरमूल का स्वच्छ चूर्ण डालकर योग को पूरा ...दे। इन द्रव्यों की मात्रा, अंजन की चतुर्थांश रहेगी। यह एक श्रेष्ठ ...जन है जिसको पवित्र पात्र में संग्रह करके रखना चाहिये। रखने ...लिये हस्तीदन्त, स्फटिक, वैदूर्य, शंख, शैल, असन (बीजक), ...र्ण, चाँदी, मेषशृंग के बने बर्तनों का भी प्रबंध चाहिये।

राजा को चाहिये कि सहस्रपाकवत् (शंख, दुन्दुभि—घोष आदि के ...) पूजा करके प्रयोग में ले आवे। इसका अंजन करने से राजा ...प्रजा का प्रिय हो जाता है और सर्व भूतों (देवासुर-गंधर्व-यक्ष-राक्षस ...पिशाच आठों) के लिये अगम्य हो जाता है और कोई भी नेत्ररोग ...ष्टिदोष) नहीं होता।[1]

भद्रोदय अञ्जन—कूठ, चंदन, इलायची, मुलैठी, स्रोतोञ्जन, मेढाशृंगी ...मूल, तगर, पद्मराग, मरकत, नीलम, वैदूर्य, मुक्ता, प्रवाल, सुवर्ण, ...त, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, पद्मकेसर, नागपुष्प, खस, पिप्पली, ...र तुत्थ, मुर्गे के अण्डे के छिल्के, दार्वी, हरीतकी, हल्दी, मरिच, ...नीतक मज्जा (मींगी), गृहगोपिका (गृहगोधिका संभवतः छिपकली ...विसकुतिया) समान मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर शुभ पात्र में रख ...ा चाहिये। पुनः शंख, दुन्दुभिनिर्घोषादि के द्वारा पूजन कर के उस ...का अंजन रूप में प्रयोग करना चाहिये। यह भद्रोदय नामक ...न राजाओं के योग्य है।

१. तेनाञ्जिताक्षो नृपतिर्भवेत्सर्वजनप्रियः ।
अघृष्यः सर्वभूतानां दृष्टिरोगविवर्जितः ।

...ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon...

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

वक्राञ्जन—तगर, मरिच, जटामांसी, शैलेय इन द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर सब के बराबर मनःशिला डाले। पत्र (तेजपात) चार भाग और सबका द्विगुण अंजन (स्रोतोञ्जन), उतनी ही सुं डालकर अञ्जन का निर्माण करे पुनः पूर्ववत् पूजन करके नेत्रों स्वस्थ रखने के लिए व्यवहार में लावे।

मनःशिलादि गुटिका—मैनशिल, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, त्रि मरिच, लाक्षा, हरताल, चमेली का फूल, मजीठ, सैंधव, इलायची, रोध्र, सावरक (सौवीरक अंजन), लौहभस्म, ताम्रभस्म, तगर, टाण्डत्वक्-सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर दूध में या ज पीस कर गुटिका बनाकर रख ले। इसका प्रयोग नेत्रगत-कण्डु, ति शुक्ल, अर्म और रक्तराजि रोगों में लाभप्रद होता है। किसी चिकने पत्थर पर गुटिका को घिसकर नेत्र में लगाना चाहिये।

कांस्यापमार्जनीवर्त्ति—कांस्य पात्र के रगड़ से उत्पन्न होने कज्जली, मुलैठी, सेंधानमक, एरण्डमूल इनको समान भाग में उसमें बड़ी कटेरी का फल और मूल कज्जली की दुगुनी मात्रा में फिर बकरी के दूध में पीस कर ताम्र पात्र (ताम्बे के बर्तन) के लेप करके छाया में सुखा ले। इस तरह बकरी के दूध की सात देकर सात बार शुष्क करके वर्ति बनाकर रख लेना चाहिये। यह सामान्य नेत्र-रोग-हर है।

पथ्यादि वर्ति—हर्रे, तुत्थ, मुलैठी सभी का समान भाग, मरिच सोलह भाग लेकर पानी से पीस कर वर्ति बना लेना चाहिये। यह के प्रायः सभी विकारों में लाभप्रद है।

पिण्डिका विधि—नेत्र के बन्धन में प्रयुक्त होने वाली कव (Pad) या ओषधियों के कल्क की पिट्टी को पिण्डी कहते हैं। इसमें के ऊपर रखकर व्रण का बन्धन (पट्टी बाँधना) करना होता है।[1]

विडालक—नेत्र के बाहर से ओषधियों के लेप करने को विडा

१. पिण्डी कवलिका प्रोक्ता बध्यते वस्त्रपट्टकैः।
नेत्राभिष्यन्दयोग्या सा व्रणेष्वपि निगद्यते ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ते हैं। इसमें पक्ष्मों में लेप नहीं किया जाता। इसकी मात्रा मुखलेप समान ही होती है। इसके लगाने से नेत्र बिल्ली के नेत्र जैसे लगते हैं; अस्तु, विडालक कहा जाता है। चक्रपाणि ने चरक की टीका में विडालक को 'बहिर्लेप' (नेत्र के बाहर से पलकों पर लेप) बताया है। चरक ने इसका प्रयोग प्रारम्भ में ही अभिष्यन्द प्रभृति रोगों में बतलाया है। दोषानुसार विविध प्रकार के ये विडालक सकते हैं।[1]

अधुना प्रचलित विडालकों में निम्न प्रकार का एक विडालक बनता —रसौंत १ भाग, मुसब्बर १ भाग, फिटकरी १ भाग, हरीतकी १ भाग, १ भाग, अहिफेन १ भाग, सब एकत्र जल या बकरी के दूध में कर या चन्दन बनाकर नेत्रों के बाहर के भाग पर लेप किया ता है।

शार्ङ्गधरोक्त अञ्जनों के योग

करञ्जवर्ति—करञ्जबीज के चूर्ण को, पलाश-पुष्प के स्वरस से अनेक भावित करके, बनाई हुई वर्त्ति का अंजन नेत्रपुष्प को नष्ट करता है।

समुद्र फेनादिवर्ति—समुद्रफेन, सेंधानमक, शंख, मुर्गी के अण्डों का , सहिजन के बीज, इन द्रव्यों से निर्मित वर्तियों का प्रयोग अव्रण आदि का शस्त्रवत् लेखन करता है।

दन्तवर्ति—हाथी, सूअर, ऊँट, गाय, घोड़ा, बकरा और गदहे के तथा शंख, मुक्ता, समुद्रफेन इन द्रव्यों का चूर्ण करके बनाई हुई की वर्ति का अंजन शुक्रों का श्रेष्ठ नाशक है।

अतिनिद्रानाशिनीवर्त्ति—नीलोत्पल, सहिजन बीज, नाग-केशर इन द्रव्यों से कृत वर्ति का अंजन अतिनिद्रा को दूर करता है।

१. विडालको बहिर्लेपो नेत्रे पक्ष्मविवर्जिते ।
तस्य मात्रां प्रकर्त्तव्या मुखलेपविधानवत् ॥ (यो. र.)
उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे विडालकः ।
कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः । (च.)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पुष्पवर्त्ति—तिल पुष्प ८०, पिप्पली बीज ६०, चमेली के फूल ... मरीच १६, इन द्रव्यों को इसी परिमाण में लेकर जल से पीसकर बनी हुई वर्ति की कुसुमवर्ति या पुष्पवर्त्ति संज्ञा है।

इस अंजन का प्रयोग सामान्य रूप से तिमिर, अर्जुन, शुक्र, ... वृद्धि आदि को नष्ट करता है। इसकी मात्रा डेढ़ मटर की ... बतलाई गयी है।

नक्तांध्यनाशिनी वर्त्ति—रसांजन, हल्दी, दारुहल्दी, चमेली ... नीम की पत्ती इन द्रव्यों को गोबर के रस में भावित करके बनाई ... का अंजन नक्तांध्य को नष्ट करता है।

नेत्रस्रावहरी वर्त्ति—आँवले का बीज १, बहेरे का बीज २, हर्रे ... बीज ३, इस अनुपात में चूर्णित द्रव्यों को जल में पीस कर बने अंजन का दो मटर की मात्रा में किया गया प्रयोग नेत्रगत तथा वातरक्त ... पीड़ा को शान्त करता है।

तुत्थादिरसक्रिया—तुत्थ, स्वर्णमाक्षिक, सेंधा नमक, शंख, मैनसिल ... चीनी, गेरू, समुद्रफेन, मरिच इन द्रव्यों के चूर्ण मिश्रित करके मधु ... मिलाकर रख लेना चाहिये। इस अञ्जन से वर्त्मगत रोग, तिमिर, ... शुक्र प्रभृति रोग नष्ट होते हैं।

कर्पूराञ्जन—श्रेष्ठ कर्पूर के चूर्ण को वट के दूध में मिलाकर अञ्जन करने से दो मास की अवधि का पुष्प (Corneal opacity) नष्ट हो जाता है।[1]

अतिनिद्राघ्न अंजन—घोड़े के लालास्राव और मधु में भावित ... काली मरिच के चूर्ण का अंजन सन्निपात की अतिनिद्रा में पड़े रोगी को चैतन्य कर देता है।

तन्द्राघ्न अंजन—चमेली के फूल और पत्ते, काली मरिच, कुटकी ... वच, सेंधानमक, इन द्रव्यों को वस्त (बकरे) के मूत्र में पीसकर अंजन करने से सन्निपात की तन्द्रा दूर होती है।

१. वटक्षीरेण संयुक्तो मुख्यः कर्पूरजः कणः।
क्षिप्रमंजनतो हन्ति कुसुमं तु द्विमासिकम् ॥ (शा. उ. १३)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रबोधकांजन—लहसुन, मैनशिल, वच, सिरीष के बीज, पिप्पली, काली मिर्च, सेंधा नमक इन द्रव्यों को पीसकर गोमूत्र में पिष्ट अंजन का प्रयोग सान्निपात ज्वर में निद्रित व्यक्ति का बोधक होता है।

दार्व्यादिरसाञ्जन—दारुहल्दी, पटोल, मुलैठी, नीम, पदुमकाठ, नील कमल, प्रपौण्डरीक, इन द्रव्यों को चतुर्गुण जल में पकावे, चतुर्थांश शेष रहने पर उसको छानकर पुनः दूसरे वर्त्तन में लेकर आग पर चढ़ा कर गाढ़ा करे, उसके ठंडे हो जाने पर उसमें मधु और चीनी का चतुर्थांश प्रक्षेप डाले। इस रस क्रिया का अंजन नेत्रगत दाह, अश्रु स्राव, ललिमा, रक्ताधिक्य और पीडा को दूर करता है।

रसाञ्जनादि रसक्रिया—रसौंत, सर्जरस (राल), चमेली के फूल, मनशिल, समुद्रफेन, सेंधानमक, गैरिक, काली मिर्च इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर मधु में मिलाकर पीसकर रख दे। इसके अंजन से क्लिन्न वर्त्म नामक रोग में बड़ा लाभ होता है। वर्त्मगत क्लेद, कण्डू, नष्ट होता है तथा नष्ट हुए पक्ष्मों का पुनः प्ररोहण हो जाता है।

गुडूची रसक्रिया—गुडूचीस्वरस १ कर्ष, मधु १ माशा, सेंधानमक माशा, सभी द्रव्यों को एकत्र कर मिलावे। इसके द्वारा नेत्रों का अंजन करने से पिल्ल, अर्म, तिमिर, काच, कण्डु, लिङ्गनाश तथा अन्य शुक्ल और कृष्णगत रोग नष्ट हो जाते हैं।

पुनर्नवा रसाञ्जन—एक मात्र पुनर्नवा को दूध में पीस कर अंजन करने से नेत्रगत कण्डू, मधु के साथ अञ्जन से नेत्रस्राव, घृत के साथ अंजन से पुष्प, तैल के साथ अंजन से तिमिर तथा कांजी के साथ अंजन करने से नक्तांध्य दूर होता है।[1]

बबूलरस क्रिया—बबूल की पत्तियों का क्वाथ बनाकर पुनः उसको गाढ़ा करके उसमें मधु मिलाकर अंजन करने से निःसन्देह नेत्रस्राव नष्ट होता है।

१. दुग्धेन कण्डूं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा।
पुष्पं तैलेन तिमिरं कांजिकेन निशान्धताम्॥
पुनर्नवा जयेदाशु भास्करस्तिमिरं यथा। (शा. उ. १३)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

हिज्जल रसक्रिया—हिज्जल के फल को पानी में घिसकर अ करना चक्षुः स्राव में लाभप्रद है। इसका नित्य अंजन करना चाहिये यह महौषध है।

सिरोत्पातांजन—सिरोत्पात रोग की शान्ति के लिये घृत और म का अञ्जन श्रेष्ठ है।

कृष्णसर्पवसा रसक्रिया—कृष्ण सर्प की वसा शंख, निर्मली, इन द्र से कृत रसक्रिया का अञ्जन अल्प काल में ही अन्धों को आँख वाला होता है।

चूर्णाञ्जन—काली मिर्च आधा भाग, पिप्पली और समुद्रफेन भाग, सेंधानमक आधा भाग, नया सौवीराञ्जन १ भाग, इस अनु में इन द्रव्यों को लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके रख लेना चाहिये। इस प्रयोग नेत्रगत कण्डू, काच आदि को दूर कर नेत्र के दोषों को करता है।

रसक चूर्णाञ्जन—रसक (खर्पर) को शिला पर पीसकर जल उसको भली भाँति प्लावित कर फिर ऊपर के जल को निथार ले, के चूर्ण को वैसे ही छोड़ दे। फिर निथारे जल को सुखावे। सु पर नीचे की पपड़ी (पर्पटी सन्निभ) बैठ जायगी। इस पपड़ी तीन बार त्रिफला कषाय में भावना दे। फिर इस चूर्ण में दसवाँ कपूर मिलाकर रख ले। इस प्रकार के बने चूर्ण का अंजन नेत्रों के रोग एवं दोषों को हरण करता और सुख पहुँचाता है।

सौवीर चूर्णाञ्जन—सौवीर को आग में तपा कर सात बार त्रि कषाय में और सात ही बार नारी स्तन्य (अभाव में गाय का या घृत) में बुझाकर पश्चात् चूर्ण करके रख ले। इसका प्रतिदिन करने से सर्व नेत्रगत रोग नष्ट होते हैं।

नाग शलाका—नाग को तपाकर क्रमशः त्रिफला, भृङ्गराज और के क्वाथ में तथा घृत, गोमूत्र, मधु एवं बकरी के दूध में कई बार रखे। इसकी शलाका बनाकर रख ले। इस शलाका का नेत्र में करने से सभी नेत्र में होने वाले रोग दूर हो जाते हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

नेत्र-प्रसादक आचार—

१. भोजनोपरान्त दोनों हाथ के तलवों को रगड़ कर नेत्रों पर लगाने से नेत्र में उत्पन्न व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।[1]

२. मुँह में ठंडे जल की कुल्ली भर कर जो व्यक्ति अपने दोनों नेत्रों को शीतल जल से आसिंचित करता है (इस प्रकार की क्रिया प्रातः मध्याह्न एवं सायं तीनों काल में करता है) उसको आँख की बीमारी नहीं होती।[2]

—∘∘—

७

नेत्ररोगों में व्यवहृत होनेवाले स्थानिक उपचारों के विवेचन

आधुनिक प्रविचार—ऊपर नेत्ररोगों में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन कर्मों का उल्लेख हो चुका है। आधुनिक नेत्ररोगों के ग्रन्थों में प्रायः इसी प्रकार के नेत्र में प्रयुक्त होने वाले औषधोपचारों (Colliria) का वर्णन पाया जाता है। नेत्र में डालने की ओषधियाँ अलग अलग स्वरूप में व्यवहृत होती हैं—इनका मुख्यतः चार प्रकारों से प्रयोग होता है।

१. *जलमिश्रित विन्दु*—(आश्च्योतन जलीय) औषध द्रव्य को परिस्रुत सलिल में घोलकर उबाल कर कीटाणु विरहित करके रख

१. भुक्त्वा पाणितलं घृष्टा चक्षुषोर्दीयते यदि।
जाता रोगा विनश्यन्ति तिमिराणि तथैव च॥

२. शीताम्बुपूरितमुखः प्रतिवासरं यः
कालत्रयेण नयनद्वितयं जलेन।
आसिञ्चति ध्रुवमसौ न कदाचिदक्षि-
रोगव्यथाविधुरतां भजते मनुष्यः॥ (शा. उ. १३)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

लिया जाता है। इस द्रव्य का आँखों में बूँद बूँद कर निक्षेप कि जाता है। इनमें मुख्य मुख्य आर्जिराल, एड्रेनेलीन, सिल्वरना प्रोटार्गल और मर्क्युरोक्रोम प्रभृति हैं। ये द्रव विभिन्न श (Strength) से बनाये जा सकते हैं। नवीन आविष्कारों में 'पे लीन' बिन्दु का प्रयोग बहुतायत से हो रहा है। 'पेन्सिलीन' के अ दूसरे (Broad antibiotic solution) विशेषतः नेत्र में छोड़ने लिये व्यवहृत होने लगे हैं।

२. *तैलमिश्रित बिन्दु*—(आश्च्योतन तैलीय या स्निग्ध) इन बूं के निर्माण में जैतून का तेल या एरण्ड तैल का व्यवहार किया जा है। जिस तैल में घोल बनाना हो उसे खूब गर्म करके कीटाणु रहि कर लिया जाता है। फिर जिस औषध द्रव्य को मिलाना हो काँच खरल में घोंटकर मिलाकर खूब हिलाकर रख दिया जाता है। आ श्यकतानुसार इनकी बूंदों का निक्षेप आँखों में किया जाता है। ऐ ओषधियों में मुख्य एट्रोपीन, होमोट्रोपीन, इसरिन और पिलोकारपीन है

३. *मलहर या मल्हम* (Ointment)—(प्रसादन या रोपणा या रसक्रिया) नेत्रों में लगाने के मल्हम प्रायः वेसलीन, लेनोलि और जैतून के तेल के मिश्रण से बनाये जाते हैं। शरीर के इतर भा की अपेक्षा नेत्र के लिये मलहर अधिक नरम और प्रवाही होना चाहि इसी लिये ऐसे मल्हमों में जैतून का तेल अधिक प्रयुक्त होता है। मल्हम दो प्रकार के होते हैं, एक वे जिनका नेत्र के अन्तः भाग प लगाने के लिये निर्माण होता है, जैसे—येलो आक्साइड आफ म कैलोमल एट्रोपीन, पिलोकापाइन, इसेरिन और आयडोफार्म मिश्रि मल्हम तथा दूसरे वे जिनका बहिःप्रयोग, विडालक रूप में पलक उसकी धारा पर लगाने के लिये हो जैसे एमोनियेटेडमर्करी, इक्थि जिंक आक्साइड मिश्रित मल्हम आदि।

वर्त्तमान युग में नेत्र में बूँद डालने के लिये जो जो ओषधियाँ व्य हृत होती हैं प्रायः उन सबका प्रयोग नेत्र के मल्हम बनाने में होता है आजकल सबसे अधिक नवीन और लाभप्रद नेत्र के प्र

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgab

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आनेवाले 'इरगाफेन' 'सिवेजाल' और 'पेनीसिलीन' टेरामायसिन आदि मल्हम मिलते हैं।

अंजन चूर्ण—(Powders) (चूर्णाञ्जन) इस प्रकार की और व्यवहृत होने वाली ओषधियों में निम्न मुख्य हैं—एरीस्टोल, आयडोफार्म, कैलोमल जिंक आक्साइड, एण्टीपाइरीन, एसिडबोरिक (टंकण) ...लीन, सैलिसिलेट जिरोफार्म, नोवीफार्म तथा शुल्वादिगण (Sulpha drugs) की औषधियाँ।

समन्वय—अब यदि उपरोक्त प्राचीन एवं अर्वाचीन वर्णनों की तुलना की जाय तो स्पष्टतया ऐसा ज्ञात होता है कि प्राच्य तथा पाश्चात्य मतों की स्थानिक चिकित्सा विधानों में कोई विशेष अंतर नहीं है। प्राच्यों के आश्च्योतन कर्म के भीतर ही (जलीय या तैलीय या स्निग्ध आश्च्योतन में) जलीय या तैलीय बिन्दुओं (Aquous or oily drops) का ग्रहण हो जायगा। मल्हमों का स्निग्ध (घृत या तैल में बने) अंजनों के भीतर जिसे प्रसादन या रोपण अंजन (क्रिया भेद से) बताया गया है समावेश हो जायगा तथा आधुनिक चूर्णों को जो चिकित्सा में व्यवहृत होते हैं चूर्णांजन नामक प्राचीन परिभाषा के अंदर समाविष्ट किया जा सकता है—फलतः पर्याय कथन इस प्रकार हो सकता है—

(क) जलीय आश्च्योतन बिन्दु (Aquous drops)

(ख) स्निग्ध या तैलीय आश्च्योतन बिन्दु (Oily drops)

(ग) प्रसादन या रोपणांजन या रसक्रिया (Ointments) इनकी कल्पना में प्राचीन मतानुसार घृत या तैल का होना आवश्यक है।

(घ) चूर्णांजन (Powders)

आधुनिक ग्रंथों में बिन्दु या निक्षेप (Drops) तथा अंजनों की ...की दृष्टि से वर्गीकरण प्राप्त होता है। जैसे—

(क) जीवाणु विरोधी (Antiseptic)

(ख) ग्राही (Astringents)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

(ग) चेतनाहर (Anesthetics)
(घ) तारक प्रसारक (Mydriatics)
(ङ) तारक संकोचक (Miotics)
(च) शोषक (Absorbents) या लेखन।
(छ) वेदनाहर (Anodynes)
(ज) शोफघ्न (Antiplaugistics)
(झ) रक्तवाहिनी प्रसारक (Masodilartors)
(ञ) रक्तवाहिनी संकोचक (Vaso Constrictor)
(ट) नेत्रान्तर्गत भार-शामक (Lowering intraocc[ular] pressure)

यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में नेत्र में प्रयुक्त होने वाली ओषधियों का [इस] प्रकार का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता तथापि उनकी क्रिया, प्रयोग [और] गुणों को देखते हुए प्राचीन ग्रंथोक्त ओषधियों का भी उपरोक्त सूत्रानु[सार] वर्णन संभव है। ऊपर लिखे हुए ग्यारह कार्यों में छः को छोड़कर [शेष] पाँच अर्थात् जीवाणु-विरोधी, ग्राही, शोषक या लेखन, वेदनाहर [और] शोफघ्न ओषधियों का तो यत्र तत्र स्पष्टतया उल्लेख भी मिलता [है] जिसका विशेष वर्णन चिकित्सा के प्रसङ्ग में किया जायगा।

३. *शस्त्रकर्म*—बहुत से नेत्ररोगों में औषधोपचार विफल होने [पर] शस्त्र क्रिया से लाभ होता है। विभिन्न शस्त्रकर्मों का वर्णन चिकि[त्सा] के प्रसंग में मिलेगा।

४. *रक्तविस्रावण*—रक्तविस्रावण नेत्र रोगों में चिकित्सा का साधन [बड़े] महत्त्व का है। जलौका के द्वारा रक्त विस्रावण करने से रक्ता[धिक्य] कम होकर शोफ का शमन हो जाता है। इसकी क्रिया शोफघ्न (A[nti]-Phlaugistic) होती है। इसीलिये जोंक के द्वारा जो परम सु[रक्षित] रक्तविस्रावण की विधि मानी गयी है; उसे आचार्यों ने नेत्र रो[गों में] निर्देश किया है। आधुनिक युग के नेत्रवैद्य भी चिकित्सा में इ[से] एक महत्त्व का साधन मानते हैं।

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

...n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran...

८

संधिगत रोग

(Diseases of the lacrimol apparatus Junction of the Lids and Lashes and of Sclero-Corneal junction)

आचार्य सुश्रुत ने नेत्ररोगों का वर्णन अधिष्ठान-भेद से किया है—...धुनिक पाश्चात्य वैद्यक में भी रोगों का वर्णन अधिष्ठान-भेद से ही ...या गया मिलता है; अतएव बहुत कुछ समानता रोगों के वर्णनों में ...लती है। सन्धि में होने वाले नौ रोगों का वर्णन आता है।[1]

पूयालस—इसमें मुख्य लक्षण कनीनिक संधि में शोथ, पाक, वेदना ...र पूयास्राव आदि होते हैं। आधुनिक मतानुसार अश्रुकोष-शोथ (Acute or chronic Dacryocystitis) कहा जाता है। अथवा ...त कुछ समता अश्रुकोष विद्रधि (Lacrymal Abscess) से भी ...सकती है।

तीव्रावस्था—इस रोग में नेत्र के भीतर वाले कोण (Inner ...nthus) और उसके चारों ओर के भाग की त्वचा लाल हो जाती ...र उभड़ आती है। नैसर्गिक सिलवटें अदृश्य होकर त्वचा चिकनी ...जाती है और वहाँ पर एक गाँठ हो जाती है। रोगी को असह्य वेदना ...ती है। पश्चात् गाँठ में पूयोत्पत्ति होकर वह नरम पड़ जाती है। ...त् पूय का निर्हरण होकर शोथ बैठ जाता है। यह सुखमय परि-...म सर्वदा नहीं होता। अनेक बार फोड़े का घाव नहीं भरता और ...व्रण का रूप ले लेता है। इससे उस स्थान पर छिद्र हो जाता है ...ससे वहाँ से पूय या जल सदृश स्राव आता रहता है। योग्य उपचार

१. पूयालसः सोपनाहः स्रावः पर्वणिकालजी। क्रिमिग्रंथिश्च विज्ञेया रोगाः ...गता नव। पक्वः शोफः संधिजः संस्रवेद्यः सान्द्रं पूयं पूति पूयालसः सः।

...aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon...

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

नहीं किया जाय तो वह छिद्र वर्षों पर्यन्त चलता रहता है। कि बार नासास्थि कोथ हो जाता है। उपचार में प्रारम्भ में शो चिकित्सा स्वेद प्रभृति करे खाने में शुल्वादि योग का प्रयोग करे। शोफ का उपशम न हो और पूयोत्पत्ति ज्ञात हो तो शस्त्रकर्म करे।

जीर्णावस्था—इस अवस्था में नेत्र के भीतर के कोण और नाक के बीच में रहे हुए अश्रुवाशय में पूय या उससे सम्बन्ध रखने वाला श्लेष्मा संगृहीत होता रहता है। फिर उस भाग के ऊपर दबाव डालने से नीचे के मार्ग से वह बाहर निकलता है। नेत्र से जलस्राव होता रहता है इसके अतिरिक्त नेत्र के भीतरी कोने से लसदार प्रवाही पदार्थ बार बार निकलता रहता है। उसे रोगी बार बार पोंछता रहता है। गाँठ पर दबाव डालने से नेत्र के भीतरी कोने से ३-४ बूँद पूय सदृश प्रवाही निकल आता है, इस रोग के निर्णयार्थ यह उत्तम उपाय है। कभी कभी यह स्राव बाहर न आकर नाक के भीतर चला जाता है। यदि यह स्राव सतत नेत्र से निकलता रहे तो नेत्र श्लेष्मावरण का शोथ पैदा करता है। इस रोग का मुख्य कारण अश्रुवाहक नल का संकोच यां अवरोध होता है। अश्रुवाशय का निम्न मार्ग बन्द होने से नेत्र में उत्पन्न श्लेष्मा, अश्रु तथा तत्स्थानगत स्राव उस आशय या थैली में इकट्ठा होता है। ऐसी अवस्था में यदि गोलक पर से न्युमोकोकस नामक तृणाणु पहुँचे तो शोथ पैदा कर देते हैं।

इसके उपचार में प्रारम्भ में तृणाणुघ्न द्रव्यों से प्रक्षालन, शोधन और रोपण की क्रिया की जाती है यदि विकृति ठीक नहीं होती तो शस्त्रक्रिया के द्वारा अश्रुवाशय को निकाल दिया जाता है।

चिकित्सा—सुश्रुत ने पूयालस की चिकित्सा में रक्तविस्रावण उपनाह स्वेद तथा अक्षिपाक की पूरी चिकित्सा का विधान बतलाया है।[1] सैंधवादि अंजन—सैंधानमक और कासीस बराबर मात्रा में लेकर आर्द्रक स्वरस से भावित कर वर्त्ति बनाकर रखे। इसका अञ्जन करने से

१. पूयालसे शोणितमोक्षणञ्च हितं तथैवात्युपनाहनञ्च।
कृत्स्नो विधिश्चेक्षणपाकघाती यथाविधानं भिषजा प्रयोज्यम्॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

…य होता है। इन्हीं द्रव्यों में ताम्र और लौह भस्म का भी उपयोग …के मधु के साथ मिलाकर रस क्रिया के रूप में बना कर भी अंजन …रूप में व्यवहार किया जा सकता है।[1]

उपनाह—(Lacrymal cyst) यह एक कफज एवं साध्य व्याधि …इसमें कफ के कारण वर्त्म संधि या कनीनिका की सन्धि में सूजन …ती है जिससे बाद में एक बड़ो गाँठ बन जाती है। इसमें पूयोत्पत्ति …र वेदना नहीं होती केवल कण्डु होती है।[2]

चिकित्सा—उपनाह की अवस्था में पिप्पली, मधु और सेंधानमक से …न करना चाहिये अथवा मण्डलाग्र शस्त्र से सम्पूर्ण का छेदन (Ex- …ion) करके काटकर निकाल देना चाहिये।[3]

पर्याय—लक्षण और चिकित्सा का विचार करने पर उपनाह एक …र का अर्बुद या ग्रंथि (Cyst or benine tumour) ज्ञात होता …। बहुत सम्भव है यह वर्णन (Lacrymal cyst) टार्सल से निकलने …'सिस्ट' का हो। आजकल भी इसकी चिकित्सा में इसे समूल काट …दाहक पदार्थों या विद्युद्दहन से दग्ध करने का विधान है। इस रोग …समता अश्रुजनक पिण्ड के अर्बुदों (Tumours of lacrymal …ands) से भी की जा सकती है। अश्रुजनक पिण्डों के स्रोतसों का …रोध होकर बच्चों में कई बार बड़ी बड़ी ग्रंथियाँ (सीस्ट) बन जाती …। यह एक शस्त्रसाध्य रोग है। अतएव सुश्रुतोक्त उपनाह को अश्रु- …क पिण्डग्रन्थि (Lacnymal cyst) कहना ठीक है।

चतुर्विधस्राव—अश्रुवह स्रोतसों से दोष संधियों में जाकर वेदना …त अपने-अपने लक्षणों से युक्त कई प्रकार के स्रावों को उत्पन्न …ते हैं। यह स्राव कानीन सन्धि (Inner canthus) से होकर

---

१. कासीससिन्धुप्रभवार्द्रकैस्तु हितं भवेदञ्जनमेव चात्र ।
क्षौद्रान्वितैरेभिरथोपयुंज्यादन्यत्तु ताम्रायसचूर्णयुक्तैः ॥
२. ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसंधावपाकः कण्डुप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ।
३. हितोपनाहे त्वलजे पिप्पलीमधुसैन्धवैः ।
विलिखेन्मण्डलाग्रेण छेदयेद्वा समन्ततः ॥

३० शाला०

aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

निकलता है। इसी अवस्था को कुछ लोग नेत्रनाडी (Sinus) कहते हैं। ये स्राव चार प्रकार के होते हैं। इस संधि में पाक हो जाने से कई प्रकार के पूयों का आस्राव होता है। श्वेत, सान्द्र, वेदना रहित जो स्राव होता है वह कफज है। रक्तदोष की प्रबलता से रक्तयुक्त पूय का आस्राव, यह स्राव, उष्ण, पतला और अधिक मात्रा में होता है। पीतावभास (पीलापन लिये), नील उष्ण और जल सदृश आस्राव पित्त के कारण से होता है।[1] विदेह ने भी लिखा है इस रोग में कनीनिका से कई प्रकार के दोषों के अनुरूप लक्षणों से युक्त वेदनारहित स्राव होता है।[2]

पर्याय—संक्षेपतः स्रावों के वर्णन से स्पष्टतया यह ज्ञात हो रहा कि यह एक ऐसा विकार है जिसमें कनीनिका संधि (Inner can-thus) से—१. पूयस्राव २. रक्तस्राव ३. गाढ़ा श्वेतस्राव या ४. पतला श्वेत या पीत स्राव होता रहता है। आधुनिक ग्रन्थों में नेत्र के ...

१. गत्वा संधीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् रुग्विहीनान् कनीनात्।
तान् वैस्रावान्नेत्रनाडीमथैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा॥
पाकः संधौ संस्रवेद्यश्च पूयं पूयास्रावं नैकरूपः प्रदिष्टः।
श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं संस्रवेद्यः श्लेष्मास्रावो नीरुजः सः प्रदिष्टः॥
रक्तास्रावः शोणितोत्थो सरक्तमुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम्।
पीताभासं नीलमुष्णं जलाभं पित्तास्रावः संस्रवेत्सन्धिमध्यात्॥

२. अश्रुस्रावः सिरा गत्वा नेत्रसंधिषु तिष्ठति।
ततः कनीनकं गत्वा चाश्रु कृत्वा कनीनके॥
ततः स्रवत्यथास्रावं यथादोषमवेदनम्।
स्रावेषु त्रिफलाक्काथं यथादोषं प्रयोजयेत्।
क्षौद्रेणाज्येन पिप्पल्या मिश्रं विध्येच्छिरां भिषक्।
पथ्याक्षधात्रीफलमध्यबीजैस्त्रिद्व्येकभागैर्विदधीत वर्तिम्।
तथांजयेदस्रमतिप्रवृद्धमक्ष्णोर्हरेत् कष्टमपि प्रकोपम्।
कार्पासीफलजम्ब्वाम्रजलैर्घृष्टं रसांजनम्।
मधुयुक्तं चिरोत्थं च चक्षुःस्रावमपोहति॥ (यो. र.)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

...n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra...

...ग पर होनेवाले विविध स्रावों का वर्णन अश्रुवाहक अवयवों के ...ों में संभव (Diseases of the lacrimal apparatus) माना ...या है। इन अवयवों के रोग निम्नलिखित हैं :—

(अ) अश्रुद्वार का बाहर की ओर मुड़ना (Eversion of the ...unctum)—इसमें नेत्र से अश्रुस्राव होता रहता है।

(आ) अश्रुद्वार संकोच या अवरोध (Stenosis or occlusion ...the Punctum)—इसमें भी नेत्रों से जलस्राव होता रहता है।

(इ) अश्रुवाहक नलिका का अवरोध (Obstruction of the ...analiculus)—इस हेतु से भी नेत्र से सर्वदा जलस्राव होता ...ता है।

(ई) नासानल का संकोच (Stricture of the Nasal duct)—...हेतु से भी नेत्र से सर्वदा जलस्राव होता रहता है।

(उ) अश्रुवाशय शोथ (Dacryo Cystitis)—इसका वर्णन ...यालस' के प्रसङ्ग में हो चुका है। इसकी तीव्रावस्था (Acute ...tage) की तुलना पूयालस से (पीडायुक्त होने के कारण) और ...र्णावस्था की समता स्रावों से (वेदना रहित सान्द्र, पिच्छिल, पीत, ...ादि का स्राव होने के कारण) किया जा सकता है।

आधुनिक चिकित्सा में पहले रोग के कारणभूत अवरोध या ...ोच को दूर करने की क्रिया की जाती है। इसके लिये अश्रुवाशय ...णी (Poulard's lacrimal Probe) के द्वारा क्रमशः स्रोत का ...र्द्धन किया जाता है। यदि सफलता न प्राप्त हो सके तो अश्रुवाशय ...शस्त्र क्रिया के द्वारा कृत्रिम स्रोत बनाना होता है। पश्चात् शोथघ्न ...न, रोपण आदि की प्रक्रिया की जाती है। यदि रोग का उपशम ...युक्त विधानों से न हो पाये और जीर्ण अश्रुवाशय शोथ की अवस्था ...हो जाय तो वर्तमान नेत्र वैद्य शस्त्रकर्म के द्वारा थैली को निकाल ...की ही सलाह देते हैं।

चिकित्सा—प्राचीन चिकित्सा में अधिकतर औषधसाध्य विधानों ...उपदेश है जिनमें कई एक ग्राही, शोधक तथा रसायन योगों तथा

...ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao...

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

शिरावेध का उल्लेख मिलता है। जैसे दोषानुसार त्रिफला क्वाथ से प्रक्षालन (कफज स्राव में मधुयुक्त, पैत्तिक और रक्तज विकारों में घृत मिलाकर और वातज स्राव में पिप्पली मिलाकर) करना चाहिये और शिरावेध करना चाहिये।

हरीतकी, विभीतक (मज्जा) और धात्री का क्रमशः तीन, दो और एक के अनुपात से अञ्जन वर्ति बनाकर अञ्जन करने से कफ कपास का फल, जामुन, आम इनको पानी में घिसकर मधु मिलाकर अञ्जन करने से चिरकालीन चक्षुस्राव ठीक हो जाता है।

सुश्रुत के अनुसार यह चतुर्विधस्राव सान्निपातिक होते हैं। फलतः असाध्य हैं। अतएव आचार्य ने स्रावों की कोई विशेष चिकित्सा नहीं बतलाई और न किसी शस्त्रकर्म विशेष का ही उल्लेख किया है।

पर्वणी और अलजी—कृष्ण और शुक्ल मण्डल की संधि में उत्पन्न होने वाले ये दोनों रोग हैं। संधि स्थल पर एक लाल रंग का पतला वृत्ताकार शोफ होता है जिसे पर्वणी कहते हैं—यदि यही वृत्ताकार शोथ पतला न होकर मोटा (स्थूल) हुआ तो उसे अलजी कहा जाता है। इनमें पर्वणी रक्त दोष से उत्पन्न होती और साध्य होती है; परन्तु अलजी सान्निपातिक और असाध्य होती है। दोनों के लक्षण एवं चिह्न प्रायः समान होते हैं। इनमें तीव्र दाह, लालिमा, शूल प्रभृति लक्षण मिलते हैं।[1]

उपरोक्त लक्षण इतने स्थूल हैं कि इनका आधुनिक पर्याय करना कठिन है। फिर भी स्थान (Sclero Corneal junction), लक्षणों की तीव्रता (Acute pain and redness) तथा आकृति वृत्ताकार शोफ (Ringform or Disciform or Rodent) और साध्यासाध्यता की दृष्टि से पर्वणी साध्य और अलजी असाध्य विचार करने पर इसे कृष्णमण्डल की परिधि पर उत्पन्न व्रण या शोफ (Marginal ulcers of Cornea or Keretitis Marginalis) कहा जा

१. ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना रक्ताज् ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा।
जाता संधौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सकता है। आधुनिक ग्रंथों में कृष्णमण्डल शोथ (Keretitis) के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। उनमें परिधि के भाग में पाने वाले उत्तान परिधि का क्षत (Keritities Marginalis superficialis) या गंभीर परिधि का क्षत (Kerititis Marginalis Profunda) तथा चक्राकार क्षत (Diciform Kerititis) विशेषतया सुश्रुतोक्त इन रोगों से साम्य रखते हैं। ये सभी कृच्छ्रसाध्य रोग हैं; फिर अधिक बढ़ी अवस्था में उपद्रव युक्त (जलमय द्रव के पूय खण्ड में) पूयोत्पादन (Hypopyon) होकर चिकित्सा में असाध्य हो जाते हैं। अतः पर्वणी की अवस्था तक साध्य पश्चात् अलजी की अवस्था प्राप्त कर असाध्य हो जाते हैं।

चिकित्सा—पर्वणी की चिकित्सा में सुश्रुत ने छेदन कर्म का निर्देश किया है।[1] पर्वणी के प्रथम त्रिभाग में वडिश लगाकर काट देना चाहिये। तदनन्तर मूल और अग्र को मापकर उसके बीच में काट देना चाहिये। जो अवशेष भाग रह गया हो उसे प्रतिसारण और लेखन क्रिया के द्वारा नष्ट करे।

मूल सूत्रों का अविकल हिन्दी भाषान्तर इस प्रकार होगा 'चतुर वैद्य को चाहिये कि संधि स्थित (कृष्ण शुक्लगत) पर्वणी का पहले स्वेदन करे। पश्चात् वडिश के द्वारा आगे वाले तृतीयांश को पकड़कर खींच रखे। पुनः अग्रभाग के आधे भाग को चाकू से काट दे। अधिक कटने पर अश्रु नाडी होने का भय रहता है। रोग का जो भाग अवशिष्ट रह गया हो उसे सेंधा नमक और मधु के प्रतिसारण के द्वारा क्रमशः लेखन करके दूर करे।'

१. संधौ संस्वेद्य शस्त्रेण पर्वणीकां विचक्षणः।
उत्तरे च त्रिभागे च वडिशेनावलंबिताम्॥
छिन्द्यात्ततोर्धमग्रे च स्यादश्रुनाड्यतोन्यथा।
प्रतिसारणमत्रापि सैन्धवक्षौद्रमिष्यते॥
लेखनीयानि चूर्णानि व्याधिशेषस्य भेषजम्। (सु.)

Shri Shri Anandamayee Ashram RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

कृमिग्रन्थि या जन्तुग्रन्थि—यह रोग वर्त्म और शुक्ल मण्डल की संधि में होता है। वहाँ पर नाना प्रकार की कृमियाँ वर्त्म और पक्ष्म की संधि में उत्पन्न होकर खुजली तथा छोटी-छोटी गाँठे पैदा करती हैं, भीतर में चलते हुये नेत्र को भी दूषित करती है। कफ से उत्पन्न होने वाला यह एक साध्य रोग है।[1]

चिकित्सा—कृमि ग्रन्थि नामक रोग में सम्यक् प्रकार से स्वेदन करने के पश्चात् ग्रंथियों का भेदन करे पश्चात् अनामिका रोग में कथित अञ्जन और मधु के साथ प्रतिसारण करे अथवा त्रिफला, तुत्थ, कासीस, सेंधानमक से रसक्रिया बनाकर अंजन करना चाहिये।[2]

पर्याय—जिस तरह शरीर के अन्य भागों में बालों में यूकालिक्षा (Pediculi Ciliaris) पाई जाती है उसी तरह पलक के बालों में भी विशेषतः जहाँ पर पलक और बालों की सन्धि होती है वहाँ ये जन्तु पाये जाते हैं। रोगी को खुजली होती है और वह उसे बलपूर्वक रगड़ता रहता है जिससे धारा छिल जाती है। परीक्षा करने पर एक या अधिक सफेद जूं दिखलाई पड़ती है और बालों के मल में बहुसंख्यक भूरे अण्डे भासते हैं। इनको सावधानी से पतले संदंश से पकड़कर निकाल लना चाहिये तथा प्रतिसारण के लिए केलोमल, एमोन्येएटेडमर्करी की मल्हम बनाकर बालों के मूल में लगाते रहना चाहिये उससे यह रोग चार रोज में उपशम हो जाता है।

१. क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रिमयः संधिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लस्य संधौ चरन्तोऽन्तर्नयनं दूषयन्ति ॥

२. सम्यक् स्विन्ने क्रिमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात्प्रतिसारणम्।
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया ॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

९

वर्त्मगत रोग

(Diseases of the Eye lids)

सम्प्राप्ति—पृथक्-पृथक् या सभी एक साथ मिलकर दोष जब वर्त्म या वर्त्मस्थित सिराओं को व्याप्त कर देता है तो विभिन्न प्रकार के वर्त्मगत नेत्र रोग होते हैं। रोगोत्पत्ति में दूष्य रूप से यहाँ पर पाये जाने वाले त्वचा, मांस रक्त प्रभृति आते हैं अर्थात् इन्हीं में रोग का अधिष्ठान होता है इन्हीं में से मांस एवं मेद को बढ़ाकर उभार पैदा कर रोग होते हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस रोग होते हैं। जिन्हें एक-एक कर देखते चलेंगे।[1]

उत्संगिनी—अधोवर्त्म के उत्संग (क्रोड या गोद) में उत्पन्न हुई, सन्निपातज एक पिडिका है, जो देखने में बाह्य (बाहर की ओर) दिख-लाई पड़ती है, परन्तु उसका मुख भीतर की ओर रहता है ऐसी पिडिका चाहे एक हो या कई हों उत्संगिनी नाम दिया गया है।[2] विदेह ने कहा है कि अधो वर्त्म (नीचे वाले पलक) के क्रोड में सन्निपात से होने वाली आभ्यंतर मुखी पिडिका जो बाहर से काफी स्थूल दिखलाई पड़ती है उत्सङ्ग पिडका कहलाती है। यह स्पर्श में कठिन तथा मन्द वेदना वाली होती है। यह एक या अनेक भी हो सकती है। इसके फट-जाने से मुर्गे के अण्डे के रस के समान द्रव स्रवित होता है।[3]

---

१. पृथक् दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः।
सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्छिताः।
विवर्द्ध्यं मांसं रक्तं च तथा वर्त्मव्यपाश्रयान्।
विकाराञ्जनयन्त्याशु नामतस्तन्निबोधत॥

२. अभ्यन्तरमुखी बाह्यचोत्संगेऽधो वर्त्मनश्च या।
विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिडिकाचिता॥ (सु.)

३. वर्त्मोत्संगेऽप्यधो जन्तोः सन्निपातात्प्रजायते।
अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

कुम्भीक पिडिका—कुम्भीक (दाडिम बीज) के आकार वाली वर्त्म (पलक) की पिडका होती है जो त्रिदोषज है। भिन्न होने पर पुनः फूल जाती है ऐसी पिडिका को कुम्भीक पिण्डिका की संज्ञा सुश्रुत ने दी है।[1] त्रिदोषज होते हुए भी यह साध्य है।

अञ्जन नामिका—वर्त्म में होने वाली एक पिडिका है जो ताम्र वर्ण सदृश लाल दाह और तोद (सुई चुभाने की पीड़ा सदृश) पीड़ा वाली होती है। यह पिडिका स्पर्श में मृदु, आकर में छोटी और मन्द पीड़ा युक्त होती है। इसे अञ्जन नामिका कहते हैं।[2]

लगण—वर्त्म में होने वाली एक गाँठ, जो कठिन, स्थूल, अपाकी हो, जिसमें खुजली, पिच्छिलता पाई जावे और परिमाण कोल (छोटे बेर) के बराबर हो उसे लगण कहते हैं।[3]

सुश्रुत ने उपर्युक्त चार प्रकार के ग्रन्थिवद् रचना वाले (वर्त्म के बाहरी भाग में पाये जाने वाले) विकारों का उल्लेख संहिता में किया है। आधुनिक नेत्र रोगों के ग्रंथों में नेत्रवर्त्म के बाहरी भाग में पाये जाने वाले विकारों का वर्णन आता है। उत्सङ्गिनी, कुम्भीक पिडिका तथा अञ्जननामिका इन तीनों विकारों को वर्त्म की ग्रन्थियों (Diseases of the lid glands) के रोग कह सकते हैं और लगण को वर्त्म पुटके अर्बुदों में (Tumours of the Eyelids) ले सकते हैं। अर्बु

पिडका पिडकाभिश्च चितान्याभिः समन्ततः।
उत्संगपिडका नाम कठिना मन्दवेदना ॥
सा प्रभिन्ना स्रवेत्स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्। (वि.)

१. कुम्भीकवीजप्रतिमाः पिडका यास्तु वर्त्मजाः।
आध्मापयन्ति भिन्नायाः कुम्भीकपिडकास्तु ताः ॥
कुम्भीका=दाडिमाकारफला स्थलकुम्भी।

२. दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।
मृद्वी मन्दरुजा ज्ञेया या साञ्जननामिका ॥

३. अपाकः कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवो रुजः।
सकण्डुः पिच्छिलः कोलप्रमाणो लगणस्तु सः ॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

n Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भी सौम्य अर्बुदों में ही इनका ग्रहण करना होगा क्योंकि यह श्लेष्मज और साध्य विकार हैं, अत एव इसे जतुक या अर्श (Molluscum simplex or warts) के वर्ग में ले सकते हैं। कुछ विचारकों ने इसे मेइबोयिनसीस्ट' का ही एक भेद माना है। वस्तुतः लगण एक प्रकार ग्रन्थि है, जो अपाकी, कठिन और स्थूल होती है। इतना तो निश्चित ही है कि यह कोई वर्त्मगत पिडिका (Stye Hordeolum) नहीं है—यह एक ग्रन्थि है। सुश्रुत ने इसको कफज व्याधि माना है। अतः प्रारम्भ से ही इसमें भेदन (Iclsion) का उपदेश किया है। यदि पिडिका बड़ी हो तो क्षार कर्म और अग्निकर्म का भी उपदेश चिकित्सा में किया है। यदि लगण शान्त न हो तो अग्नि से दाह करके ठीक करे।

महत्यपि च युञ्जीत क्षाराग्नि विधिकोविदः। सु. उ. १४

कर्त्तव्यं लगणेऽप्येतदशान्तावग्निना दहेत्॥ वा. उ. ६

निदान एवं चिकित्सा के इस स्थूल वर्णन से यह रोग Meibomian cyst भी कहा जा सकता है अथवा किसी सौम्य अर्बुद का प्रकार। दोनों अवस्थाओं में चिकित्सा सूत्र समान ही रहेंगे। पलक की लसीका ग्रन्थियों के मुख्यतया दो या तीन विकार पाये जाते हैं।

1. Stye-Hardeolum
2. Meibomian cyst or chalizion
3. Infraction of meibomian gland

इनमें 'स्टाई' को अञ्जन नामिका तथा कुम्भीक पिडिका, 'चैलजियन' को उत्सङ्ग पिडिका तथा 'मेइबोमियन' के रसशोष को वर्त्म शर्करा कह सकते हैं।

Stye Hardeolum—इसके दो प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर होते हैं। बाह्य की उत्पत्ति जाइस पिण्डों (zeiss gland) के शोथ से होती है। आभ्यन्तर की उत्पत्ति पलक के कोमलास्थि में अवस्थित मेइबोमियन पिण्ड के प्रदाह से होती है। इसका अवस्थान बिल्कुल धारा पर न होकर कुछ ऊपर के भाग में होता है। लक्षण और चिह्न दोनों में समान मिलते हैं। वेदना बाह्य में कम और आभ्यन्तर में अतिशय

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

होती है । रोगी को दोनों अवस्थाओं में ही प्रारम्भ से कुछ-न-कुछ वेदना होती रहती है, रोग की वृद्धि अनुसार वेदना की भी वृद्धि होती है, पकाव में पुनः वेदना का उपशम हो जाता है । परीक्षा करने पर पलक की धारा में कुछ उभार दीखता है, फिर सूजा हुआ भाग ताम्रवर्ण हो जाता है । अङ्गुली से स्पर्श करने पर एक छोटी सी गाँठ (पिडिका) जान पड़ती है जिसमें जलन और वेदना प्रभृति लक्षण आमावस्था में मिलते हैं, पश्चात् वह पककर फूट जाती है और एक दो बूंद पूय निकल कर शोफ का उपशम हो जाता है । बहुत से रोगियों में यह पिडिका एकाधिक भी होती है । इस पिडिका की ठीक समता प्राचीन काल के रोग 'अञ्जननामिका' से है । अतएव अञ्जननामिका नामक पिडिका को अंग्रेजी का 'स्टाई' समझना चाहिये । कुछ विचारकों ने कुम्भीक पिडिका का साम्य 'स्टाई हाडियोलम' के साथ बतलाया है; परन्तु यह पूर्ण रूप में ठीक नहीं है । वास्तव में भीतरी अञ्जननामिका को 'कुम्भीक पिडिका' (External stye) जो पकने पर भीतर फूटती है और बाह्य अञ्जननामिका को अञ्जननामिका (External stye) कहा जा सकता है । अर्थात् अञ्जननामिका से External stye Hordeolum तथा कुम्भीक पिडिका से Internal stye Hardeolum को ग्रहण करना चाहिये ।[1]

Meibomiancyst-chalazion—मेइबोमियन के एक या अधिक लसीका पिण्डों में चिरकालीन शोथ होकर रस के बाहर जाने का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है । फिर इन पिण्डों में लसीका संगृहीत होकर दानेदार होकर पिडिका या ग्रन्थि का रूप ले लेता है ।

चिह्न—इसमें रोगी में कोई लक्षण नहीं मिलते । रोगी की वर्त्मधारा के ऊपरी भाग में एक छोटी सी गाँठ उँगली से प्रतीत करने पर मालूम होती है उसे दबाने पर बिल्कुल वेदना नहीं होती । पलक को उलट कर देखने में भीतर के हिस्से में किंचित् पीला दाग प्रतीत होता है

१. वर्त्मान्तः पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।
कुम्भीकबीजसदृशाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

य बीतने के साथ-साथ गाँठ भी बढ़ती जाती है। इस स्थिति में पलक के बाहर की ओर स्पष्ट भासती है। उस गाँठ के ऊपर की चा को अच्छी तरह हिला-चला सकते हैं। इस पिडिका का मुख वर्त्म भीतरी भाग में होता है। कभी-कभी यह स्वयमेव फूट जाती है र उससे लाल मांस बाहर निकल आता है। यह पिडिका अञ्जन-मिका से भिन्न है। इन लक्षणों के आधार पर इस पिडिका की ना आयुर्वेदोक्त उत्संग पिडिका या उत्संगिनी या अक्षिपुट ग्रन्थि से जा सकती है। अञ्जननामिका (Stye Hardeolum) तथा संगिनी (Chalrzion or Meibomian Cyst) का अन्तर निम्न-लिखित है।

अंजननामिका (Stye)	उत्संगिनी (Chrlazion)
वह बालों के मूल में होती है।	१. यह पलक की धारा से ऊपर को होती है।
यह एक सप्ताह में पक कर फूट या बह जाती है अथवा बैठ जाती है।	२. यह महीनों तक ऐसे ही बनी रहती है।
इसमें प्रारंभ से ही वेदना रहती है।	२. इसमें वेदना नहीं होती या पकने पर वेदना हो भी सकती है।
इस रोग में छोटे फोड़े के दाह, तोद (वेदना) ताम्र वर्णत्व (लाली) शोथ आदि सभी लक्षण होते हैं।	४. इसमें एक भी लक्षण नहीं होता। यह अधोवर्त्म में अधिक होती है। (सु०)

Infraction of Meibomian gland (मेइबोमियन पिण्डों में रस का संग्रह) यह विशेषतः नेत्र के पलक के भीतर के भाग में ता है। इस विकार में मेइबोमियन पिण्डों का रस सूख जाता है। ई एक रोगियों में चूने जैसा पदार्थ संगृहीत हो जाता है फिर दाग ड़े और कठिन हो जाते हैं।

कई एक रोगियों में इस विकार के अस्तित्व का बोध भी नहीं होता है। बहुतों में नेत्र में गड़ना, पलकों के लगने पर चुभना ये लक्षण होते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-

हैं। पलक उलटने पर उसके भीतर छोटे छोटे श्वेत दाग दिख पड़ते हैं। दागों पर उंगली फेरने पर समतल भासते हैं, यदि उन में चूना संगृहीत हुआ तो दाग खुरदरे लगते हैं। उपचार में यदि बाधा पहुँचाते हों तो संगृहीत खटिक को लेखन क्रिया के द्वारा नि देना चाहिये। सम्भवतः इसी का वर्णन सुश्रुत ने 'वर्त्म शर्करा' ना रोग से किया है। जिसमें पलक छोटी-छोटी पिडिकाओं से भर है तथा जो स्पर्श में खर, रूक्ष और स्थूल होती है।[1]

बहलवर्त्म—जिस व्यक्ति में वर्त्म (पलक) चारों ओर से पिडिकाओं से आच्छादित हो जाय जो परिमाण में समान और वर्ण सवर्ण (त्वचा के सदृश ही) हों; तो उस अवस्था को बहलवर्त्म क हैं क्योंकि इसमें वर्त्म मोटे पड़ जाते हैं। इस अवस्था को बहु पि युक्त वर्त्म (Multiple chalazion or Mebomion cyst or St की अवस्था कह सकते हैं।[2]

वर्त्म बन्ध—इस रोग में कण्डु, अल्प वेदना और शोफ के का वह समान भाव से आँख को आच्छादित नहीं कर सकता। इस अ स्था को वर्त्म बन्ध कहते हैं।[3]

क्लिष्टवर्त्म—इस रोग में वर्त्म (पलक) अकस्मात् अल्प वेद युक्त, नरम, ताम्र वर्ण-सदृश और लाल हो जाता है। अकस्मात् का तात्पर्य बिना किसी विशेष कारण के दोनों वर्त्म (समान भाव लाल हो जाते हैं इस रोग को क्लिष्टवर्त्म की संज्ञा दी गई है।[4] कि

१. पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता ।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥

२. वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।
सवर्णाभिः समाभिश्च विद्याद्बहलवर्त्म तत् ॥

३. कण्डूमताल्पतोदेन वर्त्मशोफेन यो नरः ।
न समं छादयेदक्षि भवेद्बन्धः स वर्त्मनः ॥

४. मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद् वर्त्मसममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत् ॥ (सु.)

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

लिखा है कि "श्लेष्म से दूषित रक्त के द्वारा क्लिष्ट मांस के सदृश के दोनों पलक हो जाते हैं अथवा बन्धु जीव (दुपहरिया के फूल) सदृश हो जाते हैं इस अवस्था को क्लिष्ट वर्त्म कहते हैं।"[1] इसी-भाँति को अंग्रेजी में (Angio Neurotic oedema) एञ्जियोन्यूरैटिक ... कहते हैं।

वर्त्मकर्दम—क्लिष्टवर्त्म की अवस्था में ही पित्त से युक्त हो रक्त यदि दाह पैदा करता है तो वर्त्म आर्द्र होकर क्लिन्न हो जाता है। इसी के कारण उसे कीचड़ युक्त वर्त्म या कर्दम वर्त्म की संज्ञा दी जाती है। सन्निपातज किन्तु साध्य व्याधि है।[2] इस अवस्था में वर्त्म मोटे और क्लेद युक्त हो जाते हैं। इस अवस्था को अंग्रेजी में Non ulcerative Blepharitis कहा जा सकता है।

श्याववर्त्म—(Ulcerative Blepharitis)—इसमें वर्त्म भीतर और बाहर से काले पड़ जाते हैं। वर्त्म शोफ युक्त, वेदनावान्, दाह, कण्डु, क्लेद (कीचड़) युक्त हो जाते हैं। इस अवस्था को श्याववर्त्म कहते हैं। इसमें क्लिन्नता से पक्ष्म आपस में चिपक जाते हैं।[3]

क्लिन्नवर्त्म—इसमें वर्त्म बाहर से शोफ युक्त और पीड़ाहीन रहता है परन्तु भीतर से क्लेद और स्राव से युक्त रहता है। रोगी को खुजली और तोद का अनुभव होता है।[4]

अक्लिन्नवर्त्म—इसमें वर्त्म बार बार धोने पर भी चिपक जाया करते हैं और वर्त्मों का पाक नहीं होता। यह एक प्रकार की सन्निपातज

१. श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टमांसमिवोभयम्।
बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते॥ (वि.)

२ क्लिष्टं पुनः पित्तयुक्तं विदहेच्छोणितं यदा।
तदा क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः॥

३. यद्वर्त्म बाह्यतोन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम्।
दाहकण्डूपरिक्लेदि श्याववर्त्मेति तन्मतम्॥

४. अरुजं बाह्यतः शूनमन्तः क्लिन्नं स्रवत्यपि।
कण्डूनिस्तोदभूयिष्ठं क्लिन्नवर्त्म तदुच्यते॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

साध्य व्याधि है।[1] इसी का वर्णन विदेह ने पिल्ल नामक रोग से किया है ऐसा डल्हणाचार्य का मत है—पिल्ल सम्भवतः उपदेह या कीचड़ को कहते हैं "बार बार धोने और पुनः पुनः पोंछते रहने पर भी यदि आनाह (नेत्रों के चिपक जाने से) हो तो वह अपरिक्लिन्नवर्त्म अथवा पिल्ल रोग कहा जाता है।"[2]

आधुनिक प्रविचार—वर्त्मबंध से आरम्भ कर अक्लिन्नवर्त्म पर्यन्त वर्त्म रोगों का वर्णन अक्षिपुट का शोथ (Oedema of lids) होता है। वर्त्म पर होने वाले दो प्रकार के शोथों का उल्लेख वर्तमान ग्रंथों में मिलता है—१. शोफ या निष्क्रिय शोफ (Noninflammatory edema) तथा २. व्रणशोथ या सक्रियशोथ (Inflammatory edema)।

प्रथम प्रकार का शोथ सार्वदैहिक कारणों से यथा वृक्क विकार, हृद् विकार, यकृत् विकार और फुफ्फुस विकारादि से होता है। इस प्रकार का शोथ दोनों नेत्र पुटों पर आता है। एक और भी कारण जिसे अनूर्जता (Allergy) मानते हैं नेत्रों पर सूजन पैदा करता है। इस प्रकार की सूजन, अंग्रेजी में 'एंजियो न्यूरोटिक इडिमा' कहलाती है। इसी का वर्णन संभवतः सुश्रुत ने 'क्लिष्ट वर्त्म' नामक रोग से किया है। इसमें अकस्मात् बिना कारण के नेत्रवर्त्मों में शोफ और लालिमा आ जाती है। इसके अतिरिक्त 'वर्त्मबन्ध' नामक रोग का भी समावेश इसी निष्क्रिय शोफ (Noninflammatory edema of the Eye lids) के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है।

इन दोनों के अतिरिक्त शेष चार अर्थात् वर्त्मकर्दम, श्याववर्त्म, क्लिन्नवर्त्म तथा अक्लिन्नवर्त्म (पिल्ल) रोगों का समावेश सक्रिय शोथ (Inflammatory edema of the Eyelids) में किया जा सकता है।

१. यस्य धौतानि धौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत्॥ (सु०)

२. प्रक्षालिते यदा मृष्टे आनह्येते पुनः पुनः।
अपरिक्लिन्नवर्त्मानं पिल्लाख्यमिति निर्दिशेत्॥ (विदेह)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दूसरे प्रकार में शोफ स्थानिक और प्रायः एक नेत्र पुट (वर्त्म) में होता है। क्वचित् दोनों नेत्रों पर भी आता है। वर्त्म शोफ को अंग्रेजी ब्लेफेराइटिस (Blepharitis) कहते हैं। ऐसी अवस्था अनेक कारणों से हो सकती है—अभिघातज, विसर्पज, विद्रधि जन्य, अंजनमिका प्रभृति पिडिकाजन्य, विभिन्न प्रकार के अभिष्यंद, वर्त्म पर मधु, मक्षिका प्रभृति कीट दंशज तथा अन्यान्य नेत्र रोगों और नासा कोटरों के शोथों में होना संभव है। आधुनिक ग्रंथों में इसके दो प्रकार बताते हैं—सव्रण वर्त्मशोथ (Ulcerous Blepharitis) तथा अव्रण (शुष्क) वर्त्मशोथ (Sqamous Blepharitis)। प्राचीनों के वर्णित वर्त्मकर्दम और क्लिन्न वर्त्म की गणना (Nonulcerous Blepharitis) अव्रणं वर्त्मशोथ में तथा श्याववर्त्म का सव्रण वर्त्मशोथ (Ulcerative Blepharitis) में करनी चाहिये। वर्त्मशोथ के उपचार में स्वेदन तथा ग्राही ओषधियों का प्रयोग करते हैं। यहाँ पर अक्लिन्नवर्त्म नामक रोग का एक विशेष वर्णन आता है—इस स्थिति में ऊपर पलक की धारा नीचे की पलक धारा के साथ चिपक सी जाती है। यद्यपि वहाँ क्लिन्नता (कीचड़) आदि नहीं रहती। वर्त्तमान शालाक्य ग्रंथों में ऐसे दो रोगों का वर्णन आता है जिनमें भीतर नेत्रवर्मों की ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

१. *अक्षिपुट धारा की परस्पर संलग्नता* (Ankyloblepharon)—रोगी की आँख बन्द रहती है परीक्षा करने पर दोनों पलकों की धारा चिपकी हुई भासती है कभी-कभी बीच के हिस्से में कुछ जगह रहती है। कभी-कभी पलक गोलक से भी चिपक जाती है। ऐसी अवस्था पलक धारा के जलने या क्षत होने से हो सकती है। इसके उपचार में शस्त्र क्रिया के द्वारा दोनों पलकों को धारा के पास काटते हैं और पुट के भीतर से श्लेष्मावरण का भाग लेकर धारा पर चिपका देते हैं।

२. *नेत्रवर्त्म निरुद्ध प्रकश* (Blepharophimosis)—इस स्थिति में नेत्र द्वार तथा ऊपर और नीचे के पलकधारा का अंतर कम हो जाता है। यह स्थिति नेत्र के बाह्यकोण में त्वचा के बन्द न होने से

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

होती है। भीतर के कोने वाला भाग सँकरा होता है। ऐसी अवस्था १. पोथकी के परिणाम २. नेत्र में सतत दीर्घकालीन जल स्राव ३. नेत्र निमीलनी पेशी का तीव्र संकोच इन कारणों से होती है। इसके उपचार में शस्त्रक्रिया की आवश्यकता है। मांसपेशी के अति संकोच को दूर करने के लिये नेत्र के बाह्य कोण (अपाङ्ग) को काटकर ... पर टाँके लगाए जाते हैं। इस क्रिया को अपाङ्ग संधान (Canthoplasty) नामक शस्त्र कर्म कहते हैं।

वर्त्मशोथ (Bleopharitis)—जैसा कि ऊपर कहा चुका है कि श्याव, क्लिन्न, अक्लिन्न वर्त्म तथा वर्त्म कर्दम आधुनिक ग्रंथों के अनुसार वर्त्म-शोफ की ही विविध अवस्थायें हैं। अष्टाङ्गहृदय का पक्ष्मशात नामक रोग जिसका वर्णन अध्याय के अन्त में किया गया है, वह भी वर्त्म-शोफ का ही एक प्रकार है। यहाँ पर वर्त्म-शोफ नामक रोग का आधुनिक ग्रंथों के आधार पर विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामान्य लक्षण तथा चिह्न—इस रोग में वर्त्म के किनारों पर शोथ होता है जिससे पलक मोटी पड़ जाती और उसका वर्ण लाल हो जाता है। इसमें पक्ष्म मूल की ग्रन्थियों का संक्रमण होता है। पक्ष्म मूल में खुरण्ड या थपड़ी बन जाती है। सामान्य दो प्रकार का होता है।

अव्रण (Non ulcarative)—पलकों के किनारे शोथयुक्त, लाल वर्ण, श्वेत वर्ण की पपड़ियों से युक्त हो जाते हैं। खुजली होती है। खुजलाने से पपड़ियाँ गिर जाती हैं पुनः बनती हैं। यह क्रम तब तक लगा रहता है जब तक की पक्ष्ममूलीय ग्रंथियाँ नष्ट नहीं हो जातीं।

सव्रण (Ulcerative)—रोग की तीव्रावस्था है। वर्त्म के किनारों में सूजन, लालिमा, पीली खुरण्ड, पलकों का गाढ़े कीचड़ से चिपकना, खुरण्ड के हटाने पर नीचे व्रणों का दिखलाई पड़ना, पक्ष्ममूल का कमजोर पड़ना, पक्ष्मों का टूटकर गिरना (पक्ष्म-शात), खुजली, भारीपन, प्रकाशासह्यता आदि लक्षण मिलते हैं।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

हेतुकी—यह रोग अधिकांश बाल्यावस्था में पाया जाता है, वैसे किसी भी आयु में हो सकता है। रोगोत्पादन में आहार-विहार-व्यवसाय-वातावरण तथा सामाजिक रहन-सहन का बड़ा हाथ होता है। जैसे दूषित वातावरण, धूलिधूम युक्त स्थान, देर से सोकर उठना, निद्रा का न लेना, नेत्रों की सफाई ठीक न करना तथा समुचित व्यवस्था का निवास स्थान में न होना रोगोत्पादक बनता है।

कई अन्य रोगों के उपद्रव रूप में यह व्याधि पैदा हो सकती है। रोमान्तिका (Measles), पुराना नेत्राभिष्यंद, पुराने नाक के जीर्णवर्त्म शोथ तथा पचन दोष आदि में।

रोग-परिणाम—लम्बे समय तक रोग चलता रहे तो उसके परिणाम में अंत में कई व्याधियाँ हो सकती हैं। जैसे—पक्ष्मकोप (Trichiasis), पक्ष्म विवर्त्तन (Ectropion) तथा पक्ष्म शात (Madarosis)।

चिकित्सा—वर्त्म के किनारों और पक्ष्मों को साफ करना, अच्छी तरह से टंकणाम्ल घोल से धोकर सुखाकर पारदीय मलहर (yellow ointment) लगाना। किनारों पर दो प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का स्पर्श करना (Caustic touch), भूतघ्न योगों में 'लोकुलाड्राप' 'टेरामायसीन आई आयण्टमेण्ट' का लगाना उत्तम लाभप्रद है।

वातहत वर्त्म—(Paralysis of the VII cranial nerve supplying the muscle orbicularis Palpebrum) इसमें पलकों के स्वाभाविक कार्य नष्ट हो जाता है, वर्त्म खुली हुई अवस्था में रहते हैं तथा निश्चेष्ट हो जाते हैं और नेत्र बंद नहीं हो पाते हैं। पीड़ा हो भी सकती है और नहीं भी होती। यह एक साध्य रोग है।

निमेष—(Affections of the III Cranial nerve supplying the levater Palpabrae) वर्त्म में उपस्थित रहने वाली

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

निमेषणी सिरा में जब वायु प्रविष्ट हो जाती है तो वर्त्म अ
चलायमान हो जाते हैं। यह वातज निमेष रोग साध्य है।

आधुनिक विचार—वर्त्तमान शालाक्य ग्रन्थों में वातहत वर्त्म
समता 'लैगोपथाल्मास' वर्त्म निमीलन में अक्षमता नामक रोगविशे
की जा सकती है। इस अवस्था में पलक खुले ही रहते हैं जिससे
बंद नहीं होते। निद्रा आने पर भी नेत्र खुले ही रहते हैं। इ
सातवीं वातनाड़ी का घात होना ही प्रधान कारण माना गया है।
गलगण्ड (Exopthalmic Goitre) में भी नेत्रगोलक बड़ा
जाता है और नेत्र बंद नहीं हो सकते। यदि अन्य किसी कारण से
नेत्रगोलक बड़ा हो जाय या नेत्रगोलक कोटर के बाहर आ
तो पलक नहीं बंद हो पाते, और वातहत वर्त्म की अवस्था उत्पन्न
देते हैं। उपचार में कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये। यदि
का वध हो गया हो तो वातघ्नोपचार करे। यदि सफलता न मिले
शस्त्र क्रिया के द्वारा नेत्र द्वार को सँकरा बनाया जाता है। इस अव
में क्षत का भय रहता है।

वास्तव में नेत्र वर्त्म की चेष्टा से सम्बन्ध रखने वाली दो ही प्र
पेशियाँ हैं एक नेत्रोन्मीलनी (Levator Palpebrae Superio
जो पलक को ऊपर उठाती है और दूसरी नेत्रनिमीलनी (Orbicu
Palpebrum) जो वर्त्म को नीचे गिराती या नेत्र को बंद करती
इन पेशियों से होने वाले दो मुख्य रोग हैं—१. अक्षिपुट नि
(Ptosis) और २. अक्षिपुट निमीलनाभाव (Lagopthalm
इनमें अक्षिपुट निमीलनाभाव का वर्णन हो चुका है अब अ
निमीलन का अति संक्षेप में वर्णन प्रासंगिक है। इस रोग को भी
तोक्त वातहत वर्त्म के भीतर रखना होगा। इस अवस्था में
ऊपर के पलक को ऊँचा नहीं कर सकता। जब ऊँचा देखना हो
रोगी ललाट की पेशियों को भी ऊपर की ओर खींचता है, जि
भ्रू के ऊपर सिलवटें पड़ जाती हैं—भ्रू ऊपर चढ़ता है। पलक
ही रहता है—

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ऊर्ध्वाक्षिपुट निमीलन, Ptosis-Blepharoptosis

- मिथ्या निमीलन (पोथकी की अवस्था में)
- यथार्थ निमीलन
  - जन्मबल प्रवृत्त (Congenital)
  - जन्मोत्तर कालज (Acquired) (नेत्रोन्मीलनी पेशी का स्तंभ या तृतीया नाड़ी की विकृति में)

निमेष"[1] नामक विकार भी इन्हीं संचालक नाड़ियों के विकार से ird or Seventh Cranial Nerve) हो सकता है।

र्त्मार्बुद (Tumour of the lids)—पलक के भीतर के भाग से होने वाले विषम आकार के गाँठ के समान अर्बुद होते हैं। ये कार रक्त और पित्त के आधिक्य होने के कारण लाल वर्ण के ई और रक्तार्बुद (Angiomas) कहे जा सकते हैं। ये नेत्रवर्त्म टकते रहते हैं।[2]

र्त्मार्श (Warts)—रक्तदोष से उत्पन्न हुए वर्त्म में होने वाले छोटे मृदु अंकुरों को अर्श कहते हैं। इनको काट देने पर ये

---

1. चालयन् वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः करोत्यरुङ्निमेषोऽसौ । (अ० हृ० उ० ८)
वायुर्वर्त्मनी चालयन् निमेषोन्मेषणं पीड़ारहितं पुनः पुनः करोति । (सर्वाङ्गसुन्दरी टीका)

2. वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
विज्ञेयमर्बुदं पुंसां सरक्तमवलम्बितम् ॥

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

पुनः पुनः बढ़ जाते हैं—इनमें दाह, खुजली और पीड़ा होती है। वर्णन आधुनिक दृष्ट्या बहु-जतुक या मस्सों (Molluscum Contagiosum and warts) का ज्ञात होता है। इनके उपचार में तथा दाहकर्म (अग्निक्षार या विद्युत् से) करना चाहिये। ये की कली के समान मूल में पतले, ऊपर की ओर सिरे पर मोटे अर्श से सादृश्य होने के कारण ही सुश्रुत ने इन्हें वर्त्मगत संज्ञा दी है।[1]

विसवर्त्म—वर्त्म सूज जाता है और उसमें बहुत से बारीक छिद्र हो जाते हैं जैसे जल में पाई जाने वाली विस (भसींड़ बहुत से सूक्ष्म छिद्र होते हैं उसी प्रकार के छिद्र इसमें हो जाते हैं। सादृश्य के कारण ही रोग की संज्ञा 'विसवर्त्म' दी है।[2] यह त्रि होते हुए भी साध्य रोग है।

आधुनिक नेत्र रोग की पुस्तकों में इस प्रकार के रोग का कोई नहीं मिलता, संभवतः पीत सर्षपिका (Kanthalasma) विकार की तरह कोई विकार हो। इस रोग में पलक पर सर्षप समान पीले दाने हो जाते हैं। यह रोग अधिकतर वृद्धा स्त्रियों मिलता है। प्रायः दोनों पलक के नेत्रों पर होता है और दोनों समान ही होता है। इस रोग की आकृति विशिष्ट होती है कि एक बार इस रोग को देख लेने के पश्चात् दूसरी बार रोग के निदान में भूल नहीं होती।

पक्ष्मकोप—(Trichiasis, Districhiasis, Entropion) में स्थित दोष पक्ष्मों को तीक्ष्ण, नोकदार और खुरदरे कर देते हैं ही पलक को भी मोड़ देते हैं और उससे नेत्र में रगड़ पैदा होकर नेत्र को कष्ट होता है। पक्ष्मों के बालों को निकाल देने पर

१. छिन्नाश्छिन्ना विवर्द्धन्ते वर्त्मस्था मृदवोऽङ्कुराः।
दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्शाः शोणितसम्भवाः॥

२. शूनं यद् वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम्।
विसमन्तर्जल इव विसवर्त्मेति तन्मतम्॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

...ता है। परन्तु पुनः पुनः उनकी उत्पत्ति होती रहती है। नेत्र धूप, ... और अग्नि को सहन नहीं कर सकता। इस रोग को पक्ष्मकोप ... हैं।'

...कव्य—पक्ष्मकोप को लोकभाषा में परबाल कहते हैं। पक्ष्म ...) के अतिरिक्त बाल जो दोनों पलक धारा (Lid margin) में ... हैं उन्हें परबाल कहते हैं। नैसर्गिक पक्ष्म के बालों की दिशा ... और बाहर की ओर होती है, परन्तु पक्ष्मकोप (परबाल) में ... की दिशा गोलक की ओर तथा नीचे को होती है। इस हेतु ... बार पलक चलते हैं उतनी बार बाल कृष्णमण्डल (Cornea) ... र्षण करते हैं। परिणाम स्वरूप नेत्र से जलस्राव होता रहता ... और कृष्ण मण्डल में व्रण, सफेदी (शुक्ल सव्रण तथा अव्रण) ... व्याधियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इस पर बाल की एक ही पंक्ति ... निकलती हो तो उसे अंग्रेजी में 'डिस्ट्रीकियेसिस' कहते हैं तथा ... अनेक पंक्तियाँ हों तो उसे 'ट्रिकियेसिस' कहते हैं।

...लक्षण—नेत्र से सतत जलस्राव, प्रकाशासह्यता, नेत्रों का ठीक ... खुलना प्रभृति लक्षण मुख्यतया मिलते हैं। पलक के बाल नेत्र ... पर चुभते रहते हैं जिससे (अक्षिदूयन) नेत्र भी गड़ता है। नेत्र ... खोलते ही नेत्र से जलस्राव होने लगता है। कारण—पलक धारा ... चिरकालीन शोफ तथा रोहे ये ही दो कारण प्रधानतया मिलते हैं। ... में आधुनिक युग में शस्त्र क्रिया का उपचार प्रशस्त माना गया ... जिसका उल्लेख आगे किया जायगा।

...पक्ष्मकोप में पाये जाने वाले लक्षण तथा चिह्न एक दूसरी अवस्था ... मिल सकते हैं जैसे अक्षिपुट या वर्त्म का अन्तर्निवर्त्तन (En-...on of the lids)। आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में यह एक स्वतन्त्र रोग

...दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च।
निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं (जुष्टं) चाक्षि दूयते॥
उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते।
वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

माना जाता है यद्यपि सामान्य जनता इसे भी परवाल ही कहती वास्तव में 'ट्रिकियेसिस' और 'एण्ट्रोपियन' में पर्याप्त अन्तर है। ट्रिकि सिस (परबाल) में जिस तरह अधिक बाल निकलते हैं वैसा इसमें होता। परन्तु जो स्वाभाविक बाल होते हैं उनकी स्थिति पलट है। इसी को सुश्रुत ने 'निर्वर्तयन्ति पद्माणि' शब्द से द्योतन किया पलक के भीतर की ओर मुड़ जाने के कारण बाल गोलक पर रहते हैं जिससे परबाल के सब लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

कारण—इस रोग की उत्पत्ति का भी कारण रोहे और नेत्रश्ले वरण का चिरकालीन शोथ ही है। ऐसे शोफों के कारण पलक में स्थित तरुणास्थि (Cartilage) मोटी हो जाती है और उसके से अन्तर आ जाता है। कभी-कभी पलक को बन्द करने वाली पेशी में खिंचाव हो कर ऐसी स्थिति बन जाती है। इस अवस्था बोली में पलकबन्दी कहते हैं--लक्षण सभी पद्मकोप के ही मिलते

उपचार—मांस पेशी के आकर्षण से यदि ऐसी अवस्था हो तो खिंचाव उत्पादक कारणों के दूर होने पर विकृति ठीक हो है। परन्तु यदि तरुणास्थि के मुड़ने से अन्तर आया हो तो शस्त्र अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। शस्त्र कर्म का उल्लेख आगे जायगा।

पोथकी—(Trachoma or Granular lids) भारी, खुजली स्राव से युक्त लाल सरसों के समान, पीडाकर जो पिडिकायें वर्त्म के भीतर में) होती हैं उनको पोथकी कहते हैं।[1] आधुनिक ग्रन्थों में वर्त्माधः नेत्रश्लेष्मावरण (Palpebral conjunctiva इस प्रकार की होने वाली व्याधि को 'ग्रैन्युलर लिड्स या कंजंक्टि टिस' या 'ट्रोकोमा' कहते हैं। लोकभाषा में लोग इसे निवाना हैं। यह एक बड़े महत्त्व का रोग है जिसका विशद वर्णन वर्त्म

१. स्राविरायः कराडुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
पिडकाश्च रुजावत्यः पोथक्य इति संज्ञिताः॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

...यों के आधार पर करना प्रासंगिक है। यह सन्निपातज होते हुए साध्य है।

अर्शोवर्त्म (Papillary form)—ग्रीष्म ऋतु में होने वाली ककड़ी बीज के समान नेत्रवर्त्म में पिडिकाओं का होना अर्शोवर्त्म कहलाता। ये पिडिकायें सूक्ष्म, खरस्पर्श और मन्दवेदनायुक्त होती हैं।[1] यह सन्निपातज होते हुए भी साध्य है।

शुष्कार्श (Chronic papillary form)—वर्त्म के भीतरी भाग होने वाली लम्बी-लम्बी, अंकुरवत्, स्पर्श में खुरदरी और दारुण पिडिकायें निकलती हैं। यह भी सान्निपातिक विकार है फिर भी साध्य है।[2]

वर्णनों के अनुसार पोथकी, वर्त्मशर्करा,[3] अर्शोवर्त्म और शुष्कार्श एक ही रोग की विभिन्न अवस्थायें ज्ञात होती हैं। जैसे—

पोथकी—(Trachoma or Granularlids)

वर्त्मशर्करा—(Granulor form of lids of Trachoma)

अर्शोवर्त्म—(Papillary form of Trachoma)

शुष्कार्श—(Chronic form of papillary Trachoma)

इसमें प्रधान व्याधि पोथकी या 'ट्राकोमा' है और उसी का बढ़ा हुआ रूप या उसके बाद के होनेवाले विकार हैं। इसका अधिक स्पष्टीकरण ट्राकोमा के विशद वर्णन से हो सकेगा। इसके पूर्व वर्त्मशर्करा की अवस्था मेइबोमियन पिण्ड के अवरोध से बतलाई जा चुकी है। परन्तु प्रसंगानुसार यह विकार पोथकी की ही अवस्था विशेष ज्ञात होता है। वाग्भट ने वर्त्म रोगों में एक व्याधि का पक्ष्मशात नाम से वर्णन

१. एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
सूक्ष्माः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते॥

२. दीर्घोऽङ्कुरः खरस्स्तब्धो दारुणो वर्त्मसम्भवः।
व्याधिरेष समाख्यातः शुष्कार्श इति संज्ञितः॥

३. पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता।
पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

किया है। पद्मशात का अर्थ होता है–पद्म पलक के बाल (बरौनी) उनका शात अर्थात् नष्ट होना या गिरना।

पद्म-शात—जिस रोग में पित्त कुपित होकर पलकों के पक्ष्म भाग में कुपित होकर पलकों पर शोथ, कण्डु और दाह पैदा करके पलकों को रुग्ण करके पश्चात् पद्मों को नाश कर देता है, उसे पद्म शात कहते हैं।[1] इस अवस्था को अंग्रेजी में (Madarosis) कहते हैं जो वर्त्म शोफ के उपद्रव रूप में पैदा होता है।

चिकित्सा—उपचार में १. सूची (सूई) के द्वारा रोमकूपों का विकुट्टन (गोद कर रक्त विस्राव) २. जलौका की सहायता से पक्ष्म स्थानों का रक्त-विस्रावण ३. दूध एवं ईख का रस पिलाकर रोगी को वमन कराना ४. शीतल और मधुर रस वाले द्रव्यों से पकाये घृत का (जैसे द्राक्षादि घृत का) नस्य देना ५. ताम्र के वर्त्तन में पुष्पकासीस का शुद्ध चूर्ण लेकर तुलसी-स्वरस की दस दिनों तक भावना देकर बनी अंजन का शुष्क चूर्णाञ्जन के रूप में अथवा गोघृत में मिलाकर नेत्र में अंजन करना पद्मशात में लाभप्रद होता है।[2]

---

१. करोति कराडुं दाहं च पित्तं पक्ष्मान्तमास्थितम्।
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदन्ति तम्॥

२. पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपं विकुट्टयेत्।
ग्राहयेद्वा जलौकाभिः पयसेक्षुरसेन वा॥
वमनं नावनं सर्पिः शृतं मधुरशीतलैः।
संचूर्ण्य पुष्पकासीसं भावयेत्सुरसारसैः।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदञ्जनम्॥

(अ० हृ० उ० ८-१)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

१०

पोथकी रोहे—ट्राकोमा

(Trachoma-Granular conjunctivitis)

व्याख्या—आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से पोथकी (रोहे) चिरकाल तक चलने वाला अति संक्रामक (छूत) रोग माना ता है। इस रोग में पलक के भीतर बहुसंख्यक पिडिकायें निकल ती हैं। रोगी अति उद्विग्न रहता है। नेत्र से अश्रुस्राव होता है, गड़ा करता है और खुल नहीं सकता है। प्रकाश सह्य नहीं होता है। ी के पलक अर्द्धनिद्रितावस्था सदृश ढके से रहते हैं। यदि रोग प्रारम्भ में ही अच्छा उपचार न हो तो विविध उपद्रवों के होने की ावना रहती है जिससे रोगी की दृष्टि को भी हानि पहुँच सकती है।

हेतु एवं प्रसार—इस रोग का उत्पादन संसर्ग से होता है। पोथकी पीड़ित व्यक्ति का नेत्रगत स्राव स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र के सम्पर्क में कर रोग का उत्पादन करता है। यह संक्रमण अनेक रीतियों से ता है। रोगी अपने हाथ से, रूमाल या कपड़े से अपने नेत्रों को ता है—ये माध्यम यदि स्वस्थ नेत्र के सम्पर्क में आवें तो रोग उत्पन्न ते हैं। यदि माता को रोहा हो और वह अपनी साड़ी के किनारे से नी आँखों को पोंछती है और फिर प्रमादवश वह अपने बालक आँखों को पोंछती है तो बालक रोगी हो जाता है। जिस बिस्तर या य्या पर रोगी सोता है उस पर यदि अन्य स्वस्थ व्यक्ति सोवें तो भी ग का उपसर्ग पहुँच जाता है। यूरोपियन रीति के अनुसार रहने वाले क परात में जल रख कर अपना मुँह आँख आदि धोते हैं। ऐसे नों में रोग का विष लग जाता है। फिर दूसरे व्यक्तियों में जो इस न का उपयोग करते हैं उनमें भी रोग का उपसर्ग पहुँच सकता है। रतवर्ष में काजल लगाने की प्रथा है। काजलों को नित्य प्रति मातायें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

बालकों के नेत्रों में लगाती हैं। उस काजल को मातायें तथा अन्य स्त्रियाँ भी अपनी आँखों में उँगली से लगाती हैं, वही पुनः घर के सभी बच्चों में भी लगाती हैं। यही नहीं, इस काजल का उपयोग घर के सभी मनुष्यों के लिये साधारण रहता है। यदि दैववशात् किसी एक व्यक्ति की आँख में रोहे हों तो काजल द्वारा उसका उपसर्ग कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों में हो सकता है।

वातातपरजोधूम (तेज वायु, धूप और धूलि तथा धुआँ) युक्त वातावरण में काम करने वाले व्यक्तियों में भी यह रोग बहुतायत से मिलता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस रोग का संसर्ग होते ही प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र में यह रोग हो जाय बल्कि जिसकी आँख कमजोर हो, सतत लाल रहती हो ऐसी आँखों में संसर्ग हो जाने से रोहे का रोग हो जाता है। रोहे का संक्रमण वायु के द्वारा नहीं होता इसमें निश्चित है तथापि रोहे की उत्पत्ति में वायु, ताप, धूलि आदि सहायक होते हैं। ग्रामों में रहने वाले लोगों के नेत्रों में वायु, धूलि आदि जाती ही रहती है जिससे बहुतों की आँखें आई हों तो वैसे ही बनी रहती हैं। वैसी आँखों में संसर्ग पहुँच कर रोहों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

अभी तक वैज्ञानिकों में पोथकी रोगोत्पादक कीटाणुओं के अस्तित्व में ऐकमत्य नहीं है। जापानी वैज्ञानिक नगूची ने एक प्रकार के कीटाणु को रोगोत्पादन में उत्तरदायी बतलाया है। एक जर्मन वैज्ञानिक ने एक विशेष प्रकार के पिण्ड (Provozck's Inclusion bodies) को रोगोत्पादक बतलाया है।

लक्षण तथा चिह्न—नेत्र से जलस्राव सतत होता रहता है, जो विशेषतः धूप, धुवाँ और वायु की वजह से या नेत्र पर जोर पड़ने के कारणों से अधिक बढ़ जाता है। इसी का पर्याय कथन आचार्य ने 'स्राविण्यः' शब्द से किया है।

प्रकाशासह्यता—कभी-कभी यह इतना अधिक कष्टकर हो जाता है कि रोगी कई दिनों तक अँधेरे कमरे में सिर को नीचे किये पड़े रहते

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

है। यदि रोग सौम्य हुआ तो काले चश्मे लगाकर रोगी बाहर प्रकाश में निकल सकता है। इसी लक्षण का वर्णन प्राचीनों ने "शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्" शब्द से किया है।

वेदना—नेत्र में वेदना सदा बनी रहती है। प्रातःकाल उठने पर रोगी को ऐसा भान होता है मानों नेत्र में रजःकण (किरकिरी) पड़ी है। जैसे जैसे दिन चढ़ता है वैसे वैसे गड़ना कम हो जाता है। इसी लक्षण का प्राचीनों ने 'शूकपूर्णाभमेव' शब्द से किया है। वेदना के लिये पोथकी में 'रुजावत्यः' (पीडावान्) ऐसे विशेषण का प्रयोग किया है।

नेत्र खोलने में अक्षमता—बहुधा यह रोग दोनों आँखों के पलकों के भीतर होता है, नेत्र में लाली आकर अश्रुस्राव होने लगता है। नेत्र गड़ने लगते हैं, प्रातःकाल में अभिष्यन्द सदृश कीचड़ आने से नेत्र चिपक जाते हैं। रोगी के नेत्र पूर्णतया नहीं खुल पाते। इसी लक्षण का पर्याय कथन "न नेत्रोन्मीलनक्षमः" शब्दों से प्राचीनों ने किया है।

दर्शन परीक्षा—पलकों को उलट कर देखने पर वे लाल दीखते हैं। स्पर्श में खुरदरे हो जाते हैं। उनके भीतरी हिस्से में बहुसंख्य सरसों के समान उभड़ते हुए (रक्तसर्षपसन्निभाः) दाने भासते हैं। ये दाने छोटे बड़े कई तरह के हो सकते हैं। सामान्यतया साबूदाने जैसे नेत्र श्लेष्मावरण में भरे हों ऐसा दीखता है या शहतूत के फल के ऊपर जैसा खुरदरापन होता है वैसा श्लेष्मावरण बन जाता है। ये दाने अधिकतर ऊपर के पलक में होते हैं। इन दानों की वजह से पलक का भाग न्यूनाधिक सूज जाता है। यह स्थिति सामान्यतया कुछ सप्ताहों में रूपान्तरित हो जाती है। जो छोटे दाने प्रतीत होते थे उनके स्थान पर कठिन दाने हो जाते हैं। ये दाने कुछ पिंगल वर्ण के, स्वच्छ, गोल आकार के और नेत्रश्लेष्मावरण को उभाड़ते हों इस प्रकार बाहर निकले रहते हैं। ऐसी अवस्था कुछ महीनों तक रहकर उभड़ा हुआ भाग शोषित होने लगता है पिटिकायें उपशम की अवस्था में शोषित हो जाती हैं। केवल उनके स्थान पर सफेद रंग की पंक्तियाँ या दाग रह जाते हैं।

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

क्रमिक अवस्थायें—१. प्रथमावस्था (1st stage)—प्रारम्भ में नेत्र में लाली, अश्रुस्राव, प्रकाशासहिष्णुता, नेत्रोन्मीलन में कठिनाई, पलक का प्रातः चिपकना, आँखों का गड़ना (तोद), वेदना ये लक्षण पोथकी में मिलते हैं। यह क्रम चार से छः सप्ताह तक चलता रहता है। इस काल के भीतर यदि योग्य चिकित्सा हो तो रोग का उपशम हो जाता है और नेत्र स्वच्छ हो जाते हैं। इसके विपरीत बहुत से रोगियों में तीक्ष्णावस्था के लक्षण और चिह्न बिल्कुल नहीं प्रतीत होते, किन्तु नेत्र में रोहे उत्पन्न होते रहते हैं। रोगी को उसका बोध भी नहीं होता।

इस अवस्था में ऊर्ध्ववर्त्मगत श्लेष्मावरण (Tarsal Conjunctiva) में उभार अंकुर (Papillæ) दिखलाई पड़ते हैं। यदि उभार बड़ा हुआ तो छोटे दाने जैसे दीखते हैं।

२. *द्वितीयावस्था* (IInd stage)—प्रथमावस्था की अपेक्षा पोथकी के दाने कुछ बढ़ जाते हैं, दाने भूरे (Grayish) या पीले (Yellowish) गोल, प्रकाश परावर्त्तक होते हैं। ये छोटे तथा गोल, बड़े तथा मस्सेयुक्त, फैले हुए और सरस (रस भरे हुए) हो सकते हैं। ये अधिकतर 'वर्त्मकोणों' (Fornix) में होते हैं। जब इसकी संख्या अधिक होती है तो पंक्ति में मिलते हैं। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में ये बहुत अधिक संख्या में छोटे छोटे तथा कम स्पष्ट रहते हैं।

इस अवस्था का एक प्रधान चिह्न पोथकी जन्य रक्तराजि (Trachomatous Pannus) है। इसमें एक सिराओं का गुच्छा कृष्णमण्डल (Cornea) में जाता हुआ मालूम होता है जो कि प्रारम्भ में श्वेत कृष्णगत संधि (Limbus) पर दिखाई देता है। यह कृष्णमण्डल के ऊपर के आधे भाग तक पहुँचने तक काफी तेजी से बढ़ता पश्चात् ऊपरी स्तर पर वहाँ एक पिन के बराबर का व्रण बना लेता है, जिसे पोथकी व्रण (Trachomatous ulcer) कहते हैं। अन्त में सम्पूर्ण कृष्णमण्डल व्रत से ग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था में दृष्टि शक्ति मन्द पड़ जाती है। रोग अधिक तीव्र हुआ तो तारा शोथ (Iritis) हो जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

३. *तृतीयावस्था* (Third stage)—यह रोपण की अवस्था है। इस अवस्था के लक्षण एवं चिह्न पूर्व की दोनों अवस्थाओं से युक्त रहते हैं। अंकुर (Papillæ) तथा दाने लुप्त होने लगते हैं, किन्तु नेत्र श्लेष्मावरण अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त नहीं होता। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में (Tarsal conjunctiva) पतली धारियाँ (Bands) तथा व्रणवस्तु (Scars) बन जाते हैं जो कभी कभी जाली जैसे दीखते हैं। रोग की पुरानी अवस्था में पूरी सतह पाण्डु वर्ण (Pale) चिकनी (Smooth) तथा रोपण झिल्ली (Cicatrical membrane) में बदल जाती है। वर्त्म कोणों में रोपणावस्था में श्लेष्मावरण पाण्डुवर्ण, नीलश्वेत (Bluish white) रङ्ग में बदल जाता है।

४. *चतुर्थावस्था* (Fourth stage)—पोथकी के द्वारा कृष्णमण्डल (Cornea) के आक्रान्त रहने से बहुत से उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। वर्त्मगत श्लेष्मावरण में व्रणवस्तु का संकोच हो जाता है जिसके फलस्वरूप पक्ष्मकोप, वर्त्म का अन्तरावर्त्तन या बाह्यवर्त्तन (Entropion or Ectropion), अजकाजात (Staphiloma) तथा नेत्रशुष्कता या शुक्तिका (Xerosis) प्रभृति उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

उपद्रव—यदि व्याधि शीघ्र शान्त न हो, जीर्ण हो जाय तो निम्न उपद्रवों में से एक या अधिक उपद्रव हो सकते हैं।

रक्तराजि (Pannus)
अव्रण तथा सव्रण शुक्र (Opacities and corneal ulcer)
पक्ष्मकोप—(Trichiasis, Districhiasis or Entropian)
वर्त्मशोथ या वर्त्मबन्ध या कर्दमवर्त्म (Marginal Blepharitis)
पलक और गोलक की संलग्नता (Symblepharon)
मिथ्याअर्म
नेत्र श्लेष्मावरण की शुष्कता (Xerosis)
अश्रवाशय शोथ (Dacryocystitis)

पोथकी की आधुनिक चिकित्सा—अनागत बाधा प्रतिषेध—रोहे को वर्तमान में अतिछूत का रोग मानते हैं। इसलिये बड़े शहरों में इस

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

रोग से पीड़ित विद्यार्थियों को पाठशाला या कालेज में पढ़ने का प्रतिषेध किया जाता है। रोगोत्पत्ति से स्वस्थ की रक्षा करने के लिये यह आवश्यक होता है कि रोगी के वस्त्र-रूमाल, तौलिया, कुर्ता आदि प्रमादवश दूसरे के उपयोग में न आने पावें। रोगी के नेत्र से गिरने वाले जलस्राव अथवा स्राव का सम्पर्क स्वस्थ व्यक्ति के नेत्र से न होने पावे। यदि माता के नेत्र में रोहे हों तो बच्चे की आँख का स्पर्श उसे हाथ को अच्छी तरह से साबुन से साफ करके करना चाहिये। पोथकी पीड़ित रोगी के परिचारक, परिचारिका, वैद्य, सहायक आदि को भी इस सम्पर्क से अपने नेत्रों को बचाने का ध्यान रखना चाहिये।

यदि संसर्ग होने का भय हो तो रजत द्रव (सिल्वर नाइट्रेट या आर्जिराल) की बूंद नेत्र में डाल लिया करे—इससे प्रायः आक्रमण नहीं होने पाता।

आगत बाधा–प्रतिषेध या रोगशामक चिकित्सा

लेखन ओषधियों के प्रयोग—(१) यदि रोगी रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही आया हो तो एनीथीन घोल (१ औंस जल में ५ ग्रेन) दो दो बूँद करके दो दो मिनट पर तीन बार डाले फिर पारद घोल या टंकण घोल से प्रक्षालन करे पुनः सिल्वर आयोडायड की २, २ बूंद नेत्र में डाले। इस निक्षेप से जलस्राव होने लगता है। इस जलस्राव को रुई से शोषण करके शुल्वा मलहर (Sulphonamide oint. 6%) को नेत्रों में लगा दे। सिल्वर आयोडायड का पोथकी में प्रयोग एक श्रेष्ठ चिकित्सा मानी गई है।

(२) सिल्वर नाइट्रेट (१० ग्रेन १ औंस जल में) इस द्रव में एक फुरेरी बना कर पलक को उलट कर लगाने का एक दूसरा विधान है। यह आँखों में बड़ा तेज लगता है और चार घंटे तक रोगी को तकलीफ बनी रहती है। इस पीड़ा के कारण अनेक रोगियों को आपत्ति होती है। बहुत लब्धप्रतिष्ठ नेत्रवैद्यों ने सिल्वर नाइट्रेट के उपयोग का स्पष्ट निषेध किया है–वियना के डाक्टर कार्डलिण्डसर के मतानुसार सिल्वर नाइट्रेट बिल्कुल लाभ नहीं पहुँचाता।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

... in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

(३) रोहे की चिरकालीन स्थिति में अनेक नेत्रवैद्यों ने तुत्थ के स्थानिक प्रयोग का विधान किया है। इसकी विधि यह है कि पहले रोगी के नेत्र में किसी चेतनाहर द्रव की बूँदें छोड़ दी जायँ-फिर नेत्र को पारद धावन से (१: ५०००) से प्रक्षालन कर दिया जाय फिर नेत्र को सुखाकर तुत्थे के टुकड़े को हल्के हाथ से तीन चार बार फिराया जाय। यदि पलक कम मोटे हों और भीतर के पिटिका या दाने अतिशय बढ़े हुए न हों तो तूतिया कम लगावें, अधिक हों तो अधिक लगावें। तूतिया लगाने के साथ ही नीले रंग का नेत्र से जलस्राव होने लगता है-इसका रुई से शोषण करते चलें। इस क्रिया को दिन में एक बार महीनों तक करते रहना चाहिये। कई विशेषज्ञ इस क्रिया को दो वर्ष चलते रहने की सलाह देते हैं-जिससे रोहों का पुनरुद्भव न हो और रोहे निर्मूल हो जायँ।

(४) प्रकृति भेद से यदि किसीको नीला थोथा अनुकूल न पड़े तो 'लेपिड डिवाइनस' शलाका का प्रयोग करना चाहिये। यह शलाका फिटकिरी और नीले थोथे के मिश्रण से बना होता है और शुद्ध तूतिया की अपेक्षा कुछ मृदु होता है। स्निग्धाञ्जन-तुत्थ मलहर (१ औंस वैसलीन में २॥ से ५ ग्रेन) या कापर साइट्रेटमलहर (१ औंस में ५० ग्रेन) या एक औंस ग्लिसरीन में ५० ग्रेन नीला थोथा का निक्षेप या एक औंस ग्लिसरीन में ६० ग्रेन टैनिक एसिड का घोल बनाकर शलाका से अंजन करना भी लाभप्रद है।

(५) तुवरक तैल का अंजन भी अनेक रोगियों में लाभप्रद है।

यंत्र लेखन (Expression of Trachoma)—यदि उपर्युक्त उपचारों से लाभ न हो और रोहे के दाने बड़े हो गये हों या अधिक हों तो पोथकी घर्षक यंत्र (Rasp) से दानों का लेखन या घर्षण कर दिया जाता है। इस क्रिया में रोगी को फलक (Table) पर लेटाकर चेतनाहर ओषधि डालकर पारद धावन से नेत्रों को प्रक्षालित कर पलक को उलटकर इस यंत्र के द्वारा दानों को घिस दिया जाता है। पश्चात् सिल्वर आयोडायड का बूंद नेत्रों में छोड़ा जाता है।

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

शस्त्रोपचार या शस्त्रलेखन (Excision of Trachoma)—इसमें शस्त्रक्रिया के द्वारा रोहे वाले नेत्र श्लेष्मावरण के भाग तथा उसके नीचे वाले भाग को जड़ मूल के साथ निकाल दिया जाता है। जब तक औषधोपचार से रोहे दूर हो सकते हों, तब तक शस्त्रोपचार का अवलम्बन नहीं करना चाहिये।

इन उपचारों के अतिरिक्त कई और उपाय व्यवहार में आते हैं जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं, जैसे 'कार्बन डायोक्साइड स्नो' 'डायथर्मी' या विद्युद्दहन तथा 'रेडियम्' आदि।

यह एक सामान्य पोथकी की वर्त्तमान चिकित्सा का माप-दण्ड है। इसी के आधार पर प्राचीन काल में होने वाली आयुर्वेद की वर्णित वर्त्मगत रोगों की चिकित्सा का विशद विवेचन नीचे किया जायगा।

—••◆••—

११

वर्त्मगतरोग

चिकित्सा—उत्संगिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, बहलवर्त्म, वर्त्मबंध, क्लिष्टवर्त्म, कर्दमवर्त्म इन नौ रोगों की चिकित्सा लेखन कर्म है। लेखन कर्म को पाश्चात्य वैद्यक में 'स्क्रैपिङ्ग' या 'स्कैरीफिकेशन' कहा जाता है। यह क्रिया ओषधि, यंत्र, उपयंत्र अथवा शस्त्र के द्वारा की जा सकती है। इसकी प्राचीन विधि इस प्रकार है—

१. *पूर्वकर्म*—रोगी का स्नेहन वमन और विरेचन से शुद्ध शरीर करके, वायु और आतप से सुरक्षित गृह में उत्तान सुलाकर, आप्त और मजबूत परिचारकों के द्वारा पकड़ा कर उसके शरीर को निश्चल व स्थिर कराके यह कर्म प्रारंभ करना चाहिये।

२. *कर्म*—प्रथम नेत्रों का स्वेदन करना चाहिये। इसके लिये सहने योग्य उष्ण जल में वस्त्र भिगोकर (Wet fomentation) नेत्रों के आसपास स्वेदन करे। पश्चात् आँखों को पीडा नहीं पहुँचाते हुए

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

[नेत्र]के वर्त्म को उलट कर बायें हाथ के अंगुष्ठ और अंगुलि के द्वारा [स्थिर] करके किसी खुरदरे पत्ते (शेफालिका) के द्वारा खुरचकर या [वस्त्र] के द्वारा प्रच्छान करके या शस्त्र से भेदन करके या छेदन करने [के] बाद जब रक्त स्राव बंद हो जाय तो पुनः स्वेदन करके मनःशिला, [रसा]ञ्जन, कासीस, त्रिकटु, सैन्धव, सुवर्ण माक्षिक प्रभृति द्रव्यों के पिसे [हुए] महीन चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करके पुनः नेत्र का प्रक्षालन कर घी [लगा]कर व्रणवत् उपचार करे अर्थात् उसके ऊपर व्रणबंध (Banda-[ging]) करे। इस संबन्ध में कई बातों की विशेषतायें हैं—नेत्र-[वर्त्म]ों के उलटने के बाद अँगुलियों को वर्त्म पर सीधे नहीं रखना [चा]हिये बल्कि वस्त्रावेष्टित या प्लोतान्तरित करके वर्त्मों पर रखना [चा]हिये। इससे लाभ यह होता है कि वस्त्रावेष्टित अंगुष्ठ और अंगुलि के [द्वार]ा पकड़े होने से वर्त्म स्थिर हो जाते हैं, कम्पित होने या हाथ से [छूट]कर नीचे गिर जाने का भय नहीं रहता, साथ ही वर्त्मान्तः भाग [पर] अंगुलियों के द्वारा जीवाणुओं के उपसर्ग का भी भय कम रहता है। [अत]एव वस्त्रावेष्टित अंगुलियों के द्वारा ही नेत्रवर्त्म को स्थिर करे।

लेखन कर्म के बाद होने वाले रक्तस्राव को भी प्लोत (Swab) [के] द्वारा सुखाते रहना चाहिये। लेखन-कर्मों के विविध साधनों का [व्यव]हार दोषानुसार या रोगानुसार करना चाहिये। जैसे (क) कफ वात [के] दारुण वर्त्मों का शस्त्र के द्वारा लेखन करना चाहिये। यथावश्यक [प्रच्छ]यितव्य रोग हो तो प्रच्छान, भेदयितव्य हो तो भेदन और छेदनीय [हो] तो छेदन कर्मों द्वारा लेखन करना चाहिये। (ख) यदि पित्त रक्तज [रोग]ों से आक्रान्त होकर वर्त्म मृदु हो तो शेफालिकादि पत्र के द्वारा या [खुरद]रे वस्त्र के द्वारा ही लेखन करना चाहिये।

पश्चात् कर्म—नेत्रवर्त्म का लेखन हो जाने के बाद तीन दिनों तक [नेत्र] को पूर्ण विश्राम मिलना चाहिये। नेत्र के लिये क्षोभ पहुँचाने वाले [स्वे]दन, अवपीडन प्रभृति कर्मों को तीन दिन के बाद ही करना चाहिये।[1]

१. नव येऽभिहिता लेख्याः सामान्यं तेष्वयं विधिः।
स्निग्धवान्तविरिक्तस्य निवातातपसद्मनि ॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

इस प्रकार यह एक वर्त्मगत लेखन-क्रिया की सामान्य विधि का उल्लेख हुआ।

सामान्य लेखन की क्रिया श्याव और कर्दम वर्त्म में करनी होती है। बहलवर्त्म, क्लिष्टवर्त्म और पोथकी में आवश्यकतानुसार शस्त्र के द्वारा प्रच्छान करके लेखन करना चाहिये। कुम्भीक पिडिका, वर्त्म शर्करा और उत्संग पिडिका (मेइबोयिन सीस्ट तथा इन्फार्कशन आफ मेइबोमियन ग्रन्थि) को पहले शस्त्र के द्वारा काट कर पश्चात् निर्मूलन के लिये लेखन करना चाहिये। इनके अतिरिक्त यदि वर्त्म में पिडिकायें ऐसी कठिन और ह्रस्व ताम्रवर्ण की निकलें तो उनकी चिकित्सा में भी उन पिडिकाओं के भेदन (Incision) देकर लेखन कर लेना चाहिये। प्रारंभ में यदि वर्त्मगत पिडिकायें निकलें और यदि वे वर्त्म के बाह्य भाग में हों तो उनका स्वेदन, आलेप और शोधन के द्वारा संशमन करना चाहिये।[1]

आप्तैर्दृढं गृहीतस्य वेश्मन्युत्तानशायिनः।
सुखोदकप्रतप्तेन वाससा सुसमाहितः॥
स्वेदयेद्वर्त्म निर्भुज्य वामाङ्गुष्ठांगुलिस्थितम्।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठकाभ्यां तु निर्भुग्नं वर्त्म यत्नतः॥
प्लोतान्तराभ्यां न यथा चलति स्रंसतेऽपि वा।
ततः प्रमृज्य प्लोतेन वर्त्म शस्त्रपदाङ्कितम्॥
लिखेच्छस्त्रेण पत्रैर्वा ततो रक्ते स्थिते पुनः।
स्विन्नं मनोह्वाकासीसव्योषार्द्राञ्जनसैन्धवैः॥
श्लक्ष्णपिष्टैः समाक्षीकैः प्रतिसार्योष्णवारिणा।
प्रक्षाल्य हविषा सिक्तं व्रणवत् समुपाचरेत्॥
स्वेदावपीडप्रभृतींस्त्र्यहादूर्ध्वं प्रयोजयेत्।
व्यासतस्ते समुद्दिष्टं विधानं लेख्यकर्मणि॥ (सु० ३. १५)

१. कुम्भीकिनीं शर्करां च तथैवोत्संगिनीमपि। कल्पयित्वा (छित्वा) तु शस्त्रेण लिखेत् पश्चादतन्द्रितः॥ भवेयुः वर्त्मसु या पिडिका कठिना भृशम्। ह्रस्वास्ताम्राः ताः पक्वा भिन्द्यात् भिन्ना लिखेदपि॥ तरुणीश्चाल्पसंरम्भाः पिडका बाह्यवर्त्मजाः विदित्वैताः प्रशमयेत्स्वेदालेपनशोधनैः॥ (सु०)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

सम्यक् लेखन के चिह्न—जब वर्त्मगत रोगों में लेखन की क्रिया के ...र रक्त तथा जलस्राव रुक जाय, खुजली और शोफ शान्त हो जाय, ...र्त्म समान (ऊँचे नीचेपन से हीन) हो जायँ तथा संक्षेप में ...र्त्म की आभा नख सदृश हो जाय तो वर्त्म का लेखन सम्यक् हो गया ऐसा समझना चाहिये।

दुर्लिखित वर्त्म के लक्षण—आँख लाल हो जाती है, सूजन और ...स्राव बढ़ जाता है, रोगी की दृष्टि धुँधली हो जाती है, रोग का ...शम नहीं होता। वर्त्म काले रंग के, भारी, स्तब्ध, कण्डु, सिहरन ...र कीचड़ (उपदेह) से युक्त हो जाते हैं। यदि उचित प्रतिकार न ...या जाय तो नेत्रपाक हो जाता है। इन चिह्नों से युक्त लिखित वर्त्म दुर्लिखित समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में नेत्र का स्नेहन और ...दन करके पुनः लेखन करने का विधान है।

अतिलिखित वर्त्म के चिह्न—वर्त्म मुड़ जाते हैं, पक्ष्म जटिल हो ...ते हैं या टूट जाते हैं, नेत्रगत पीडा बढ़ जाती है और स्रावाधिक्य ...ने लगता है। इसकी चिकित्सा में भी स्नेहन, स्वेदन तथा अन्य ...शामक उपचारों को करना चाहिये।

वर्त्म में होनेवाले भेद्य रोग—वर्त्मगत रोगों में से विसग्रन्थि, लगण, ...व नामिका कृमिग्रंथि और कफजोपनाह प्रभृति पाँच ऐसे रोग हैं ...नकी चिकित्सा में पहले भेदन करके पश्चात् लेखन करना चाहिये। इन रोगों के प्रारम्भ में जब तक इनकी आमावस्था है, पाकोत्पत्ति ...ी हुई है तबतक अपतर्पणादि विधि के द्वारा सामान्य शोथवत् ...कार करना चाहिये। इस क्रिया के लिये इन पिडिकाओं में स्नेहन, ...दन, रक्तविस्रावण, विरेचन, वमन (नयन-बुद्बुद के रोगों को ...ड़कर) प्रभृति उपचारों को करना चाहिये। यदि शोथ का शमन न हो ...और पूयोत्पत्ति हो जाय तो उसको भेदन करके पश्चात् रोपण ...ति व्रणवत् उपचारों को करना चाहिये।[1]

...स्निह्य पत्रभंगैश्च स्वेदयित्वा यथासुखम्। अपाकाद्विधिनोक्तेन पंच भेद्यानुपाचरेत्॥
...वेषु विहितं विधानं स्नेहपूर्वकम्। सम्पक्वे प्रयतो भित्वा कुर्वीत व्रणरोपणम्॥

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

विसग्रन्थि की चिकित्सा—विसग्रन्थि की पक्वावस्था में उसका स्वे... करके उसके छिद्रों का निराश्रय भेदन करना चाहिये। निराश्रय का अर्थ आशय या उत्संग हीन (Without pockets) होता है। भेदन (Incision) की क्रिया शस्त्र के द्वारा करनी चाहिये। भेदन के अनन्तर उस स्थान पर सैंधव, कासीस, पिप्पली, पुष्पा... नेपाली (मनःशिला), इलायची आदि का अवचूर्णन (Dusting) कर पश्चात् मधु और घृत का अभ्यङ्ग करके व्रणबन्धन (Bandaging) करना चाहिये।

लगण चिकित्सा—इसमें भी भेदन करके गोरोचन, क्षार, पिप्पली, तुत्थ, मधु प्रभृति द्रव्यों का एकैकशः प्रतिसारण करना चाहिये। यदि लगण की ग्रन्थि बहुत बड़ी हुई तो भेदन करके क्षार अथवा अ... के द्वारा प्रतिसारण तथा क्षाराग्नि दग्धवत् व्रणोपचारों को करना चाहिये।

अंजननामिका चिकित्सा—अंजननामिका (Stye Hardeolum) की अवस्था में पिडिका का स्वेदन (Fomentation) करने से स्व... यदि फट जाय तो उसे पुनः दबाकर मवाद निकाल दे, पश्चात् मैनशिल, छोटी इलायची, तगर, सैन्धव और मधु का उस स्थान पर प्रतिसारण करे। प्रतिसारण का अर्थ घर्षण या लेप करना होता है।[1] यह स्वयं भिन्न (अपने आप फटी हुई) अंजनी की चिकित्सा है। पर जो स्वयं न फटे उसका स्वेदन कर शस्त्र के द्वारा भेद (Incision) कर मवाद को निकाल कर रसाञ्जन और मधु के द्वारा प्रतिसारण करके, उत्तर काल में दीपक की शिखा से बने हुए गरम-गरम क... का अञ्जन करना चाहिये।[2] यह क्रिया शस्त्रकर्म के ज्ञाता को ही करनी चाहिये।

क्रिमिग्रंथि चिकित्सा—नेत्र के लिये यथोचित्त स्वेद कर लेने के ...

१. स्विन्नां भिन्नां विनिष्पीड्य भिषगञ्जननामिकाम् ।
शिलैलानतसिन्धूत्थैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ॥

२. रसाञ्जनमधुभ्यां तु भित्त्वा वा शस्त्रकर्मवित् ।
प्रतिसार्याञ्जनैर्युञ्ज्यादुष्णैर्दीपशिखोद्भवैः ॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मिग्रंथि का भेदन करे। अञ्जननामिका में कथित द्रव्यों का मधु के साथ सारण करना चाहिये पश्चात् त्रिफला, तुत्थ, कासीस, सैन्धव के द्वारा बनी हुई रसक्रिया के द्वारा नेत्रों में अञ्जन करते रहना चाहिये।[1]

श्लेष्मोपनाह चिकित्सा—उपनाह रोग में श्लैष्मिक भेद्य, महान् और नीरुज लेख्य, रक्तानुबन्धी प्रच्छनीय होते हैं। श्लेष्मोपनाह में भेदन, लेखन, प्रक्षालन करने के अनन्तर पिप्पली, मधु, सैन्धव में से किसी एक के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये। लेखन की क्रिया मण्डलाग्र शस्त्र से करने का विधान है।[2]

अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श और वर्त्मार्बुद (Tumour & warts of the eyelids)—इन रोगों की चिकित्सा में छेदन कर्म किया जाता है। सभी रोग वर्त्म के आभ्यंतर भाग में होते हैं। इनकी चिकित्सा का विधान इस प्रकार का है।[3]—वर्त्मों का स्वेदन करके उन्हें उलट कर

१. सम्यक् स्विन्ने कृमिग्रन्थौ भिन्ने स्यात्प्रतिसारणम्।
त्रिफलातुत्थकासीससैन्धवैश्च रसक्रिया॥

२. भित्त्वोपनाहं कफजं पिप्पलीमधुसैन्धवैः।
लेखयेन्मण्डलाग्रेण समन्तात् प्रच्छयेदपि॥ (सु. उ. १५)
श्लेष्मोपनाहः भेद्यः, महान्नीरुजश्च लेख्यः।
रक्तानुबन्धश्च प्रच्छनीयः॥ (डल्हण)

३. अर्शस्तथा यच्च नाम्ना शुष्कार्शोर्बुदमेव च।
अभ्यन्तरं वर्त्मशया विधानं तेषु वक्ष्यते॥
वर्त्मोपस्वेद्य निर्भुज्य सूच्योत्क्षिप्य प्रयत्नतः।
मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन मूले भिन्द्याद् भिषग्वरः॥
ततः सैन्धवकासीसकृष्णाभिः प्रतिसारयेत्।
स्थिते च रुधिरे वर्त्म दहेत् सम्यक् शलाकया॥
क्षारेणावलिखेच्चापि व्याधिशेषो भवेद्यदि।
तीक्ष्णैरुभयतो भागैस्ततो दोषमधिक्षिपेत्॥
वितरेच्च यथादोषमभिष्यन्दक्रियाविधिम्।
शस्त्रकर्मण्युपरते मासं च स्यात् सुयन्त्रितः॥ (सु० उ० १५)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

वर्त्मान्तःप्रदेश पर प्रयत्न पूर्वक सूई लगाकर अर्श या अर्बुद को ऊपर की ओर उठाकर रखे, तदनन्तर तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र के द्वारा रोग के मूल में भेदन (Incision) करना चाहिये। पश्चात् वहाँ सैन्धव कासीस और पिप्पली से प्रतिसारण करना चाहिये। जब रुधिर बंद हो जाय तो शलाका के द्वारा वर्त्म का युक्ति पूर्वक दाह करना चाहिये। यदि अग्निदाह से पूर्णतया व्याधि का निर्मूलन न हो अथवा यदि कुछ व्याधि अवशिष्ट रह जाय तो क्षार के द्वारा लेखन करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो सार्वदैहिक दोषों के दूरीकरण के लिये इस रोगी का वमन और विरेचन के द्वारा उभयतः शोधन करना चाहिये। साथ ही दोषानुसार अभिष्यंद की चिकित्सा में कही जाने वाली प्रक्रियाओं का भी विधान करना चाहिये। नेत्र के इस शस्त्र कर्म के बाद एक मास तक रोगी को सुयन्त्रित होकर (बिना अधिक हिले डुले) रहना चाहिये। क्लिन्न वर्त्म और अपरिक्लिन्न वर्त्म (Ulcerous & Squamous Blepharitis) रोगों की चिकित्सा में अभिष्यंदवत् तर्पण सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य और धूम आदि का प्रयोग मुख्य है। क्लिन्न या प्रक्लिन्न वर्त्म का दूसरा नाम पिल्ल भी है। इसमें चिकित्सा का सूत्र (Line of treatment) इस प्रकार का रहता है कि रोगी के स्नेहन, सिराव्यध, शिरोविरेचन, आस्थापन आदि क्रियाओं के द्वारा दोषों का निर्हरण करके यथा दोष बल, काल और वय के अनुसार नेत्रों का तर्पण करे पश्चात् सेक, आश्च्योतन, अंजन, नस्य एवं धूम का प्रयोग करे।[1])

मुस्तादिसेक या आश्च्योतन (Drop)—मुस्ता, हरिद्रा, मधुक, प्रियंगु, सिद्धार्थ (सर्षप), रोध्र, उत्पल और सारिवा प्रभृति द्रव्यों का चूर्ण करके अन्तरिक्षोदक (वर्षाजल) अथवा इसके अभाव में उन्हीं गुणों से युक्त पानी (परिस्रुत जल) में शीत कषाय बनाकर उसका आश्च्योतन या सेक करना क्लिन्न वर्त्म (Astringent) में लाभप्रद है।

१. स्नेहादिभिः सम्यगपास्य दोषांस्तृप्तिं विधायाथ यथास्वमेव।
प्रक्लिन्नवर्त्मानमुपक्रमेत सेकाञ्जनाश्च्योतननस्यधूमैः ॥ (सु० उ० ...

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आमलकीरसाञ्जन—आँवले की पत्ती और फल लेकर उसका क्वाथ ...कर क्वाथ को गाढ़ा करते हुए घनक्रिया करे (रसक्रिया)—इस ...धि से बने रसाञ्जन का क्लिन्नवर्त्म में अंजन रूप में प्रयोग करे। ...म्न लिखित कई और ग्राही अंजन (Astrigent Collirum) का ...योग इन दोनों विकारों में लाभप्रद है। जैसे :—

वंशमूल रसाञ्जन—बाँस के मूल से बनी रसक्रिया का अंजन अथवा ...ी रसक्रिया को ताम्रकपाल (ताम्बे की कड़ाही) में शुष्क करके ...ली वर्ति बना ली जाय और उसका अंजन नेत्रों में किया जाय तो ...र्म में होने वाला विकार क्लिन्न वर्त्म ठीक हो जाता है।

त्रिफलारसाञ्जन—त्रिफला की रसक्रिया से बना अंजन।

पलाशपुष्परसाञ्जन—पलाशपुष्प की रसक्रिया से बना अंजन।

अपामार्गरसाञ्जन—अपामार्ग के पंचाङ्ग की रसक्रिया में निर्मित अंजन।

प्रत्यञ्जन—अंजन और प्रत्यञ्जन में थोड़ा भेद है। 'पश्चात् प्रशान्त-...पे यदञ्जनं क्रियते तत् प्रत्यञ्जनम्।' वास्तव में रोगी की तीव्रावस्था में ...जनों के विविध प्रयोगों का व्यवहार किया जाता है; परन्तु जब दोष ...न्त हो गया हो, रोग उपशम की ओर चल रहा हो, थोड़ा-थोड़ा दोष-...न्य शेष रह गया हो उस अवस्था में जिस मृदु अंजन का व्यवहार ...वश्यक होता है, उसको प्रत्यञ्जन कहते हैं। इसके लिये क्लिन्न वर्त्म ...जीर्णावस्था में प्रयुक्त होने योग्य एक योग का उल्लेख सुश्रुत ने किया ...। इसमें कांस्य का मल लेकर कपास के बने कपड़े के साथ जला ...या जाता है, फिर उस राख में सफेद मरिच और ताम्र रज (भस्म) ...लाकर बकरी के दूध में पीसकर रख लिया जाता है। पुनः इसका ...जन रूप में व्यवहार करने का निर्देश है।[1]

चूर्णाञ्जन (Powders)—समुद्रफेन, सेंधानमक, शंख, मुद्ग, श्वेत ...च इनसे बने चूर्णाञ्जन का प्रयोग क्लिन्नवर्त्म गत जाड्य, कण्डु

१. पिष्ट्वा छगल्याः पयसा मलं वा कांसस्य दग्ध्वा सह तान्तवेन।
प्रत्यञ्जनं तन्मरिचैरुपेतं चूर्णेन ताम्रस्य सहोपयोज्यम्॥

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

लक्षणों को शान्त करता है। दोषानुसार क्लिन्न एवं अपरिक्लिन्न वर्त्म प्रभृति की चिकित्सा में उपरोक्त योगों का ही प्रयोग हितकर होता है।

तुत्थकांजन—यह एक विशिष्ट अंजन है—इसका प्रयोग प्रक्लिन्न वर्त्म की अवस्था में कार्यकर होता है। यह एक बहुत ही ग्राही (Astringent) योग है जिससे वर्त्मशोफ की अवस्था में लाभ होता है। इसके बनाने में दीपशिखा का बना कज्जल और तुत्थ समान भाग में लेकर ताम्बे के बने चिकने घड़े के ऊपर घिसना चाहिये। घिसते समय उसमें घी भी मिला लेना चाहिये। इस अंजन का नेत्रों में प्रयोग करने से क्षोभ होकर (Irritants) वर्त्मगत रोग और शोफ की अवस्था दूर होकर रोपण शीघ्र होता है।[1]

पक्ष्मकोप चिकित्सा—('ट्रिकियेसिस' 'डिसट्रिकियेसिस' तथा 'एण्ट्रोपियन' की प्राचीन चिकित्सा) पक्ष्मकोप को प्राचीन संहिताओं में एक याप्य रोग बतलाया गया है। याप्य उस व्याधि को कहते हैं जिसमें सतत किसी न किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती रहे और जब तक चिकित्सा चलती रहे, रोग का उपशम हुआ रहे और चिकित्सा के निवृत्त होने पर जो घातक हो जाय इसकी उपमा विष्कंभक (खम्भा) से दी जाती है। जैसे कोई गिरती हुई छत हो और उसको बचाने के लिये एक खंभा खड़ा कर दिया जाय तो जबतक वह खंभा खड़ा रहता है छत के गिरने का भय नहीं रहता। यदि खंभा हटा दिया जाय तो छत गिर जाती है। ठीक इसी प्रकार यहाँ पर रोगी के रोग के लिये ओषधि स्तंभ का काम करती है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि पक्ष्मकोप की चिकित्सा में बार-बार कुछ न कुछ उपचार होते रहना चाहिये क्योंकि वर्त्मा

१. प्रक्लिन्नवर्त्मन्यपि चैत एव योगाः प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य चैव। सकज्जलं ताम्रघटे च घृष्टं सर्पिर्युतं तुत्थकमञ्जनञ्च ॥ (सु० उ० १३)

२. यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु या। क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति ॥ प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः ॥ (सु० सू० २३)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

in Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

ग में नये-नये केशों का उगना लगा रहता है—उनको पुनः पुनः निकालने की आवश्यकता पड़ती रहती है अन्यथा वे बढ़ कर कृष्णमण्डल को हानि पहुँचाकर दृष्टिशक्ति को नष्ट कर सकते हैं। इन अथवा पद्मों की प्राचीन संज्ञा उपपद्म है। ये बार-बार निकाले जाने पर भी बार-बार निकलते रहते हैं।

इस रोग की चिकित्सा में सुश्रुत ने चार प्रकार के उपक्रमों का उल्लेख किया है—

भेषज	शस्त्र	क्षार	अग्नि
विरेचन	१. उपपद्मोत्पाटन (Eqilation)		
आश्च्योतन	२. शस्त्रकर्म।		
धूम			
नस्य			
लेप			
स्निग्धांजन			
रसक्रिया			

ये सभी उपक्रम पृथक् पृथक् आवश्यकतानुसार श्रेष्ठ हैं; परन्तु पक्ष्मोपरोध या पद्मकोप की अवस्था याप्य होने के कारण ये सर्वथा व्याधि का निर्मूलन नहीं कर पाते अतएव अभिष्यंद के पाठ में आने वाले आश्च्योतनादि उपक्रमों को बरतते रहना चाहिये। इससे कई बार रोग का सर्वथा निर्मूलन भी हो जाता है।[1]

पक्ष्म-कोप का शस्त्र कर्म—पद्म-कोप के लिए जो शस्त्रकर्म सुश्रुत ने बतलाया है आधुनिक शस्त्रकर्म इससे बहुत मिलता है।

शल्यकर्म—स्नेहपान से स्निग्ध हुए रोगी को बैठा देना चाहिये। रोगी को नेत्र बंद करके रखना चाहिये। इस शस्त्रकर्म में वर्त्म के ऊपर

१. चत्वार एते विधयो विहन्तुं पक्ष्मोपरोधं पृथगेव शस्ताः।
विरेचनाश्च्योतनधूमनस्यलेपाञ्जनस्नेहरसक्रियाश्च ॥ (सु० उ० १७)

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

भ्रू (भौंह) के नीचे दो भागों में बाँटकर उनमें पक्ष्माश्रित एक भाग को छोड़कर कनीनिका अपाङ्ग के ठीक बीच में (समान प्रदेश में) सब तरह से (समन्ततः) अर्थात् उपपक्ष्म माला के परिमाण में वर्त्म के ऊपर यव के आकार का चर्म का भाग तिर्यक् शस्त्र से काटकर निकाले। चर्म को काट लेने के बाद वहाँ पर अश्वादि के बालों से सीवन करे। पुनः इस सीवन के बालों को परस्पर में बाँधकर सामने ललाट देश पर ले जाकर पट्ट बाँध कर स्थिर कर दे। व्रणस्थान पर घी और मधु का लेप संधान के लिये करे तथा अन्य व्रणोचित कर्मों को करे। पुनः जब शस्त्रकर्म का स्थान स्थिर या रूढ़ हो जाय तो बालों को एकैकशः टाँके काट कर निकाले।[1]

√ *अग्नि तथा क्षारकर्म*—यदि उपरोक्त शस्त्रक्रिया से भी पक्ष्मकोप का उपशम न होवे तो पलक को उलट कर दोषयुक्त वर्त्मि (जिसमें उपपक्ष्म की माला हो) को अग्नि या क्षारकर्म के द्वारा प्रतिसारण करते हुए दग्ध करे। योगरत्नाकर ने तप्तलोह शलाका से उपपक्ष्मों को जलाने का निर्देश किया है तथा बड़ा उपयोगी बतलाया है।[2]

उपपक्ष्ममाला छेदन—यदि उपरोक्त शस्त्र, क्षार तथा अग्निकर्म से भी रोग शान्त न हो तो शस्त्रकर्म का अन्तिम उपाय यह है कि उपपक्ष्म जिस रेखा में लगे हों उसका ठीक ज्ञान करके वर्त्म को पूरी लम्बाई में द्विधा विभाजित करे और उपपक्ष्म मालावाले भाग तीन वडिशों (H...

---

१. तत्रोपविष्टस्य नरस्य चर्म वर्त्मोपरिष्टादनुतिर्यगेव। भ्रुवोरधस्तात् परि... भागौ पक्ष्माश्रितं चैकमतोऽवकृन्तेत् ॥ कनीनिकापाङ्गसमः समन्ताद्यवाकृति... तनोर्नरस्य। उत्कृत्य शस्त्रेण यवप्रमाणं वालेन सीव्येद्भिषगप्रमत्तः॥ दत्वा च ... मधुनावशेषं कुर्याद्विधानं विहितं व्रणे यत्। ललाटदेशे च निवद्धपट्टं प्राक् सूत्र... प्यपरं च बद्ध्वा॥ स्थैर्ये गते चाप्यथ शस्त्रमार्गे वालान् विमुञ्चेत् कुशलो...

२. छित्त्वा समं वाप्युपपक्ष्ममालां सम्यग्गृहीत्वा वडिशैस्त्रिभिस्तु।
पथ्याफलेन प्रतिसारयेत्तु घृष्टेन वा तौवरकेण सम्यक्॥ (सु. उ. ...

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

(…) से ठीक प्रकार से पकड़ कर काट कर निकाल दे । पश्चात् हरीतकी …तुवरक के फल के घृष्ट से प्रतिसारण या घर्षण करे ।[1]

वाग्भट के अनुसार पद्मकोप में अग्निकर्म—पद्मसंदंश (Epil- …tion forcep) से अधिक उन बालों को उखाड़ कर उनके आश्रय (…रोम कूपों) को अग्नि से तप्त सूची के द्वारा दग्ध कर देना चाहिये । …क्रिया में पलक को उलट कर पद्म मूल में जहाँ पर दोष का …श्रय हो दाह करना चाहिये । किसी संदंश से सूई को पकड़कर उसे …तप्त कर के दग्ध करना चाहिये ।[2]

चूर्णाञ्जन—पुष्पकासीस के चूर्ण को तुलसी के स्वरस में भावित …के ताम्र-पात्र में दस दिनों तक रखे पश्चात् उसका अंजन करना …रम्भ करे । यह योग उपपद्मों को गिरा देता है ।

पाश्चात्य नेत्र-रोगों के ग्रंथों में पद्मकोप या परबाल की चिकित्सा … तीन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है । (१) उपपद्मोत्पाटन (२) विद्युद्दहन (Electrolysis) तथा (३) शस्त्रकर्म ।

(१) *उपपद्मोत्पाटन*—इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है ।[3] …कर्म को अंग्रेजी में 'इपिलेशन आफ सिलिया' (Epilation of …lias) कहा जाता है । इस कर्म में पद्मोत्पाटन सन्दंश (Cilia …orcep) या साधारण चिमटी व्यवहार में लाई जा सकती है । इसके …या बालों को पकड़ कर खींच लिया जाता है । इस क्रिया से अनेक …गी वर्षों तक बिना किसी उपद्रव के चलते रहते हैं, परन्तु उपपद्म …दा के लिये दूर नहीं होता, प्रति दो या तीन सप्ताह के अन्तर से बार …र बालों का निकलवाना आवश्यक हो जाता है ।

---

१. रक्षन्नक्षि दहेत्पक्ष्म तप्तलोहशलाकया । पक्ष्मकोपे पुनर्नैवं कदाचिद्रोगसंभवः ॥ …कासीसचूर्णं तु सुरसारसभावितम् ! ताम्रे दशाहं तद्योज्यं पक्ष्मशातनलेपनम् ॥ (यो. र.)

२. दहेदशांतौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयावलिम् । संदंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा …श्रयं दहेत् सूक्ष्माग्रेणाग्निवर्णेन दाहः । (अ. हृ. ३. ९)

३. रसक्रियाश्चेत्यत्र चकारात् उपपक्ष्मोत्पाटनम् । (डल्हण)

…aj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

संज्ञाहर द्रव (Novocaine solution ३%) का वर्त्म की त्वचा में सूचीवेध करके चेतना हीन करे। पुनः नेत्रवीक्षण यंत्र (Eyespeculun) से नेत्र का विस्फारण करके विकृत वर्त्म को, उसके नीचे चिकना पत्रक लगाकर पलक को स्थिर कर ले।

अब वर्त्म की त्वचा में भेदन (Incision) करके एक शंकु आकार का (Wedgeshaped) टुकड़ा जो ऊपर मोटा नीचे पतला हो पलक के मृद्वस्थिस्थित (Tarsus) से काटकर पृथक् कर लेना चाहिये। भेदन की लम्बाई २ मिली मीटर की होनी चाहिए और इसका स्थान वर्त्म के किनारे से १–२ मि० मीटर ऊपर होना चाहिये। भेदन में पहले त्वचा कटती है, फिर नेत्रच्छद की आकुंचक पेशी का कुछ भाग कटता है उसके बाद टार्सस का स्तर आता है। इसी में शंकु के आकार का टुकड़ा करना, इस शस्त्र कर्म का प्रधान उद्देश्य रहता है।

तत्पश्चात् रेशम सूत्र (Silkthread) को सुई में पिरोकर तरफ से बालों के किनारे से छेदकर भीतर कटे टार्सस भाग को छेदते हुए ऊपर की ओर पक्ष्म के किनारों से निकाल देते हैं। इस प्रकार के तीन टाँके लगाये जाते हैं। भेदन के बीच में एक टाँका तथा दोनों सिरे पर दो टाँके लगाना चाहिये। फिर सूत्र में दिये गये गाँठों के छोर को जो पक्ष्म प्रान्त पर (ललाट पर) होते हैं प्लास्टर से चिपका दिया जाता है।

शस्त्र कर्म के समाप्त होने पर आँखों में 'मर्क्युरोक्रोम घोल' की बूंदें छोड़नी चाहिये। सल्फा पाउडर का व्रण के ऊपर अवचूर्णन करना चाहिये। छठवें दिन पुनः टाँकों को काट देना चाहिये।

√शुक्लगत रोग

(Diseases of Conjuctiva or Sclera)

नेत्र के शुक्ल भाग में होने वाले ग्यारह रोगों का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने किया है।[1] अर्म (Pterygium)—आचार्य सुश्रुत ने इसके पाँच प्रकार

१. प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांसस्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

उल्लेख किया है। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'टेरिजियम्' कहते हैं और लोक भाषा में इसे नखूना कहते हैं। आधुनिक दृष्ट्या इसके कोई भेद नहीं माने जाते। प्राचीन आचार्यों ने इसके पाँच भेद उनकी पृथक्-पृथक् संज्ञा भी दी है। आधुनिक दृष्टि से वे सभी के ही अन्दर आ जाते हैं। अथवा प्रधान रोग की आवस्थिक अवस्थायें समझी जा सकती हैं। *प्रस्तार्यर्म*—नेत्र के शुक्ल भाग में फैली हुई रक्त सदृश ईषत् नीले रंग की गाँठ या रेखा जैसी लम्बी रचना बन जाती है। *शुक्लार्म*—शुक्ल भाग में मृदु, श्वेत, समान और धीरे धीरे बढ़ने वाले अर्म को कहते हैं। *लोहितार्म क्षतजार्म*—लाल कमल के समान (अभिघात जन्य) मांस की वृद्धि होकर शुक्ल भाग को आच्छादित करने वाली गाँठ या रेखा को लोहितार्म कहते हैं। *अधिमांसजार्म*—यकृत् के वर्ण का मृदु, मोटा, विस्तीर्ण और श्याव वर्ण का अधिमांसज अर्म होता है। *स्नायु-अर्म*—स्पर्श में खर होता है। नेत्र के शुक्ल भाग में खुरदरा एवं कुछ पीलापन लिये हुए श्वेत मांस की वृद्धि से उत्पन्न होने वाले अर्म को स्नायु अर्म कहते हैं। उपरोक्त वर्णनों के आधार पर अर्म की सामान्य व्याख्या यह होगी कि नेत्र श्लेष्मावरण की एक पतली झिल्ली जैसी बढ़ने वाली विकृति जो अधिकतर वर्ण में श्वेत होती है और आकार में त्रिकोण सी होती है उसे अर्म कहते हैं। 'A triagntar fold of membrane occupying the inter palpe-bral fissure extending towads cornea'.

यह अर्म प्रायः एक ही नेत्र में होता है, किन्तु कभी-कभी दोनों

स्युः शुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च जालं सिराणां पिडिका च या स्युः ॥
रोगा बलासग्रथितेन सार्द्धमेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे ॥
प्रस्तारिग्रथितमिहार्मशुक्लभागे विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभं सनीलम् ॥
शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति शुक्लभागे सश्वेतं सममिह वर्द्धते चिरेण।
यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म ॥
विस्तीर्णं मृदुबहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्।
शुक्ले यत् पिशितमुपैति वृद्धिमेतत् स्नाय्वर्मेत्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

नेत्रों में भी मिलता है। जब तक यह अर्म कृष्ण-मण्डल के मध्य तक नहीं पहुँचता तब तक बहुधा दृष्टि को हानि नहीं पहुँचती है परन्तु आगे बढ़कर कृष्ण-मण्डल के मध्य तक पहुँच जाने पर दृष्टि प्रायः नष्ट हो जाती है। उस अवस्था में शस्त्रक्रिया के द्वारा अर्म को निकाल देने से दृष्टि बिल्कुल साफ हो जाती है।

कारण—कारण का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता और न आधुनिक ग्रंथों में ही कोई अर्मोत्पादक निश्चित हेतु मिलता है। ऐसा अनुमान है कि कृष्ण-मण्डल की परिधि पर कोई सूक्ष्म क्षत हो या किसी बाह्य पदार्थ के गिरने से छिल गया हो और वह भर रहा हो उस समय नेत्र के भीतर श्लेष्मावरण का भाग फँस जाता है उसी से अर्म का प्रारम्भ होता है।

चिकित्सा—औषधिचिकित्सा—कृष्णादि पुटपाक—मरिच, लौह, ताम्र, शंख, विद्रुम, सैन्धव, समुद्रफेन, कासीस, स्रोताञ्जन तथा दधि मस्तु से बने लेखनाञ्जन का धारण करना। पिप्पल्यादि गुटिकाञ्जन—पिप्पली, त्रिफला, लाक्षा, लौहचूर्ण और सेंधानमक को भृङ्गराज के रस में घोटकर गुटिका बनाकर अंजन करना।

मरिचादि लेप—मरिच और बहेड़े का चूर्ण करके हल्दी के रस में मर्दित करके लेप करने से अर्म ठीक हो जाते हैं। यह श्रेष्ठ प्रयोग है[1]।

पुष्पादिरसक्रिया—पुष्पाक्ष (यशद का फूला) तार्क्ष्यज (रसांजन) सिता, दधि, समुद्रफेन, शंख, सैन्धव, गैरिक, मनःशिला, मरिच इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर मधु में रसक्रिया करके अञ्जन करने से लाभ होता है।

ऊपर लिखी ओषधियों का पाठ योगरत्नाकर में संगृहीत मिलता है और अर्म की अवस्था में लाभप्रद बतलाया गया है। सुश्रुत ने अर्म की चिकित्सा में केवल शस्त्रकर्म बतलाया है। आधुनिक नेत्र-विशेषज्ञ भी यही मानते हैं कि अर्म में औषधोपचार से लाभ नहीं होता, केवल

१. संचूर्ण्य मरिचाक्षे च रजन्या रसमर्दिते।
लेपनादर्मणां नाशं करोत्येष प्रयोगराट् ॥ (यो. र.)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

...कर्म ही चिकित्सा है। वास्तव में जब तक कि अर्म कृष्ण मण्डल (Cornea) की परिधि तक ही सीमित हो कोई चिकित्सा की खास ...वश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु जब अर्म परिधि का उल्लंघन करके मध्य ...ग की ओर बढ़ने लगा हो, स्थूल हो गया हो और दृष्टि में कुछ अंश ...बाधक भी होने लगा हो तो तत्काल शस्त्रक्रिया के द्वारा उसे निकाल ...ना चाहिये।[1]

अर्म का आधुनिक शस्त्रोपचार निम्नलिखित रीति से किया ...ता है—

नेत्र को खोलकर रखे। भीतर के भाग का विशोधन पारद धावन ...बोरिक प्रक्षालन से कर ले। फिर वडिश यन्त्र को लगाकर उसे ...ण-मण्डल की परिधि से कुछ दूरी पर अर्म के नीचे से निकालने का ...त्न करे। यन्त्र को नीचे ऊपर ले जाकर इस प्रकार निकाले कि अर्म ...भाग ऊपर उठ आवे और यह यन्त्र सहायक के हाथ में दे दे। ...श्चात् मुक्त हुए अर्म के भाग को संदंश (चिमटी) से पकड़ कर शेष ...ग को नेत्र गोलक पर से मुक्त कर दे। तत्पश्चात् निम्न दो पद्धतियों ...से किसी एक को अपनावे—

(१) अर्म को बिल्कुल नेत्र गोलक के कोण (अपाङ्ग या कनी-...निका) तक मुक्त करके त्रिकोणाकार में काट लेवे। पश्चात् इस प्रकार ...काटने से नेत्र श्लेष्मावरण के मुक्त हुए दोनों भागों का सन्धान एक ...टाँकों से करे।

(२) दूसरी पद्धति यह है कि कृष्ण-मण्डल की परिधि के ...गे के अर्म के हिस्से में से सुई के दो तागे निकाल कर उससे ...यों को दृढ़ बाँध दे। इससे चार पाँच दिनों में अपने आप अर्म ...र जायगा।

सुश्रुत ने अर्म की शस्त्र-चिकित्सा का बड़ा विशद और व्यावहारिक ...र्णन किया है उसका अविकल अनुवाद मूल पाठ के साथ नीचे दिया

१. चर्माभं बहलं यत्तु स्नायुमांसघनावृतम्।
छेद्यमेव तदर्म स्यात् कृष्णमण्डलगं च यत्॥ (सु. उ. १५)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G…

जा रहा है ।[1] पाँचां प्रकार के अर्म में एक ही प्रकार का शस्त्रकर्म किया जाता है ।

पूर्वकर्म —रोगी को स्नेहपान से स्निग्ध और भोजन कराके बैठाकर यह कर्म किया जाता है । पहले यथावश्यक यन्त्र शस्त्र से सुसज्ज चिकित्सक द्वारा यत्न-पूर्वक रोगी के अर्म का संरोषण और शिथिलीकरण (ढीला) किया जाता है । इसके लिये सैन्धव नमक का बारीक चूर्ण अर्म के भाग पर छिड़का जाता है जिससे अर्म का भाग ढीला हो जाता है ।

कर्म—नेत्र को खुला रखे । शिथिलीभूत अर्म का स्वेदन करके उसको चालित करे । जिस स्थान पर अर्म में वली (झुर्री) पड़ जाय उसी स्थान पर बडिश यन्त्र को लगावे । रोगी को अपाङ्ग (Outer Canthus) की ओर देखते रहना चाहिये । फिर बुद्धिमान चिकित्सक को मुचुण्डी संदंश (Forcep) (तर्जनी और अंगुष्ठ…

१. स्निग्धो भुक्तवतो ह्यन्नमुपविष्टस्य यत्नतः ।
संरोषयेत्तु नयनं भिषक् चूर्णैस्तु लावणैः ॥
ततः संरोषितं तूर्णं सुस्विन्नं परिघट्टितम् ।
अर्मं यत्र वलीजातं तत्रैतल्लगयेद् भिषक् ॥
अपाङ्गं प्रेक्षमाणस्य बडिशेन समाहितः ।
मुचुण्ड्याऽऽदाय मेधावी सूचीसूत्रेण वा पुनः ।
न चोत्थापयता क्षिप्रं कार्यमत्युन्नतं तु तत् ॥
शस्त्राबाधभयाच्चास्य वर्त्मनि ग्राहयेद् दृढम् ।
ततः प्रशिथिलीभूतं त्रिभिरेव विलम्बितम् ॥
उल्लिखन्मण्डलाग्रेण तीक्ष्णेन परिशोधयेत् ।
विमुक्तं सर्वतश्चापि कृष्णाच्छुक्लाच्च मण्डलात् ॥
नीत्वा कनीनिकोपान्तं छिन्द्यान्नातिकनीनकम् ।
चतुर्भागस्थिते मांसे नाक्षि व्यापत्तिमृच्छति ॥
कनीनकवधादस्रं नाडी वाप्युपजायते ।
हीनच्छेदात् पुनर्वृद्धिं शीघ्रमेवाधिगच्छति ॥ (सु. उ. १५)

…ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga…

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

पकड़ने योग्य छोटी चिमटी) से पकड़ कर ऊपर की ओर अर्म को उठाना चाहिये । यदि मुचुण्डी संदंश अप्राप्य हो तो सुई और तागे के द्वारा ऊपर उठाने की क्रिया (उत्क्षेपण) की जा सकती है। वैद्य को उठाने में प्रमादवश शीघ्रता नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके (अर्म के) टूटने का भय रहता है। रोगी के दोनों वर्त्मों को ऊपर और नीचे की ओर खूब दृढ़ता से पकड़ कर रखना चाहिये अन्यथा शस्त्र चलाने में बाधा होती है या उनके कटने का भय रहता है। और इस प्रकार नेत्र गोलक से शिथिल हुए अर्म को वडिशादि तीन-तीन यन्त्रों से पकड़े गये तीक्ष्ण मण्डलाग्र शस्त्र (Round headad scalpel) से लेखन करता हुआ निकाले। पूरे अर्म के सन्तान (फैलाव) का शोधन करे। जब यह अर्म कृष्ण और शुक्लमण्डल (Cornea, Conjunctiva) से पूर्णतया विमुक्त हो जाय तो कनीनिका (Inner Canthus) के समीप में ले आकर काट दे। कनीनिका के समीप मुक्त हुए अर्म को ले आकर वडिश को निकाल लेना चाहिये। और प्रविष्ट किये सूची-सूत्र के सहारे ही लटकते हुए अर्म का छेदन करना चाहिये। काटते समय अतिछेदन न करे क्योंकि कनीनिका के कट जाने से रक्तस्राव या नाड़ीव्रण का भय रहता है और यदि हीन छेदन हुआ तो पुनः अर्म की वृद्धि होकर पूर्ववत् स्थिति हो जाती है। अतः, यथोचित काटना चाहिये। अक्षिगोलक के उपरितन मांस के चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाने से नेत्र को कोई हानि नहीं होती।

सम्यक् छिन्न अर्म के लक्षण—यदि अर्म का शस्त्रकर्म सफल हुआ हो तो नेत्र गोलक का वर्ण स्वच्छ, निमेषोन्मेष प्रभृति क्रियाओं में स्वाभाविकता, क्लम का दूर हो जाना तथा अन्यान्य उपद्रवों का अभाव होना प्रभृति चिह्न मिलते हैं।[1]

पश्चात्कर्म—अर्म का पूर्ण निर्हरण नहीं हो पाया हो—कुछ शेष रह गया हो तो उसका आहरण केवल लेख्य अंजनों के प्रयोग से करना

१. विशुद्धवर्णमक्लिष्टं क्रियास्वक्षिगतक्लमम् ।
छिन्नेऽर्मणि भवेत्सम्यग्यथास्वमनुपद्रवम् ।

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

चाहिये ।[1] यदि अर्म का विस्तार अल्प हो तो उसका वर्ण धूसर, श्वे, नील या रक्तवर्ण का हो तो उसका उपचार अव्रण शुक्रवत् (Opacities) जैसे लेख्यांजनों के प्रयोग से किया जा सकता है ।[2]

जो अर्म मत्स्य-जालवत् आस्तृत औप वर्त्म के समीप वाले शुक्ल के आश्रित हुआ लटकता हो उसे वक्रयंत्र के द्वारा पकड़कर मण्डलाग्र शस्त्र से काटकर निकालना चाहिये ।

अर्म के पूर्णतया छेदन कर लेने के बाद आँख का प्रतिसारण करना चाहिये । प्रतिसारण के लिये यवक्षार, सैन्धव और त्रिकटु के चूर्णों का प्रयोग करना चाहिये । पश्चात् स्वेदन कर नेत्रों के ऊपर पट्टी बाँध देनी चाहिये । यहाँ पर व्रणबंध में ऋतु काल एवं दोष का विचार करते हुए जैसा स्नेह हितकर हो उसका उपयोग करे । तत्पश्चात् सद्योव्रण में हितकर त्रिफला, लोध्र, चंदनादि के कषाय द्रव, कल्क और पिण्डादि के रूप जो चक्षुष्य द्रव्य हों उन्हें शोधन तथा रोपण क्रिया में प्रयोग करे और तत्पश्चात् व्रणवत् उपचार प्रारंभ करे । तीन दिनों के अनन्तर पहली बार पट्टी को खोलना चाहिये और करस्वेद (हाथ से सूखा सेंक) कर पश्चात् व्रण के शोधन की क्रिया करनी चाहिये ।[3]

आवस्थिक शूल के उपद्रव की चिकित्सा—करञ्जादि क्षीर-करंजबीज, आमलक, मधुक (मुलैठी) से सिद्ध किये दूध से मधु मिलाकर दिन में दो बार आश्च्योतन करना चाहिये ।

१. लेख्याञ्जनैरपहरेदर्मशेषो भवेद्यदि ।

२. अर्म चाल्पं दधिनिभं नीलं रक्तमथापि वा ।
धूसरं तनु यच्चापि शुक्रवत्तदुपाचरेत् ।

३. प्रतिसारणमक्ष्णोस्तु ततः कार्यमनन्तरम् ।
यावनालस्य चूर्णेन त्रिकटोर्लवणस्य च ।
स्वेदयित्वा ततः पश्चाद् बध्नीयात्कुशलो भिषक् ।
दोषर्तुबलकालज्ञः स्नेहं दत्त्वा यथाहितम् ।
व्रणवत् संविधानं तु तस्य कुर्यादतः परम् ।
त्र्यहान्मुक्त्वा करस्वेदं दत्त्वा शोधनमाचरेत् (सु. उ. १५)

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

मधुकादि लेप—मुलैठी, उत्पल, पद्मकेशर, दूर्वा प्रभृति द्रव्यों को दूध में पीसकर घृत मिलाकर सिर पर उसका लेप करना चाहिये।

शुक्तिका—(Xerosis) नेत्र के श्वेत भाग (Conjuctiva) पर होने वाली श्याव (साँवले) वर्ण की मांस सदृश जल शुक्ति के समान पिडिकायें शुक्तिका कहलाती हैं। यह एक पित्तज विकार है और साध्य है।[1]

वर्तमान नेत्र-ग्रंथों में एक नेत्र श्लेष्मावरण की शुष्कता नामक (Xerosis) रोग का वर्णन पाया जाता है। इस रोग में नेत्र का श्लेष्मावरण शुष्क, निस्तेज और सिलवट युक्त हो जाता है। फलतः इसका रंग जो स्वाभाविक नेत्र बाह्यपटल (Sclera) के हेतु से सफेद भासता है, वह मलिन (श्याव) प्रतीत होता है। इसी की उपमा घिसे काँच से दी जाती है—जैसे काँच को घिस देने पर वह अपारदर्शक हो जाता है, शुक्लमण्डल भी वैसा ही अपारदर्शक हो जाता है। नेत्र-श्लेष्मावरण जिस प्रकार सामान्यतया अश्रुप्रवाह से आर्द्र रहता है उस प्रकार इस विकृति में वह गीला नहीं रहता प्रत्युत शुष्क रहता है। आँख से चिपचिपा, गाढ़ा, लसदार स्राव होता है। यह रोग स्वतंत्र या प्रायः रोहे और अधिमन्थ आदि के उपद्रव रूप में क्वचित् मिलता है। इसके गंभीर एवं उत्तान दो प्रकार माने जाते हैं।

चिकित्सा—आधुनिक ग्रंथों में इसकी कोई सिद्ध चिकित्सा नहीं मिलती तथापि रोहे, अधिमंथ प्रभृति कारणों को दूर करना, पौष्टिक आहार देना तथा स्थानिक उपचारों में दूध, घी, ग्लिसरीन, वेसलीन आदि में बने स्निग्ध अंजनों का प्रयोग लाभप्रद माना गया है।

प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में इसे औषधसाध्य पैत्तिक रोग बतलाया है। अतएव इसकी चिकित्सा १. पैत्तिक अभिष्यंद सदृश करनी चाहिये। २. अम्लाध्युषित नामक रोग के सदृश ही इसमें चिकित्सा करे। इस रोग में रक्तविस्रावण का निषेध है (क्योंकि इससे अपतर्पण होता है जहाँ इस रोग में संतर्पण एवं पौष्टिक आहार-विहार की

१. श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये शुक्त्याभाः सितनयने स शुक्तिसंज्ञः।

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

आवश्यकता होती है)। ३. रेचन के द्वारा पित्त का निर्हरण श्रेयस्कर है। अंजन—शीत द्रव्यों का अंजन करना चाहिये, जैसे—वैदूर्य, स्फटिक, विद्रुम, मुक्ता, शंख, चाँदी, स्वर्ण इन द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण का मधु और शर्करा मिलाकर अंजन करना। ४. पीने में रोगी के संशमन के लिये पुराने घृत, तिल्वक-घृत या त्रिफला-घृत का प्रयोग करना चाहिए।[1]

अर्जुन—(Phlyctenular Conjunctivitis or Sub conjunctival Echymosis) नेत्र के शुक्ल भाग में शश (खरगोश) के रक्त के समान जो एक विन्दु या दाग हो जाता है उसे अर्जुन कहते हैं। यह एक साध्य रक्तज विकार है।

चिकित्सा—प्राचीन संहिता ग्रंथों में अर्जुन की चिकित्सा में पित्त क्रियाक्रमों के रखने का उपदेश है।[3] ऊखका रस, मधु, चीनी, दूध, रसौंत, मुलैठी और सैंधव प्रभृति द्रव्यों का सेक तथा अम्ल द्रव्यों का आश्च्योतन करना चाहिये। दोष, बल और काल का विचार करते हुए चीनी, मुलैठी, कट्वङ्ग, मस्तु (मट्ठा), मधु, अम्ल, सैंधव, नीबू का रस, छोटी बेर का रस तथा खट्टे अनार के रसों में से किसी एक के द्वारा, या दो-दो, तीन-तीन के संयोग से या सभी मिलाकर अर्जुन की अवस्था में नेत्रों में आश्च्योतन (Drop) करना चाहिये।

अर्जुन की अवस्था में लाभप्रद अंजन—१. शंख, मधु और चीनी को घिस कर २. समुद्रफेन और मिश्री को घिसकर ३. सेंधानमक, निर्मली, मधु का एक में घृष्ठ बनाकर ४. रसाञ्जन (रसौंत) और मधु को घिसकर ५. कासीस और मधु घिसकर अंजन करना हितकर है।

१. एषोऽम्लाख्येऽनुक्रमश्चापि शुक्तौ कार्यः सर्वः स्यात् सिरामोक्षवर्ज्यः। पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा पेयं वा स्यात् केवलं यत्पुराणम्। दोषेऽधस्ताद् शुक्तिकायाम् पास्ते शीतैर्द्रव्यैरञ्जनं चाशु कुर्यात्।

२. एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति।

३. पैत्तं विधिमशेषेण कुर्यादर्जुनशान्तये।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

प्रविचार—बहुत से विद्वानों ने सुश्रुतोक्त अर्जुन रोग की तुलना आधुनिक पाश्चात्य ग्रंथों के आधार पर 'फ्लिक्टेन्यूलर कंजंक्टिवाइटिस' से किया है। यह भोजन में जीवतिक्ति द्रव्य (Vitamin A&D) की न्यूनता से होनेवाला विकार है, जिसमें कृष्ण मण्डल की परिधि (किनारे) पर नेत्रश्लेष्मावरण में एक छोटी पिटिका होती है। वह नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर में नुकीली होती है। एक दो दिनों में उसका शिखर भाग घिस जाता है और वहाँ सूक्ष्म क्षत उपस्थित हो जाता है। दो दिनों के बाद वह पिटिका अदृश्य हो जाती है और उसके स्थान पर कृष्णमण्डल और नेत्रश्लेष्मावरण के संधि-स्थल पर एक क्षत भासता है। उसके पास से रक्तवाहिनियाँ प्रारंभ होकर नेत्रश्लेष्मावरण के बाहर के भाग की ओर फैलती जाती है। इससे त्रिकोणाकार एक लाल दाग हो जाता है। उस त्रिकोण का नोकदार भाग क्षत के पास और चौड़ा भाग बहुधा नेत्रकोण की ओर रहता है। इसकी लाली के अतिरिक्त नेत्रश्लेष्मावरण के अन्य किसी भी भाग में लाली नहीं रहती। अधिकतर यह क्षत एक से अधिक नहीं होते। कदाचित् एकाधिक भी हो सकते हैं उस दशा में कृष्णमण्डल के चारों ओर एक दूसरे से कुछ-कुछ दूरी पर होते हैं।

उपचार—यह चिरकाल तक चलने वाला एक रोग है। कई बार भाग्य से स्वयमेव दूर हो जाता है। अच्छा होकर पुनः पुनः भी होता रहता है। इसकी आधुनिक चिकित्सा में स्निग्ध और पौष्टिक पदार्थ (काडलिवर आयल, हैलिबट आयल, आस्टीलीन, एडोक्सिलीन) का प्रधान माना जाता है। स्थानिक उपचारों में नेत्र को टंकणधावन से प्रक्षालन, रसकपूर (कैलोमल डस्ट या मल्हम) का प्रयोग, पीला मल्हम (Yellow oxide of mercury ointment) का उपयोग हितकर माना है।

अर्जुन रोग की समता एक अन्य आधुनिक विकार के साथ भी की जा सकती है। विशेषतः प्राचीन चिकित्सा के ऊपर विचार करने पर तो यही अधिक सम्मत भासता है कि वह नेत्रश्लेष्मावरणाधः रक्तस्राव

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

(Sub Conjunctival Echymosis) का विकार है। इस रोग की सम्प्राप्ति बहुधा अकस्मात् होती है। इसमें नेत्र गोलक के सफेद भाग में छोटा या बड़ा श्याववर्ण का (कृष्णाभ) रक्त दाग प्रतीत होता है। जब वह दाग उत्पन्न होता है तब विशेष लाल होता है फिर कुछ समय के बाद उसमें कालापन आने लगता है। आठ दिनों तक वैसे रह कर रंग कम होने लगता है—एक पक्ष या बीस दिनों में नेत्र लगभग स्वस्थ हो जाते हैं। दो तीन सप्ताह के भीतर रोग का प्रशमन हो जाता है।

यह रोग अनेक बार प्रायः बिना किसी कारण के होता है। कुकास (Whooping cough) से पीड़ित बच्चों के नेत्रश्लेष्मावरणगत रक्त वाहिनियों के फट जाने से प्रायः इस प्रकार की विकृति देखने को मिलती है-जिससे नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे रक्तस्राव हो जाता है। इसके अतिरिक्त हृदय, वृक्क आदि के विकार तथा मधुमेह, अभिघात प्रभृति कारणों से भी हो जाता है। इस अवस्था के उपचार में किसी विशेष सम्भार की आवश्यकता नहीं पड़ती तथापि रोगी की सान्त्वना के लिये उसे शीतल उपचार की आवश्यकता पड़ती है। जैसे चिकित्सा में सुश्रुत ने इक्षुरस, फलरस, अम्लरस, शर्करा आदि का विधान किया है उसी प्रकार आधुनिक उपक्रमों में शीतल जल, बरफ, गुलाबजल, शर्करा जल (सूगर लेड) का बाह्योपचार तथा आश्च्योतन (Z. A. B. drop) करना चाहिये। पिंग्वीकुला

पिष्टक (Pinguecula)—तण्डुलपिष्ट (पिसे चावल) के समान शुक्ल वर्ण का या जल समान स्वच्छ वर्ण का उठा हुआ वृत्ताकार बिन्दु (दाग) होता है जो नेत्रश्लेष्मावरण में पाया जाता है। यह श्लैष्मिक विकार है एवं साध्य है।[1]

सुश्रुतोक्त पिष्टक रोग की समता बहुत कुछ आधुनिक नेत्र-रोगों के आधार पर अंग्रेजी के पीतविन्दु (Pinguecula) नामक रोग से की जा सकती है। यह रोग कृष्णमण्डल के किनारे पर नेत्रश्लेष्मावरण में होता है। इसमें कुछ मैले रंग की चर्बी के समान पिटिकायें उठी हुई

१. उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

भासती हैं। इसमें नेत्र में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं रहती और दृष्टि को ही हानि पहुँचने का भय रहता है। फलतः इसमें किसी उपचार की भी आवश्यकता नहीं रहती, बहुत बढ़ने पर कर्त्तरी और सन्दंश सहायता से काट देना होता है।

प्राचीन चिकित्साः—इस रोग में श्लेष्माभिष्यन्द सदृश चिकित्सा का रखना चाहिये। कई ऐसे विशिष्ट अंजन हैं, जिनका प्रयोग पिष्टक हितावह है।

महौषधादि अञ्जन—सोंठ, पीपल (छोटी), नागरमोथा, सेंधा नमक मरिच, सहिजन-बीज इन द्रव्यों को समान भाग में लेकर बिजौरे के रस में पीस कर अञ्जन करने से पिष्टक नष्ट हो जाता है।

कण्टकार्यादि अञ्जन—कण्टकारी का फल जब पकावस्था में आ गया उसके बीजों को निकाल कर उसके भीतर में पिप्पली और सौवीरांजन को सम मात्रा में लेकर भर देना चाहिये। एक सप्ताह के बाद उसे पीस कर या घिस कर अंजन करना चाहिये।[1] इसी विधान के अनुसार नारायण के फल के भीतर भी भर कर अंजन का निर्माण किया जाता है इसका उपयोग पिष्टक में लाभप्रद है।

सिराजाल (Scleritis)—बड़ी बड़ी और कठिन सिराओं से रक्त-वर्ण को जाल सदृश (अनुलोम विलोम विस्तृत सिराओं के सञ्चय से उत्पन्न होने के कारण) रचना इस विकृति में बन जाती है जो नेत्र के शुक्ल भाग में दिखलाई पड़ती है। अत एव इसे सिराजाल कहते हैं। यह रक्तज विकार साध्य है।[2]

इस वर्णन के आधार पर आधुनिक दृष्ट्या इस रोग को नेत्रबाह्य-पटलशोथ (Scleritis) कह सकते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में इस रोग के दो प्रकार बतलाये गये हैं—१. उत्तान प्रकार (Episcleritis) तथा २. गम्भीर प्रकार (Deep Scleritis) यह रोग प्रायः

१. फले बृहत्या मगधोद्भवानां निधाय कल्कं फलपाककाले।
स्रोतोजयुक्तं च तदुद्घृतं स्यात्तद्वत्तु पिष्टे।

२. जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ॥

a Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

आमवात, वातरक्त, फिरंग, क्षय और गण्डमाला के उपद्रव रूप में हो... है। इसमें नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे कृष्णाभ रक्त या नीलाभ रक्तवर्ण... हो जाता है। यह दाग कुछ उभड़ा हुआ दीखता है। उस स्थान का श्लेष्मावरण भी लाल हो जाता है। बाह्य पटल और नेत्रश्लेष्मावरण की लाली में भेद रहता है। प्रायः नेत्र से स्राव, चिपचिपा पदार्थ नहीं निकलता, वेदना भी प्रायः नहीं होती या अल्प होती है। चार, पाँच... अधिक सप्ताह तक चलकर फिर शनैः शनैः घटने लगता है। एक... शमन प्राप्त कर पुनः आक्रमण करता है। इस प्रकार महीनों... वर्षों तक इसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। यह रोग प्रायः वर्षों तक रहता है, परन्तु नेत्र को कोई हानि नहीं पहुँचती। इस व्याधि को नेत्रबाह्यपटल का उत्तानशोथ (Epi Scleritis) कहते हैं। संभवतः सुश्रुत ने इसी रोग को सिराजाल नामक रोग से वर्णन किया है। आधुनिक नेत्रग्रंथों में इसका कोई विशेष उपचार नहीं लिखा... कारणानुसार आमवात, वातरक्त और फिरंग आदि की चिकित्सा करनी चाहिये।

चिकित्सा—प्राचीन ग्रन्थों में सिराजाल की चिकित्सा असंवत्... जाती है। वडिश से मोटी मोटी सिराओं को ऊपर उठाकर मण्डलाग्र शस्त्र से उनको काट देना चाहिये।[1] पश्चात् लेखयाञ्जनों से प्रतिसारण करना चाहिये।

सिराज पिडिका(Deep Scleritis)—कृष्ण मण्डल के समीप में... के शुक्ल भाग में श्वेत रङ्ग की पिडकायें निकलती हैं जो सिराओं से आवृत रहती हैं उनकी संज्ञा सिरापिडिका या सिराजपिडिका है।[2]

चिकित्सा—सिराजाल सदृश ही इसकी भी चिकित्सा है। ... औषधसाध्य रोग नहीं वल्कि शस्त्रकर्म (छेदन) से साध्य है। ... मण्डलाग्र शस्त्र से असंवत् छेदन का विधान है। शस्त्रकर्म ...

१. सिराजालैः सिरा यास्तु कठिनास्ताश्च बुद्धिमान् ।
उल्लिखेन्मण्डलाग्रेण बडिशेनावलम्बिताः ॥

२. शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता यास्ता विद्यादसितसमीपजा सिराजाः ।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

दोषानुसार लेखन द्रव्यों से बने चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये ।[1]

कई लोगों ने इस रोग की तुलना आधुनिक दृष्ट्या पिटिकामय (Phlyctenular conjunctivitis) से किया है जो लक्षणों से विचार करने पर तो बिल्कुल संगत प्रतीत होता है; परन्तु चिकित्सा से विचार करते हुए यह असंगत प्रतीत होता है। पिटिकामय क्षत औषधसाध्य व्याधि है और यह (सिराजपिडिका) औषधसाध्य बिल्कुल ही नहीं है—यह शस्त्रकर्म साध्य है—ऐसा स्पष्टतया आचार्य ने लिखा है। अतएव संभवतः यह नेत्रबाह्यपटलशोथ की ही कोई अवस्था विशेष है।

आधुनिक नेत्र-ग्रंथों के आधार पर नेत्रबाह्यपटल के गम्भीर शोथ (Deep scleritis) के बाद की अवस्थाओं में शुक्ल मण्डल के भाग में एकाधिक ग्रंथियाँ दीख पड़ती हैं—जो वर्ण में श्वेत होती है; परन्तु नीचे के मध्य पटल के काले होने की वजह से कुछ श्याम भासती हैं। बहुत बार इन ग्रन्थियों के हेतु ही इस रोग का निदान हो पाता है। इसकी चिकित्सा में शस्त्रकर्म कुछ सार्थक भी है। संभवतः सिराजपिडिका से उसी अवस्था का वर्णन प्राचीनों का है।

बलास—कांस्यकी आभा के समान जल की बूंद तुल्य, बिना पीड़ा के उभारें शुक्ल मण्डल में पाई जाती हैं जिन्हें बलास कहते हैं।[2] यह श्लैष्मिक विकार है और साध्य है। इसको स्पर्श में सुश्रुत ने अमृदु (कठोर) बतलाया है; परन्तु दूसरे आचार्यों तथा पाठान्तरों ने मृदु बतलाया है।[3] यह मृदु पाठ ही ठीक मालूम पड़ता है।

१. सिरासु पिडका यास्ता न सिद्ध्यन्ति हि भेषजैः। अर्मवन्मण्डलाग्रेण तस्य-च्छेदो विधास्यते ।। रोगयोश्चैतयोः कार्यं मर्मोक्तं प्रतिसारणम्। विधिश्चापि यथादोषं लेखनद्रव्यसंभृतः ।।

२. कांस्याभो भवति सितेऽम्बुबिन्दुतुल्यः
स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः। (सु)

३. मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः।
जलबिन्दुरिवोच्छूनो मृदुः कफसमुद्भवः ।। (विदेह)

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

यह विकार भी बाह्यपटल शोथ का ही कोई सौम्य प्रकार मा
है। क्योंकि इसमें शस्त्रकर्म का निषेध है। केवल ओषधि के प्र
से ही ठीक हो जाता है। वर्णित लक्षणों के आधार पर बलास ना
विकार को 'पेरीनाड का अभिष्यन्द' (Perinaud's conjuctiv
कह सकते हैं।[1] इस रोग में नेत्र के श्लेष्मावरण के भीतर लाल
पीले दाने हो जाते हैं। जो श्वेत पटल पर जम जाते हैं, शरीर के
भागों की रसवाहिनी ग्रन्थियाँ भी शोथ युक्त हो जाती हैं। इस
की उत्पत्ति सड़ी वस्तुओं या रोगी पशुओं के स्पर्श से होती है। न
वैद्यक में इसके उपचार का कोई श्रेष्ठ विधान नहीं हैं। सिल्वर ना
तुत्थ प्रभृति लेखन के द्रव्यों से लेखन करना अथवा दानों को का
उनका विद्युद्दहन करना उपाय बतलाया गया है।

प्राचीन चिकित्सा—रोगी को पौष्टिक आहार एवं प्रकाश
स्वच्छ स्थान पर रखता। वमन एवं विरेचन देकर शरीर का शो
करना। निम्नलिखित क्षारांजन का प्रयोग करना भी हितकर होता है।

यवक्षार, सेंधानमक, गोरोचन, वनतुलसी की मंजरी, विष्णुक्रा
बेल, निर्गुण्डी, चमेली का फूल लेकर सूक्ष्म चूर्ण तैयार करे। इस
का १ भाग और बीस भाग गोघृत मिलाकर रख ले। इस अंजन की
तीक्ष्ण एवं क्षणन (Caustic) की होती है। किसी शलाका की सहा
से बलास के ग्रन्थि अंश पर लगाकर पश्चात् नेत्र का परिषेक क
इससे ग्रथित अंश नष्ट हो जाता है एवं व्रण का रोपण हो जाता है।

✓ कृष्णगत रोग

(Diseases of Cornea)

आचार्य सुश्रुत ने नेत्र के कृष्णभाग (Cornea) में होने
चार रोगों का वर्णन किया है—सव्रण शुक्र या शुक्ल, अव्रण शु
शुक्ल, अक्षिपाकात्यय और अजकाजात।[2]

१. सन्तानो भवति सिरावृतः सिते यो
बिन्दुर्वा स तु नीरुजो बलासकाख्यः।

२. यत्सव्रणं शुक्रमथाव्रणं वा पाकात्ययश्चाप्यजकास् तथैव।
चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः कृष्णाश्रयाः संग्रहतः पुरस्तात्॥

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

सव्रण शुक्र—(Corneal ulcer) प्राचीन आचार्यों ने सव्रण को रक्तज और स्वभाव से ही असाध्य रोग माना है। इसमें नेत्र कृष्णभाग (काले भाग Cornea) में गहराई में स्थित, इषत् दृष्ट कठिनाई से दीख पड़ने वाला क्षत या व्रण का सूचीविद्धवत् स्थान जाता है। नेत्र का पूरा भाग रक्ताधिक्य युक्त हो जाता है। तीव्र ना होती है तथा नेत्र से उष्ण आस्राव (आँसू) स्रवित होता है।[१] भाषा में इस रोग को माणा कहते हैं।

अष्टाङ्गहृदयकार ने[२] इस रोग का कुछ अधिक विशद वर्णन किया —इस रोग के लक्षणों में उष्ण अश्रुस्राव, दर्शनाक्षमता, तीव्र वेदना, मण्डल (Conjunctiva) की लालिमा आदि का होना बतलाया । उन्होंने इन लक्षणों से युक्त रोग को 'क्षत शुक्र' की संज्ञा दी है और इसे कष्टसाध्य व्याधि माना है। साध्यासाध्यता का विवेचन करते उन्होंने तीन पटलों के अनुसार 'क्षतशुक्र' का विभाजन किया है। पित्त केवल प्रथम पटल का ही भेदन किये हो तो उपरोक्त 'क्षत के लक्षण पैदा होते हैं। यदि द्वितीय पटल का भेदन कर गया हो तोदादि यंत्रणा अधिकता से होती है और विकार याप्य हो जाता । तृतीय पटल का भेदन करके जो 'क्षत शुक्र' उत्पन्न होता है वह नों से उपचित और असाध्य होता है। संभवतः आचार्य सुश्रुत ने इस तीय पटलाश्रित 'क्षत शुक्र' का ही वर्णन अव्रण शुक्र नाम से किया और असाध्य माना हो। डल्हणाचार्य ने भी सुश्रुत के सव्रण शुक्र के कित्सापरक सूत्रों की टीका करते हुए लिखा है कि उत्तान शुक्र का ां एक पटलगत व्रण और अवगाढ कहने का अर्थ दूसरे या तीसरे

---

१. निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै ।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव रुक् च तत् सव्रणं शुक्लमुदाहरन्ति ॥

२. पित्तं कृष्णेऽथवा दृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत् । छित्त्वा त्वचं जनयति तेन स्यात् कृष्णमण्डलम् ॥ पक्वजम्बुनिभं किंचित् निम्नञ्च क्षतशुक्रकम् । तत्कृच्छ्रसाध्यं साध्यं तु द्वितीयपटलव्यधात् ॥ तत्र तोदादिबाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता । तृतीय-पटलच्छेदादसाध्यं निचितैर्व्रणैः ॥ अ. हृ. उ. १०

Raj Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

पटल तक पहुँची हुई स्थिति का व्रण है। फलतः सुश्रुत ने भी व्रण गहराई के अनुसार दो या तीन अवस्थायें उत्तान और अवगाढ आदि का भेद किया है।

सुश्रुत के अनुसार रोग की साध्यासाध्यता (Prognosis)—अव्रण शुक्र या शुक्ल १. दृष्टि के समीप न हो, २ बहुत गहराई में अवस्थित न हो ३. जिसमें अत्यधिक अश्रुस्राव न हो ४. जिसमें वेदना न हो या अल्प हो, ५. तथा दो शुक्रक्षत स्थान न हों तो चिकित्सा करने से कदाचित् ठीक हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत जो १. तत्स्थानगत धातुओं के विदीर्ण हो जाने से छिन्न या छिद्र युक्त हो गया हो, २. आच्छिन्न मांस सदृश उठे हुए मांस से आवृत हो गया हो, ३. चंचल सिराओं से जो सक्त हो, ४. जो दृष्टि का निरोध करता हो, ५. दो पटलों में जो आश्रित हो, ६. जिसका प्रान्तभाग लाल हो, अथवा ७. जो चिरकालजात हो ऐसे सव्रण शुक्ल की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये। इन लक्षणों के अतिरिक्त जिन सव्रण शुक्रों में—१. उष्ण अश्रु का स्राव बहुत हो रहा हो, २. मूंग को दाल के बराबर की पिडिका युक्त शुक्र हो वह भी असाध्य होता है। अथवा जो क्षत शुक्ल तित्तिर पक्षी की आभा का हो वह भी असाध्य है। ऐसा भी कुछ-कुछ विद्वानों का मत है।[1]

विदेह के अनुसार सव्रण शुक्र का लक्षण डल्हण की निबंध संग्रह नाम की टीका में मिलता है 'लाल वर्ण की राई के समान या मूँग के समान नेत्र के कृष्णभाग में सूच्यग्र के परिमाण का क्षत दिखलाई पड़ता है जिससे उष्ण अश्रु का स्राव होता रहता है। इस व्रण शु

१. दृष्टेः समीपं न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
अवेदनावन्न च युग्मशुक्रं तत्सिद्धिमाप्नोति कदाचिदेव॥
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासक्तमदृष्टिकृच्च।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम्॥
उष्णाश्रुपातः पिडका च कृष्णे यस्मिन् भवेद् मुद्गनिभं च शुक्रम्।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरपक्षतुल्यम्॥ सु.

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

...को सव्रण शुक्र कहते हैं।"[1] जब यह व्रण कृष्णमण्डल के दो पटलों ...आश्रित रहता है तो उष्ण अश्रुस्राव और चोष दाह का होना तथा ...के बराबर शुक्र का होना पाया जाता है।[2]

उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर सव्रण शुक्ल को नवीन वैद्यक के ...धार पर कृष्णमण्डल शोथ (Inflammation of cornea or ke...titis) का एक प्रकार कहा जा सकता है। कृष्णमण्डल शोथ (Ke...titis) के दो प्रकार प्रधानतया बतलाये जाते हैं (१) क्षतरहित ...(२) क्षतसहित (Non ulcerative and ulcerative Kera...tis) इन दो प्रकारों में से सव्रण शुक्र का अंतर्भाव क्षतयुक्त कृष्ण...डल शोथ या कृष्णमण्डल व्रण (Ulcerative keratitis or ...rneal ulcer) नामक रोग में ही होता है। इसका संक्षेप में ...धुनिक ग्रंथों के आधार पर वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत ...ता है।

सव्रण शुक्र या सव्रण शुक्र या क्षत शुक्र या क्षत युक्त कृष्णमण्डल शोथ ...कृष्णमण्डल व्रण (Ulcerative Keratitis or Corneal ulcer)—...धुनिक ग्रंथों में सव्रण शुक्ल के प्रधान (Primary) तथा औपद्र...क (Secondary) दो प्रकार बतलाये गये हैं। इन दोनों प्रकारों के ...न के पूर्व इस रोग का एक सामान्य लक्षण, चिह्न, परीक्षादि का ...न किया जा रहा है।

लक्षण तथा चिह्न—(१) रोगी के नेत्र में वेदना क्षत के अधिक गह...में होने पर असह्य होती है—रोगी को रात में नींद नहीं आती, तथा ...शूल भी असह्य हो जाता है।

(२) नेत्र से अश्रुस्राव—यह स्राव गाढ़ा चिपचिपा नहीं होता ...के जल सदृश ही होता है, कितने रोगियों के नेत्र से इतना अधिक

१. रक्तराजीनिभं कृष्णे विद्रुमाभं प्रलक्ष्यते।
सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम्॥

२. चोषोष्णस्रावदाहस्तु कृष्णे च पिडिकोद्गमः।
व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्रं द्वित्वग्गतं भवेत्॥

Ra Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

स्राव होता है कि रोगी अपने हाथ में रूमाल लिये निरन्तर पोंछता रहता है। नेत्र के खोलने में अतिशय कष्ट होता है। क्षत हेतु दृष्टि में न्यूनता आ जाती है। यदि क्षत बीच में हो तो दृष्टि अधिक हानि पहुंचती है। यदि जलमय रस के पूर्वखण्ड में संगृहीत हुआ हो, तो भी दृष्टि में बहुत बाधा पहुंचती है। यदि तारा मण्डल (Irisand ciliary body) का शोथ हुआ हो और उसके तारक में स्राव हो तो दृष्टि को अतिशय हानि पहुंचती है।

(३) नेत्र में लालिमा—नेत्र में लालिमा अधिक होती है विशेषतः शुक्ल मण्डल के चारों ओर गोलकभाग में विशेष भास है। प्रकृतावस्था में कृष्णमण्डल पारदर्शक होता है, परन्तु व्रण अवस्था में अपारदर्शक हो जाता है या पारदर्शकता की न्यूनता जाती है। जहाँ पर क्षत स्थान होता है वहाँ पर एक छोटा सफेद या गड्ढा पड़ जाता है। गड्ढे का तल मैले रंग या श्वेत आवरण आच्छादित प्रतीत होता है। इस प्रकार के कई स्थान व्रणों की संख्या तुसार बने मिलते हैं। कृष्णमण्डल के व्रणों में अनेक बार उपद्रव से अग्रिमाजलधानी (Ant. Chamber) में पूय संग्रह (Hyp yon) हो जाता है। यह स्थिति इस रोग में प्रायः उत्पन्न होती इससे दृष्टि का निरोध होता है। यह पूयस्राव यथार्थ नहीं है, कि क्षत के कारण कीटाणुओं से जो विष उत्पन्न होता है उसके प्रभाव तारामण्डल और तन्तुमय समूह के धमनियों का स्राव होता है। द्रव प्रायः क्षत भरने पर शोषित होकर अदृश्य हो जाता है। किन्तु सर्वदा नहीं होता। जब कई बार तारामण्डल में अवस्थित तारक (Margin of the pupil) दृष्टि मणि (Lens) के आव (Capsule) के साथ चिपक जाती है तब इस प्रकार की हानि अ पहुंचती है।

यदि व्रण (Ulcer) का प्रकार सौम्य रहा तो नेत्रगत पी लालिमा और स्राव कम होते हुए क्रमशः क्षत का रोपण हो जाता है जिस स्थान पर क्षत हुआ रहता है, वहाँ पर रोपण के बाद व्रण बन जाने से कृष्ण मण्डल का भाग अपारदर्शक हो जाता है।

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

अवस्था विशेष का वर्णन प्राचीनों ने अव्रण शुक्र (Corneal opacity) नाम से किया है। यह शुक्र गम्भीर और उत्तान (Deap and superficial) भेद से दो प्रकार का होता है। यदि क्षत गहरा रहा तो अपारदर्शकता (फूली) गहरी पड़ती है और यदि उत्तान व्रण रहा हो तो अपारदर्शकता भी गहरी नहीं होती।

यदि व्रण के रोपण होने के बदले व्रण स्थान अधिकाधिक गहरा होता जाय तो कृष्णमण्डल का व्रण फूट जाता है और वह सछिद्र हो जाता है। यदि छिद्र छोटा हुआ तो उसमें से तारामण्डल (Iris) का कुछ भाग बाहर निकल आता है और काले बिन्दु जैसा प्रतीत होता है। इसी उपद्रव का वर्णन संभवतः सुश्रुत ने असाध्यावस्था सूचक शुक्र लक्षणों में 'मुद्गनिभं च शुक्रं', 'विच्छिन्नमध्यं', 'पिशतावृत' आदि शब्दों से किया है। इस प्रकार कृष्णमण्डल के छिद्र से निकला हुआ तारामण्डल आजीवन उससे चिपका हुआ रह जाता है। इस हेतु तारक (Pupil) का आकार अनियमित सा हो जाता है उसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। कई बार तारक (Pupil) इतना खिंच जाता है कि वह बन्द हो जाता है। इस अवस्था को तारामण्डल के अग्र भाग की संलग्नता (Anterior Synechia) कहते हैं।

यदि व्रण और अधिक गहरा हुआ और कृष्णमण्डल का छिद्र बहुत बड़ा हुआ अर्थात् कृष्णमण्डल के अधिक भाग का ध्वंस हो गया तो कृष्णमण्डल के अग्र भाग का बहिर्निःसरण (Anterior Staphyloma) हो जाता है। यह स्थिति बहुत से रोगियों के आँख में प्रतीत होती है। इसी अवस्था को प्राचीनों ने 'अजकाजात' की संज्ञा की है और इसकी उपमा बकरी के पुरीष (मींगी) से दी है। अजा पुरीष के समान एक प्रवर्द्धन कृष्णमण्डल से निकला रहता है।

यदि व्रण के कारणभूत 'न्यूमोकोकाई', रोहिणी या पूयमेह के दुष्ट कीटाणु रहें तो ये कीटाणु पूरे नेत्रगोलक को पूयमय बना देते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

और पूयमय शोथ या 'सशोफ अक्षिपाक' (Panopthalmitis) की अवस्था आ जाती है। इसके परिणामस्वरूप नेत्रगोलक स्वयं बड़ी विद्रधि का रूप ले लेता है और इस स्थिति में रोगी को से बीस दिनों तक असह्य वेदना रहती है। संभवतः सुश्रुताचार्य इसी अवस्था का वर्णन 'अक्षिपाकात्यय' संज्ञा से किया है। पुनः गोलक की विद्रधि फूट जाती और पूय निकल जाती है। पूरे नेत्र गोलक गल जाने से नेत्र में गढ़ा या कुआँ या गर्त बन जाता है जो अंग्रेजी 'थाइसिस बल्बाई' (Thisis bulbi) कहा जाता है। इसी अवस्था विशेष की प्राचीन संज्ञा 'अक्षिशोष' है।

कारण—यदि किसी कारण से कृष्णमण्डल खुरच जाय तो उस छिद्र के जरिये विविध रोगों के जीवाणु प्रविष्ट होकर रोग का उपद्रव पैदा कर देते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति को अश्रुाशयशोथ हो तो उस स्थान में पूयजनक गोल कीटाणु या न्यूमोकाई से पूर्ण स्राव संगृहीत होता रहता है। जब तक कृष्णमण्डल की बाह्य त्वचा अविकृत रहती है तबतक कोई हानि नहीं पहुँचती, परन्तु यदि उसमें खुरच का निशान हो तो उस छिद्र से पहुँचकर ये कीटाणु अपना कार्य करते और शोथ का आरम्भ कर देते हैं और कृष्णमण्डल में व्रण हो जाता है। पोथकी, विभिन्न प्रकार के नेत्र के श्लेष्मावरण शोथ (अभिष्यन्द) में कृष्णममण्डल के व्रण (सव्रण शुक्र) होना एक आम घटना है। इस प्रकार के जीवाणुओं में यावतीय पूयजनक जीवाणु, पूयमेह, रोहिणी का दण्डाणु, 'मोराक्सएक्सनफील्ड' दण्डाणु प्रधानतया रोगोत्पादक हैं। कई बार कृष्णमण्डल की संरक्षक शक्ति का अभाव भी रोगोत्पादन में सहायक होता है। विशेषतः वृद्धावस्था में जब कृष्णमण्डल का पोषण पर्याप्त नहीं हो पाता तो वहाँ की रोगप्रतिरोधक क्षमता क्षीण हो जाती है जिससे साधारण उपसर्ग पर कृष्णमण्डल को व्रणित करने में समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि वृद्धावस्था में कृष्णमण्डल कोथ (केरैटोमैलेशिया) हो जाता है जिसमें पूरा कृष्णमण्डल गलने लगता है। यह पोषणाभाव का ही द्योतक है। प्राचीन वैद्यकीय परिभाषा में

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

गत आलोचक पित्त का अभाव कहा जा सकता है और चिकित्सा चक्षुष्य द्रव्यों के प्रयोग का महत्त्व पाया जाता है। कई बार सव्रण की उत्पत्ति दाँत और गले के उपसर्ग से भी हो जाती है।

सव्रण शुक्र के *विपरिणाम या साध्यासाध्यता*—कृष्णमण्डल के व्रण अवस्थान, गहराई, मोटाई, जाति, काल-प्रकर्ष, रोगी का साधारण स्वास्थ्य प्रभृति बातों के ऊपर परिणाम तथा साध्यासाध्य का विवेक र करता है। यदि व्रण कृष्णमण्डल की परिधि के भाग में है रोपण के अनन्तर दृष्टि शक्ति को बाधा नहीं पहुँचती। वे ही व्रण कितने भी सूक्ष्म क्यों न हों यदि मण्डल के मध्य में हुए, तो के रोपण होने पर व्रण वस्तु पैदा होती है और अपारदर्शकता व्रण शुक्रता या opacity) पैदा होती है तथा दृष्टि शक्ति को स्वयमेव हानि पहुँचती है। यदि व्रण गहरे हुए तो अपारदर्शकता व्रण शुक्रता) गाढ़ी होगी और दृष्टि शक्ति को हानि अधिक पहुँचेगी आजीवन बनी रहेगी। यदि व्रण उत्तान (Superficial) और हुए तो ओषधि चिकित्सा से उनका दूर होना संभव है। यदि स्थिर रहने वाला और बढ़ने वाला नहीं हुआ तो कृष्णमण्डल को क हानि नहीं पहुँचाता। किन्तु वही व्रण यदि कृष्णमण्डल के मध्य की ओर बढ़ता जाय तो अन्त में रोगी की दृष्टि को विशेष हानि ा देता है। व्रण का रोपण जितना ही शीघ्र होगा, दृष्टि को हानि ी ही कम होगी और जितना ही लम्बा समय लगा होगा दृष्टि उतनी ही अधिक हानि पहुँचेगी।

यदि व्रण के कारण कृष्णमण्डल छिद्रयुक्त हो जाय, उसमें तारा-मण्डल (Iris) का पर्दा बाहर निकल आवे और उस छिद्र में पहुँच तो दृष्टि को अधिक हानि पहुँचती है। यदि कृष्णमण्डल का ध्वंस हो गया हो और उत्पन्न छिद्र से यदि दृष्टि, काचरस आदि र निकल आवें तो नेत्र बिल्कुल नष्ट हो जाता है और आँख जाती है।

यदि व्रण के हेतु कृष्णमण्डल का ध्वंस होकर गोलक का बहिर्नि-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gr

गमन हो जाय तो दृष्टि को अति हानि पहुँचती है। यदि व्रण ग
हो जाय और उसका पूय तारामण्डल तन्तु समूह (Ciliary bod
आदि में पहुँचते हुए पूरे नेत्र गोलक में पूय उत्पन्न करे तो नेत्र
हो जाता है। कई दुर्बल और वृद्ध रोगियों में यदि और अधिक गह
तक पहुँचकर मस्तिष्क पर्यन्त उपसर्ग पहुँच जाय तो रोगी का जी
भी खतरे में पड़ जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि इस रोग के सा
साध्य का पूर्वकथन नेत्रवैद्य को बहुत विचार कर करना चाहिये अन्य
अयश का भय रहता है। इन्हीं कारणों से आचार्य ने इसको एक
साध्य या असाध्य व्याधि कहकर पहले से ही घोषित करने की स
दी है और चिकित्सा से सफलता प्राप्त करने को 'कदाचिद्' दैव
से सफलता मिलना बताया है।

सव्रण शुक्र निदान साधन—सव्रण शुक्र की परीक्षा के लिये आ
कल एक बड़ा उत्तम साधन है। रोगी के नेत्र में 'फ्लुओसीन'
कुछ बूंदें छोड़ दी जाती हैं। दो मिनट के बाद टंकण धावन (B
wash) से नेत्र का प्रक्षालन किया जाता है। ऐसा करने पर जो
नीरोग रहता है, उस पर रंग नहीं चढ़ता, परन्तु व्रण या क्षत यु
स्थान पीला या नीला हो जाता है। यदि क्षत का स्थान बड़ा है
परीक्षक को आँखों से दिखाई पड़ेगा। यदि सूक्ष्म है तो उस स्
को बृहत् दर्शाने वाले यन्त्र की सहायक से रोगी को प्रकाश में
कर देखना चाहिये। कृष्णमण्डल का व्रण युक्त स्थान प
जैसा दीखता है।

यदि कृष्णमण्डल का व्रण पूयजनक कीटाणुओं से उत्पन्न हु
तो उपद्रव के रूप में अग्रिमा जलधानी में पूयसंग्रह (Hypopy
हो जाता है। यदि रोगी को बैठा कर सामने से देखा जाय तो कृ
मण्डल की परिधि का भाग श्वेताभ दीखता है। वह भाग परिधि
ओर गोल तथा ऊपर की ओर सीधी रेखा में दिखाई पड़ता है। य
रोगी को लेटाकर उसका सिर पीठ की ओर झुका कर देखें तो गुरु

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

के अनुसार सफेदी अदृश्य हो जाती है, एवं तारामण्डल का ऊपर से आच्छादित हो जाता है। अग्रिमा जलधानी का पूय-(Hypopyon) निर्जन्तुक होता है अतः उसके निर्हरण की आवश्यकता नहीं रहती। उसका अपने आप शोषण हो जाता है क्योंकि केवल तारामण्डल और तन्तु समूह की रक्तवाहिनियों से स्रवित होनेवाला स्राव होता है।

सव्रण शुक्र की चिकित्सा—(१) नेत्र प्रक्षालन—इसके लिये नेत्र दिन में एक दो बार टंकण धावन (१ औंस जल में ५ ग्रेन), लवण धावन (Saline Solution) या 'एक्रीफ्लैविन' के हल्के प्रवाही से प्रक्षालन करना चाहिये।

(२) स्वेदन—दिन में तीन-चार बार पन्द्रह-पन्द्रह मिनट का आर्द्र स्वेदन हितकर है।

(३) पट्ट (Bandage)—घर्षण से नेत्रों की रक्षा करने, रोपण में सहायता लाने तथा नेत्र को पूर्ण विश्राम देने के लिये पट्टी बाँधना आवश्यक होता है। इससे प्रकाशासहिष्णुता भी कम हो जाती है।

(४) तारकप्रसारक योग—'एट्रोपीन' निश्च्योतन—यदि अग्रिमा जलधानी में पूयास्राव का संग्रह प्रतीत हो तो उस नेत्र में 'एट्रोपीन' का उपयोग पूरे परिमाण में करने पर स्राव का शोषण हो जाता है। 'एट्रोपीन' का प्रवाह १% का बना होना चाहिये। दिन में दो-तीन बार डालने से तारक (Pupil) ठीक प्रसारित हो जाती है और फैली रहती है। प्रारम्भ में इसे दो-तीन बार डालना चाहिये। एक बार पुतली के प्रसारित हो जाने पर उस स्थिति को कायम रखने के लिये दिन में एक बार भी डालने से काम चल सकता है।

(५) तारक संकोचक योग—प्रसारक योगों का निषेध—यदि व्रण परिधि में बढ़ गया हो और कृष्णमण्डल के फटने का भय हो तो नेत्र में 'एट्रोपीन' नहीं छोड़ना चाहिये। अथवा 'एट्रोपीन' का प्रयोग चल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-G

रहा हो और भीतर का दबाव बढ़ता हुआ मालूम हो तो 'एट्रोपि... बन्द कर देना चाहिये, तथा कनीनिका संकोचक औषध-'इसे... 'पिलोकापाईन' आदि की बूंदें डालना चाहिये। यदि व्रण परि... (कृष्ण मण्डल) के भाग में हो और क्षत अधिक गहरा हो... हो तो कनीनिका संकोचक ओषधियों का प्रयोग लाभप्रद पा... जाता है।

(६) जीवाणु उत्पत्तिरोधक (Antiseptics)—आयडो... जीरोफार्म, एरिस्टोल, कैलोमल आदि ओषधियों के चूर्ण, आर्जि... (५ से १० प्रतिशत), कोलार्गल (२ प्रतिशत), मर्क्यूरोक्रोम (२ प्र... शत), पेनिसिलीन की बूंदें, नेवीफार्म का मलहम, शुल्वारि समुदाय... ओषधियों के मलहर, लोक्यूला, इरगाफेन, सिबैजाल, पेनिसिलीन... मलहम प्रभृति योगों का उपयोग होता है। यदि व्रण 'मोरेक्स एक्स... फील्ड' के कीटाणुओं से उत्पन्न हुआ हो तो यशद लवण के प्र... (जिंकसल्फेट ½-१ ग्रेन एक औंस जल में बना हुआ) की बूंदें डाल... रहना चाहिये। आजकल 'कार्टिसोन' या बृहत्तर क्षेत्र के एण्टीबायो... स्थानिक प्रयोग में अधिक लाभप्रद मिल रहे हैं।

(७) क्षार तथा अग्निकर्म (Application of Caustics a... Cauterization)—इसके लिये टिंक्चर आयोडीन, एसिड कार्बो... एबसोल्युट एलकोहल, ताजा क्लोरिन जल, सैलिसिलिक एसिड... दस प्रतिशत का घोल, मेटाफेन (१: ३०००), फार्मेल्डी हायड (१०... प्रभृति ओषधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

(८) नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे अन्तःक्षेपण (Sub conjuncti... Injection)—इस कार्य में २% का लवण विलयन या सायनाइ... आफ मर्करी का उपयोग होता है। लवणविलयन का भरण एक... उपाय है। इससे व्रणित स्थान के पोषण के अभाव की पूर्ति हो... रोपण शीघ्र होता है। ठीक इसी प्रकार का कार्य 'डायोनीन' के... आश्च्योतन का भी है। 'डायोनीन' १०% की शक्ति आश्च्योतन... (Drop) के रूप में प्रयुक्त होता है। दिन में दो बार डालने...

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

वश्यकता होती है—'डायोनीन' में रोपण क्रिया के अतिरिक्त वेदना-शामक गुण भी है। इसका मलहम के रूप में भी व्यवहार किया जा सकता है।

(९) शस्त्रकर्मजनित प्रतिबन्ध (Surgical Interference)—यदि उपर्युक्त सभी उपचारों के करने पर भी सफलता न मिले और रोग बढ़ता ही जाय तो अन्तिम उपाय शस्त्रकर्म करना चाहिये। इनमें ग्रीमा जलधानी से उसका वेध करके सजल द्रव (Apous Humour) को निकालने की प्रक्रिया की जाती है।

(१०) शारीरिक उपचार—ऊपर बतलाया जा चुका है कि पूयमेह, फिरंगनक, मस्तिष्कावरण शोथ, रोहिणी प्रभृति रोगों के उपद्रव रूप में सव्रण शुक्र हो सकता है अतएव कारणभूत इन रोगों को दूर करने के लिये इनके सार्वदैहिक उपचारों को विशेष करना चाहिये। साथ ही 'सल्फाडायजीन' की गोलियों का प्रयोग भी क्षत शुक्र में लाभ करता है। पेनीसीलिन या अन्य एण्टीबायोटिक्स का अंत:प्रयोग भी उत्तम रहता है।

अव्रण शुक्र या शुक्ल (Opacities of cornea)—अभिष्यन्द के परिणामस्वरूप नेत्र के कृष्ण भाग में जो सफेदी आ जाती है उसको अव्रण शुक्र कहते हैं। इसमें पीडा या अश्रुस्राव नहीं होता। इसकी सफेदी की आभा स्वच्छ पतले बादल से घिरे आकाश की तरह होती है। यह एक साध्य रक्तज विकार है। परन्तु जो शुक्र या सफेदी बहुत गहराई में स्थित हो अर्थात् दो पटलों तक आश्रित हो अथवा मोटी हो अथवा चिरकालिक हो वह कृच्छ्रसाध्य होता है।[१]

इस रोग को लोकभाषा में फूला या फूली कहते हैं। सव्रण शुक्र के पाठ में इसकी सम्प्राप्ति का वर्णन हो चुका है। इसकी उत्पत्ति कृष्ण

१. सितं यदाभात्यसितप्रदेशे स्यन्दात्मकं नातिरुगश्रुयुक्तम्।
विहायसीवाच्छघनानुकारी तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति।
गम्भीरजातं बहलं च शुक्रं चिरोत्थितञ्चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

मण्डलगत व्रण के रोपण के परिणामस्वरूप होती है। किसी भी प्रकार का कृष्णगत व्रण यदि ऊपर के पर्त से अधिक गहराई पर पहुँचा हो तो वह न्यूनाधिक अंश में कृष्ण मण्डल की अपारदर्शकता पैदा करता है। क्योंकि क्षत के रोपण के बाद वहां पर जब नया व्रणवस्तु (Scar) बनता है तब वह प्राकृतिक कृष्णमण्डल के समान पारदर्शक नहीं होता। अतः कृष्णमण्डल का प्रत्येक व्रण छोटे या बड़े फूले को जन्म देता है। ऐसे फूले कृष्ण मण्डल पर परिधि या मध्य के भाग में एक या अधिक तथा छोटे या बड़े हो सकते हैं। आधुनिक मतानुसार इनके तीन प्रकार बतलाये जाते हैं—१. अच्छघनानुकारी या अभ्रशुक्र (नेबुला), २. चिरोत्थित और गम्भीर या दृष्ट (मैक्यूला) और ३. सम्पूर्ण कृष्ण गत या बहल शुक्र (ल्यूकोमा)। ये तीनों ही अव्रण शुक्र की अवस्थायें हैं।

शुक्र की प्राचीन चिकित्सा—शुक्र की चिकित्सा में चाहे वह सव्रण हो या अव्रण, लेखन कर्म प्रधान है। अन्तर केवल इतना ही है कि सव्रण शुक्र सन्तर्पण साध्य और अव्रण शुक्र अपतर्पण साध्य है। अव्रण शुक्र में प्रारम्भ से ही लेखन की क्रिया की जाती है; परन्तु सव्रण अवस्था में यदि उसमें कर्कशता हो तो प्रथम लेखन करके पश्चात् सन्तर्पण किया जाता है। अव्रण शुक्र की चिकित्सा में केवल लेखन की क्रिया करनी चाहिये। इसके लिए कई विशेष योग सुश्रुत ने दिये हैं।

[1]*लेख्याञ्जन*—सुवर्ण, पित्तल, सीसा, ताम्र, चाँदी, कृष्णायस

१. लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च।
रत्नानि दन्ताः शृङ्गाश्च गणश्चाप्यवसादनः।
कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम्।
करञ्जबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम्।
पुटपाकावसानेन रक्तविस्रावणादिना।
सम्पादितस्य विधिना कृत्स्नेन स्यन्दघातिना।
अनेनापहरेच्छुक्रमव्रणं कुशलो भिषक्। सु. उ. १२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

...ला लोहा) इनके सूक्ष्मरज, मनःशिला गैरिक प्रभृति सभी धातुओं ...र्ण, वैदूर्य मरकत प्रभृति यावतीय रत्नों के चूर्ण, गाय, बैल आदि ...ींग का चूर्ण–इन के योग से बना अञ्जन।

२. मुर्गी के अंडे की सफेदी (छिल्का) लशुन, त्रिकटु, करञ्जबीज, ...ची इनके योग से बने अञ्जन का प्रयोग।

नेत्र में लेखन की क्रिया करने के पूर्व दोषानुसार प्रदेह, परिषेक, ... धूम, आश्च्योतन, अभ्यञ्जन, तर्पण और पुटपाक कर लेना ...ये इन क्रियाओं के द्वारा नेत्रगत दोषों के बहिःपरिमार्जन (External Purging) होता है। साथ ही सिरावेध, शिराविरेचन और ...न के द्वारा रोगी के शरीर का अन्तःपरिमार्जन (Internal ...ging) कर लेना चाहिये। उसके बाद लेखनकर्म करना ...ये। ये सभी विधान अभिष्यन्द (Conjunctivitis) के हरने ...हैं और शुक्र की अवस्था अभिष्यन्द के परिणाम स्वरूप ही आती ... अतएव मूल कारण को दूर करने के विचार से ही लेख्याञ्जन के ...न अभिष्यन्द विधानों की विधि वर्णित की गयी है।[1]

...सव्रण शुक्र चाहे उत्तान (Superficial) हो या अवगाढ़ (Deep) ...यदि वह कर्कश हुआ तो उसको शिरीषबीज, मरिच, पिप्पली, ...व के मिश्रित चूर्ण से अथवा केवल सैन्धव से घर्षण करना ...ये।[2] इन (Itritants and counter irritants) द्रव्यों के ...से कार्य लगभग उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार कि आधुनिक ...के लवण विलयन का श्लेष्मावरण के अधःप्रदेश में सूची के द्वारा ...क्षेपण का। कृष्ण मण्डलगत रक्तसंचार बढ़ेगा, उसका अधिकाधिक ...होकर व्रण के रोपण में शीघ्रता आयेगी।

---

१. ततः प्रदेहान् परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव ।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि तथैव कार्याः पुटपाकयोगाः (डल्हण)

२. उत्तानमवगाढं वा कर्कशं वापि सव्रणम् । शिरीषबीजमरिचपिप्पलीसैन्धवैरपि ।
शुक्रस्य घर्षणं कार्यमथवा सैन्धवैरपि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ताम्रादि चूर्णाञ्जन—ताम्र के सूक्ष्म कण १६ भाग, शंख ८ भाग, मैनशिल ४ भाग, मरिच २ भाग, सेंधा नमक १ भाग से बना अञ्जन शुक्र नाशक है। इस चूर्ण को महीन बनाकर शुक्र का घर्षण करना चाहिये।

शंखाद्यञ्जन—शंख, बेर की गुठली, निर्मली, द्राक्षा (मुनक्का), मुलैठी और सुवर्णमाक्षिक से निर्मित।

क्षौद्राद्यञ्जन—मधु, समुद्रफेन, शिरीष के फूल और गोदन्त (गाय के दांत) से निर्मित।

क्षाराञ्जन—श्लेष्माभिष्यन्दोक्त क्षाराञ्जन का प्रयोग भी शुक्र में हितकर है।

तर्पण योग—शंख, शुक्ति, मुलैठी, द्राक्षा, निर्मली और मधु का अञ्जन गहरे सव्रण शुक्ल में हितकर होता है और वातघ्न होता है और नेत्र का संतर्पण करता है।

मुद्गाद्यञ्जन—मूंग को भूनकर उसके छिल्के को पृथक् कर उसमें शंखचूर्ण, चीनी और मधु मिलाकर अञ्जन करना अथवा मधूकसार का मधु मिलाकर अंजन करना अथवा बहेड़े के बीज के भीतर की मज्जा (मींगी) का मधु के साथ मिलाकर अञ्जन करना शुक्र को नष्ट करता है।

वंशजाद्यञ्जन[1]—बाँस का कोंपल, अरुष्कर (भिलावा), ताल, नारिकेल, करभास्थि (ऊँट की हड्डी) इन द्रव्यों को तिलनाल की अग्नि में जलाकर उसकी राख बनाकर उसको षड्गुण या अष्टगुण जल में डालकर क्वाथ बनावे और चतुर्थांशावशिष्ट क्वाथ को रखे। फिर इस जल का बहुत बार विस्रावण करे (नितारे)। फिर इस जल से कर

---

१. वंशजारुष्करौ तालं नारिकेलं च दाहयेत्।
विस्राव्य क्षारवच्चूर्णं भावयेत्करभास्थिजम्।
बहुशोऽञ्जनमेतत्स्यात्, शुक्रवैवर्ण्यनाशनम्। (सु० उ० १२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

स्थि (ऊँट की हड्डी) को सात बार भावना दें और धूप में सुखावे
इस चूर्ण को महीन करके अञ्जन के लिये रख ले। आवश्यकता-
र इसमें मधु मिलाकर अंगुलि से या शलाका से इस अञ्जन को
कर शुक्र के ऊपर घर्षण करे। पश्चात् त्रिफला के जल से प्रक्षालन
। इस अञ्जन का प्रयोग, शुक्र की विवर्णता को दूर करने के लिये
ता है अर्थात् इसके द्वारा शुक्र की सफेदी दूर हो जाती है तथा
का वर्ण काला पड़ जाता है।

विविध आयुर्वेद ग्रन्थों से संगृहीत कुछ योग—(योगरत्नाकर के संग्रह
उद्धृत)

व्रण शुक्र में—षडङ्ग, गुग्गुलु, जलौका के द्वारा शिर और नेत्र से
निर्हरण, तथा सैंधव और निशोथ से पकाये घृत का पान कराके
निर्हरण करना।

यष्ट्याह्वाश्च्योतन—मुलैठी, रसौंत, कमल, लाक्षा, पुनरिया काठ
पौण्डरीक), खस, सुगन्धबाला इन द्रव्यों का क्वाथ बनाकर स्त्री के
में मिलाकर आश्च्योतन; व्रण शुक्र में कार्यकर है।

लामज्जकाद्यञ्जन—लामज्जक, नीलकमल, चीना, सारिवा, सफेद और
चन्दन का एक-एक कर्ष और सारिवा का एक प्रस्थ लेकर क्वाथ
वे। जब वह क्वाथ गाढ़ा होकर पात्र में चिपकने लगे तब उतार ले
उसे लौह या पत्थर के बर्त्तन में रख दे। प्रातः सायं उसका अञ्जन
। अथवा केवल श्यामामूल (निशोथ की जड़) के क्वाथ का अञ्जन
मिलाकर करने से व्रण शुक्र में हितकर होता है।

चन्दनादिवर्ति—चन्दन, गैरिक, लाक्षा, मालती पुष्प की कली
लिका) से बनी वर्ति का अञ्जन सव्रण शुक्र में लाभप्रद होता है।

महानीलावर्त्ति—कटेरी की जड़, ताम्रभस्म, सेंधानमक सोंठ,
ला को सम मात्रा में लेकर ताम्रपत्र पर घिसकर घिसार इकट्ठा
ले। फिर इसका ताम्रपत्र पर एक मोटा लेप कर ले। फिर जौ,
की पत्ती और घृत एकत्र कर के जलावे। उस धुवें का काजल
पात्र पर संग्रह करले फिर इसको शहद में मिलाकर संग्रह कर ले।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नेत्र के फूले में इसके अञ्जन से लाभ होता है अञ्जन के पश्चात् हल्दी, मुलैठी, सारिवा या लोध्र के काढ़े से नेत्र का प्रक्षालन करे।

दंताञ्जन—गाय गदहा और ऊँट के दाँत, शंख एवं समुद्रफेन का महीन चूर्ण करके बनाया अञ्जन भी अव्रण शुक्र में लाभप्रद रहता है।

सुवर्णमाक्षिकाञ्जन—सुवर्णमाक्षिक को मधु में घिस कर नेत्रों में लगाने से अव्रण शुक्र नष्ट होता है।[1]

आँवले का फल, निम्ब, कैंथ का पत्ता, मुलैठी, खदिर, तिल, लोध्र का शीतल किया क्वाथ शुक्र में हितकर है।

अव्रण शुक्र या पुष्प या फूले में सेक—चमेली की पत्ती, मुलैठी, घी में भूनकर ठंडे जल में बुझाकर उससे प्रक्षालन करना।

वर्त्तयः—करंजबीज चूर्ण को पलाशपुष्प के रस में अनेक बार की भावित वर्ति का अञ्जन। वैदेहवर्ति—रसौंत, शैलेय, कुंकुम, मैनशिल, शंख, सफेद मिर्च, चीनी इन सात द्रव्यों से निर्मित वर्ति का अञ्जन। कर्पूराञ्जन—श्रेष्ठ कर्पूर के चूर्ण को बट के दूध में पीसकर अञ्जन करने से दो महीने तक के आंखों के फूले दूर हो जाते हैं।

अंतःप्रयोज्य (*शुक्र या पुष्प में प्रयुक्त*) *ओषधियाँ*—१. लौहादिगुग्गुलुः—त्रिफला, मुलैठी, पिप्पली, लौह और गुग्गुलु से बने योग का घृत और मधु से सेवन करना। पटोलादि घृत—पटोल, कुटकी, रसौंत, निम्ब, वासा, त्रिफला, दुरालभा, पित्तपापड़ा, गायत्री, प्रत्येक का एक एक पल; आँवला एक प्रस्थ, इनका क्वाथ बनावे, चतुर्थांशावशिष्ट जल से पुनः घृत सिद्ध करे। इसमें कल्क रूप में चिरायता, कुटज, मोथा, मुलैठी, चन्दन, और पिप्पली डाले। इसका अंतःप्रयोग शुक्र रोग में हितकर है।

नस्य—कृष्णाद्यतैल—पिप्पली, विडङ्ग, मुलैठी, सैंधव, सोंठ का कल्क, बकरी का दूध डालकर सिद्ध किये तैल का नस्य या नेत्र में स्थानिक प्रयोग शुक्र तथा अक्षिपाकात्यय में हितकर है।

१. श्यामेऽश्यामे प्रियश्यामे श्यामाबोधितमानसे।
शुक्रं शमयति क्षिप्रं माक्षिकं माक्षिकान्वितम्॥ (वै. जी.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

अव्रण शुक्र की आधुनिक चिकित्सा
(Treatment of Corneal opacity)

भेषज (Medical treatment)

निम्नलिखित योगों के अञ्जन सफेदी या फूले में करे।

पीला मलहम (Yellow oxide of mucoury ointment) (शक्ति १ औंस लेनोलीन में १०–२० ग्रेन द्रव्य)

डायोनीनमल्हम (शक्ति १ औंस में २० से २५ ग्रेन डायोनीन)।

निम्नलिखित आश्च्योतन व्यवहार में आते हैं।

डायोनीन आश्च्योतन (Drop)(शक्ति-१ औंस परिस्रुत जल में २५-५० ग्रेनद्रव्य)

शुक्रघ्नाश्च्योतन[1]

प्रवाही नं० १

नवसादर	७॥ ग्रेन
यशदपुष्प (Zincsulphate)	१९ ग्रेन
परिस्रुतजल	६ औंस

प्रवाही नं० २

कपूर	६ ग्रेन
केसर	१॥ ग्रेन
रेक्टीफाइडस्प्रिट	२॥ ड्राम
परिस्रुत जल	२॥ ड्राम

दोनों प्रवाहियों को मिलाकर एक कांच की डाट वाली बोतल में चौबीस घंटे तक

शस्त्र (Surgical treatment)

१. सूची वेध के द्वारा नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे औषधियों के अंतःक्षेपण (Sub-conjuctival Injections)

२. विद्युद्दहन–कितने नेत्र वैद्यों ने विद्युत्प्रयोग से फूले में लाभ पाया है।

३. कृत्रिम तारक निर्माण–बहुत से नेत्र वैद्य यदि फूला गाढ़ा है और कृष्णमण्डल के मध्य में है–परिधि का भाग साफ है तो तारामण्डल का वेध करके कृत्रिम तारक (Pupil) बनाने की चिकित्सा करते हैं। उससे अनेक बार बहुत लाभ होता है।

४. वैवर्ण्यनाशन या रंजन–अनेक बार फूले[2] की अवस्था में नेत्र कुरूप भासते हैं। इतना ही नहीं कृष्णमण्डल में बनाई कृत्रिम तारक से जैसी चाहिये वैसी दृष्टि नहीं आती। कारण कि, प्रकाश के अधिक किरण कृत्रिम तारक में से निकलते हैं और कुछ फूली में से भी निकलते हैं और इनका वक्रीभवन या परावर्त्तन अलग-अलग होता है। इस विकृत परावर्त्तन और कुरूपता दोनों दोषों के निराकरणार्थ फूले के रंजन

१. शुक्रघ्न आश्च्योतनों का संग्रह स्वर्गीय डा. यादवजी हंसराजवैद्य की नेत्ररोग-ज्ञान नामक पुस्तक से लिया गया है।
२. कुर्याद् बीभत्सतां जेतुं शुक्रोत्सेधनाशनम्। (वा. उ. ११)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भेषज (Medical treatment)	शस्त्र (Surgical treatment)
रखे। दिन में चार छः बार हिला दिया करे फिर फिल्टर पेपर से छानकर शीशी में रख ले। दिन में २-२ बूंद—एक दो बार डालता रहे।	या रंग चढ़ाने की आवश्यकता होती है। इसकी कई पद्धतियाँ हैं। इस क्रिया को अंग्रेजी में टेटुइंग (गोदना) कहते हैं। इसके लिये गोल्डक्लोराइड, प्लैटिनम् क्लोराइड, टैनिक एसिड, हाइड्रेज़िन हाइड्राथ प्रभृति रंजकों का उपयोग होता है।
५. अहिफेनादि आश्च्योतन— केसर—५० ग्रेन अहिफेन— ,, स्प्रिटमिश्रित दालचीनी का जल १ औंस रेक्टीफाइड स्प्रिट २५ बूंद	५. कृष्णमण्डलसंधान—खरगोश या सद्यो-मृत व्यक्ति के कृष्णमण्डल (कार्निया) को निकालकर फूले के स्थान पर लगाना। पीडित कृष्णमण्डल के स्थान पर पशुओं के स्वस्थ कृष्णमण्डल का लगाना। अभी इस क्रिया में पूरी सफलता विशेषज्ञों को नहीं मिल पाई है।
६. प्राकृतिक विन्टर ग्रीन तैल का प्रयोग। ७. लेख्यांजनों में वर्तमान युग में सिल्वर नाइट्रेट (रजत), तुत्थ, पोटासक्लोराइड, सैंधव, सायनायड आफ मर्करी आदि व्यवहार में आते हैं। ८. ल्यूकोलाइसिन, रीसाल्वेन्ट प्रभृति पेटेण्ट योगों का प्रयोग।	

अक्षिपाकात्यय—(Hypopyon) जिस रोग में रोगी का कृष्णमण्डल पूर्णतया सफेदी लिये हुए आवरण से आवृत (Haziness) हो, नया हो और तीव्र वेदना होती हो उस रोग में अभिष्यन्द से उत्पन्न हुआ अक्षिपाकात्यय समझना चाहिये। यह एक त्रिदोषज असाध्य व्याधि है।[1]

इस रोग को आधुनिक दृष्ट्या अंग्रेजी का 'हाइयोपियन' कहा जा सकता है। यह विकृति क्षत युक्त कृष्णमण्डलशोथ (Ulcerative

१. संछाद्यते श्वेतनिभेन सर्वं दोषेण यस्यासितमण्डलन्तु।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिकोपं समुत्थितं तीव्ररुजं वदन्ति॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

ratitis) के उपद्रव रूप में उपस्थित होती है। इसमें अग्रिमा यानी (Anterior chamber) में पूय का संग्रह हो जाता है स्थिति इस रोग में विशेष रूप से प्राप्त होती है। यहाँ का पूय त्विक पूय नहीं होता, क्योंकि यह अपवाद रूप से निर्जन्तुक होता इसमें पूयोत्पादक कीटाणु नहीं होते और यह पूय तारासंधानमण्डल is & Ciliary body) की रक्तवाहिनियों के स्राव रूप में एकत्रित र वह रूप ले लेता है। इस पूय को निकालने के लिये प्रायः भेदन आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह जीवाणु रहित होने की वजह अपने आप शोषित हो जाता है। परन्तु विविध उपचारों के बावजूद सफलता न मिले, शूल बढ़ता ही चला जाय तो भेदन करके रण भी किया जाता है। यह अवस्था प्रायः कष्टसाध्य है।

प्राचीनों के अक्षिपाकात्यय नामक व्याधि की समता एक और धुनिक विकार से भी की जा सकती है, जिसमें पूरी कृष्णमण्डल वृत्ति गलने लगती है। अंग्रेजी में यह 'कैरोटो मैलेशिया' (Ker- malacia) कहा जाता है। यह भी कृष्णमण्डल के क्षतयुक्त शोथ ही उपद्रव है जो अधिकतर वृद्धावस्था में होता है, जब कि कृष्ण- डल को पर्याप्त पोषण नहीं मिलता।

सुश्रुत ने इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा नहीं कही है। योग- कर में स्थानिक लालिमा, अश्रु और पीड़ा के शमन के लिये एर्वारु या ककड़ी) तथा कमल से पकाये गोक्षीर का सिंचन बतलाया है।

अजकाजात—(Anterior staphyloma) 'बकरी की सूखी हुई ी (पुरीष) के समान, पीड़ा युक्त ईषत् लाल रंग का पिच्छिल स्राव से युक्त प्रवर्द्धन या निकला हुआ भाग, जो कि नेत्र के कृष्ण को फाड़कर निकलता है, वह अजकाजात कहलाता है। यह याज और साध्य विकार है।'[1]

१. अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलाश्रुः।
विदार्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तं चाजकाजातमिति व्यवस्येत्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यदि कृष्णमण्डल का व्रण बहुत गहराई में अवस्थित होकर बढ़ा हुआ हो तो मण्डल का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है और व्रण के फूटने से नेत्र के मध्य में पटल आदि का भाग बाहर और आगे की ओर निकल आता है। वह कृष्णमण्डल का बहिर्निःसरण (Anterior Staphyloma) कहा जाता है। नेत्र को खोलकर जाँच की जाय तो नेत्रगोलक में एक छोटा सा द्राक्षा जैसा भाग निकला हुआ दीखता है। इसी दृश्य की उपमा प्राचीनों ने अजापुरीष से दी है। यदि यह व्याधि नई हो तो नेत्र में कृष्णमण्डल के चारों ओर के भाग पर लाली दीखती है और रोगी को वेदना भी होती है। यदि कृष्णमण्डल का कुछ भाग स्वस्थ स्थिति में हो और नेत्र के भीतर का भाग शोथ से बचा हुआ हो तो कुछ दृष्टि शक्ति रहती है। इसके विपरीत स्थिति होने पर दृष्टि शक्ति जाती रहती है; केवल प्रकाश और अंधकार का ज्ञान रोगी को प्रत्यक्ष हो सकता है। निःसृत भाग शनैः शनैः बढ़ता जाता है और कुछ काल में पलक की धारा के बाहर भी निकल जाता है। कभी कभी सामान्य चोट से यह भाग स्वयमेव फूट जाता है और आँख नीचे धँस जाती है।

हेतु—व्रण के रोपण के बाद जो नूतन व्रण वस्तु कृष्णमण्डल में बनता है वह नैसर्गिक कृष्णमण्डल की अपेक्षा अतिशय निर्बल होता है। यदि यह नेत्रगोलक के भीतरी भार (सजल द्रव, दृष्टिमणि और सान्द्र द्रव) को सहन करने में असमर्थ हो तो फलतः वह बाहर की ओर उभड़ता है और उभड़े हुए भाग में तारामण्डल, दृष्टिमणि अवयव आदि फँस जाते हैं। उपचार—यदि भ्रंश अपूर्ण हो अर्थात् कृष्णमण्डल का कुछ भाग पारदर्शक और स्वस्थ हो तो उस स्थान पर तारामण्डल के आंशिक छेदन (Iridectomy) करके चिकित्सा करनी चाहिये। इस क्रिया से दृष्टिशक्ति कुछ बढ़ती है और नेत्रान्तर्गत दबाव कुछ कम होता है। यदि बहिर्निःसरण पूर्ण हो, वेदना होती हो, भाग बहुत बढ़ा हुआ हो और दृष्टिशक्ति नष्ट हो गई हो, तो उसे काट देना चाहिये या नेत्रगोलक को निकाल देना चाहिये।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

सुश्रुतोक्त चिकित्सा—उपर्युक्त चिकित्सासूत्रों का उल्लेख पाश्चात्य के आधार पर है; परन्तु ठीक उसीसे मिलता हुआ वर्णन सुश्रुत में भी है। अजका के निकले हुए भाग को एक सूई के द्वारा वेधन करे—उदक का स्राव (Aquous humour) होगा और नेत्रान्तर्गत भार कम होकर भ्रंश का भाग यथास्थान बैठ जायगा। फिर व्रणित स्थान को गोमांसचूर्ण और घृत का प्रयोग करके उसका पूरण या रोपण करना चाहिये। यदि अजका का भाग बहुत अधिक भ्रंशित हो गया हो और उठे हुए वर्त्म के समीप तक या उसके बाहर पहुँच रहा हो तो शस्त्र के द्वारा लेखन (मोटे और अधिक भाग का काटना) कर देना चाहिये।[1]

—oo—

१३

सर्वगत रोग

(Diseases of conjuctiva & Eye ball or Hyperæmia of conjuctiva)

अभिष्यन्द या स्यन्द (Conjuctivitis)—स्यन्द का शाब्दिक अर्थ बहना या स्रवित होना। फलतः अभिष्यन्द का सामान्य अर्थ हुआ नेत्र का ऐसा रोग जिसमें स्रावाधिक्य हो। लोकभाषा में इस अवस्था को आँख का आना, दुखना या उठना कहा जाता है। वैज्ञानिक भाषा में इन लक्षणों के आधार पर इसे नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Conjunctivitis) कहा जाता है क्योंकि नेत्रगत श्लेष्मावरण का भाग ही रोग में रक्ताधिक्ययुक्त या शोथयुक्त होकर, रोगग्रस्त रहता है। यह

1. अजकां पार्श्वतो विद्ध्वा सूच्या विस्राव्य चोदकम्।
व्रणं गोमांसचूर्णेन पूरयेत् सर्पिषा सह।
बहुशोऽवलिखेच्चापि वर्त्मास्योपगतं यदि। (सु० उ० १२)

…शाला०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोग विशेषतः गर्मी की ऋतु में होता है—अच्छी स्थिति के आदमियों की अपेक्षा गरीबों में अधिक होता है-आँख आने पर लाल हो जाती है।

सामान्य लक्षण तथा चिह्न—

नेत्रवेदना—पीड़ा की मात्रा शोफ की तीव्रातीव्रता के ऊपर आश्रित रहती है। प्रारम्भ में इस प्रकार का अनुभव होता है मानो कुछ रजःकण गिरा हो बाद में वही वेदना या तीव्र वेदना का रूप ले लेती है। इसी का उल्लेख सुश्रुत ने 'निस्तोदन' (सूई चुभाने की सी पीड़ा), 'संघर्षण' (गड़ना या किरकिरी पड़ने का अनुभव) तथा 'शिरोभिताप' (सिर और नेत्र में पीड़ा) शब्दों से किया है।

नेत्र में लाली—लोहितनेत्रता—यह भी शोथ की तीव्रातीव्रता के अनुसार अधिक या कम हो सकती है। यह लाली श्लेष्मावरण की धमनियों के रक्तपरिपूर्ण होने की वजह से रहती है। नेत्र के मध्यपटल और तारामण्डल के शोथ में लाली कृष्णमण्डल के चारों ओर देखने को मिलती है। यह नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे वाली धमनियों में विस्तृति के कारण होती है। यदि लाली और धमनियाँ श्लेष्मावरण के साथ सरक सकें तो उसे श्लेष्मावरण का ही शोथ समझे, परन्तु यदि नेत्र श्लेष्मावरण में लाली स्थिर रहे तो उसे निम्नस्थ अवयवों का शोथ समझना चाहिये। 'राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च' इन शब्दों में सुश्रुत ने वर्णन किया है।

प्रकाश की असहनशीलता या प्रकाशासह्यता—यह लक्षण भी शोथ के अनुरूप कुछ अंश में रहता है। तारामण्डल शोथ में जितना अधिक मालूम होता है उतना इस (अभिष्यंद) रोग में नहीं रहता। रोगी को विशेषतः अन्धकार में रहना अच्छा लगता है। 'शिशिराभिनन्द' तथा 'शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुम्' इससे इसी लक्षण का बोध होता है।

नेत्र से चिपचिपा पदार्थ (मलोपलिप्तता) का निकलना—रोग प्रारंभ में या रोग मामूली हुआ तो जल सदृश स्राव; और रोग प्रबल होतो गाढ़ा, लसदार और सफेद प्रवाही स्राव निकलता है। इस पद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

हेतु नेत्र चिपक जाते हैं और वे कठिनता से खुलते हैं। इसी का र्णन सुश्रुत ने 'उपदेह' शब्द से किया है। 'पिच्छिल स्राव' भी इसी लक्षण का बोधक है।

यह एक तीव्र सांसर्गिक रोग है, जिसका संक्रमण एक से दूसरे पर अर्थात् व्याधित से स्वस्थ पर बड़ी आसानी से हो जाता है। पीड़ित व्यक्ति की आंख के कीचड़ और स्राव का सम्पर्क किसी माध्यम से स्वस्थ पर पहुँच कर रोग उत्पन्न करता है।[1]

यह एक सामान्य अभिष्यन्द का दोषनिरपेक्ष वर्णन आधुनिक ग्रंथों अनुसरण करते हुए किया गया है। प्राचीनों ने दोष के बलाबल अनुसार नेत्राभिष्यन्द का वर्णन किया है। उन्होंने दोषभेद से चार प्रकार के अभिष्यन्दों का उल्लेख किया है।

१. *वाताभिष्यन्द*—सूचीवेधन की सी पीड़ा, जकड़ाहट, रोमहर्ष, रेता या किरकिरी पड़ी सी मालूम होना, नेत्र का सूखा रहना और ठंडे अश्रु का स्राव होना प्रभृति नेत्र के लक्षण वाताभिष्यन्द में प्रधानता से मिलेंगे।[2]

२. *पित्ताभिष्यन्द*—दाह, पाकोत्पत्ति, शीताभिलाष (ठण्डी चीजों की इच्छा), धूमायन, वाष्प या आँसू की बहुलता, उष्णाश्रु का स्रवित होना, नेत्रों का पीला होना प्रभृति लक्षण पित्ताभिष्यन्द में होते हैं।[3]

३. *श्लेष्माभिष्यन्द*—नेत्र में भारीपन, सूजन, उष्णता की अधिक

१. प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात्सह भोजनात् ।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ (मा. नि.)

२. निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

३. दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च ।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाह, खुजली, उपदेह (मलोपलिप्तता) या कीचड़ की अधिकता, स्पर्श में नेत्र का शीत ज्ञात होना, सफेदी और पिच्छिल आँसू का स्राव होना ये लक्षण अधिकता से कफदूषित नेत्र में मिलते हैं।[1]

४. रक्ताभिष्यन्द—नेत्र का रक्तवर्ण होना, ताम्र जैसे किंचित् लाल रंग के आँसू का निकलना, चारों ओर नेत्र में लाल लाल रेखायें दीख पड़ना तथा अन्य भी पैत्तिक लक्षण रक्ताभिष्यन्द में मिलते हैं।[2]

पित्ताभिष्यन्द तथा रक्ताभिष्यन्द के लक्षण—वर्त्तमान वर्णन नेत्रश्लेष्मावरण में रक्तसंग्रह नामक रोग (Hyperaemia of the Conjuctiva) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इसमें हेतु, लक्षण तथा चिह्न सभी अभिष्यन्द जैसे ही होते हैं। रक्ताधिक्य में कारण नेत्रों में जलन, वाष्पधूमायन, उष्णास्रस्राव और शीताभिलाष प्रभृति लक्षण और चिह्न मिलते हैं। हेतु में अभिष्यन्द के ही समान आँखों पर जोर देने वाले कारण होते हैं। उपचार में शीतल उपचार, बर्फ, गुलाब जल, अहिफेन आदि के प्रयोग, कोष्ठ शुद्धि आदि की आवश्यकता रहती है। रोगी को अन्धकार मय शीतल स्थान में रखना हितकर होता है।

आधुनिक नेत्रग्रंथों में भी नेत्रश्लेष्मावरण-प्रदाह के कई भेद गिनाये जाते हैं। यद्यपि वे दोषभेदों के ऊपर आधारित नहीं हैं तथापि उनमें कारणानुरूप नामकरण होने से चिकित्सा के क्रम में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। प्राचीन चिकित्सा सिद्धान्तों के आधार पर अभिष्यन्द की चिकित्सा दोषानुसार करनी होती है अत एव नेत्रश्लेष्मावरणशोथ के दोषानुसार आयुर्वेदोक्त चिकित्सा का उल्लेख नीचे किया जायगा। वर्त्तमान भेद निम्नलिखित हैं—

१. नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Catarrhal conjuctivitis Acute) (वाताभिष्यन्द या पित्ताभिष्यन्द) Chronic (श्लेष्माभिष्यन्द)

---

१. उष्णाभिनन्दा गुरुताक्षिशोफः कण्डूपदेहौ सिततातिशैत्यम्।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति॥

२. ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च राज्यः समन्तादतिलोहिताश्च।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति॥ (सु. उ. ७.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

२. नेत्रकोणगत श्लेष्मावरणशोथ (Angular Conjuctivitis)
३. न्युमोकोकसजनित श्लेष्मावरणशोथ (Pneumococal conjuctivitis)
४. कुकूणक (Follicular Conjuctivitis)
५. पूयमेहज नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Gonorrheal Conjuctivitis) शिशु सपूय नेत्रावरणशोथ (Opthalmianeonatorum)
६. रोहिणीजन्य श्लेष्मावरणशोथ (Diptheritic Conjunctivitis)
७. शिथिल कृत्रिम कलामय नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Croupous Conjunctivitis)
८. पिटिकाक्षतमय नेत्रश्लेष्मावरणशोथ (Phlyctenular conjunctivitis)

नेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यन्द के कई अन्य प्रकार भी हैं। कुछ अन्य भी भेद वर्तमान ग्रन्थों में अभिष्यन्द के मिलते हैं। जैसे—

९. पेरीनाड का श्लेष्मावरणशोथ।
१०. मस्तिष्कावरणशोथजन्य अभिष्यन्द आदि।

नेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यन्द की चिकित्सा—

नेत्र को पूर्ण विश्राम देना—लिखाई, पढ़ाई, सिलाई प्रभृति कार्य ...में आँखों को परिश्रम (Strain) हो न करना। प्रकाशयुक्त या ...क प्रकाश में काम करना, नेत्र को हवा, धुआँ, धूलि आदि से बचा ...रखना, अतितेज प्रकाश या अतिमन्द प्रकाश में लिखना पढ़ना ...ति कार्य न करना और मलावरोध हो तो मृदु रेचनों के प्रयोग से ...शुद्धि प्रभृति आचरणों का उपयोग अभिष्यन्द की चिकित्सा में ...ना चाहिये। आयुर्वेद में नेत्राभिष्यन्द के सामान्य चिकित्सा सूत्रों ...General line of treatment) में कई विधानों का उल्लेख ...या है। नेत्राभिष्यन्द की तीव्रावस्था आमावस्था है। इसमें चार ...दिनों तक लंघन (Fast) करना पथ्य है और घृत सेवन, गरिष्ठ भोजन,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कषाय, अंजन तथा स्नान का निषेध है।[1] आमावस्था के पाचन के लिये स्वेद, प्रलेप, तिक्तान्न का सेवन तथा लंघन ये छः कर्म नेत्र रोग में प्रशस्त हैं।[2]

१. नेत्रस्नान-प्रक्षालन (Eyebath)—नेत्र का दिन में कई बार टंकण धावन (१ औंस में ५–१० ग्रेन बोरिकएसिड से प्रक्षालन) करना चाहिये। सुश्रुत ने इसी क्रिया की अक्षिधावन संज्ञा दी है और इसको तीव्रावस्था में नहीं करके जीर्णावस्था में करने को कहा है।[3]

२. *शीतल उपचार*—नेत्र के ऊपर जल का सिंचन या बर्फ पर ठंडे किये गुलाब जल या, बर्फ के टुकड़े को कपड़े में पोट्टली बाँधकर रखने की क्रियायें की जाती हैं। इसी क्रिया का वर्णन सुश्रुतोक्त 'सेक' जिसमें नेत्रों को बन्द करके ऊपर से बकरी के दूध, मातृस्तन्य या ओषधियों के शीत कषाय या क्वाथ को शीतल करके नेत्रों के ऊपर धारा सी दी जाती है या पट्टी दी जाती है।[4] ये अधिकतर स्वाद

---

१. अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् ।
नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं च परिवर्जयेत् ॥
अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायव्रणज्वराः ।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण रोगा नश्यन्ति लङ्घनात् ॥
आचतुर्थाद्दिनादाममभिष्यन्देऽपि लोचनम् । (यो. र.)

२. स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम् ।
लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट् ॥
अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम् ।
नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानञ्च परिवर्जयेत् ॥ (तन्त्रान्तर)

३. नचानिर्वान्तदोषेऽक्ष्णि धावनं संप्रयोजयेत् ।
दोषः प्रतिनिवृत्तः सन् हन्याद्दृष्टेर्बलं तथा ॥ (सु. उ. १८)

४. सेकश्च सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः ।
मीलिताक्षस्य नेत्रस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥
सर्वोऽपि स्नेहनो वाते रक्तपित्ते च रोपणः ।
लेखनश्च कफे कार्यः तत्र मात्राधुनोच्यते ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

तिक्त रस के द्रव्यों के योग से बनते हैं, इनसे पित्त का शमन और दाह की शान्ति होती है। साथ ही संकोचन की क्रिया होती है, रक्त हुई रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे अभिष्यन्द की अवस्था में लाभ होता है। सेक की क्रिया में दोषानुसार भेद होता है। क्रिया शीतल होने के कारण दिन में ही करने का विधान है, परन्तु यदि आत्ययिक अवस्था हो तो रात्रि में भी की जा सकती है।

३. *उष्ण उपचार*—यदि रोगोत्पत्ति हुए तीन चार दिन हो गये हों तो शीतल उपचार की अपेक्षा उष्ण उपचार–गरम जल में कपड़ा भिगो कर निचोड़ कर सेंक करना, लवण जल या टंकण जल बनाकर कोष्ण कर उससे सेंकना, या अफीम की डोंडी से सेंकना हितकर होता है। आयुर्वेदानुसार नेत्र का स्वेदन मृदु होना चाहिये। इसके लिये रूई या कपड़ा गर्म पानी में भिंगो कर निचोड़ कर (उष्णाम्बुसिक्त कर्पटस्वेद) या वाष्प स्वेद या करस्वेद (हाथ को गर्म करके सेंकना) प्रभृति उपाय बतलाये गये हैं जिनका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। रूक्ष (Dryfomentation) या स्निग्ध स्वेदन (Wet fomentions) का भी वर्णन हो चुका है।

द्रवनिक्षेप, बिन्दु या आश्च्योतन (Drops)—इन ओषधियों में आर्जिराल (Argerol), प्रोटार्गल (Protargol) और कोलार्गल (Collargol) प्रभृति औषधियाँ मुख्य हैं। आर्जिराल के ३० प्रतिशत का घोल (१ औंस परिस्रुत सलिल में १५० ग्रेन) या प्रोटार्गल २० प्रतिशत (१ औंस परिस्रुत जल में १०० ग्रेन) अथवा मर्क्युरोक्रोम २ प्रतिशत का घोल अथवा मेटाफेन (१ औंस परिस्रुत जल में ½ ग्रेन) घोल का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार द्रव्यों का बूंद के हिसाब से निक्षेप करने वाली क्रिया का वर्णन सुश्रुत ने आश्च्योतन शब्द से

षड्वाक्शतैः स्नेहनेषु चतुर्भिश्चैव रोपणे।
वाक्शतैश्च त्रिभिः कार्यः सेको लेखनकर्मणि॥
कार्यस्तु दिवसे सेको रात्रौ वात्ययिके गदे। (यो. र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया है। फलतः आश्च्योतन वर्त्तमान आईड्राप्स (Eyedrops) का ही प्रतीक है। आज कल व्यवहार में आने वाले कई एक निक्षेप, विन्दु या आश्च्योतन (Drops) वैद्यों में प्रचलित हैं। ये दोषनिरपेक्ष सामान्यतया सभी प्रकार के नेत्राभिष्यन्दों में लाभप्रद होते हैं। जैसे—

नेत्रविन्दु—गुलाबजल २ बोतल, कपूर ६ माशे, अहिफेन २ तोले, रसौत ८ तोले को घोल कर गुलाबजल में मिला कर छान ले। इससे नेत्रगत शूल शान्त होता है तथा अभिष्यन्द में भी लाभ होता है।

फुल्लिका द्रव—परिस्रुत जल या गुलाब जल २ सेर, मिश्री ४ तोले, सैन्धव ४ तोले, शुद्ध स्फटिका ४ तोले इनको एकत्र मिला भली प्रकार से छान कर नेत्रों में कुछ बूंदें छोड़ने से अभिष्यन्द में हितकर होता है।

रसाञ्जनद्रव—रसाञ्जन १ तोला, फिटकिरी २ माशे, मधु या मिश्री २ तोले, गुलाबजल या परिस्रुत सलिल ८ औंस।

निर्माण विधि—गुलाबजल में रसौंत डालकर रात भर भीगने दे। प्रातःकाल में अच्छी तरह से छानकर शीशी में भर ले। फिर उसमें मिश्री का चूर्ण या मधु मिलाकर शीशी पर ठेपी लगाकर शीतल स्थान पर रख दे। तीन से सात दिनों तक रखे और बीच बीच में हिलाता रहे। एक सप्ताह में तलछट नीचे बैठ जाता है। ऊपर वाले भाग को निथार कर छान कर शीशी में भर कर डाट लगा कर रख लेना चाहिये।

प्रयोग-विधि—२ बूँद नेत्रों में दिन में तीन चार बार छोड़ना।

स्यन्द-आश्च्योतन—पठानीलोध, फिटकिरी, मुर्दासंग, हल्दी, जीरा प्रत्येक ४॥ माशे, अफीम चनाभर, काली मिर्च ४ नग, तूतिया उड़द के दाने भर—इनको महीन पीस कर मलमल के कपड़े की दुहरी पट्टी में पोटली जैसे बाँध ले और पोस्ते के पानी में डुबोकर रखे। पीड़ित नेत्र में २-३ बूँद निचोड़ दे। अभिष्यंद में उत्तम लाभ करता है।

स्यंदहर विडालक—रसौंत ४ तोले ८ माशे, भुनी फिटकिरी २॥ तोले, अफीम १ तोले २ माशे, नीम की पत्ती ५, केशर ५ रत्ती, गेरु २ तोले। पोस्ते के डोंडी के काढ़े में घोट कर गोली बना ले।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

प्रयोग—प्रातः दोपहर और सायंकाल १ गोली पानी से घिस कर आँखों के बाहर पलकों पर गुनगुना लेप करे। वेदना एवं रक्ताधिक्य जो अभिष्यंद में प्रायः मिलता है, दूर करता है।

प्राचीन वर्णनों के अनुसार अभिष्यन्द तथा अधिमन्थ की चिकित्सा में कई एक सार्वदैहिक तथा स्थानिक उपक्रमों का उल्लेख पाया जाता है। डल्हण की टीका में आचार्य विदेह का वचन आता है कि 'जब नेत्ररोग का पूर्वरूप ज्ञात हो तब तीन रात तक उपवास या हल्के भोजन का सेवन करे। यह उपवास तीन दिन तक करे या पूर्णतया लंघन करे या दिन भर उपवास करके रात में हल्का भोजन ले। जब चौथे दिन रोग के लक्षण व्यक्त हो जाँय तब नेत्ररोगों में होने वाले नस्य, सेक, धूम, अञ्जन प्रभृति कर्मों का प्रयोग करना चाहिये।'[1]

अभिष्यन्द या अधिमन्थ पीडित रोगियों में दोषानुसार १. पुराण घृत से स्नेहन २. स्वेदन ३. सिरामोक्षण ४. विरेचन और ५. वस्ति इन पाँच उपक्रमों को करना चाहिये।[2] पुराने घृत से कुछ लोग एक वर्ष और कुछ दश वर्ष पुराना घृत लेते हैं।[3]

स्थानिक उपचारों में १. तर्पण, २. पुटपाक, ३. धूम, ४. आश्च्योतन,

---

१. प्रागेवाक्ष्यामये भक्तं त्रिरात्रमगुरु स्मृतम्।
उपवासस्त्र्यहं वा स्यान्नक्तं वाप्यशनं हितम्॥
ततश्चतुर्थे दिवसे व्याधौ संजातलक्षणे।
यथोक्तास्तु क्रियाः कार्या नस्यसेकाञ्जनादिकाः। (विदेह)

२. पुराणसर्पिषा स्निग्धौ स्यन्दाधीमन्थपीडितौ।
स्वेदयित्वा यथान्यायं सिरामोक्षेण योजयेत्॥
सम्पादयेद्वस्तिभिस्तु सम्यक् स्नेहविरेचितौ।
तर्पणैः पुटपाकैश्च धूमैराश्च्योतनैस्तथा।
नस्यस्नेहपरीषेकैः शिरोवस्तिभिरेव च॥ (सु. उ. ९)

३. पुराणं सर्पिः संवत्सरोषितं घृतमन्ये दशवर्षस्थितं घृतं पुराणं कथयन्ति। (डल्हण)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. नस्य, ६. परिषेक, ७. प्रदेह, ८. अभ्यंग या शिरोवस्ति प्रभृति उपक्रमों को बरतना चाहिये ।[1]

वाताभिष्यन्द चिकित्सा—सेक—१. वातघ्न, आनूपदेशज, जलजन्तुओं के मांस और अम्ल रस से सेक करना । २. एरण्ड की छाल, पत्र, जड़ से शृत बकरी के दूध से सेक । ३. कोष्ण दूध में सेंधानमक मिलाकर सिंचन करना । ४. हल्दी और रसोंत से सिद्ध दूध में नमक मिलाकर उससे नेत्र का सिंचन करना वाताभिष्यन्द में हितकर होता है । ५. इसी प्रकार चारों स्नेहों में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी देना भी लाभप्रद होता है ।

उपनाह स्वेद—गर्म दूध, वेसवार, शाल्वण, पायस (गर्म खीर) से स्वेदन ।

आश्च्योतन—१. बिल्वादि बृहत्पंचमूल, बृहती, एरण्ड और शि... का क्वाथ बनाकर गुनगुना आश्च्योतन (Drop) करना । २. नीम की पत्ती और लोध को पानी में पीस कर गर्म कर छानकर उस जल से नेत्र के पूरण से वातज, रक्तज और पित्तज अभिष्यंद ठीक होते हैं । ३. सेंधानमक, सुगन्धबाला (उदीच्य), मुलैठी और पिप्पली ... आधा जल डाला दूध पकाकर उस दूध का आश्च्योतन । ४. सुगन्धबाला, तगर, मजीठ, गूलर की छाल से सिद्ध बकरी के दूध से नेत्र का पूरण भी वाताभिष्यन्द में लाभप्रद होता है ।

पिण्डिका—वाताभिष्यन्द की शान्ति के लिये स्निग्ध और उष्ण पिण्डिका बनानी चाहिये । जैसे एरण्ड के पत्र, मूल और छाल से बनी हुई पिण्डिका । इसको गुनगुना कर के नेत्रों पर अभिष्यंद में बाँधना लाभप्रद रहता है ।

अञ्जन—मुलैठी, हल्दी, हर्र, देवदारु इनका बकरी के दूध में घिस कर तैयार किया अञ्जन वाताभिष्यन्द में लाभप्रद होता है । गुडिकांजन

१. ततः प्रदेहाः परिषेचनानि नस्यानि धूमाश्च यथास्वमेव ।
आश्च्योतनाभ्यञ्जनतर्पणानि स्निग्धाश्च कार्याः पुटपाकयोगाः ॥ (सु. उ. १२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

१ भाग, सेंधानमक २ भाग, पिप्पली ४ भाग, सोंठ ८ भाग, योग से बनी गुटिका का अञ्जन भी फलप्रद होता है। स्नेहाञ्जन प्रयोग वाताभिष्यन्द में करना चाहिये, ताम्र के वर्त्तन में एक मास हुए घी का सेंधानमक के साथ मिलाकर अंजन करना। इसके रिक्त स्निग्ध धूम, स्निग्ध नस्य तथा स्निग्ध पुटपाक का भी प्रयोग ना चाहिये।

आहार—वाताभिष्यन्द पीडित रोगियों को वातघ्न आहार जिनमें आनूपदेशज या जलप्राणियों के मांसरस पड़े हों या इनसे त दूध घृत या फलों के रस हों देना चाहिये। भोजन के बाद को घृतपान कराना चाहिये, जो घृत त्रिफला से सिद्ध या केवल ना होना चाहिये।

पित्ताभिष्यन्द प्रतिषेध—पैत्तिक अभिष्यन्द तथा पैत्तिक अधिमन्थ . रक्तविस्रावण, और २. विरेचन प्रभृति सार्वदैहिक उपक्रम तथा निक उपचारों में पित्तविसर्पवत् १. सेक २. आलेप ३. नस्य ४. न प्रभृति कर्मों को करना चाहिये। तथा अन्य भी पित्तघ्न उपचारों बरतना चाहिये।[1]

सेक—चंदन, नीम की पत्ती, मुलैठी, रसौंत, और सेंधानमक को में पीसकर मधु मिलाकर सेक करना।

आश्च्योतन—१. निम्ब की पत्ती को पीसकर लोध्र का लेप करे अग्नि से स्वेद करके उसका चूर्ण या कल्क बना ले। इस कल्क को के दूध में मिलाकर पीसकर दूध को छान कर उसका आश्च्यो- करे। २. द्राक्षा, मुलैठी, मजीठ, जीवनीयगण की ओषधियों से दूध के द्वारा नेत्र का पूरण करने से अभिष्यंद का दाह शान्त हो ा है।

१. पित्तस्यन्दे पैत्तिके चाधिमन्थे रक्तास्रावः स्रंसनञ्चापि कार्यम् ।
अक्ष्णोः सेकालेपनस्याञ्जनानि पैत्ते च स्याद्यद्विसर्पे विधानम् ॥
क्रियाः सर्वाः पित्तहर्यः प्रशस्ताः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पिण्डी—आँवले को पीस कर उसकी पिट्ठी अथवा महानिम्ब के पत्ती की पिट्ठी बनाकर नेत्र के बाहर कोष्ण करके चढ़ाने से पित्ताभिष्यंद में शान्ति मिलती है।

विडालक—पैत्तिक अभिष्यंद में चंदन, सारिवा, मजीठ, पद्माख, मुलैठी, जटामांसी, तगर, चंदन, लोध्र, चमेली का फूल, गेरू इनका बहिर्लेप दाह और पीड़ा को शान्त करता है।

अंजन—१. पलाश-स्वरस या शल्लकी स्वरस का मधु और चीनी के साथ अंजन करना। २. रसक्रियांजन में त्रिवृत् (निशोथ) अथवा मुलैठी को शर्करा मधु के साथ पका कर क्वाथ को गाढ़ा कर रसक्रिया कर ले और उसका अंजन पित्ताभिष्यंद में करे।[1] ३. नागरमोथा, समुद्रफेन, कमल, वायविडङ्ग, इलायची और आँवले के स्वरस का अंजन। ४. तालीशपत्र, इलायची, गेरू, खस, शंख को घिसकर अंजन करना। ५. सोने (सुवर्ण) को मातृस्तन्य में घिसकर अंजन या पलाश के फूल का मधु में घिसकर अंजन करना। ६. लोध, मुनक्का, चीनी, कमल इनको स्त्री के दूध में घिसकर, मुलैठी और वच को गाय के दूध में घिस कर अथवा अमल्ताश की छाल को पानी में बारीक घिस कर अंजन करना पित्ताभिष्यंद में हितकर है।

पित्ताभिष्यंद में सामान्यतया गुंद्रा, शालि, शैवल, पाषाणभेद, दार्वी, एला, उत्पल, लोध्र, कमल, अभ्र, शर्करा, कुश, ईख, वेत, पद्म, द्राक्षा, मधु, चंदन, मुलैठी, स्त्रीक्षीर, हल्दी, उत्पल, सारिवा, प्रभृति पित्तघ्न ओषधियाँ लाभप्रद हैं। इनसे प्रतिसंस्कृत घी और दूध का प्रयोग—भोजन, पान तथा नस्य कर्मों (प्रतिमर्ष, अवपीड, नस्य, शिरोविरेचन चतुर्विध नस्यकर्मों) में करना चाहिये।

श्लेष्माभिष्यंद प्रतिषेध—श्लेष्माधिमंथ तथा श्लेष्माभिष्यंद की चिकित्सा में बढ़े हुए कफ को १. सिरावेध, २. स्वेद, ३. अवपीडन

---

१. गृहीत्वा क्वाथकल्पेन क्वाथं कृत्वा पुनः पुनः।
क्वाथयेत्फाणिताकारमेषा प्रोक्ता रसक्रिया॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

अंजन, ५. धूम सेक ६. प्रलेप, ७. कवलग्रह, ८. रूक्ष आश्च्योतन, रूक्ष पुटपाक, १०. अपतर्पण, ११. तिक्त घृत तथा १२. श्लेष्मघ्न आहार विधान रोगी में करना चाहिये।[1]

कफज में लंघन, स्वेदन, नस्य, तिक्त भोजन, तीक्ष्ण प्रधमन, उपनाहन तथा रूक्ष और तीक्ष्ण विरेचन से मल का निर्हरण चाहिये। (यो० र०)

सेक—नीम की पत्ती, मदार की पत्ती, लोध्र, घी से सिद्ध क्षीर सेक करना चाहिए।

आश्च्योतन—सेंधानमक और लोध्र को घी में भूनकर उसमें रसांजन मिलाकर पानी के साथ खूब बारीक पीसे। फिर उस को कपड़े में बाँध कर उसका रस आँख में कई बूंद छोड़े। क्रिया से नेत्रगत दाह, पीड़ा और खुजली ठीक होती है।

पिण्डिका—१. सहिजन के पत्र की पिसी हुई कोष्ठा पिण्डी को पर धारण करने से और २. नीम की पत्ती और सोंठ को पीस सेंधानमक मिलाकर धारण करने से श्लेष्माभिष्यंदगत शोथ पीड़ा खुजली शान्त होती है।

स्वेदन—तगर, निर्गुण्डी, फणिज्झक, बेल, शरबालिका, पीलु, मदार कपित्थ के पत्रों से स्वेदन करना चाहिए।

अनुलेप—स्वेदन के बाद सुगंधवाला, सोंठ, देवदारु, कूठ इनका नेत्रों पर करना चाहिए।

विडालक—रसाञ्जन या सोंठ और हरीतकी या वचा, हल्दी, सोंठ या और गेरू का बहिर्लेप करना श्लैष्मिक नेत्र विकारों में हितकर है।

अंजन—अंजनवर्ति—सैंधव, हिंगु, त्रिफला, मुलैठी, प्रपौण्डरीक,

१. स्यन्दाधिमन्थौ कफजौ प्रवृद्धौ जयेत्सिराणामथ मोक्षणेन।
स्वेदावपीडाञ्जनधूमसेकप्रलेपयोगैः कवलग्रहैश्च।
रूक्षैस्तथाश्च्योतनसंविधानैस्तथैव रूक्षैः पुटपाकयोगैः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अंजन, तुत्थ, ताम्र इन द्रव्यों को जल में पीस कर वर्ति बनाकर अंजन २. हर्रे, हल्दी और मुलैठी की वर्ति का अंजन ३. त्रिकटु त्रिफला, हरिद्रा, विडङ्गसार को बराबर बराबर लेकर उसमें तगर, कूठ, देवदारु, शंख, पाठा, व्योष, मैनसिल का महीन चूर्ण मिलाकर वर्ति बनाकर अंजन ४. चमेली के फूल, करंज और सहिजन की बनी वर्ति का अंजन तथा ५. कंटक करंज या सहिजन का फल, उसी के बराबर छोटी और बड़ी कटेरी के फूल तथा रसांजन, सैन्धव, चंदन, मैनसिल, हरताल और लहसुन इन द्रव्यों को बराबर बराबर लेकर पीस कर वर्ति बनावे और उसका अंजन करे तो श्लेष्मज अभिष्यंद तथा अधिमंथ में लाभ होता है।

क्षारांजन—'अपक्व शूक युक्त जौ को कृष्णवर्ण की गाय के दूध से एक सप्ताह तक भावित कर पश्चात् उसको सुखाकर उसमें अर्जुन, आस्फोतक, कपित्थ, बेल, निर्गुण्डीपत्र और चमेली के फूल को मिला कर जला दें। फिर उस जले राख को पानी में (१ प्रस्थ भस्म में आढक जल) मिलाकर उसको निथारे। राख को छोड़ क्षारोदक पृथक् करे। इस क्षारोदक में सैन्धव, तुत्थ, हल्दी इन द्रव्यों का प्रक्षेप डालकर (क्षारोदक से $\frac{1}{32}$ भाग इनकी मात्रा होनी चाहिये) लौह पात्र में पकाकर रख ले। इस क्षाराञ्जन का उपयोग श्लैष्मिक नेत्रविकारों में किया जाता है। इसी कल्पना के अनुसार पूर्वोक्त फणिज्झक प्रभृति ओषधियों का भी क्षारांजन बनाया जा सकता है।

रक्तजाभिष्यंद प्रतिषेध—चिकित्सक को चाहिये कि अभिष्यंद, अधिमंथ, सिरोत्पात और सिराहर्ष इन चार रोगों में एक ही प्रकार की चिकित्सा करे।[2] अतः चारों प्रकार के रोगियों को अन्तःशोधन

१. त्र्यहात् त्र्यहाच्चाप्यपतर्पणान्ते प्रातस्तयोस्तिक्तघृतं प्रशस्तम्।
तदन्नपानं च समाचरेद्धि यच्छ्लेष्मणो नैव करोति वृद्धिम् ॥ (सु. उ. ११

२. नीलान् यवान् गव्यपयोनुपीतान् शलाकिनः शुष्कतनून् विदह्य।
तथार्जकास्फोतकपित्थबिल्वनिर्गुण्डिजातीकुसुमानि चैव।
तत्क्षारवत् सैन्धवतुत्थरोचनं पक्वं विदध्यादथ लोहनाड्याम् एतद्बलासग्रथितेऽञ्जनं स्यात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

कौम्भ घृत (सौ वर्ष पुराना घी) से स्नेहन करके मांसरस में देकर स्नेहन करावे पश्चात् सिरामोक्षण करे। साथ ही दोषों हरण के लिये विरेचन तथा शिरोविरेचन भी करना चाहिये। निक उपचारों में—रक्तदोष शामक १. प्रदेह २. परिषेक ३. नस्य म ५. आश्च्योतन ६. अभ्यंग ७. तर्पण तथा ८. स्निग्ध पुटपाक प्रयोग करना चाहिये। रक्ताभिष्यंद में मृदु स्वेद, जलौका से विस्रावण और घृतपान करना चाहिये।[1]

सेक—त्रिफला, लोध्र, मुलैठी, चीनी, नागरमोथा इनको शीतल जल पीस कर जल से सेक करे।

आश्च्योतन—१. स्त्रीस्तन्य का आश्च्योतन २. दूध या घृत का च्योतन ३. लोध्रचूर्ण को घृत में घिस कर उस घी का आश्च्योतन र्करा और त्रिफला चूर्ण का पानी में घोल बना कर छान कर उसके का आश्च्योतन रक्ताभिष्यन्द में करना चाहिये। कसेरु और ठी इनके चूर्ण को कपड़े में बाँध कर स्वच्छ वर्षाजल (अन्तरि-क्ष) में डुबाकर नेत्र में जल का आश्च्योतन भी इस अवस्था में प्रद होता है।

अंजन—१. गाम्भारी, पाढ़ल, आँवला, निशोथ, अर्जुन, बड़ी कटेरी फूल, बिम्बी और लोध्र, मजीठ, इन द्रव्यों का बराबर बराबर हिस्सा कर ईख के रस में पीस कर मधु के साथ मिला कर अञ्जन करना भिष्यंद में हितकर है। २. चन्दन, कुमुद, तेजपात, शिलाजीत, र, लौह, ताम्र का बारीक चूर्ण और तूतिया इनका नीम के स्वरस गोंद में बनायी वर्ति का अंजन अथवा पित्तल और कांस्य के मल मधु के योग से वर्ति बना कर घिस कर अंजन करना रक्ताभिष्यंद लाभप्रद होता है।

[1] न्यं स्यन्दं सिरोत्पातं सिराहर्षञ्च रक्तजम्। एकेनैव विधानेन चिकित्सेच्चतुरो गदान्॥ रुजायां चाप्यतिभृशं स्वेदाश्च मृदवो हिताः। अक्ष्णोः समन्ततः कार्यं पातनञ्च लौकसाम्॥ घृतस्य महती मात्रा पीता चार्तिं नियच्छति। पित्ताभिष्यन्दशमनो थाप्युपपादितः॥ (सु. उ. १२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विडालक—नील कमल, खस, दारुहरिद्रा, कालीयक (लोध्रभेद), मुलैठी, मोथा, लोध्र, पदमक, धौत घृत (धुला हुआ घी) में लेप बनाकर आँखों पर बाहर की तरफ से लेप करे।

अंतःप्रयोग—वासादि क्वाथ, अडूसा, हरीतक, निम्ब, आँवला, मोथा और मूली का क्वाथ पीना।

शिग्रु स्वरस का आश्च्योतन या अंजन—शिग्रु स्वरस की नेत्राभिष्यंद में महत्ता बतलाते हुए 'लोलिम्बराज' वैद्य ने अपनी 'वैद्य जीवन' नामक पुस्तक में लिखा है :—शिग्रु के पत्र स्वरस का मधु मिलाकर लगाना सभी प्रकार नेत्राभिष्यंदों में लाभप्रद होता है।[1]

कुलत्थाद्यंजन—बकरी के दूध में स्विन्न की हुई कुलथी का छिल्का निकाल कर उसमें सेंधानमक, हरिद्रा और रसौंत मिलाकर अंजन बनाकर नेत्रों में लगाने से अभिष्यंद में लाभ होता है। (वै० जी०)

१४

अधिमंथ

(Gloucoma Acute)

यह सर्वगत नेत्ररोगों का एक प्रधान तथा नेत्र के सर्वाङ्ग पर प्रभाव डालने वाला रोग है, जो अभिष्यंद की उपेक्षा करने पर होता है। इसमें एक तरफ के नेत्र और आधे सिर में भयंकर वेदना होती है—जिसमें रोगी को ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई नेत्र का मंथन कर रहा हो या नेत्र को निकाल रहा हो। यह सर्व प्रकार के अधिमन्थ का एक सामान्य लक्षण है।[2]

१. लोलिम्बराजकविना वनितावतंसे शिग्रोरमुष्य कथितोस्ति किमुपयोगः।
एतस्य पल्लवरसात्समधोः किमन्यद् दृग्व्याधिसाधुहरणे महिलाग्रगण्ये॥

२. वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् तावन्तास्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः। उत्पाटयत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा। शिरसोर्द्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः॥
(सु. उ. ६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

विशेष परिचय—अधिमंथ विशेष प्रकार का कठिन और वेदनाप्रद है। इस में अभिष्यंद के सभी बढ़े हुए लक्षणों और चिह्नों के रिक्त शंख, दंतप्रदेश, कपोल और कपाल के देशों में भी वेदना तीव्रता होने लगती है। यहाँ की वेदना, तीव्रता के कारण अपना रूप धारण कर अधिक कष्टप्रद हो जाती है।[1]

अधिमंथ प्रकार—अधिमंथ के चार प्रकार हैं १. वाताधिमंथ पित्ताधिमंथ ३. श्लेष्माधिमंथ और ४. रक्ताधिमंथ।

वाताधिमंथ—इस में अरणि के मंथन के समान तीव्र पीड़ा होती वेदना के कारण रोमांच, संघर्ष (किरकिरापन), सूची के वेधन शस्त्र से काटने के समान वेदना, नेत्र में मांस का उपचित होना, का आविल (कीचड़ युक्त) होना, कुंचन (संकोचन), आस्फोट फटने के समान), आध्मान (तनाव Tension) और कम्प आदि युक्त यह रोग होता है तथा आधे सिर में व्याधि के स्वभाव से वेदना होती है।[2] वाग्भट ने भी इन्हीं लक्षणों को दिया है, लक्षणों में विशेषतया कर्णनाद, भ्रम और ललाट, आँख तथा भ्रू में वेदना होना बतलाया है।[3]

पित्ताधिमंथ—इसमें लाल लाल राजियों (रक्तवाहिनियों) से नेत्र जाता है, स्राव बहुत होता है और नेत्र आग से जलते हुए मालूम हैं। नेत्र गोलक यकृत् पिण्ड के सदृश गहरे ताम्र वर्ण का हो है। उसमें क्षारलिप्त क्षत के सदृश या आग से जलने के सदृश होता है, पककर बढ़ा हुआ या उभरा हुआ, वर्त्मान्त भाग शोथ हो जाते हैं, पित्ताधिक्य के कारण रोगी को सभी चीजें पीली

---

१. अधिमंथा यथास्वं च सर्वे स्युरधिकव्यथाः ।
शंखदन्तकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः ॥ (वा०)

२. उत्पाट्यत इव मथ्यतेऽरणिवच्च यत् । संघर्षतोदनिर्भेदमांससंरब्धमाविलम् ॥
आस्फोटनाध्मानवेपथुव्यथनैर्युतम् । शिरसोऽर्द्धं च येन स्यादधिमंथः स मारुतात् ॥

३. अधिमंथो भवेत्तत्र कर्णयोः सदनं भ्रमः ।
अरण्येव च मथ्यन्ते ललाटाक्षिभ्रुवादयः ॥ (वा० उ० १४)

३६ शा० ला०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant 2

दीखती हैं। पीड़ा और दाह के कारण स्वेदागम, मूर्च्छा, शिरोदा[illegible] भी होता है।[1]

श्लेष्माधिमंथ—इसमें नेत्र में साधारण संरम्भ होता है, शोथ न[illegible] होता, नेत्र भरे हुए दिखाई पड़ते हैं तथा अश्रुस्राव और कण्डुयुक्त हो[illegible] हैं, नेत्र स्पर्श में शीतल, गाढ़ी, उपदेह या दूषिका (कीचड़) युक्त होते [illegible] देखने में कठिनाई होती है, नेत्र में धूलि पड़ी हो इस प्रकार का अनुभ[illegible] जिससे आँख न खोली जा सके, नासाध्मान (नाक में खुश्की), सि[illegible] में दर्द प्रभृति लक्षण तथा चिह्न मिलते हैं। वाग्भट ने शुक्ल मण्डल [illegible] ऊँचा होना भी लिखा है।[2]

रक्ताधिमंथ—रक्ताधिमंथ से पीड़ित रोगी का नेत्र गहरे लाल व[illegible] का होता है। जितनी दूर तक लालिमा होती है वहाँ तक उत्पाट[illegible] करने की तरह तीव्र वेदना और दाह होता है। रोगी का नेत्र स्पर्श[illegible] क्षम हो जाता है। इस गहरे रक्त वर्ण में नेत्र का काला भाग नेत्र[illegible] डूबे हुए रीठा नामक काले फल के समान भासता है। जब रोगी देख[illegible] है तब उसे चारों ओर सब कुछ लाल वर्ण का अग्नि के समान दिखल[illegible] पड़ता है। सुश्रुत ने इस रोग में नेत्र की लालिमा की उपमा बन्धुज[illegible] (दुपहरिया के पुष्प) से दी है।[3] इसमें रक्तवर्ण का आस्राव होना एक प्रधान चिह्न बतलाया है।

---

१. रक्तराजिचितं स्रावि वह्निनेवावदह्यते ।
यकृत्पिण्डोपमं दाहि क्षारेणाक्तमिव क्षतम् ॥
पक्वोच्छूनवर्मान्तं सस्वेदं पीतदर्शनम् ।
मूर्च्छा शिरोदाहयुतं पित्तेनाक्ष्यधिमन्थितम् ॥ (सु०)

२. शोफवन्नातिसंरब्धं स्रावकण्डूसमन्वितम् ।
शैत्यगौरवपैच्छिल्यदूषिकागौरवान्वितम् ॥
रूपं पश्यति दुःखेन पांशुपूर्णमिवाविलम् ।
नासाध्मानशिरोदुःखयुतं श्लेष्माधिमंथितम् ॥ (सु०)
अधिमंथे मतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम् ।
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपूर्णमिवेक्षणम् ॥ (वा०)

३. वंधुजीवप्रतीकाशं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

वाग्भट ने अपने अष्टाङ्गहृदय में—'ताम्यति' शब्द पर जोर दिया है तनाव (Tension) के कारण स्पर्शनाक्षम हो जाता है।

परिणाम—कफज अधिमंथ सात दिन में, रक्तज पाँच दिन में, छः दिन में और पित्तज मिथ्याचरण से सद्यः दृष्टिशक्ति (sion) को नष्ट कर देता है।[1]

उपद्रव—अधिमंथ के होने पर यदि नेत्र की उपेक्षा की जाय यानी उसका योग्य उपचार नहीं किया जाय तो हताधिमन्थ नामक रोग होता है।

हताधिमंथ—यह एक असाध्य रोग है। इसमें नेत्र में तीव्र वेदना है। सिराओं के भीतर संचरण करने वाला वायु नेत्र को बाहर कर हताधिमन्थ नामक रोग को पैदा करता है। इस अवस्था असाध्य बतलाया गया है।[2] हताधिमन्थ की अवस्था विशेषतः धिमन्थ की उपेक्षा से होती है।

आचार्य सुश्रुत ने हताधिमन्थ के दो श्लोकों में एक में नेत्र का गमन और दूसरे में नेत्र का शोष (कोटर के भीतर बैठ जाना) है। वास्तव में यह एक ही रोग के दो परिणाम हैं, चाहे नेत्र-कोटर के बाहर आ जाय या नेत्र गोलक कोटर के भीतर सूख। इस बात की पुष्टि विदेह की उक्ति से स्पष्ट हो जाती है—

रक्तास्रावस्सनिस्तोदं पश्यत्यग्निनिभा दिशः ॥
रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते ।
यद्दीप्तं रक्तपर्यन्तं तद्रक्तेनाधिमंथितम् ॥ (सु०)
रागेण वंधूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम् ॥ (वा०)

1. हन्याद् दृष्टिं सप्तरात्रात्कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्संभवः पञ्चरात्रात् ।
षड्रात्राद्वै मारुतोत्थो निहन्यान्मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ (सु०)

2. उपेक्षणादक्षियदाधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य ।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नामरोगः ॥
अन्तःसिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन् ।
हताधिमन्थं जनयेत् तमसाध्यं विदुर्बुधाः ॥ (सु०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

'नेत्राभ्यन्तरीय सिराओं को शोष युक्त करके वायु जब अपना प्रभाव डालता है तब देखने की शक्ति क्षीण हो जाती है। पश्चात् वा की बढ़ती हुई क्रियाओं द्वारा नेत्र शिरायें विकृत होकर नेत्र को बाह्य की ओर निकाल देती हैं और नेत्र गोलक कोटर से उभरा (Exop thalmos) हुआ दिखलाई पड़ता है। इसमें शूल, तोद, भेद आदि लक्षण होते हैं। अथवा नेत्र की शिराओं को सुखाकर नेत्र को संकुचित करके सुखा देता है। इसमें कई अन्य सार्वदैहिक लक्षण भी पैदा हो जाते हैं जैसे शारीरिक बल एवं अग्नि मंद पड़ जाती है, कान्ति क्षीण हो जाती है, देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार रोग में अक्षि गोलक का सूखना (Sinking of the Eye ball due to atrophy of the optic Neve) यह एक प्रमुख रूप मिलता है।"

साध्यासाध्यता—अधिमन्थ के सभी प्रकार साध्य हैं परन्तु हताधिमंथ असाध्य है।

चिकित्सा—अधिमन्थ और अभिष्यन्द की चिकित्सा का क्रम एक ही प्रकार का रहता है। जिस प्रकार अभिष्यन्द में दोषानुसार विभिन्न प्रकार के सेक, आश्च्योतन, अञ्जन, नस्य, धूम प्रभृति उपचारते बर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार दोषभेद करते हुए अधिमन्थ में भी करना चाहिये। विशेषतः ललाट की शिराओं का वेधन तथा भ्रू (भौं) ऊपर दाह करना चाहिये।[2]

---

१. अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः।
स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति ॥
तस्यां निरस्यमानायां निर्मथन्निव मारुतः।
नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः ॥
अथवा शोषयेदक्षिक्षीणतेजोबलानलम्।
उत्पद्ममिव संशुष्कमवसीदति लोचनम् ॥ (विदेह)

२. अधिमन्थेषु सर्वेषु ललाटे संव्यधेच्छिराम्।
अशान्ते सर्वथा मन्थे भ्रूवोरुपरि दाहयेत् ॥
अभिष्यन्देषु या प्रोक्ता चतुर्ष्वपि च या क्रिया।
ताः सर्वाधिमन्थे च प्रयोज्याश्च भिषग्वरैः ॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

आधुनिक प्रविचार—ऊपर 'अधिमन्थ' नामक व्याधि के लक्षण चिकित्सा का उल्लेख प्राचीन संहिताओं के आधार पर किया है। इसके आधार पर कई विद्वानों ने इस रोग की तुलना आधुनिक दृष्ट्या तीव्र नेत्रगृह शोथ (Acute orbital Cellulitis) किया है और अधिमन्थ का पर्याय तीव्र नेत्रगृह शोथ लिखा है। विचारकों ने इसको ठीक न मानकर रोग की तुलना अंग्रेजी के 'ग्लौकोमा' (Glaucoma) रोग से किया है। यद्यपि उपर्युक्त दोनों विचार युक्तियुक्त हैं, तथापि अधिमन्थ के लक्षण तथा वर्णित चिह्न तथा उपचार ग्लौकोमा से बहुत मिलते-जुलते हैं। अधिमन्थ से ही—'अतिशय करके मन्थनवत् पीडा का होना' स्पष्ट है। यों प्रायः सभी नेत्ररोगों में तीव्र रक्ताधिक्य की अवस्था में वेदना या का होना एक सामान्य लक्षण है, परन्तु आविल दर्शन (धुंधला दिखाई देना), अत्यधिक पीडा, आंकुचन, आस्फोटन, आध्मान (…nsion) प्रभृति कुछ ऐसे विशिष्ट लक्षण इस रोग में मिलते हैं 'ग्लौकोमा' के पक्ष में बलात् ध्यान को आकर्षित करते हैं। दूसरी यह है कि संहिता ग्रन्थों में जो इसके विपरिणाम बतलाये गये तथा अन्यत्र भी जो इसके उपद्रव बतलाये गये हैं वे भी आधुनिक के 'ग्लौकोमा' रोग के सीधे उपद्रव (Direct complications) उदाहरण के लिये—

१. 'हताधिमन्थ'—वाताधिमन्थ की उपेक्षा करने से होता है। इसमें नाडियों का शोष (Atrophy) होकर नेत्रावसादन या नेत्रशोष (…rophy or Sinking of the Eye ball) हो जाता है।

२. वाग्भट ने 'दृष्टिहा' तथा सुश्रुत ने भी 'दृष्टि का प्रतिक्षेप करने' (दृष्टि शक्ति को नष्ट करने वाला) बतलाया है। ये सभी …म औपद्रविक अधिमन्थ (Secondary Glaucoma) के …ों में आधुनिक ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं।

३. 'अन्यतोवात' तथा 'वातपर्याय' इन दो और उपद्रवों का उल्लेख …न रोग के रूप में सुश्रुत ने किया है। अधिमन्थ के चिरकालीन एवं नेत्र के किसी स्थान की नाडीविशेष (Fifth Cranial

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Nerve) का शोष या विकृति होने से मन्या, ग्रीवा, एवं पार्श्व के कर्ण, सिर, हनु नाडियों में से किसी के या सिर के पिछले भाग में द… होकर भ्रू या नेत्र में पीडा होती है। सुश्रुत ने इस अवस्था विशेष को अन्यतोवात की संज्ञा दी है। यह रोग चिरकालीन अधिमन्थ की पू… चिकित्सा नहीं करने से उत्पन्न होता है।[1]

इसी प्रकार 'वातपर्याय' में वायु दोनों पक्ष्म, दोनों भ्रू और दो… आँखों में आश्रित रहता है और पर्यायक्रम से कभी आँखों में, कभी भ्रुओं में तथा कभी पक्ष्म में पीडा होती है इसीलिये इसे वातपर्याय की संज्ञा दी गई है। इसमें भी पञ्चम शिरस्का वात नाडी का ही विकार पाया जाता है।[2]

४. इसी प्रकार 'शुष्काक्षिपाक' नामक स्वतन्त्र व्याधि का भी उपद्रव रूप में 'ग्लौकोमा' में होना संभव है। जिसमें पलक निमीलित (बन्द) हो जाते हैं, स्पर्श में रूक्ष और कठिन हो जाते हैं, देखने में रोगी को आविल (धुँधला) दिखाई पड़ता है और पलक खोले नहीं खुलते, इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं।[3]

५. वाग्भट का 'नतं कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम्' यह उपद्रवलक्षण स्वभावगत नेत्र व्याधि के आभ्यन्तर आध्मान (Tension) का स्पष्टतया द्योतक है। यह लक्षण तीव्राधिमन्थ (Acute Glaucoma) की अवस्था में पाया जाता है। नेत्राभ्यन्तरीय सजल द्रव की वृद्धि से दबाव पाकर 'आयरिस' नीचे की ओर झुक जाता है जिससे कृष्ण मण्डल नष्ट हो जाता है और शुक्ल पटल ऊँचा उठ जाता है।

---

१. यस्यावटूकर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाप्यनिलान्यतो वा।
कुर्याद्रुजोऽतिभ्रुवि लोचने वा तमन्यतो वातमुदाहरन्ति ॥
बारं बारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥ (मा० नि०)

२. पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः संचरति प्रदुष्टः।
पर्यायशश्चापि रुजः करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति ॥

३. यत्कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म विलोकने चाविलदर्शनं तु।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

The pupil is dilated, ovale, immobile and often pre-
ts a greenish reflex. The Iris is conjested, discoloured
dull. The anterior chamber is shallow the aquous
e times turbid. The lens and the perifery of the
are pushed forward the lids are swollen and oede-
tous etc.

६. यद्यपि सुश्रुतोक्त 'सशोफ तथा अशोफ नेत्र पाक' से स्वतन्त्र
वाले त्रिदोषज रोग बतलाये गये हैं, तथापि ये दोनों अधिमन्थ
उपद्रव ज्ञात होते हैं। इनके लक्षण इस प्रकार के हैं—नेत्रकण्डु,
(भारीपन) युक्त अश्रु से भरे हुए रहते हैं, तथा देखने में पके
गूलर के समान रक्तवर्ण दिखलाई पड़ते हैं। उनमें दाह, संघर्ष,
, तोद, गुरुत्व और अश्रुस्राव होकर नेत्र पक जाता है। यह
नेत्रपाक कहलाता है और इन लक्षणों में यदि शोथ का अभाव
तो उसे अशोफ नेत्रपाक कहते हैं। इसमें सर्वतोभावेन नेत्र का
हो जाता है याने दृष्टि नष्ट हो जाती है।[1]

आधुनिक ग्रन्थों में एक सांघातिक 'ग्लौकोमा' (Glaucoma ful-
nous) का वर्णन मिलता है, जिसमें नेत्र की वर्त्मशाखा में प्रदाह
पाक होता है, कृष्णमण्डल (Cornea) पर संक्रमण पहुँचता है,
में पूय पड़कर छिद्र होने पर नीचे का भाग संक्रमित होता है
फिर सारा नेत्र संक्रमित होकर नेत्रपाक जैसा भयंकर उपद्रव
Glaucoma fulminous) होकर दृष्टि नष्ट हो जाती है। इस रोग
आरम्भ अचानक होता है और हठात् दृष्टि को नष्ट करता है।
त्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव' (सु.)।

Glaucoma fulminous is a name given to a form of
e occurrence in which very voilent symptoms of in-

१. कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसन्निभः।
दाहसंहर्षताम्रत्वं शोफनिस्तोदगौरवैः॥
जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णं शीताम्बुपिच्छिलम्।
संरम्भी पच्यते यश्च नेत्रपाकसशोफजः।
शोफहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोफजे॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

flammation develops suddenly and in which blindness may ensue in a few hours unless proper treatment be instituted.

यह अवस्था 'पैत्तिकाधिमन्थ' तथा उसके उपद्रव 'सशोफ नेत्रपाक' अथवा 'अशोफ नेत्रपाक' का द्योतन करती है।

इसी प्रकार 'अम्लाध्युषित' नामक विकार भी तीव्राधिमन्थ के परिणाम स्वरूप में होने वाला एक उपद्रव ज्ञात होता है जिसका आचार्य ने इसी प्रसङ्ग में एक स्वतन्त्र रोग के रूप में वर्णन किया है; 'जिसमें अधिक विदाही तथा अम्ल पदार्थों के सेवन से नेत्र शोफ युक्त हो जाता है, और चारों ओर से ईषद् नील एवं लाल रंग की रचनाओं से आच्छादित हो जाता है।' यह एक पैत्तिक विकार है और चिकित्सा से साध्य है।[1]

उपर्युक्त समन्वयात्मक विचारों को ध्यान में रखने से इतना स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनों का नेत्ररोग में पठित अधिमन्थ रोग संभवतः 'एक्यूट-कंजेस्टिव ग्लोकोमा' (Acute-Conjestive Glaucoma) ही है। अतएव इसका एक आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर सामान्य वर्णन नीचे दिया जाता है।

अधिमन्थ का आधुनिक ग्रंथों के आधार पर वर्णन—अधिमन्थ (Glaucoma) की सम्यक् जानकारी के लिये आवश्यक हो जाता है कि उसका स्वतंत्रतया उल्लेख हेतु, सम्प्राप्ति, चिह्न तथा चिकित्सा की दृष्टि से संक्षेप में एक छोटे अध्याय के रूप में किया जाय।

परिचय—यह रोग भारतवर्ष में अति प्रचलित है। रोग इतना दुष्ट है कि योग्य समय से उचित उपचार न किया जाय तो दृष्टि सदा के लिये चली जाती है। फिर किसी भी चिकित्सा से लाभ नहीं होता। इस रोग से अंधे हुए हजारों रोगी भारतवर्ष में होंगे।

इस रोग में एक लक्षण प्रधान है कि किसी भी जाति का अधिमन्थ हो सबमें गोलक की कठिनता बढ़ती है अर्थात् नेत्राभ्यंतरीय भार की वृद्धि होती है जिसके कारण मंथ, तीव्र शूल प्रभृति लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१. अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च संछाद्यते सर्वत एव नेत्रम् ।
शोफान्वितं लोहितकैः सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

प्रकार

- १. प्राथमिक (Primary) स्वस्थनेत्र में स्वतंत्रतया व्याधि उत्पन्न होती है ।
  - १. तीव्ररक्ताधिक्य- (Acute-conge-stive)
  - २. चिरकालीनरक्ताधिक्ययुक्त (Chronic con-Gestive)
  - ३. सामान्य या चिरकालीन (Simple chronic)
  - ४. संपूर्ण (Absolute)

  उपर्युक्त चारों भेदों को अधिक व्यावहारिक दृष्टि से केवल दो विभागों के भीतर समावेश किया जा सकता है ।
  - तीव्र या रक्ताधिक्ययुक्त
  - सामान्य या जीर्ण (Simple or chronic)

- २. औपद्रविक (Secondary) अन्यनेत्ररोगों के उपद्रव रूप में रोग उत्पन्न होता है । जैसे—
  - १. कृष्ण मण्डल शोथ या सव्रग शुक्र
  - २. तारामण्डल या आयरिस के रोग—इस में 'स्लेम' की नलिका का मार्गावरोध हो जाने पर आभ्यंतर पीडन बढ़ जाने से अधिमंथ होता है ।
  - ३. तन्तुमय समूह या मध्यपटल शोथ । (Choroid & Ciliary body) के शोथ ।
  - ४. दृष्टिमाण का भ्रंश
  - ५. नेत्रान्तर्गत अर्बुद
  - ६. नेत्र गूढ़सिराओं का अवरोध
  - ७. नयनाभिघात जिन से पूर्वकोष्ठ में रक्त संचय हो जाता है फिर स्लेम का मार्गरुद्ध हो कर रोग हो जाता है ।
  - ८. सहज-विकार— (क) लघुनेत्र (ख) तारा मण्डल का अभाव, जिसमें प्रारंभ से स्लेम का जलमार्ग छोटा होता है ।
  - ९. दृष्टिवितान की मध्य सिरा का रक्तस्राव ।

- ३. बाल्यकालीन जल नयन (Hydrophthalmos)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिमन्थ रोग के सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—

कारण (Predisposing)—अधिमन्थ प्रौढावस्था का रोग है जो प्रायः चालीस वर्ष के उपरान्त ही पाया जाता है। परन्तु, कभी कभी पहले भी हो सकता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। १. तन्तुमयसमूह (Ciliary body) का मोटा होना (वृद्धावस्था या दीर्घ दृष्टि वालों में)। २. दृष्टि मणि का काठिन्य या दीर्घता–४०–४५ की आयु में दृष्टि (Lens) कठोर हो जाता है और स्थितिस्थापकता कम हो जाती है। ३. नेत्र बाह्य पटल (Sclera) का काठिन्य और स्थिति-स्थापकत्व का ह्रास (वृद्धावस्था में ऐसा संभव है)। ४. सजल द्रव के पूर्वखण्ड की गहराई कम होना। ५. नेत्रगत रक्तवाहिनियों का रक्त-पूर्ण होना (इसकी वजह से नेत्रान्तर्द्रव की उत्पत्ति बढ़ जाती है और इन मोटे हुए अवयवों के दबाव से बाहर निकलने के मार्ग में बाधा पड़ती है, परिणामस्वरूप नेत्राभ्यन्तरीय दबाव बढ़ जाता है और रोगोत्पत्ति हो जाती है)। ६. समस्त देहाश्रित रक्ताभाराधिक्य (Hypertension or High blood pressure)—क्रोध, चिन्ता, मानसिक आघात, निद्रानाश और मलावरोध तथा जरावस्थाजन्य धमनी के काठिन्य (Anterio sclerosis) होने के कारण नेत्रगत धमनियों में भार की वृद्धि होना।

प्रकोपक कारण—यदि उपर्युक्त एक या अधिक अवस्थायें पहले से ही किसी व्यक्ति के नेत्र में उपस्थित हों और किसी कारण से तारक (Pupil) प्रसारित हो जाय तो अधिमन्थ की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे अतिपरिश्रम, सूर्यताप अथवा 'एट्रोपीन' या 'होमेट्रीपन' नाम की तारक प्रसारक ओषधियों के प्रयोग।

सम्प्राप्ति—अधिमन्थ की सम्प्राप्ति जैसा पहले ही कहा जा चुका है नेत्रान्तः भारवृद्धि या भीतर संगृहीत द्रव के अधिक दबाव से होती है। जब प्रवाह की नैसर्गिक योजना में अन्तराय आता है, तब यह व्याधि उपस्थित होती है।

नेत्र की कठिनता समान भाव से बनी रहे इसके लिये प्रकृति ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

न्तः भागों में बड़ी सुन्दर योजना की है। सजल द्रव के पश्चिम ण्ड से तारामण्डल के परिधि प्रान्त में अवस्थित बहुत से छिद्रों द्वारा रीय जल पूर्वखण्ड में आता रहता है। यही द्रव पश्चिम खण्ड में सान्द्र द्रव के खण्ड में भी गति करता है। वह तन्तुमय समूह Ciliary body) से स्रवता है। इस स्राव की न्यूनाधिकता का धार देहस्थ धमनियों के, विशेषतः तन्तुमय समूह और नेत्र मध्य-ल की धमनियों के भीतर के दबाव पर एवं नेत्र के भीतर संगृहीत के ऊपर निर्भर करता है। यदि धमनियों में रक्त का दबाव कम तो उक्त प्रवाही स्राव कम परिमाण में स्रवित होता है और इसके रीत स्थिति हो, तो स्रवण क्रिया अधिक होती है।

एक ओर प्रवाही या द्रव बनता है, दूसरी ओर निकलने का मार्ग प्रस्तुत होता है। कुछ तो दृष्टि वितान की रसवाहिनियों द्वारा कलता है, कुछ उसी खण्ड की रक्तवाहिनी केशिकाओं के द्वारा वापस कर रुधिर में शोषित हो जाता है। दूसरा मार्ग सजल द्रव के श्चिम खण्ड से पूर्व खण्ड में और वहाँ से कृष्णमण्डल बाह्यपटल और रामण्डल (Cornea, sclera, Iris) के संगम के पास अग्रिम लमार्ग या स्लेम की नलिका द्वारा बाहर निकलने का है। इस प्रकार ाही या द्रव के बनने के साथ साथ अधिक मात्रा में संगृहीत द्रव निकालने का भी प्रबन्ध है जिससे भार का संतुलन रहे।

यदि किसी कारण से यह संतुलन व्यवस्था बिगड़ जाय अर्थात् य-व्यय का नियमन न हो सके तो अधिमन्थ (Glaucomo) की त्ति हो जाती है। इसमें केवल स्राव के निकलने की न्यूनता से ही की सम्प्राप्ति नहीं होती बल्कि जब उत्पत्ति अधिक होती है और कास कम होता है तब रोग उत्पन्न होता है ऐसी विद्वानों की न्यता है।

तीव्राधिमंथ—(Acute congestive or Inflammatory laucoma)—सम्भवतः इसी रोग विशेष का वर्णन सुश्रुत ने अधिमंथ मक रोग से किया है। जैसा कि नीचे प्रसंगों से स्पष्ट होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लक्षण—१. शिरःशूल रात-दिन सतत बना रहता है। रोगी व्याकुल हो जाता है। शूल का कारण सांवेदनिक नाड़ी सूत्रों के ऊपर दबाव होता है। 'उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।' 'तोद निर्भेद'।

२. अत्यधिक अश्रुस्राव—बहुत आँसू निकलता है, रोगी सतत नेत्रों को पोंछता रहता है। इस आँसू में चिपचिपापन नहीं रहता, बिलकुल जल के समान स्राव होता है। 'स्रावकण्डुसमन्वितम्'।

३. दृष्टि में न्यूनता—नेत्र में शूल का प्रारम्भ होने के साथ ही दृष्टि अति मंद हो जाती है। 'हन्यात् दृष्टिम्' 'आविलदर्शनम्'।

४. वमन, शीत के साथ ज्वर का आना तथा हृद्गति का मन्द होना भी अधिमन्थ में आता है।

५. वर्त्मशोथ—पलक पर न्यूनाधिक शोथ रहता है। कइयों में इतना अधिक हो जाता है कि वे नेत्र नहीं खोल सकते 'शूलवर्त्मान्तम्'।

६. नेत्र की लालिमा और स्फीति—तीव्र प्रकोप की अवस्था में नेत्र अत्यन्त लाल हो जाता है। यह लाली गहराई में स्थित रक्तवाहिनियों की स्फीति से और उनमें रक्त संगृहीत हो जाने से होती है। रक्त-वाहिनियाँ रुधिर से भर जाती हैं। इससे नेत्र में अतिशय लाली आ जाती है। अवरोध के हेतु रक्तवाहिनियों में स्रवित द्रव नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे चूकर संगृहीत हो जाता है और फिर वह बुद्बुद के समान फूल जाता है। 'पक्वोदुम्बरसन्निभः' 'बंधुजीवप्रतीकाशम्' 'यकृत्पिण्डो-पमम्' 'रक्तराजिचितम्'।

७. कृष्णमण्डल का निस्तेज होना—प्रकृतावस्था में कृष्णमण्डल बिलकुल चिकना और तेजस्वी रहता है। इस अवस्था में इसको रखने में कारण वहाँ का स्वस्थ रुधिराभिसरण है। यदि अभिसरण में बाधा पहुँचे तो वह निस्तेज हो जाता है। इस रोग के आक्रमण में कृष्ण-मण्डल निस्तेज सा जान पड़ता है, मानो उस पर वाष्प, बादल या धुवाँ चढ़ा हो। 'रक्तमग्नारिष्टवच्च कृष्णभागश्च लक्ष्यते'।

८. सजल द्रव के पूर्व खण्ड की लघुता—ग्लकोमा की स्थिति में पूर्वखण्ड स्वाभाविक से छोटा हो जाता है, उसके द्रव में गंदलापन आ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ता है और उसकी पारदर्शकता जाती रहती है। उसमें शुक्ति (Albu-
in) मिलकर उसको गाढ़ा कर देता है। 'आविलदर्शनं यत्'।

९. तारामण्डल (Iris) मलिन राख जैसे काला पड़ जाता है।

१०. दृष्टि नाड़ी का प्रान्त भाग—दृष्टिनाड़ी का सिरा तीव्रावस्था लाल भासता है। चिरकालीन प्रकार में वहाँ पर गड्ढा सा दिखलाई ता है; परन्तु तीव्रावस्था में इस प्रकार का गड्ढा नहीं दीखता। दर्शक धमनियों में स्पन्दन मालूम पड़ता है।

११. नेत्राभ्यंतर भार की वृद्धि—इसकी परीक्षा अंगुलियों के द्वारा या मापक यन्त्र के द्वारा की जा सकती है। 'ताम्यति' 'स्पर्शनाक्षम'।

१२. तारक (Pupil) में परिवर्त्तन—तीव्राधिमंथ तारक न्यूनाधिक में प्रसारित हो ही जाता है। इतना ही नहीं उस पर प्रकाश डालने वह संकुचित भी नहीं होता, अर्थात् तारक की प्रकाश प्रतिक्रिया भग नष्ट हो जाती है।

उपचार—चिकित्सा करते हुए अधिमंथ की प्रारंभिक अवस्था में षधोपचार करना चाहिये। यदि प्रचुर लाभ न जान पड़े तो शस्त्रो-चार करना चाहिये।

औषधोपचार—१. विश्राम।

२. विरेचन—आधा से एक औंस मैगसल्फ देने से रेचन होकर र कम होता है और वेदना में कुछ शान्ति मिलती है।

३. रक्तविस्रावण—जिधर पीड़ा अधिक हो उधर की ओर छः जोंकें नपटी में लगाकर रक्त का चूषण करावे—इससे भी भार कम होकर शान्त होता है।

४. तारक संकोचक प्रयोग—(क) आँखों के ऊपर बर्फ की थैली पट्टी रखना। (ख) एक प्रतिशत शक्ति के 'इसरिन' की बूंदों को धे आधे घंटे पर आश्च्योतन करना अथवा नेत्र में 'एनीथीन' की दें डालकर पाँच मिनट के पश्चात् रूई के छोटे टुकड़े को 'एपीनेफ्रीन' 'एड्रीनीलीन क्लोरायड' के १ : १००० के घोल में भिंगो कर नेत्र के र के पलक और गोलक के बीच में प्रवेश करावे और पाँच मिनट

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

तक रहने दे। कनीनिका संकुचित होने पर आश्च्योतनों को तीन तीन या छः छः घण्टे के अन्तर से करना चाहिये।

५. सूचीवेध के द्वारा अंतः क्षेपण—(क) यदि उपर्युक्त उपचार से आधे घंटे में लाभ न प्रतीत हो तो विशुद्ध लवण विलयन १ ग्रेन १ औंस परिस्रुत सलिल में रोगी को शिरामार्ग से ५ सी. सी. दे। इसके द्वारा सम्पूर्ण शरीरगत रक्तचाप तथा नेत्रान्तः दबाव भी कम हो जाता है, कनीनिका संकुचित होती है, शूल शान्त होता है। (ख) कुछ लोग 'एड्रेनैलीन' का तीन चार बूंद विलयन नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे सुई से देने की सलाह देते हैं। (ग) यदि पीड़ा असह्य हो तो मार्फिया सल्फेट ¼ ग्रेन की मात्रा में त्वचा के मार्ग से सूचीवेध के द्वारा दिया जा सकता है।

६. विम्लापन—जिस नेत्र में मन्थ या पीड़ा अधिक हो उस नेत्र पर हल्के हाथ से लगभग दो मिनट तक दिन में तीन चार बार मसलने से कुछ शान्ति मिलती है। रोग उत्पन्न होने से आरंभ करके ७२ घंटे तक उपर्युक्त उपचारों से लाभ न दीखे तो अवश्य शस्त्रकर्म करना चाहिये।

शस्त्रोपचार—इसके लिये मुख्य तीन विधान हैं:—

१. सजल द्रव को निकालना—पूर्वखण्ड में शस्त्र को प्रवेश कराके द्रव को निकाल देना चाहिये। इससे पीड़ा कम होकर रोगी को शान्ति मिलती है। परन्तु यह लाभ अस्थायी होता है क्योंकि जल पुनः भर जाता है फलतः बार बार इस क्रिया को दुहराना पड़ता है।

२. बाह्यपटल के पश्चाद् भाग में वेधन या छिद्र करना (Sclerotomy Postereor) कृष्णमण्डल से लगभग बारह मिलीमीटर की दूरी पर ग्राफे की छुरिका से वेधन किया जाता है। इससे भी भार कम होकर पीड़ा शान्त होती है।

३. तारामण्डल छेदन या छिद्रीकरण (Iridectomy) तीव्राधिमंथ में इस शस्त्रक्रिया से बड़ा लाभ पहुँचता है। १८५७ ईस्वी में 'वोनग्राफे' नामक नेत्र विशेषज्ञ ने इस शस्त्रकर्म का आविष्कार किया था। इस क्रिया में तारामण्डल का कुछ भाग काट लिया जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिमंथ के अधिकार में कथित सुश्रुतोक्त विभिन्न नेत्ररोगों की प्राचीन चिकित्सा

(१) अधिमंथ (Acute glaucoma)—दोषानुसार अभिष्यंद- वत् ललाट की सिरा का वेधन और भ्रू के ऊपर दाह।

अधिमंथ में सामान्य चिकित्सा—रोगी के शरीर तथा नेत्र को पूर्ण विश्राम देना। एक वर्ष पुराने घृत का पान कराके स्नेहन कराना। एरण्ड तैल का स्निग्ध विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि कराना। बीच बीच में वस्ति द्वारा भी कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिये।

अभिष्यंद एवं अधिमंथ इन दोनों रोगों में लघु, स्निग्ध एवं पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनी चाहिये। औषधिसिद्ध दूध एवं घृत का भी प्रयोग लाभप्रद रहता है। घृतों में पुराणघृत, त्रिफलाघृत, तैल्वकघृत या केवल शुद्ध गोघृत का पान भोजन के पश्चात् कराना उत्तम रहता है। क्षीर में कपित्थसिद्ध या बृहत् पंचमूलसिद्ध क्षीर का उपयोग लाभ- प्रद होता है।

शोणित-मोक्षण—स्थानिक उपचारों में नेत्रों का स्वेदन, विडालक तथा रक्तमोक्षण सिरा का वेधन करके अथवा बार-बार जोंक लगाकर करना उत्तम है।

दाह-कर्म—यदि उपर्युक्त औषधि-चिकित्सा से लाभ न हो तो अग्निकर्म का विधान शास्त्र में पाया जाता है। सुश्रुत ने भ्रूप्रदेश पर अग्निदाह का विधान किया है।

'शिरोरोगाधिमंथयोः भ्रूललाटशंखप्रदेशेषु दहेत्। (सु. सू.)

'अशान्तौ सर्वथा मन्थे भ्रूवोरुपरि दाहयेत्।' (वा. उ. १४)

अंजन—पारद-नाग-रसांजन—शुद्ध पारद, शुद्ध नाग, रसाञ्जन, प्रवाल, कासीस, लोध्र, ताम्र-भस्म, निशोथ, त्रिकटु, गैरिक, सैंधव, तुत्थ, समुद्र- फेन, त्रिफला, मोती, अपराजिता, पुत्रजीव, धतूरे की जड़, इमली, सौवर्चलवण—समभाग में लेकर खूब महीन चूर्ण बनाकर या घिसकर ताम्रपात्र पर लेपकर वर्ति बना ले, गुलाबजल में घिसकर नेत्रों में लगावे।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

(२) सशोफ नेत्र पाक (Panopthalmitis).

(३) अशोफ नेत्र पाक (Pthisis bulbi)—आधुनिक दृष्टि से इस रोग की आनुमानिक संज्ञा दी जा सकती है। इन दोनों नेत्रपाकों की चिकित्सा में १. जलौका के द्वारा रक्तावसेचन, २. विरेचन ३. शिरा-वेध, ४. शुक्र चिकित्सा के सदृश सेक और लेप का उपयोग करना चाहिये। ५. इसमें त्रिफला, निम्ब, पटोल और अडूसे के क्वाथ को गुग्गुलु के साथ दिया जाता है। इस प्रयोग से शोथ, शूल और लालिमा दूर होती है।[1] दोनों त्रिदोषज परन्तु साध्य रोग हैं। आचार्य सुश्रुत ने इन दोनों पाकों में स्नेहन, स्वेदन, सिरावेध, सेक, आश्च्यो-तन और पुटपाक का क्रम चिकित्सा में बतलाया है।

अंजन—सर्व प्रकार से अंतः और बहिःपरिमार्जन के द्वारा शुद्ध हुए रोगी में अंजन का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये १. ताम्र के बर्तन में घी और सेंधानमक एक मास तक रखकर, २. सुरा या आसव में ३. दधि में या ४. दधि की साढ़ी में रखकर भी अंजन बनाया जा सकता है। ५. कांस्य के बर्तन में उसकी मैल, घी, सेंधानमक और मातृस्तन्य मिलाकर बनाया अंजन। ६. मधूक सार, गैरिक समान भाग में लेकर मधु के साथ उसका अंजन। ७. घृत, सैंधव, ताम्र और स्त्री स्तन्य का अंजन।

रसक्रिया अंजन—अनार, अमल्ताश, अश्मन्तक, कोल (बैर) या नारंगी (ऐरावत) में सेंधानमक मिलाकर रसक्रिया की विधि से बने अंजन का सम्यक् प्रयोग नेत्रपाक को नष्ट करता है।

आश्च्योतन—एक मास तक घृत में पड़ा हुआ सैन्धव, सोंठ का रस स्त्री के दूध में मिलाकर आश्च्योतन रूप में देने से नेत्रपाक में लाभप्रद होता है।

---

१. जलौकापातनं श्रेष्ठं नेत्ररोगे विरेचनम्।
सिराव्यधं च कुर्वीत सेकलेपौ च शुक्रवत्॥
विभीतकशिवाधात्रीपटोलारिष्टवासकैः।
क्वाथो गुग्गुलुसंयुक्तः शोथशूलाक्षिरागनुत्॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जातिपुष्पाद्यंजन—चमेली का फूल, सेंधानमक, सोंठ, कृष्णा बीज (पिप्पली का तण्डुल) विडङ्गसार, इनको पीस कर मधु के साथ घिस निःशंक लेप करना चाहिये।[1]

(४) हताधिमंथ (Atrophy of the Eyeball or Sinking the Eyeball)—इसमें नेत्र या तो बाहर की ओर निकला हुआ होता है या अक्षिशोष होकर आँख कोटर के भीतर धँस जाती । यह वायु के कारण होने वाल विकार असाध्य है।

(५) वातपर्याय (Atrophy of the Fifth cranial Nerve)—एक वातिक साध्य उपद्रव है। इसमें चिकित्सा का क्रम वाताभिष्यन्द के समान करना चाहिये। भोजन के पूर्व में प्रचुर मात्रा घृत और क्षीर का सेवन, स्नेहन के लिये करना चाहिये। किंचिदुष्ण में सेंधानमक मिलाकर सेंक करना चाहिये।[2]

(६) अन्यतोवात (Affections or Atrophy of the Fifth cranial Nerve)—इसमें भी चिकित्सा उपर्युक्त रोग की भाँति ही वाताभिष्यंद का क्रम हितकर है। पूर्वभक्त घृत प्रयोग—वन्दाक, कपित्थ बृहत्पंचमूल में सिद्ध घृत का पीना या क्षीर और कर्कट स्वरस में सिद्ध घृत का पान अथवा पत्तूर, आर्त्तगल और चित्रक से सिद्ध घृत या अथवा कर्कटश्रृंगी के स्वरस से सिद्ध घृत या वीरतर (सरकण्डे) स्वरस से सिद्ध घृत का पान लाभप्रद होता है। दोनों रोगों में (वातपर्याय और अन्यतोवात) इन घृतों का भोजन के पूर्व सेवन हितकर है।

(७) शुष्काक्षिपाक (Opthalmoplagia)—यह भी एक वातिक

---

१. जातीपुष्पं सैन्धवं श्रृङ्गवेरं कृष्णाबीजं कीटशत्रोश्च सारम् ।
एतत्पिष्टं नेत्रपाकेऽञ्जनं स्यात् क्षौद्रोपेतं निर्विशङ्कं प्रयोज्यम् ॥

२. रोगो यश्चान्यतोवाते यश्च मारुतपर्ययः ।
अनेनैव (वातभिष्यंद) विधानेन भिषक् तावपि साधयेत् ॥ (सु०)
वातभिष्यंदवच्चात्र वातमारुतपर्यये ।
वाताभिष्यंदशमनं हितं मारुतपर्यये ॥
पूर्वं तत्र हितं सर्पिः क्षीरं वाप्यथ भोजनम् ।
परिषेको हितं नेत्रं पयः कोष्णं ससैन्धवम् ॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

एवं साध्य विकार है। इसकी चिकित्सा में सुश्रुत ने कई एक अंजनों का पाठ दिया है। १. सैन्धवादि–सेंधानमक, देवदारु, सोंठ, बिजौरे निम्बू का रस, घृत, इनकी रसक्रिया पानी के योग से करके मातृस्तन्य (दूध) मिलाकर अंजन करना। रजन्यादि–हल्दी, देवदारु, सैन्धव, सोंठ, घृत और मधु मिलाकर अंजन करना। वसाद्यंजन–आनूपदेशज और जलज प्राणियों की वसा, सेंधानमक और सोंठ के मिश्रण से बने योग का अंजन करना। इन अंजनों के अतिरिक्त घृत का पान, नेत्रों का तर्पण जीवनीय घृत या अणु तैल से नस्य लेना तथा आश्च्योतन और सेक के लिये ठण्डे दूध में नमक डालकर नेत्रों में प्रयोग करना हितकर है।[1]

(८) अम्लाध्युषित—यह एक पैत्तिक और साध्य रोग है। इसमें खट्टे पदार्थों के सेवन से कुपित हुआ पित्त नेत्र का वर्ण नीललोहित कर देता है। संभव है यह भी 'ग्लौकोमा' की ही किसी अवस्था या लक्षण विशेष का द्योतक हो। चिकित्सा में पित्ताभिष्यंद के उपक्रमों का उपयोग करना चाहिये। शुक्तिका नामक रोग में जिस प्रकार की क्रिया का उल्लेख है उसी प्रकार का इसमें भी करते हैं। परंतु इसमें सिरामोक्ष नहीं करते। पित्तघ्न उपचारों में अंतःप्रयोग के लिये तैल्वक घृत, त्रिफला घृत या पुराण घृत का सेवन करना चाहिये। अन्य भी तिक्त घृतों का सेवन, बहुत बार विरेचन लेना और शीतल लेप करना लाभप्रद है।[2]

उपर्युक्त रोगों में प्रायः सभी के लक्षणों का प्राचीन ग्रंथों के आधार पर अधिमंथ के प्रसंग में उल्लेख कर दिया गया है—यहाँ पर उनकी एकैकशः चिकित्सा भी लिख दी गई। अब सर्वगत रोगों में दो रोग और भी अवशिष्ट रह गये हैं जिनका वर्णन किया जा रहा है।

---

१. पूजितं सर्पिषा चात्र पानमक्ष्णोश्च तर्पणम् ।
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना ॥
परिषेके हितं चात्र पयः शीतं ससैन्धवम् ।

२. तिक्तस्य सर्पिषः पानं बहुशश्च विरेचनम् ।
अम्लाध्युषितशान्त्यर्थं कुर्याल्लेपान् सुशीतलान् ॥
शिराव्यध विना कार्यः पित्तस्यन्दहरो विधिः । (यो० र०)
सर्पिः पेयं त्रैफलं तैल्वकं वा पेयं वा स्यात् केवलं यत्पुराणम् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिरोत्पात (Hyperaemia of conjunctiva)—जिसमें रोगी के ...की रेखायें ताम्र वर्ण (लालरंग) की हो जाय और पूरी आँख लाल ...जाय उसमें वेदना हो या नहीं उस रोग को सिरोत्पात कहा जाता ...। यह एक स्थूल लक्षण है जिसके आधार पर इस रोग को आधुनिक ...या नेत्र श्लेष्मावरण का रक्ताधिक्य कहा जा सकता है। यह रक्तज ...ध्य रोग है।

चिकित्सा—अभिष्यंद या अधिमंथवत् चिकित्सा करनी चाहिये। ...का स्नेहन और कोष्ण घृत से स्वेदन कराके रक्तविस्रावण करना ...हिये। मधु और घृत का अंजन सिरोत्पात में लाभ करता है। इसी ...प्रकार सैन्धव और कासीस को मातृस्तन्य में पीस कर अंजन करना भी ...हितकर है।[1] गैरिक का मधु के साथ अंजन अथवा शिरीष पुष्प-सुरा, ...व और मधु का अंजन लाभप्रद होता है।

...*सिराहर्ष*—(Acute orbital Cellulitis)—यदि गलती से ...सिरोत्पात की उपेक्षा की जाय और उसका सम्यक् प्रतिषेध न किया ...जाय तो सिरा प्रहर्ष नामक रोग होता है। जिसमें रोगी का नेत्र रक्त ...वर्ण का हो जाता और लालरंग का ताम्रवर्ण स्वच्छ गाढ़ा अश्रु स्रवित ...होता है।[2] रोगी देखने में असमर्थ (Photophobia and loss of ...sion) रहना है।

इस स्थूल लक्षणों के आधार पर आनुमानिक समता तीव्र नेत्रगृह ...(Acute orbital Cellulitis) नामक रोग से की जा सकती ...। यह रक्तजन्य साध्यरोग है।

...*प्रतिषेध*—फाणित और मधु का अंजन, तार्क्ष्यशैल और मधु का ...अंजन या कासीस और मधु का अंजन या वेतसाम्ल, फाणित, सैंधव

१. स्निग्धस्य कोष्णेनाज्येन शिरावेधैः शमं नयेत् सर्पि क्षौद्रं चाञ्जनं स्यात् ...पातस्य भेषजम्। तद्वत् सैन्धवकासीसं स्तन्यपिष्टं च पूजितम् सिराहर्षेऽञ्जनं ...फाणितं मधुसंयुतम्। मधुना तार्क्ष्यशैलं च कासीसं च समाक्षिकम् वेतसाम्लं ...युतं फाणितं तु सैन्धवम्। पित्ताभिष्यंदशमनं विधिं चात्रापि योजयेत्।

२. मोहात् शिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः। ताम्राच्छमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

और मधु का अंजन सिराहर्ष की अवस्था में कार्यकर होता है तथा अन्य भी पित्ताभिष्यंद की चिकित्सा लाभप्रद होती है।

रक्तजाधिमंथ, अभिष्यंद, सिरोत्पात और सिराहर्ष चारों रोगों की एक ही चिकित्सा है।

नेत्रश्लेष्मावरणीय तथा संधान मण्डलीय या परिकृष्णमण्डलीय लालिमा का भेद

नेत्र श्लेष्मावरणीय लालिमा या रक्ताधिक्य (Conjuntival Injection)	संधान मण्डलीय या परिकृष्ण मण्डलीय रक्ताधिक्य (Ciliary or Circumciliary Injection)
(१) पश्चात् श्लेष्मावरणगत रक्तवाहिनियों (Posterior conjunctivalvessels) में इसकी उत्पत्ति होती है।	(१) अग्रिम संधान मण्डलगत (Ante... or ciliary vessels) से इस... उत्पत्ति होती...
(२) नेत्र श्लेष्मावरण (Conjunctiva) के रोगों के साथ-साथ यह होता है।	(२) कृष्णमण्डल,संधानमण्डल,तारामण्... के रोगों के साथ यह होता है।
(३) कम या अधिक कीचड़ युक्त दुर्गन्धित या दुर्गन्धित प्रस्राव होता है।	(३) अक्सर जलस्राव होता है कि... कीचड़ नहीं निकल...
(४) वर्त्म श्लेष्मावरणकोण (Fornix conjunctiva) में सब से अधिक स्पष्ट रहता है।	(४) कृष्णमण्डल के चारों तरफ स... अधिक स्पष्ट रहता...
(५) कृष्णमण्डल की तरफ जाते हुए अस्पष्ट हो जाता है।	(५) वर्त्म श्लेष्मावरणकोण की त... अस्पष्ट हो जाता...
(६) चमकीले ईंटों के समान रक्तवर्ण का होता है।	(६) गुलाबी रंग का होता है।
(७) खुरदरा तथा टेढ़ा मेढ़ा जाल के समान बना रहता है। एक दूसरे से स्वतंत्र तथा मिला हुआ और ऊपरी स्तर में रहता है, अतः जालाकार आसानी से दिखलाई देता है।	(७) छोटी-छोटी सिराओं से बना हु... अन्तस्तर में स्थित रहता है अ... शिराएं स्पष्टरूप से नहीं दिखाई... किन्तु अस्पष्टरूप से पुष्ट तथा स... रेखा के समान कृष्णमण्डल से नि... लती हुई दिखलाई पड़ती...
(८) अधोवर्त्म पर दबाव देने से नेत्र श्लेष्मावरण के साथ-साथ स्थान बदल जाता है।	(८) नेत्रश्लेष्मावरण को हिलाने से उस... (सिरा) स्थान नहीं बदला... सकत...

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिष्यंद की सापेक्ष्य निश्चिति

तारामण्डल शोथ (Acute Iritis)	तीव्रनेत्रश्लेष्मावरणशोथ या अभिष्यंद (Acute conjunctivitis)	तीव्र अधिमंथ (Acute Glaucoma)
तारामण्डल (Iris) ...युक्त, मन्द (Dull) और रंग हीन (Discoloured)	(१) तारामण्डल में कोई परिवर्तन नहीं।	(१) तारामण्डल अधिक रक्ताधिक्ययुक्त (Congested), रंगहीन, मन्द, किनारा (Periphery) आगे की तरफ बढ़ा हुआ।
दृष्टिमण्डल या तारक (Pupil) छोटा, भूरा ...ल्प क्रियाशील एट्रोपीन ...देने के बाद अनियमित।	(२) दृष्टि मण्डल स्वाभाविक।	(२) दृष्टिमण्डल विस्तृत (Dilated), अण्डाकार निश्चल (Immobile)
अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber) स्वाभाविक गहराई का, स्रावी ...कार में अधिक गहराई और स्राव युक्त।	(३) अग्रिमा जलधानी स्वाभाविक।	(३) अग्रिमाजलधानी उथली और जलयुक्त (Aqueous); कभी २ मटमैला (Turbid)।
कृष्णमण्डल (Cornea) पारदर्शक (Transparent) (पश्चिम भाग में कुछ कण के सदृश ...ड़ा रह सकता है) और सूक्ष्मग्राही (Sensitive)	(४) कृष्णमण्डल पारदर्शक।	(४) कृष्णमण्डल धुंधला (Steamy) और सूक्ष्मग्राही।
तन्तु समूह गत रक्ताधिक्य (Ciliary injection); गुलाबी रंग की सिरायें कृष्णमण्डल के चारों तरफ स्पष्ट तथा कोण (Fornix) के तरफ मुझीये हुए।	(५) श्लेष्मावरणगत रक्ताधिक्य (Conjunctival injection) खुरदरा जाली के समान, कोण (Fornix) में अधिक स्पष्ट, तथा कृष्णमण्डल की तरफ मुझीया हुआ।	(५) तन्तुसमूहगत (Ciliary) और बाह्यपटलोपरिगत (Episcleral) रक्ताधिक्य (साथ-साथ श्लेष्मावरण (Conjunctiva) में अधिक रक्त संचय)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

तीव्रतारालण्डल शोथ (Acute Iritis)	तीव्रनेत्रश्लेष्मावरण शोथ या अभिष्यंद (Acute conjvnctivitis)	तीव्र अधिमंथ (Acute Glaucoma)
(६) श्लेष्मावरण प्रायः पारदर्शक ।	(६) श्लेष्मावरण लालिमायुक्त तथा अपारदर्शक ।	(६) श्लेष्मावरण अधिक रक्त संचययुक्त (Congested) तथा शोथयुक्त (Chae motic
(७) अश्रुस्राव (Lacrymation), किन्तु कोई प्रस्राव (Discharge) नहीं ।	(७) श्लेष्मा या पूययुक्त श्लेष्मा (Muco-purulent) प्रस्राव ।	(७) अश्रुस्राव; किन्तु को अन्य स्राव नहीं ।
(८) पीडन या तनाव (Tension) अक्सर स्वाभाविक (Normal) (कभी-कभी बढ़ा हुआ) ।	(८) पीडन स्वाभाविक ।	(८) पीड़न बढ़ा हुआ ।
(९) कुछ संधानमण्डल (Ciliary body), स्पर्शनाक्षम (Tender)	(९) संधानमण्डल स्पर्शनाक्षम बिल्कुल नहीं होता ।	(९) संधानमण्डलस्पर्शनाक्षम
(१०) पीडा पुरःकपाल (Forehead) तथा शंखप्रदेश (Temple) में संवाहित होता है; जो रात में अधिक हो जाता है ।	(१०) बेचैनी दाह, किरकिरापन मालूम पड़ना (Gritty feeling), किन्तु वास्तविक शूल नहीं ।	(१०) तीव्र शूल आँख अन्दर तथा शिरःशूल ।
(११) दृष्टि (Vision) का कम (Dim) हो जाना ।	(११) दृष्टि में कोई बाधा नहीं, सिर्फ कृष्णमण्डल के तह पर प्रस्राव से चिपके होने के कारण धब्बा (Blurring) मालूम पड़ना ।	(११) दृष्टि का बहुत अधिक कम हो जाना ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१५

दृष्टिगत रोग

(Diseases of the Tunics of the Eye, Opacity of the lens and diseases of the Retina and Optic Nerve)

पटलों के बारे में संक्षेपतः पूर्व में ही उल्लेख हो चुका है। पटलों 'ट्यूनिक्स आफ दी आई' बतलाया गया है। इस अध्याय में दृष्टिगत ों का वर्णन प्रासंगिक है। दृष्टि में होने वाला मुख्य रोग तिमिर है। र यह पटलाश्रित होता है इसमें क्रमशः दृष्टि का ह्रास होता है। में पाये जाने वाले बारह रोग होते हैं—छः प्रकार के लिङ्गनाश तिमिर की ही अवस्था विशेष) तथा छः प्रकार के पित्त विदग्ध दृष्टि, दर्शी ह्रस्व जाड्य, नकुलांध्य, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि और गम्भीरिका।

इन वर्णनों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने दृष्टि दो अर्थों में ग्रहण किया है अर्थात् एक सामान्य दर्शन (Vision) र दूसरा विशिष्ट अर्थ दृष्टिमणि (Lens) जहाँ पर सामान्य दर्श- र्थ रूप में दृष्टि का उल्लेख आता है उसमें अनेक नेत्रावयवों के रोग जायँगे। जैसे परावर्त्तन क्रिया का दोष (Erors of refraction) मध्य पटल (Choroid) के विकार, दृष्टि वितान के विकार Retina), दर्शन नाड़ी (Obtic Nerve) दर्शन नाड़ी संगम, न प्रबन्ध आदि के विकार प्रभृति। जैसे 'दृष्टिं हन्यात्सप्तरात्रात्कपोत्थः' र्थात् कफोत्थ अधिमन्थ एक सप्ताह में दृष्टि को नष्ट करता है। यहाँ दृष्टि दर्शन शक्ति के अर्थ में व्यवहृत है।

परन्तु जहाँ पर दृष्टि से विशिष्टार्थ में दृष्टिमणि (Lens) के विकार आपेक्षित हैं केवल दृष्टिमणि के विकारों का ही बोध होगा।

विशिष्टार्थ में सुश्रुतोक्त दृष्टि (Lens) का वर्णन

'कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः' (सु० उ०)

कृष्णमण्डल का सातवाँ भाग दृष्टि होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

'पंचमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते' (सु० उ० १) पटलों में से प्रत्येक मोटाई दृष्टि की मोटाई के ⅕ है।

इन वर्णनों में प्रथम श्लोकार्द्ध से तो स्पष्टतया दृष्टि शब्द 'लेन्स' का बोधक होता है परन्तु दूसरा श्लोकार्द्ध कुछ भ्रामक रहता है। इसके बाद जब उत्तर तन्त्र का सातवाँ अध्याय आता है और उसमें दृष्टिगत रोगों के विज्ञानीय अध्याय का प्रसंग चलता है तो वहाँ पर स्पष्टतया दृष्टि शब्द दृष्टिमणि (Lens) का ही बोधन करता है।[1] वहाँ पर दृष्टि का प्रमाण, आकार और लक्षणों का विशिष्ट उल्लेख किया जाता है :— 'दृष्टि पञ्चमहाभूतों के सार से विशेषतः अव्यय तेज से उत्पन्न होती है। इसी लिये उसकी तेजोमयी दृष्टि की संज्ञा दी जाती है। यह मसूर दल के परिमाण की होती है।' मसूरदल कहने से वास्तव में मसूर के पत्र के परिमाण की रचना समझना चाहिये। कुछ लोगों ने मसूर दल का अर्थ मसूर की दाल के समान किया है, परन्तु संस्कृत में दाल के लिये विदल या द्विदल शब्द का प्रयोग होता है। दल शब्द का प्रयोग केवल पत्ती के अर्थ में ही होता है। अस्तु मसूर दल कहने से मसूर की पत्ती ही समझनी चाहिये। दूसरी शंका यह उठती है कि यह मसूर की पत्ती के आयाम (लम्बाई, चौड़ाई) का सूचक है या मोटाई का। चूँकि यहाँ पर बाहुल्य या मोटाई शब्द का उल्लेख नहीं है इसलिये अर्थ होगा मसूर पत्र के आयाम का। अर्थात् मसूर के पत्ते के बराबर दृष्टि (Lens) होता है और यह युक्ति युक्त भी है।

'इस तेजोमयी दृष्टि में खद्योत (जुगुनू) और आग की चिनगारी (विस्फुलिङ्ग की आभा होती है। ये खद्योत और चिनगारी तैजस पदार्थ होते हुए भी जैसे किसी अङ्ग को नहीं जलाते हैं उसी प्रकार यह भी नेत्र के भागों को नहीं जलातीं। दृष्टि में यह तेज अव्यय रूप में यावज्जीवन स्वस्थावस्था में रहता है न उसमें वृद्धि होती है न ह्रास, (उपचयापचय रहितः इति डल्हणः) बल्कि एक समान रहता है। यदि

१. मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजां खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिं शीतसाम्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार यह तेजोमय दृष्टि है तो उसकी चमक (भास्वरता) बाहर क्यों नहीं दीख पड़ती। इसका कारण यह है वह बाहर से आँखों कई पटलों से आवृत होता है इसके कारण प्रकाश किरणों के प्रवेश में कोई बाधा नहीं होती। ये पटल बाहर से विवराकृति हैं अर्थात् इनमें विवर या छिद्र नहीं होता। फिर भी (मृदु और दर्शक) रचना होने के कारण दृष्टि से ज्ञान हो जाता है। इसमें चतुर्थ पटल में रूप ग्रहण का सामर्थ्य है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि इसी में दोष के व्यवस्थित होनेसे रूप ग्रहण की विकृति रूप तिमिर की उत्पत्ति होती है। यह दृष्टि शीत सात्म्य है। अर्थात् शीत से इसमें लाभ होता है उष्ण से हानि। तेजोमय वस्तु को शीत सात्म्य कैसे कहा जाता इसके दो समाधान हैं—१. जल और अग्नि यदि पृथक् पृथक् हों उनका विरोध होता है न कि एक साथ उत्पन्न और एक कार्य वाले जल और अग्नि का। २. प्रभाव से तेज़ोमयी दृष्टि को शीत सात्म्य माना जाता है। इस प्रकार की दृष्टि की व्याख्या नेत्र-विशारद या शलाकी करते हैं।'

दृष्टि की संज्ञा निर्धारण में कुछ अन्य विचार :—आचार्य विश्वनाथजी द्विवेदी ने अपने 'नेत्र रोग विज्ञान' में लिखा है कि 'प्राचीन चिकित्सकों ने दृष्टि को किसी एक स्थान को नहीं माना है—वल्कि दर्शन के जितने माध्यम हैं उन सबको कहीं व्यस्त और कहीं समस्त रूप से दृष्टि कहा है। इनके विचार से कहीं पर दृष्टि शब्द से दृष्टिमणि (Lens) का ज्ञापन, कहीं पर दृष्टि वितान (Retina) तथा मेदस द्रव (Vitreous humour), का ज्ञापन, कहीं पर 'बाह्येन विवराकृति' व्याख्या से तारा (Pupil) का परिचायक तथा कहीं पर उपतारा (Iris) नामक नेत्रान्तः अवयव का ज्ञान होता है। सुश्रुत ने उपतारा के अर्थ में दृष्टि का वर्णन करते हुए लिखा है कि दृष्टि 'प्रकाश रहित स्थान में फैलती अर्थात् छाया में फैलती और धूप या प्रकाश में सिकुड़ती है।' 'संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्।'

इस प्रकार दृष्टि का व्यवहार यहाँ पर सामूहिक रूप में समस्त दृष्टि माध्यमों (Refractive media) के अर्थ में हुआ है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दृष्टिमणि (Lens) के अर्थ में व्यवहार—मसूर की दाल के समान जैसे मसूर में दो दल होते हैं एक छोटा और एक बड़ा और मिलित उभयोन्नतोदर (Biconvex) होता है उसी प्रकार 'लेन्स' भी। 'लेन्स' का भी सामने वाला भाग बड़ा और पीछे वाला छोटा होता है। आकार या स्वरूप की उपमा मसूर की आधी या पूरी दाल के साथ लेन्स की दी गई है। यदि 'मसूर दल' के मसूर का पत्र ग्रहण किया जावे तो वह दृष्टि (Lens) के आयाम का बोधक होगा।

'मसूरदलमात्रान्तु पञ्चभूतप्रसादजाम् ।' (सु०)

'पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्द्धदलोन्मिता ।' (विदेह)

दृष्टि वितान (Retina) के अर्थ में व्यवहार—प्रकाश बिम्ब के पड़ने से दृष्टि वितान पर की रासायिनिक क्रिया को देखने से मेदस द्रव में खद्योत एवं विस्फुलिङ्ग के प्रकाश की तरह प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है—इसी का वर्णन 'खद्योतविस्फुलिङ्गाभां' शब्द से प्राचीनों ने किया है।

पुतली (Pupil) के अर्थ में व्यवहार—नेत्र गोलक के विवराकृति छिद्र को भी दृष्टि कहते हैं। जो बाह्य पटल से आवृत रहती है—

'आवृतां पटलेनाद्यो बाह्येन विवराकृतिम् ।'

अन्यत्र भी लिखा है कि नेत्र के विस्तार के तृतीयांश के बराबर कृष्णमण्डल होता है और इसके सप्तमांश के बराबर दृष्टि का प्रमाण है। नेत्र का आयाम व्यक्ति के अपने अंगुष्ठ से दो अंगुष्ठोदर होता है—दो अंगुष्ठ की दूरी अर्थात् कनीनिका से अपाङ्ग तक की लम्बाई १½ इञ्च के करीब होती है—इसका इक्कीसवाँ भाग करीब ⅙ सेण्टीमीटर होता है जो ठीक पुतली की लम्बाई के बराबर होता है। स्पष्ट है यहाँ पर दृष्टि शब्द से विवराकृति पुतली का वर्णन ही ग्रन्थकार को अभिप्रेत है।

माधवनिदान की हिन्दी टीका में सम्पादकीय टिप्पणी में इस प्रसंग में आचार्य यदुनन्दन जी उपाध्याय लिखते हैं :—

'उपर्युक्त विचारों को दृष्टि में रखते हुए देखा जाय तो प्राचीन अचार्यों ने दृष्टि शब्द की तीन अर्थों में व्यवहार किया है—१. विशिष्ट दृष्टि, दृष्टिमणि=ताल (Lens)। यह वस्तुतः एक पटल ही है। इसमें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विकार होने पर लिङ्गनाश (Cataract) होता है; किन्तु लिङ्गनाश स्वतः या शस्त्रकर्म के द्वारा इस दृष्टिमणि (Lens) के हट जाने निकाल देने पर प्रायः पुनः दिखलाई देने लगता है। अतः दृष्टि इससे भिन्न ही प्रतीत होती है। २. सामान्य दृष्टि—दृष्टि का आधारभूत गोलक के विभिन्न अवयवों विशेषतः पटलों के विकारों में भी परम्परया न्यूनाधिक रूप में दृष्टि (दर्शन ज्ञान) में उपघात होता है। सूक्ष्म दृष्टि (Macula Leutea) वस्तुतः यही मुख्य दृष्टि है और मसूरार्द्ध दल के समान ही नेत्र के पिछले भाग के मध्य में अन्तःपटल पर स्थित है और रूप ग्रहण इसी के द्वारा होता है। इसमें विकृति होने पर स्थूलनयन के विकार रहित होने पर भी दर्शन ज्ञान का उपघात होता है। इसमें सूक्ष्म चक्षुरिन्द्रियमात्र का उपघात होता है। जैसे बाह्यज विशेषतः अनिमित्तज लिङ्गनाश (Maculo-cerebral Degeneration etc.)।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यह है कि वक्ष्यमाण दृष्टिगत रोगों को यथा सम्भव पटलगत (Diseases of the Eye tunics) या दृष्टिमणिगत (Lens Defects) अथवा सूक्ष्म दृष्टिगत (Maculo-cerebral Diseases) विकार समझना चाहिये।

तिमिर-काच-लिङ्गनाश प्रभृति—दृष्टिगत रोगों के समझने के लिये पटलों के बारे में एक दृष्टि रखनी चाहिये। पटलों का वर्णन नेत्र-शरीर के वर्णन के प्रसंग में विस्तार से हो चुका है। पटल कुल छः होते हैं। इनमें चार ही नेत्र गोलक में होते हैं जिनका दृष्टि या दर्शन कार्य से सम्बन्ध है। प्रथम तीन पटलों में दोष या विकार होने पर दर्शन व्यापार (Vision) में न्यूनाधिक विकार आता है—किन्तु चतुर्थ में विकार होने पर दर्शन व्यापार निश्चित रूप से पूर्णतया बंद हो जाता है। अतएव तीन पटलों के विकारों को तिमिर और चतुर्थ पटल गत विकार को लिङ्गनाश कहा गया है। चतुर्थ पटल में विकार प्रायः क्रमशः होता है। उसकी प्रारंभिक अवस्था में तिमिर के ही लक्षण उत्पन्न होते हैं। पूर्ण विकार होने पर ही लिङ्गनाश होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

है—संभवतः इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने पटल गत और दृष्टिगत विकारों का एक साथ ही वर्णन किया है।

आधुनिक विद्वान् केवल दृष्टिमणि (Lens) के क्रमिक विकार को तिमिर (Progressive Cataract) और पूर्ण विकार को लिङ्गनाश (Cataract) कहते हैं। पटल गत विकारों का स्वतंत्रतया पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं। इस प्रकार दृष्टि (Lens) के विचार से ही आधुनिक दृष्ट्या यदि तिमिर लिङ्गनाशादि विकारों की उत्पत्ति मान ली जावे तो पटल यहाँ पर (Layers of lens) के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं ऐसा मानना होगा और विभिन्न पटल गत विकार 'लेन्स' के स्तरानुसार खटिकीभरण (Calcifiecation) विविध अवस्थायें समझी जायेंगी। ऐसा केवल विशिष्टार्थ में ही जहाँ दृष्टि 'लेन्स' के अर्थ में व्यवहृत हुई है और उसीके विकार से जहाँ रोग हुए हैं (जैसे तिमिर-काच-लिङ्गनाश) मानना युक्तिसंगत रहेगा सर्वत्र नहीं।

इस सिद्धान्त के अनुसार लिङ्गनाश के पूर्ण होने तक चार पटलों या चार अवस्थाओं (Stagesof Cataract formation) में विकार का आख्यान पाया जावेगा। जैसा कि नीचे के वर्णनों से स्पष्ट हो रहा है।

तिमिर की उपेक्षा करने पर वह काच का रूप धारण कर लेता है और काच की उपेक्षा करने पर वह लिङ्गनाश या अंधता को प्राप्त करता है। नेत्र की देखने की शक्ति को लिङ्ग कहते हैं और उसका नाश जिस रोग में हो उसको लिङ्गनाश कहते हैं। तिमिर, रोग की प्रथमावस्था है—अस्तु उसके द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थावस्था प्राप्त करने के पूर्व ही यत्न पूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। नेत्र रोगों में यह तिमिर एक घोर रोग है।

तिमिरो काचतां याति काचोप्यान्ध्यमुपेक्षया
नेत्ररोगेष्वतः घोरं तिमिरं साधयेद्द्रुतम्। (वा. उ. १३)

तिमिर—(Progressive Cataract) प्रथम पटल (First tnuic First Stage) स्थित दोषोत्पन्न तिमिर में—विगुण एहुदोष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सिराओं से होकर अभ्यन्तर में जाकर दृष्टि के द्वारा सभी पदार्थों का अव्यक्त रूप दर्शाते हैं। अर्थात् प्रथम पटल में दोष के व्यवस्थित होने से स्पष्ट या साफ दिखाई नहीं पड़ता है। अर्थात् वायु में भ्रमते हुए लाल रंग की, पित्त में सूर्य, जुगुनू, नील या पीत वर्ण जैसे श्लेष्मा से सफेद रंग रक्तज में लाल रंग और सन्निपातज में विचित्र रूप की अव्यक्त वस्तुएँ दीख पड़ती हैं।'[1]

इस प्रकार की अव्यक्त रूपता 'प्रोग्रेसिभ कैटेरेक्ट' की अवस्था में अथवा निम्नलिखित रोगों में यथा शुक्र, तारामण्डल शोथ और 'एस्टैमैटिज्म' (विषम दृष्टि) में दीख पड़ते हैं।

द्वितीय पटल (II tuic or II stage) स्थित दोषोत्पन्न तिमिर में—इस पटल में दोषों के व्यवस्थित होने से दृष्टि पहले की अपेक्षा अधिक विह्वल (Lossof Vision) हो जाती है। सभी प्रकार के पदार्थों के मिथ्या रूप दिखलाई पड़ते हैं। रोगी के आँख के सामने मक्खी, मच्छर, बाल, मकड़ी के झाले जैसे दीख पड़ते हैं। मण्डल (गोला), पताका (ध्वजा), मृगतृष्णा, कान का कुण्डल, विविध प्रकार के ताराओं जैसी चमक, वर्षायुक्त आकाश और अन्धकार आदि दिखलाई पड़ते हैं। रोगी को अधिक बढ़ी हुई अवस्था में दूर की चीजें नजदीक और नजदीक की दूर दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकार दृष्टि में इन्द्रियार्थ का विभ्रम हो जाने से न केवल असद्रूप के ही विकृत दर्शन होते हैं बल्कि सद्रूप के भी विकृत दर्शन होते हैं। रोगी अनेक प्रयत्न करके भी सूई में तागा नहीं पिरो सकता।'[2]

---

१. प्रथमे पटले दोषो यस्य दृष्टौ व्यवस्थितः।
अव्यक्तानि स रूपाणि सर्वाण्येव प्रपश्यति ॥

२. दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते।
मक्षिकान् मशकान् केशान् जालकानि च पश्यति ॥
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीः कुण्डलानि च।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥
दूरस्थान्यपि रूपाणि मन्यते च समीपतः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

इस प्रकार के लक्षण भी 'प्रोग्रेसिव कैटेरेक्ट' तथा कई अन्य प्राच्य तथा पाश्चात्य रोगानुक्रमणिका के रोगों में मिल सकते हैं। जैसे नेत्रमध्यपटलशोथ, सान्द्र द्रव की अपारदर्शिता, विट्रस ओपैसिटी, संधानीय पेशियों की अकार्य क्षमता (Ciliary muscles paralysis), तिमिर जन्य पूर्व रूप, तारा मण्डल और तन्तुमय समूह के शोथ (Iridociclitis) तथा विषम दृष्टि (Astigmatism).

तृतीय पटल स्थिति (III tunic or III stage) दोषोत्पन्न तिमिर में—दोषों के आश्रित होने से दर्शनाक्षमता तथा दृष्टि विषमता उत्पन्न हो जाती है। 'जिससे रोगी ऊपर को देखता है। नीचे को नहीं देखता, बड़ी वस्तुओं को वस्त्र से ढके के समान देखता है। व्यक्ति को कर्ण, नासा, आँख से हीन देखता है। दोष के बलवान् होने दोषानुसार (दृष्टि मणि) के रंग में परिवर्त्तन हो जाता है। दोष अवस्थान यदि नीचे को हो तो समीप की चीजों को, दोष का अवस्थान ऊपर में होने पर दूर की चीजों को और दोष का अवस्थान पार्श्व में होने पर पार्श्वस्थ वस्तुओं को रोगी नहीं देख पाता। एवं दोष का अवस्थान यदि चारों ओर हो तो संकुल (मिले हुए) के समान देखता है। यदि दोष का अवस्थान ठीक बीच में दृष्टि (दृष्टि मणि या लेन्स) के हुआ तो एक ही चीज को दो करके देखता है। यदि दोष का अवस्थान दृष्टि (मणि) के दो स्थानों पर हुआ हो तो एक चीज को तीन करके देखता है। यदि एक स्थान पर स्थिर नहीं हो पाया हो, अस्थिर या चञ्चल हो तो एक ही चीज को बहुत करके देखता है। इस अवस्था विशेष को तिमिर कहते हैं।"[1]

समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ॥

१. ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते।
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव वाससा ॥
कर्णनासाक्षियुक्तानि विपरीतानि वीक्षते।
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिङ्गनाश नीलिका काच—(चतुर्थ पटलस्थ दोष या IV stage) Cataract) 'वही मिमिर नामक रोग यदि चतुर्थ पटल में, जो तो और जल का आश्रय भूत है आया तो वह दृष्टि को पूर्णतया रुद्ध कर देता है। इस अवस्था को लिङ्ग नाश कहते हैं। लिङ्ग का अर्थ है —चक्षुरिन्द्रय की शक्ति उसका नाश जिस दोष में उसे लिङ्ग नाश की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। यदि यह अवस्था पूर्ण द्धि को प्राप्त हुई तो रोगी को पूर्णतया अंधकार भासता है, (Matured ataract) परन्तु यदि नातिरूढ़ या नातिवृद्ध रहा तो (Immatured ataract) प्रकाश का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् उसे चन्द्रमा, सूर्य, काशमान् नक्षत्र, विद्युत्, निर्मल अग्नि आदि तथा प्रकाशमान पदार्थ ज्ञान हो सकता है।' इस प्रकार लिङ्गनाश की दो अवस्थायें हो सकती हैं। रूढ़ (Matured) तथा नातिरूढ़ (Immatured)[1] इसी को लिङ्गनाश, नीलिका या काच कहा जाता है।

सुश्रुतोक्त तृतीय पटलस्थित तिमिर के लक्षणों का अन्तर्भाव आधुनिक दृष्ट्या कई रोगों में किया जा सकता है। यथा दृष्टिमणि की स्थानभ्रष्टता (Dislocation of the Lens), दृष्टि वितान विच्छेद

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ।
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ।
दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा ॥
द्विधा स्थिते त्रिधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ।
दोषक्षयात्कदाचित्स्यात् स्वयं तत्र च दर्शनम् ।
तिमिराख्यः स वै दोषः ॥:

१. चतुर्थं पटलं गतः रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशः स उच्यते ।
तस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ।
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे विद्युतः ॥
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णूनि च पश्यति ।
स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(Detachment of Retina), दृष्टिमणि की अपार दर्शिता (Opacity of the Lens), चिरकालीन गम्भीर अव्रण शुक्र (Macula) या दर्शन नाड़ी शोथ (Optic Netritis) आदि ।

चतुर्थ पटल स्थित तिमिर दोष के हो जाने पर जब दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है, पदार्थ धुंधला अथवा नहीं दिखलाई देता है अथवा प्रकाशित तथा चमकने वाली वस्तुओं का ज्ञान मात्र हो जाता है तो इस अवस्था को लिङ्ग नाश, काच नीलिका या मोतियाबिन्द कहते हैं। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'कैटरेक्ट' कहा जाता है। आधुनिक ग्रन्थों में इसका बड़ा विशद वर्णन पाया जाता है। जिसका संक्षेप में दिग्दर्शन आगे कराया जायगा। व्यावहारिक दृष्टि से विशेषतः शस्त्र चिकित्सा के लिये इसकी दो अवस्थाओं का ज्ञान कर लेना बहुत आवश्यक होता है। यथा वह पका (Matured) है या कच्चा (Immatured) इसीको सुश्रुत के शब्दों में रूढ़ और नातिरूढ़ संज्ञा से विवेचन किया हुआ मलता है।

तिमिर के भेद—तिमिर के छः प्रकार हैं—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, सन्निपातज तथा संसर्गज (पित्त और रक्त से उत्पन्न) ये सभी भेद दोषानुसार संहिता में दिये गये हैं। उनमें प्रत्येक के विशिष्ट लक्षणों का विस्तार से उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

वातिक तिमिर—इसमें रोगी को रूप चंचल, मलयुक्त और इषद् लाल वर्ण के समान दिखलाई पड़ता है।

पैत्तिक तिमिर—इसमें रोगी को सूर्य, जुगुनू, इन्द्र धनुष, विद्युत, मोर के पंख, चित्र विचित्र रंग, नील और कृष्ण वर्ण के समान दिखलाई पड़ते हैं। अर्थात् चमकीले पदार्थ एवं कई रंग की चीजें दिखलाई पड़ती हैं।

श्लैष्मिक तिमिर—दोषानुरूप श्वेत और स्निग्ध आभास होता है। श्वेत चामर के समान सफेद एवं सफेद बादल के समान दीख पड़ता है। आकाश बादलों से मुक्त रहने पर भी इस प्रकार के रोगी को आकाश में बादल दौड़ते से दीखते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों को जल में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हुए के समान, जड़वत् स्थिर के समान और बड़े रूप में प्रायः ता है।

रक्तज तिमिर—रक्त दोष से उत्पन्न तिमिर में रोगी को रूप, लाल, श्यामल और काले, विविध प्रकार के अन्धकारमय तथा धुएँ से छन्न के समान दृष्टिगोचर होते हैं।

सन्निपातज तिमिर—तीनों दोषों से उत्पन्न तिमिर में रूप चित्र चित्र, विपरीत, या विकीर्ण (तितर वितर हुए) के समान दृष्टिगोचर ा है। यावतीय द्रष्टव्यों को चारों ओर से, एक को दो या अनेक के अथवा हीन कर देखता है आकाशीय ताराओं को विकृत देखना इन रोगियों में पाया जाता है। ये लक्षण तृतीय पटल स्थित दोष मर में भी मिलते हैं। तथा सान्निपातिक लिङ्गनाश में भी ये जाते हैं।

संसर्गज तिमिर या परिम्लायिकाच—यह एक संसर्गज या द्विदोषज है। इसमें पित्त रक्त के तेज के साथ मिल कर इस अवस्था को न्न करता है। इस प्रकार का रोगी सभी दिशाओं को पीला या उदय हुए सूर्य की आभा के समान देखता है। तथा पेड़ पौधों को देखकर पर मानो जुगनू छिटके हुए हों अथवा किरणें वितरित हुई हों प्रकार का उसे भान होता है।[1]

तिमिर, काच और लिङ्गनाश का भेद तथा साध्यासाध्यता—लिङ्गनाश परिम्लायिकाच एक ही रोग है। यह लिङ्गनाश की ही एक अवस्था है जिसमें दो दोषों का संसर्ग (पित्त एवं रक्त) रहता है। उसी म्लायिरोग[2] में यदि राग (रंजन या रंग) न हुआ हो तो उसे र कहा जाता है और यदि राग प्राप्त हो जाय तो उसे काच कहते

१. पित्तं कुर्यात्परिम्लायि मूर्छितं रक्ततेजसा।
पीता दिशस्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च।
२. रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचनलप्रभम्॥
परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लाय्यानीलं च मण्डलं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं। वही आगे बढ़कर यदि दृष्टि शक्ति को नष्ट करने वाला हुआ तो लिङ्गनाश की संज्ञा प्राप्त करता है।[1] अथवा दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जब तक दोष प्रथम और द्वितीय पटल तक सीमित रहता है उसको तिमिर कहते हैं तथा यह साध्य रोग है। जब दोष तृतीय पटल को आश्रय करता है और दृष्टि का राग रंजन हो जाता है तो उसको काच कहते हैं, तब वह याप्य हो जाता है और जब चतुर्थपटल में आश्रित हो जाता है तो उसे लिङ्गनाश कहते हैं। इनमें श्लेष्मजी लिङ्गनाश को छोड़कर शेष सभी असाध्य होते हैं।[2]

दोषानुसार काच में रंजन या राग प्राप्ति—वायु दोष के द्वारा दृष्टि का रंजन होने पर वर्ण लाल, पित्त के द्वारा पीत (परिम्लायि) या नील, कफ के द्वारा श्वेत, रक्त दोष के द्वारा रक्त तथा त्रिदोषज व्याधियों में चित्र विचित्र नाना प्रकार के वर्ण हो जाते हैं। परिम्लायि में—रक्त और पित्त अर्थात् संसर्गज लिङ्गनाश में दृष्टि का वर्ण अग्नि के समान लाल और आकार में मोटे काच के समान हो जाता है तथा दृष्टिमण्डल ईषन्नील वर्ण का या नीले और पीले (नील पीत) वर्ण का हो जाता है। उसमें पीतता रस मूर्छित (मिश्रित) पित्त के द्वारा आता है। इस परिम्लायि रोग की अवस्था से कर्मक्षय के कारण दोषक्षय हो जाने से रोगी को कभी कभी दिखाई भी पड़ने लगता है। इसमें पित्त का मिश्रण करने वाले रस का नष्ट होना हेतु है जिससे रोगी को दिखाई पड़ने लगता है। यह याप्य व्याधि है।[3] इस प्रकार से छः प्रकार के काचों का वर्णन हुआ।

---

१. रागोरुणो मारुतजः प्रदिष्टः पित्तात्परिम्लाय्यथवापि नीलः ।
कफात्सितः शोणितजस्तु रक्तः समस्तदोषोथ विचित्ररूपः ॥ सु० उ०

२. एक एवासौ परिम्लायी रोगोऽरागप्राप्तः ।
सन् तिमिराख्यः रागप्राप्तस्तु काचाख्यः ॥
स एव किंचिद्दर्शननाशकारी लिङ्गनाशः ।

३. सर्वाण्येव तिमिराणि ।
प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि तृतीयपटलगतानि
रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति तदा याप्यानि ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोषानुसार लिङ्गनाश का रंजन या रागप्राप्ति (Staining)—वायु के कारण दृष्टिमंडल अरुण वर्ण का, चञ्चल और स्पर्श में रूक्ष हो जाता है। पित्त के कारण दृष्टिमण्डल किंचित् नील कांस्य के समान सफेद और नीलापन लिये या पीला हो जाता है। श्लेष्मा के कारण मोटा, चिकना, शंख, कुन्दपुष्प या चन्द्रमा के समान सफेद आभा का होता है। जैसे पद्मपत्र के ऊपर जल की सफेद चंचल बूंद दिखलाई पड़ती है उसी प्रकार की दशा इस लिङ्गनाश की भी होती है। यह धूप में अत्यंत संकुचित (Constricted) होकर छोटा हो जाता है तथा छाया में विस्तृत (Dilatated) हो जाया करता है। नेत्र के दबाने पर मण्डल इधर उधर चलता रहता है। रक्तज लिङ्गनाश में दृष्टि मण्डल कमल पुष्पदल के समान या प्रवाल के समान लाल होता है। त्रिदोष के कारण उत्पन्न हुए लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल का चित्र विचित्र राग (कई प्रकार का रञ्जन) हो जाता है और दोषानुसार बहुविध लक्षण भी मिलते हैं। छठे प्रकार के लिङ्गनाश के लक्षण पूर्वोक्त परिम्लायि सदृश (जिसमें कुछ कुछ दर्शन संभव हो जाता है) ही समझना चाहिये। इस प्रकार छः प्रकार के लिङ्गनाशों का भी वर्णन समाप्त हुआ।

प्रतिषेध सामान्य—तिमिर, काच और लिङ्गनाश ये प्रायः एक ही रोग की तीन अवस्था विशेष हैं फलतः सामान्य चिकित्सा क्रम एक है। तिमिर को जब तक उसमें रंग नहीं हुआ है अथवा प्रथम पटलाश्रित है तब तक औषधसाध्य मानते हैं; परन्तु जब उसमें रंजन हो जाय (राग आ जाय) अर्थात् काच की अवस्था प्राप्त कर ले और द्वितीय पटलाश्रित रहे तो कृच्छ्र साध्य माना जाता है। वही काच जब तृतीय पटलाश्रित हो जाय तो चिकित्सा में अधिक कठिन होकर याप्य हो जाता है। वही काच जब चतुर्थ पटलाश्रित हो जाय अर्थात् लिङ्गनाश की अवस्था प्राप्त कर ले तो श्लेष्मज लिङ्गनाश को छोड़ प्रायः

एषु लिङ्गनाशेषु केवलश्लेष्मजलिङ्गनाशं।
विहायान्ये लिङ्गनाशाः असाध्याः॥
(डल्हण की सु० उ० ८–१५–१९ की टीका से)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सभी असाध्य हो जाते हैं अर्थात् उनमें चिकित्सा में सफलता नहीं मिलती ।[१] उपर्युक्त सर्वविध अवस्थाओं में औषधोपचार (Medical treatment) सुश्रुत के अनुसार बतलाये गये हैं; परन्तु श्लैष्मिक लिङ्गनाश की अवस्था एक ऐसी है जिसमें शस्त्रोपचार ही किया जाता है। इसीलिये यह शस्त्रक्रिया साध्य (Curable by surgical treatment) माना गया है। इस कथन का यह निष्कर्ष निकलता है कि सुश्रुत ने तिमिर (Progressive Cataract) तथा काच (Inamature Cataract) में ओषधि चिकित्सा का ही उपदेश किया है और एक मात्र श्लैष्मिक लिङ्गनाश (Matured Cataract) की एक ऐसी अवस्था माना है जिसमें शस्त्रकर्म के द्वारा क्रिया करनी चाहिये। लिङ्गनाश के श्लैष्मिक प्रकार को छोड़कर दोषानुसार पाँच अन्य प्रकारों को असाध्य माना है। शेष तिमिर काच प्रभृति रोगों के सभी प्रकार को दोषों के अवस्थान के अनुसार साध्य या याप्य माना है। औषधोपचार में कई प्रकार के स्थानिक तथा सार्वदैहिक उपक्रमों का यथा—घृतपान, पुटपाक, तर्पण, नस्य, शिरा-मोक्षण और अंजनादि का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका एकैकशः नीचे के वर्णनों में विशिष्ट चिकित्सा के रूप में प्रसंग आ रहा है।

तिमिर चिकित्सा-शोधन—१. रक्तविस्रावण २. विरेचन के द्वारा दोषों का निर्हरण ३. वातिक में दूध में मिलाकर एरण्डतैल का सेवन करना और पैत्तिक और रक्तज में त्रिफला घृत या तिल्वक (निशोथ) घृत का प्रयोग करना चाहिये। कफज में निशोथ का विरेचन प्रशस्त है और

१. आर्णंग तिमिरं साध्यं प्रथमं पटलाश्रितम् ।
कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते । (सु० उ० १७)
भवन्ति याप्या खलु ये षडामयाः हरेदसृक् तेषु सिराविमोक्षणैः ।
विरेचयेच्चापि पुराणसर्पिषा ।
पुराणसर्पिस्तिमिरेषु सर्वशो हितं भवेदायसभाजनस्थितम् ।
हितं च विद्यात्त्रिफला घृतं सदा कृतं च यन्मेषविषाणनामभिः ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दोषज में तीनों प्रकार के द्रव्यों से संस्कृत तैल का प्रयोग करना चाहिये।

संशमन—शोधन के बाद शमन के लिए लौह के बर्तन में रखे त्रिफलाचूर्ण घृत का सेवन अथवा त्रिफला घृत का सेवन अथवा मेषश्रृंगी फल से संस्कृत घी का सेवन कराना चाहिये। त्रिफला चूर्ण का सदैव प्रयोग करे। पैत्तिक तिमिर में गाढ़े घृत के साथ, वातिक में तैल के साथ और श्लैष्मिक में मधु के अनुपान से युक्ति पूर्वक देना चाहिये।[1]

नावन—गोबर में पकाये तैल से नस्य कर्म सर्व प्रकार के तिमिरों में हितकर होता है।

विशुद्ध रूप से पैत्तिक तिमिर में मधुरादिगण की ओषधियों से सिद्ध अजाघृत का नस्य देना चाहिये।

नस्यकर्म में विदारिगंधादि या काकोल्यादिगण से सिद्ध घृत भी वातिक और रक्तज में क्रमशः प्रशस्त माना गया है। वातरोगाधिकार में कथित अणुतैल का नस्य देना चाहिये।

तिमिर की अवस्था में मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बला, अश्वगंध, शतावरी, से घृत से सिद्ध चतुःस्नेहों का नस्य देना अथवा जलज और आनूप देशज प्राणियों के मांस से सिद्ध घृत का नस्य देना भी लाभप्रद होता है। अथवा इन मांस रसों के साथ दूध को पका कर उसका दही जमा कर उससे उद्धृत घृत का नस्य भी हितकर है।

पुटपाक—सेंधानमक, गृध्रमांस, कृष्णसार हिरण का मांस प्रभृति द्रव्यों से संस्कृत घृत का मधु मिलाकर पुटपाक क्रिया के द्वारा नेत्रों में तात्कालिक प्रयोग करने से तिमिर में लाभ होता है।

अंजन—गृध्र, कृष्णसर्प और मुरगे की चरबी का मधु के साथ नेत्रों में अंजन। स्रोतोञ्जन या सौवीरांजन को लेकर उसको एक सप्ताह तक चक्षुष्य पशु-पक्षियों के मांस रस में, पुनः एक सप्ताह तक घृत में रखकर या भावित कर अंजन के रूप में प्रयोग करने से

१. सदावलिह्यात् त्रिफलां सुचूर्णितां घृतप्रगाढां तिमिरेऽथ पित्तजे।
समीरणे तैलयुतां कफात्मके मधुप्रगाढां विदधीत युक्तितः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तिमिर में लाभ होता है। यह प्रत्यंजन उस अंजन को कहते हैं जो एक अंजन के बाद लगाया जाय। आम तौर से तीक्ष्णांजन के बाद मृदु अंजन और मृदु अंजनों के बाद तीक्ष्णांजनों का प्रत्यंजन रूप में प्रयोग होता है।

शोधन एवं संशमन—

रागप्राप्त तिमिर अथवा काच प्रतिषेध—१. तिमिर में राग (रंग) आ जाने पर सिरामोक्षण नहीं करना चाहिये[1] क्योंकि यंत्र से उत्पीड़ित हुआ दोष दृष्टि को नष्ट कर देता है। परन्तु यदि दोष का निर्हरण अत्यावश्यक हो तो यापनार्थ बीच-बीच में जलौका के द्वारा रक्त का निर्हरण किया जा सकता है। २. मधुरादि (काकोल्यादि) गण की ओषधियों से सिद्ध घृत या क्षीर अथवा संस्कृत क्षीर से उद्धृत घृत का संशमन के लिये पीने में तर्पण में, तथा नस्य में प्रयोग करना चाहिये। ३. जाङ्गलमांस का पुटपाक बनाकर भी प्रयोग इस अवस्था में हितकर है।[2]

अंजन—स्रोतोञ्जन या सौवीराञ्जन को काले सर्प के मुख में डालकर फिर सर्पमुख को कुश से आवेष्टित कर एक मास तक पड़ा रहने दे। एक मास के बाद उस अंजन को निकालकर उसमें चमेली के फूल या कूंढी और सेंधानमक मिलाकर अंजन का निर्माण करे। इस अंजन का प्रयोग राग प्राप्त वातिक तिमिर (वातिक काच) की अवस्था में लाभप्रद है। अथवा उपर्युक्त अंजन को निकाल कर तीन दिनों तक

---

१. विवर्जयेत्सिरामोक्षो तिमिरे रागमागते।
यन्त्रेणोत्पीडितो दोषो निहन्यादाशु दर्शनम्॥
रागप्राप्तेष्वपि हिता तिमिरेषु तथा क्रियाः।
यापनार्थं यथोद्दिष्टाः सेव्याश्चापि जलौकसः॥ (सु० १७ उ०)

२. हविर्हितं क्षीरभवं च पैत्तिके वदन्ति नस्ये मधुरौषधैः कृतम्।
तत्तर्पणे चैव हितं प्रयोजितं सजाङ्गलस्तेषु च यः पुटाह्वयः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ध में भावित कर अंजन बना लिया जाय तो इस अंजन का भी प्रयोग काच की अवस्था में हितकर होता है।

रसक्रियांजन—१. रसांजन, मधु, चीनी, मैनशिल–इन द्रव्यों को गाढ़ा करके उसका अंजन पैत्तिक तिमिर में लाभप्रद है। २. पलाश, हरीतकी, मुलैठी, इनके क्वाथ को गाढ़ा कर उसमें मधु और मद्य मिला कर अंजन करना भी हितकर है।

चूर्ण—१. प्रत्यंजन के रूप में सौवीराञ्जन या रसाञ्जन और तुत्थ का चूर्ण श्रेष्ठ है।

२. भिल्लोटाद्यंजन—भिल्लोट (हिमालय पहाड़ के समीप पैदा होने वाले अर्जुन के समान फल वाले वृक्ष विशेष) तथा एलादिगणोक्त औषधियों के क्वाथ से नेत्रों का सेक करके तुत्थ (तूतिये) का प्रत्यंजन करना चाहिये।

३. मेषशृंग, सौवीरांजन और स्रोतोञ्जन इन द्रव्यों के समान भाग से बने अंजन नेत्रगत पैत्तिक काच के विकार को नष्ट करता है।

कफज काच में[1] *धूम*—वायविडङ्ग, पाठा, अपामार्ग, हिंगोट की त्वचा और खस इन द्रव्यों का चूर्ण बनाकर धूम्र के रूप में नासिका या मुख से पिलाना कफज काच में या तिमिर में लाभप्रद है। तिमिर रोग में सामान्यतया धूम का निषेध रहता है तो फिर यहाँ पर आचार्य ने तिमिर में धूम का प्रयोग कैसे विधेय बतलाया है। इसका उत्तर यह है कि पैत्तिक तिमिर में ही केवल धूम का निषेध है, कफज तिमिर में उचित एवं विधेय है।

नस्य—उशीर, लोध्र, त्रिफला और प्रियंगु का नस्य कफज काच में हितकर है।

तर्पण—क्षीरी वृक्ष के क्वाथ में पकाया घृत जिसमें चतुर्गुण हल्दी और नलद (खस) का कल्क पड़ा हो, उससे नेत्र का तर्पण करना चाहिये।

१. तीक्ष्णानि नस्यांजनशोधनानि पाकः पुटानामपतर्पणञ्च।
घृतानि वासात्रिफलापटोलसंज्ञानि कुर्यात्तिमिरे कफोत्थे॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुटपाक—पिप्पली, मधु, सैन्धव, जाङ्गल मांस के पुटपाक से श्लैष्मिक काच की चिकित्सा करनी चाहिये।

रसक्रिया—१. मैनशिल, त्रिकटु, शंख, मधु, सैंधा नमक, कासीस, रसाञ्जन इन द्रव्यों से रसक्रिया करके अञ्जन करना भी श्लैष्मिक तिमिर में हितकर है। २. गुड, सोंठ, कासीस, रसाञ्जन की रसक्रिया बनाकर अञ्जन करना। ३. आँवले का गाढ़ा किया रस, मधु और काले सर्प की चरबी का अञ्जन काच में लाभप्रद है (चरक)।

सर्व प्रकार की काच चिकित्सा—स्रोतोञ्जन को अष्टमूत्रों में तथा त्रिफला क्वाथ में अनेक बार भावित करके उसे गृध्रादि (निशाचरों) की अस्थि के नलक में बन्द करके (मुख बन्द करके) उस हड्डी को एक खूंटे के सहारे बाँध कर एक मास तक बहते नदी के जल में पड़ा रहने दे। पश्चात् उस अञ्जन को लेकर उसमें मेषश्रृङ्गी का फूल और मुलैठी के चूर्ण को बराबर मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण करके मिला ले और उसका अञ्जन मधु के साथ करे। यह सर्व प्रकार के काच रोगों में प्रशस्त अञ्जन है।[1]

सान्निपातिक तिमिर—में उपर्युक्त वात पित्त कफ की मिश्रित क्रियाओं का उपयोग करना चाहिये। रक्तज तिमिर तथा परिम्लायिकाच में पित्तघ्न क्रियाओं का आचरण करना चाहिये। दोषोदय होने पर दोषानुसार तिमिर और काच की अवस्था में यथादोष अभिष्यन्द के उपक्रमों को बरतना चाहिये। यदि सम्पूर्ण नेत्र में दोष व्याप्त हो जाय तो अभिष्यन्दहर विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2] बल्कि नस्यों का प्रयोग करना चाहिये।

---

१. यदञ्जनं वा बहुशो निषेचितं समूत्रवर्गे त्रिफलोदके श्रृते।
निशाचरास्थितिमेतदञ्जनं क्षिपेच्च मासं सलिलेऽस्थिरे पुनः॥
मेषस्य पुष्पैर्मधुकेन संयुतं तदञ्जनं सर्वकृते प्रयोजयेत्। (सु० उ० १८)

२. क्रियाश्च सर्वाः क्षतजोद्भवे हिताः क्रमः परिम्लायिनि चापि पित्तहृत्।
क्रमो हितः स्यन्दहरः प्रयोजितः समीक्ष्य दोषेषु यथास्वमेव।
दोषोदये नैव च विप्लुतिं गते द्रव्याणि नस्यादिषु योजयेद् बुधः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तिमिर की अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis treatment)

...था पथ्य—तिमिर एक ऐसा रोग है, जो बढ़कर मनुष्य को अन्धा कर ...ता है। इसलिये इसकी प्रारम्भ से ही चिकित्सा शुरू कर देनी ...ाहिये। कई प्रकार के चक्षुष्य द्रव्यों का सेवन सुश्रुत ने बतलाया है। ...नका नियमित प्रयोग तिमिर रोग की उत्पत्ति को रोकता है तथा ...ारम्भिक अवस्था में इसके द्वारा उपचार किये जाने पर भविष्य में ...सी अनिष्टकर उपद्रव का भी भय नहीं रहता।[1]

इसके लिये पुराण घृत, त्रिफला, शतावरी, पटोल, मुद्ग, आमलकी ... सेवन, शतावरी मूल से बने पायस का सेवन, आमलकी के फल ... बने पायस का प्रयोग, प्रचुर त्रिफलाजल में पकाये जौ का भात ...पीत घृत मिला कर लेना हितकर होता है। घृत से सिद्ध किये ...वन्ती, सुनिषण्णक (चौपतिया), चौलाई, श्रेष्ठ बथुआ, चिल्ली ...खेत में अपने आप पैदा हुआ बथुआ), छोटी मूली, लावादिक ...क्षियों के मांस, जाङ्गल पशुओं के मांस, परवर, कर्कोटक, करेला, ...न, अरणी, करीर (गूढ़पत्र), सहिजन, आर्तगल (नील सैरेयक) ...भृति शाकों का सेवन दृष्टि शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा ...िमिर रोग नहीं होने देता।

उपर्युक्त द्रव्यों का पथ्य के रूप में सेवन करने से पोषण बढ़िया ...ता है। पोषक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। आधुनिक ...ज्ञान में नेत्र के लिये लाभप्रद पथ्यों में जीवतिक्ति (ए. बी. सी. डी.) ...यों की प्रचुरता भोजन में होना आवश्यक समझा जाता है। उप...क्त पथ्यों में ये सभी पदार्थ तथा 'प्रोटीन्स' तथा उत्कृष्ट वसाम्ल पर्याप्त ...ात्रा में विद्यमान रहते हैं, अतएव वे सभी दृष्टि शक्ति को अक्षुण्ण ...नाये रखते हैं।

१. घृतं पुराणं त्रिफलां शतावरीं पटोलमुद्गामलकं यवानपि ।
निषेवमाणस्य नरस्य यत्नतो भयं सुघोरात्तिमिरान्न विद्यते ॥
शतावरीपायस एव केवलस्तथा कृतो वाऽऽमलकेषु पायसः ।
प्रभूतसर्पिस्त्रिफलोदकोत्तरो यवौदनो वा तिमिरं व्यपोहति ॥ (सु० उ० १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तिमिर, काच और लिङ्गनाश की अवस्था में प्रयुक्त होने वाले कुछ योग—सामान्यतया सभी अवस्थाओं में इनका प्रयोग किया जा सकता है। कई ग्रंथों से इनका संग्रह नीचे दिया जा रहा है।

वस्तुतः तिमिर या 'प्रोग्रेसिव कैटेरेक्ट' या मोतियाबिन्दु को रोकने में समर्थ औषधि या पथ्यादि का ज्ञान आधुनिक विज्ञान में नहीं है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने कई प्रकार के योगों का उल्लेख तिमिर एवं काच रोग की चिकित्सा में किया है। इनका प्रयोग करके देखना उत्तम है।

अन्तःप्रयोज्य औषधियाँ

(Recipes for oral administration)

क्वाथ—महावासादि क्वाथ—अडूसा, नागरमोथा, निम्बपत्र, पटोल-पत्र, कुटकी, गिलोय, चन्दन, कुटज की छाल, कलिङ्ग (तरबूज), दार्वी, चीता, सोंठ, चिरायता, आँवला, हर्रे, बहेरा, तथा यव का क्वाथ बनाकर प्रातःकाल में पीने से तिमिर, कण्डु, पटलदोष, अर्बुद, सव्रण तथा अव्रण शुक्र- दाह, रोग, पीडा, पिल्ल प्रभृति समस्त नेत्र रोग नष्ट होते हैं।

त्रिफला क्वाथ—भोजन के बाद सायंकाल एक मास तक लौह के बर्त्तन में बने त्रिफला क्वाथ में घृत मिलाकर पीने से रोग जनित अन्ध भी देखने लगता है।[1] अर्थात् रोगोत्पन्न अंधता दूर होती है।

चित्रकादि क्वाथ—चित्रक मूल, त्रिफला, पटोल और जौ से सिद्ध किये क्वाथ को घृत के साथ मिलाकर रात में पीना चक्षुष्य होता है। विशेषतः तिमिर की अवस्था में लाभप्रद है।

चूर्ण—सप्तामृत लौह[2]—त्रिफला, लौहभस्म और मधुयष्टि चूर्ण की समान मात्रा लेकर घृत और मधु के साथ रात्रि में इक्कीस दिनों तक

१. अयःस्थं त्रिफलाक्वाथं सर्पिषा सहयोजितम्।
भुक्तोपरि पिबेत्सायं मासेनान्धोऽपि पश्यति॥

२. ग्रन्थों में सप्तामृत लौह की बड़ी प्रशंसा है। यहाँ संक्षेप में लिखा गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सेवन करने से तिमिर, अर्बुद, रक्तराजि, कण्डु, रतौंधी (नक्तांध्य), ग्रह, शूक्त, तोद, पटल दोष, शुक्र रोग, काच और पिल्ल प्रभृति विविध प्रकार के नेत्र रोग नष्ट होते हैं। यह योग न केवल नेत्र रोगों में हित-प्रद है बल्कि विभिन्न प्रकार के दाँत, कान तथा ऊर्ध्व जत्रुगत महारोगों में भी हितकर है। विभिन्न प्रकार के बड़े बड़े शारीरिक रोग जैसे अर्श, भगन्दर, हलीमक, कुष्ठ, किलास, प्रमेह, मन्दाग्नि, पलित रोगों को भी नष्ट करता है। बहुत ही वृष्य, रसायन तथा वाजीकरण है।

लौह चूर्ण—यह भी सप्तामृत लौह का ही एक नामान्तर है। इसमें भी समान भाग में मधुयष्टि, लौह भस्म और त्रिफला की मात्रायें पड़ी हैं। घृत और मधु से इसकी एक माशा की मात्रा रात्रि में लेने से छर्दि, तिमिर, शूल, अम्लपित्त, ज्वर, क्लम, आनाह, मूत्रसंग, और शोथ प्रभृति रोग दूर होते हैं।

शतावर्यादि चूर्ण—शतावरी १२ भाग, इलायची ५ भाग, विडङ्ग ८ भाग, आँवले का बीज ६ भाग, मरिच ४ भाग, पिप्पली (विष्णु क्रम) २ भाग सब का चूर्ण बनाकर ६ माशा की मात्रा में घृत और मधु से सेवन करने पर कण्डू, धूमदर्शी, तिमिर, अर्म, काच, पटल तथा अन्य रक्तजन्य सर्व प्रकार के नेत्रामय नष्ट होते हैं।[1]

घृत—त्रिफलाघृत—ग्रन्थों में त्रिफलाघृत के कई पाठ मिलते हैं। भैषज्यरत्नाकर में प्रायः सभी का संग्रह मिल जाता है। यहाँ पर केवल एक लघु त्रिफलाघृत का पाठ देकर सन्तोष करना पड़ रहा है ताकि ग्रन्थ का अतिविस्तार न हो। त्रिफला के क्वाथ, कल्क और क्षीर से सिद्ध घृत का प्रयोग रात्रि में करने से तिमिर रोग नष्ट होता है। घृत का प्रयोग प्रातः भोजन के पूर्व (पौर्व भक्तिक) खाली पेट में या रात्रि में

१. शतावरी सूर्यसमा प्रदेया एला तथा रावणमूर्धतुल्या।
देयं विडङ्गं वसुभिः समानमृतोः समं चामलकास्थिबीजम्॥
विष्णोर्भुजैस्तुल्यगुणं मरीचं त्रैविक्रमैर्भागधिका प्रयोज्या।
चूर्णं समध्वाज्यकमर्धकर्षभक्ष्यामयानां विनिवारणार्थम्॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भोजनोपरान्त (औत्तर भक्तिक) किया जाता है। तिमिरादि रोगों में भोजन के बाद रात्रि में सेवन प्रशस्त माना गया है।

तैल—भृङ्गराज तैल—भृङ्गराज १ प्रस्थ, तैल १ कुडव, मुलैठी १ पल, दूध १ प्रस्थ से सिद्ध तैल का सिर पर अभ्यंग नष्ट हुए नेत्र को भी ठीक कर देता है।

नेत्रप्रक्षालन या धावन—(Eye wash)—तिमिर रोग में नेत्रों के प्रक्षालन के लिये—(१) काली तिल के काढ़े (२) मुलैठी और आँवले के पानी (३) वचादि क्वाथ (४) त्रिफला कषाय उत्तम है तथा (५) भोजन के बाद हाथ को धोकर हाथ के तलवे को भिंगो कर नेत्रों का स्पर्श कराना या बाहर से प्रक्षालन करना भी तिमिर रोगोंमें हितावह है।[1]

अञ्जन—मुक्तादि महाञ्जन (*भावप्रकाश*)—मोती, कपूर, काच, अगुरु, मरिच, पिप्पली, सैन्धव, एलुवा, सोंठ, कंकोल, कांस्य, पीतल, हल्दी, मैनसिल, शंख, अभ्रक, तुत्थ, मुर्गे के अण्डे का छिल्का, त्रिफला, मुलैठी, राजावर्त, चमेली, तुलसी के नये फूल, तुलसी बीज, पूतिक, रंज, निम्ब, अञ्जन, नागरमोथा, पारद गर्भयुक्त ताम्रसार (ताम्र, लौह, पारद) प्रत्येक का एक एक माशा लेकर मधु ४ तोले लेकर खूब महीन पीस ले। इस महाञ्जन के प्रयोग से अति बढ़े हुए नेत्र रोग ठीक हो जाते हैं।

नयन शाणांजन—पिप्पली, सेंधा नमक, मरिच, सौवीराञ्जन, स्रोतोञ्जन, समुद्रफेन, शिफा, सफेद पुनर्नवा, हल्दी, लाल चन्दन, मुलैठी, तुत्थ, हर्रे, मैनशिल, नीम की पत्ती, शाबर (लोध्र) स्फटिक, शंख नाभि, इन्दु (कपूर) इन द्रव्यों का महीन चूर्ण कर घने वस्त्र से छान कर लोहे के बर्तन में मधु के साथ घिसे, घिसने के लिये ताम्र के टुकड़े से रगड़ना चाहिये। यह मुनियों के द्वारा कथित नयन शाणाञ्जन है। इसका प्रयोग तिमिर, पटल दोष और पुष्प में लाभप्रद है।

---

१. भुक्त्वा पाणितलं घृष्ट्वा चक्षुषोर्यदि दीयते ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥ (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चन्द्रोदया वर्त्ति—शंख नाभि, बहेरे के बीज की मींगी, हर्रे, मैनशिल, पिप्पली, मरिच, कूठ, वच इन द्रव्यों को सम भाग लेकर बकरी के दूध में पीसकर जौ के बराबर की वर्ति बना ले और उसकी एक हरेणु की मात्रा में पानी से घिस कर अञ्जन करे। इससे तिमिर, मांसवृद्धि, काच, पटल दोष, रात्र्यांध्य, एक वर्ष तक का पुष्प (फूले या अव्रण शुक्र) नष्ट हो जाता है।

शशिकला वर्त्ति—रसक (खर्पर), शंखनाभि, पौर (गुग्गुल), तुत्थ इन द्रव्यों को सम भाग में चूर्ण कर कपड़े से छानकर, निम्बू के रस में पीस कर नेत्र में अञ्जन करने से तिमिर, अव्रणशुक्र, कण्डु, स्राव, लालिमा, अर्म और पिल्ल रोग नष्ट होते हैं।

नयनामृताञ्जन—पारद, नाग इन दोनों का समान भाग और दोनों के द्विगुण परिमाण में स्रोतोंजन या सौवीराञ्जन तथा पारद का चतुर्थांश कपूर इनके योग से बने अञ्जन के प्रयोग से तिमिर, पटल, काच, शुक्र, अर्जुन तथा अन्य दृष्टि के रोग नष्ट हो जाते हैं।

रोपणी कुसुमिका वर्त्ति—तिल पुष्प ८०, पिप्पली के चावल ६०, जाती (चमेली) का फूल ५०, मरिच १६ इनके बारीक चूर्ण कर जल में पीस कर वर्त्ति बना ले। इस कुसुमिका नामक वर्ति का अञ्जन करने से तिमिर, अर्जुन, शुक्र, मांस वृद्धि आदि सभी नेत्रगत विकार नष्ट होते हैं। अञ्जन की मात्रा आधे हरेणु की होती है।

दार्व्याद्यञ्जन—रसोंत, त्रिफला, मुलैठी, इन द्रव्यों को नारियल के जल में पका कर अष्टमांशावशिष्ट करके उसको गाढ़ा कर और उसमें शशि (कपूर) सेंधा नमक, मधु मिला कर अञ्जन करने से पैत्तिक तिमिर नष्ट होता है।

शङ्खादिवटी—शंख ४ भाग, मनःशिला २ भाग, मरिच १ भाग, पिप्पली ½ भाग सबको एकत्र मिलाकर गुटिका बना ले। इसको पानी में घिस कर अञ्जन करने से तिमिर, मट्ठा में घिस कर अञ्जन करने से अर्बुद, मधु में घिस कर अञ्जन करने से पिच्चट और स्त्रीक्षीर में अञ्जन करने से अर्जुन रोग शान्त होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुनर्नवाद्यञ्जन—पुनर्नवा को दूध में घिस कर अञ्जन करने से नेत्र की खुजली, मधु में घिस कर अञ्जन करने से नेत्रस्राव, घी में घिसकर अञ्जन करने से अव्रणशुक्र, तैल में घिस कर आँजन करने से तिमिर और कांजी से घिस कर अञ्जन करने से नक्तान्ध्य नष्ट होता है।[1]

गुडूच्यादि अञ्जन—गुडूची स्वरस १ तोला, मधु १ माशा, सेंधा नमक १ माशा, तीनों को एकत्र कर अञ्जन करने से पिल्ल, अर्म, तिमिर, काच, कण्डु, लिङ्गनाश तथा शुक्ल कृष्णगत अन्यान्य रोग भी नष्ट होते हैं।

कतक फलाद्यञ्जन—१. कतकफल (निर्मली), शंख, सेंधा नमक, त्रिकटु, चीनी, समुद्र फेन, रसांजन, मधु, विडङ्ग, मनःशिला सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर स्त्रीक्षीर में पीस कर अञ्जन करने से तिमिर, पटल दोष, काच, अर्बुद आदि नष्ट होते हैं। २. निर्मली फल, कपूर इन दोनों का मधु के साथ मिला कर अञ्जन भी नेत्र का प्रसादन करता है।

पिप्पल्याद्यञ्जन—पिप्पली, त्रिफला, लाक्षा, लोध्र, सैन्धव इनको सम भाग में लेकर भृङ्गराज के रस में घिस कर गुटिका बनावे। इसका नेत्रों में अञ्जन करने से अर्म, तिमिर, काच, कण्डू, शुक्र, अर्जुन प्रभृति नेत्र रोग निःसंशय नष्ट होते हैं।

गुञ्जामूलाद्यञ्जन—गुंजामूल को बकरे के मूत्र में पीस कर अथवा भद्र मुस्ता को जल में घिस कर अञ्जन करना आंध्य और तिमिर की अवस्थाओं में लाभप्रद है।

तुलस्याद्यञ्जन—तुलसी और बिल्वपत्र स्वरस समभाग में लेकर दोनों के बराबर स्त्रीक्षीर मिलाकर कांस्य पात्र में रख कर ताम्र और गजवल्ली (पान के पत्तों) से खूब मर्दन करे। एक प्रहर तक मर्दन करने के बाद जब वह कज्जल का रूप ले ले तो उससे नेत्रों को अञ्जित करे। इससे पाकजन्य नेत्र की पीड़ा सद्यः शान्त होती है।

१. दुग्धेन कण्डुं क्षौद्रेण नेत्रस्रावं च सर्पिषा।
पुष्पं तैलेन तिमिरं काञ्जिकेन निशान्धताम्,
पुनर्नवा हरत्याशु भास्करस्तिमिरं यथा। (यो० र०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तुत्थाञ्जन—तुत्थ को आग में गरम कर उसको गोमूत्र गोबर के रस, खट्टी कांजी, स्त्रीक्षीर, घी, विष और मधु में निवार्पित करे, पश्चात् उस तुत्थ का अञ्जन करे। यह दृष्टि को गरुड सदृश कर देता है। (वा०)

कुक्कुट विटांजन—दूध से भरे हुए घड़े में एक काला सर्प और चार बिच्छुओं को छोड़े और तीन सप्ताह तक उसको सड़ने दे। फिर उस दूध को बिलोवे। इससे जो मक्खन निकले उसे मुर्गे को खाने के लिये देवे। उस मुर्गे की बीट का अञ्जन करने से सभी तिमिर रोग नष्ट होते हैं। अन्धा भी देखने लगता है।[1] (वा०)

१६

श्लैष्मिक लिङ्गनाश का शस्त्रकर्म

(Ancient Method of operation of cataract)

दृष्टिमणि के आवरण का लेखन (Discission of the lens in cataract through subcojuctunctival puncture)

पूर्व कर्म—१. श्लैष्मिकलिङ्गनाश पीडित रोगी का शस्त्र कर्म के पूर्व स्नेहन, स्वेदन करावे। २. शस्त्रकर्म के लिये ऐसा ऋतु या काल चुनना चाहिये जो नात्युष्ण या नातिशीत हो अर्थात् समान ऋतु अगहन या चैत्र का महीना हो। ३. रोगी को बैठा कर सम्यक् प्रकार से यन्त्रित करके रखना चाहिये। ४. रोगी की आँख को स्थिर कर लेना चाहिये। इसके लिये उसे एक भाव से दोनों नेत्रों से नासा की तरफ देखते रहना चाहिये। ५. शस्त्र कर्म के पूरे समय तक उसके नेत्र पूरी तौर से खुले रहने चाहिये अन्यथा हानि की सम्भावना रहती है।

---

१. कृष्णसर्पं मृतं तस्य चतुरश्चापि वृश्चिकान् ।
क्षीरकुम्भे त्रिसप्ताहं क्लेदयित्वा प्रमन्थयेत् ॥
तत्र यन्नवनीतं स्यात् पुष्णीयात्तेन कुक्कुटम् ।
अन्धस्तस्य पुरीषेण प्रेक्षते ध्रुवमञ्जनात् ॥ (वा० उ० १३)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्म—नेत्र में अपाङ्ग के समीप कृष्ण भाग से दो भाग को छोड़ कर शुक्ल भाग में उस स्थान पर, जहाँ पर शिरा जल (जहाँ अधिक रक्त वाहिनियां न हों) दैवकृत छिद्र (निसर्ग से ही जहाँ छिद्र के समान) रचना हो ठीक उसी स्थल पर न ऊपर न नीचे और न पार्श्व में विश्वस्त हो कर यववक्रा शलाका के द्वारा वेध करे। यववक्रा शलाका को मध्यमा, प्रदेशिनी और अंगुष्ठ के सहारे पकड़ना चाहिये। दाहिनी आँख में शस्त्र का प्रवेश करते समय शस्त्र को दाहिने हाथ से और बायें आँख में प्रवेश करते समय बायें हाथ से पकड़ना चाहिये। जिस समय वेध होता है, उस समय आवाज होती है और पानी की बूँदें निकलती हैं। यह सम्यक् प्रकार से वेध का लक्षण है।

वेध हो जाने के बाद तत्काल स्त्री के दूध से सिंचन करना चाहिये। साथ ही चाहे दोष स्थिर या चञ्चल हो आँख का स्वेद बाहर से वातघ्न पत्रों से करना चाहिये। शलाका को उसी स्थिति में पड़े रहने देना चाहिये। स्वेदन हो जाने के बाद शलाका के अग्र से दृष्टि मण्डल का लेखन (खुरचना) करना चाहिये। फिर इस लेखन की क्रिया के बाद जिस आँख पर शस्त्रकर्म हुआ हो उसके दूसरी तरफ के नासाछिद्र को बन्द करके जोर से नाक को साफ (उच्छिङ्घन) करना चाहिये। इस क्रिया से दृष्टिमण्डलगत कफ निकल जाता है। इस कफ को अवश्य निकाल देना चाहिये।[1]

---

१. स्निग्धस्विन्नस्य तस्याथ काले नात्युष्णशीतले।
यन्त्रितस्योपविष्टस्य स्वां नासां पश्यतः समाम्॥
मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् शिराजालविवर्जिते॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया।
मध्यप्रदेशिन्यङ्गुष्ठस्थिरहस्तगृहीतया॥
दक्षिणेन भिषक् सव्यं विध्येत् सव्येन चेतरत्।
वारिबिन्द्वागमः सम्यग् भवेच्छब्दस्तथा व्यधे॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जब दृष्टिमण्डल बादल से हीन सूर्य के समान प्रकाशित हो जाय व दृष्टिमणि (Lens) का निर्लेखन पूर्ण हो गया है ऐसा समझ र दृष्टि को नीरोग समझना चाहिये।

बलवान् दोष जो बादल के समान सम्पूर्ण दृष्टिमण्डल को आवृत ये रहता है—शलाका के अग्रभाग से लेखन के बाद उसी प्रकार साफ जाता है, जैसे हलके बादल वायु के झोंके से साफ हो जाता है।[1]

यदि इस प्रकार का लेखन सम्भव नहीं हो पाया अथवा दोष का नरावर्तन (प्रत्यागमन) हो जाय तो नेत्र का स्नेहन-स्वेदन करके पुनः धन की क्रिया करनी चाहिये। इस शस्त्रकर्म के अनन्तर रोगी को ई भी वस्तु दिखलाई जाने पर दीखने लगती है, यदि रोगी को स प्रकार का रूप ज्ञान हो जाय तो धीरे-धीरे शलाका को निकाल ना चाहिये। तत्पश्चात् नेत्र का घृत से अभ्यंग करके कवलिका रख र पट्टी बाँध देनी चाहिये। रोगी को धूलि, धूम, तेज हवा आदि रहित गृह में बिस्तर के ऊपर उत्तान लिटा देना चाहिये। रोगी को त्काल खाँसना, थूकना, छींकना, डकार लेना और शरीर का हिलाना न्द कर देना चाहिये। उसके आहारादि का नियन्त्रण ठीक उसी कार का करना चाहिये जिस प्रकार स्नेह पान कराये व्यक्तियों में या जाता है।

संसिच्य विद्धमात्रं तु योषित्स्तन्येन कोविदः।
स्थिरे दोषे चले वापि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः॥
सम्यक् शलाकां संस्थाप्य भंगैरनिलनाशनैः।
शलाकाग्रेण तु ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्॥
विध्यतो योऽन्यपार्श्वेक्षणास्तं रुद्ध्वा नासिकापुटम्।
उच्छिङ्घनेन हर्त्तव्यो दृष्टिमण्डलगः कफः॥
निरभ्र इव घर्मांशुर्यदा दृष्टिः प्रकाशते।
तदासौ लिखितं सम्यग् ज्ञेया सा चापि निर्व्यथा।

१. दोषस्तु सञ्जातबलः घनः सम्पूर्णमण्डलः।
प्राप्य नश्येच्छलाकाग्रं तन्वभ्रमिव मारुतम्॥ (सु० उ० १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पश्चात् कर्म—प्रति तीसरे दिन पट्टी को खोलकर वातघ्न कषायों से नेत्र का प्रक्षालन और वायु के भय को बचाने के लिये स्वेदन भी करना चाहिये।

इस प्रकार दस दिनों तक रोगी को संयम (उत्तान शयनादि) से रखना चाहिये। पश्चात् उसको नेत्रप्रसादन, अञ्जन प्रभृति कर्मों का उपदेश करना चाहिये और लघु भोजन खाने के लिये देना चाहिये।

उपद्रव एवं उनके प्रतिषेध[1]—१. श्लैष्मिक लिङ्गनाश में भी उन रोगियों में जो शिरावेध के अयोग्य (बालस्थविरादि) बतलाये गये हैं,

१. एवं त्वशक्ये निर्हर्तुं दोषे प्रत्यागतेऽपि वा ।
स्नेहाद्यैरुपपन्नस्य व्याधौ भूयो विधीयते ॥
घृतेनाभ्यज्य नयनं वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत् ।
ततो गृहे निराबाधे शयीतोत्तान एव च ॥
उद्गारकासक्षवथुष्ठीवनोत्कम्पनानि च ।
तत्कालं नाचरेदूर्ध्वं यन्त्रणास्नेहपीतवत् ॥
त्र्यहात् त्र्यहाच्च सेवेत कषायैरनिलापहैः ।
वायोर्भयात् त्र्यहादूर्ध्वं स्वेदयेदक्षि बाह्यतः ॥
दशाहमेवं संयम्य हितं दृष्टिप्रसादनम् ।
पश्चात्कर्म च सेवेत लघ्वन्नं चापि मात्रया ॥
सिराव्यधविधौ पूर्वं नरा ये च विवर्जिताः ।
न तेषां नीलिकां विध्येदन्यत्राभिहिताद्भिषक् ॥
पूर्यते शोणितेनाक्षि सिरावेधं विसर्पता ।
तत्र स्त्रीस्तन्ययष्ट्याह्वं पक्वं सेके हितं घृतम् ॥
अपाङ्गासन्नविद्धे तु शोफशूलाश्रुरक्तता ।
तत्रोपनाहं भ्रूमध्ये कुर्याच्चोष्णाज्यसेवनम् ॥
व्यधेन्नासन्नकृष्णेन रागः कृष्णं च पीड्यते ।
तत्राधः शोधनं सेकः सर्पिषा रक्तमोक्षणम् ॥
अथाप्युपरि विद्धे तु कष्टा रुक् संप्रवर्त्तते ।
तत्र कोष्णेन हविषा परिषेकः प्रशस्यते ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शस्त्रकर्म नहीं करना चाहिये तथा कथित स्थान (दैवकृतछिद्र) के अन्यत्र भी वेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि शिरावेध से विसर्पित हुए रक्त से आँख भर जाती है (Haemorrhage in anterior Chamber)। यदि ऐसा हो जाय तो उसकी चिकित्सा, स्त्रीदुग्ध में मुलैठी पक्व घृत से नेत्र का सिंचन करना चाहिये।

२. अपाङ्ग के अति समीप वेध होने पर शोफ, शूल, अश्रुस्राव, लालिमा आदि नेत्र में होने लगते हैं। अतः प्रतिषेध में उष्ण घृत का सेचन और भ्रू के बीच में स्वेदन करना चाहिये।

३. कृष्णमण्डल के अति समीप वेध होने से लालिमा और कृष्ण भाग में शोथ हो जाता है। इसके प्रतिषेध में विरेचन, घृत से सिंचन और रक्त का मोक्षण करना चाहिये।

४. यदि दैवकृत छिद्र से ऊपर में वेध हुआ हो तो नेत्र गत पीडा और कष्ट बढ़ जाता है। इसके प्रतिषेध के लिये गुनगुने घृत से सिंचन करना चाहिये।

५. दैवकृत छिद्र के अत्यर्थ नीचे वेध होने से शूल, अश्रुस्राव, राग प्रभृति उपद्रव हो जाते हैं और शलाका के निकालने के बाद अत्यधिक पिच्छिल आस्राव होने लगता है। प्रतिषेध पूर्ववत् करना चाहिये।[1]

६. अति विघट्टित होने पर नेत्र में लालिमा, अश्रुस्राव, स्तम्भ, वेदना, हर्ष प्रभृति उपद्रव होने लगते हैं। इसके प्रतिषेध के लिये स्नेहन, स्वेदन और अनुवासन करना चाहिये।[2]

७. यदि लिङ्गनाश की रूढ़ावस्था न प्राप्त हो अर्थात् तरुण (Immature Cataract) हो और उस समय शस्त्रकर्म के द्वारा दोष का लेखन किया जाय तो नीचे खींचे जाने पर भी वह दोष नीचे न जाकर ऊपर चढ़ जाता है और कई प्रकार के नेत्र की तीव्र लालिमा,

१. शूलाश्रुरागास्त्वत्यर्थमधो वेधेन पिच्छिलः।
शलाकामनु चास्रावस्तत्र पूर्वं चिकित्सितम् ॥

२. रागाश्रुवेदनास्तम्भहर्षाश्चातिविघट्टिते ।
स्नेहस्वेदौ हितौ तत्र हितं चाप्यनुवासनम् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उग्र पीड़ा प्रभृति उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। यदि ऐसा हो जाय तो उसके प्रतिषेध के लिये मधुर गण की ओषधियों से पक घृत के द्वारा नेत्र का सिंचन करना चाहिये, और इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल के द्वारा शिरोवस्ति तथा मांस खाने के लिए देना हितकर होता है।[1]

८. वमन—मूर्च्छा-सिर पर चोट लगना, व्यायाम, मैथुन सेवन, कोप और अति तरुण लिङ्गनाश का वेधन करने से दोष का प्रत्यावर्त्तन होकर पुनः लिङ्गनाश की अवस्था उपस्थित हो जाती है। इसलिये इन बातों से बचना चाहिये।[2]

लिङ्गनाश वेधनी शलाका के दोष तथा उसके कारण होने वाले उपद्रव एवं प्रतिषेध—

शलाका के कर्कश होने से शूल का होना, खर होने से दोषों का चारों ओर से घेर लेना, उसकी नोक के मोटा होने से व्रण का बड़ा होना, अति तीक्ष्ण होने से अनेक प्रकार का कष्ट होना, विषम होने से अधिक जलस्राव होना, बहुत बड़ी या छोटी होने से कर्म में बाधा पड़ना प्रभृति दोष शस्त्र क्रिया में आते हैं।[3]

अतएव इन दोषों से वर्जित (हीन) शलाका का व्यवहार शस्त्रकर्म में करना चाहिये। प्रशस्त शलाका ताम्र, लौह या सोने की आठ अङ्गुल

१. दोषस्त्वधोऽपकृष्टोपि तरुणः पुनरूर्ध्वगः ।
कुर्याच्छुक्लारुणं नेत्रं तीव्ररुग् नष्टदर्शनम् ॥
मधुरैस्तत्र सिद्धेन घृतेनाक्ष्णः प्रसेचनम् ।
शिरोवस्ति च तेनैव दद्यान्मांसैश्च भोजनम् ॥

२. मूर्धाभिघातव्यायामव्यवायवमिमूर्च्छनैः ।
दोषः प्रत्येति कोपाच्च विद्धोऽतितरुणश्च यः ॥

३. शलाका कर्कशा शूलं खरा दोषपरिप्लुतिम् ।
व्रणं विशालं स्थूलाग्रा तीक्ष्णा हि स्यादनेकधा ॥
जलास्रावं तु विषमा क्रिया संगमथास्थिरा ।
करोति वर्जिता दोषैस्तस्मादेभिर्हिता भवेत् ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ली बनी होनी चाहिये, बीच में अङ्गुष्ठ के उदर के परिमाण की टाई में सूत्र से लिपटी होनी चाहिये अर्थात् बीच में सूत को लपेट मोटी गाँठ सी बना देना चाहिये। इसी प्रकार की शलाका से कर्म करना हितकर है।[1] इसका अग्र भाग या नोक जौ के समान ता है। अतएव इसको यवमुखी या यववक्त्रा की संज्ञा दी गई है।

दुष्ट व्यध से होने वाले उपद्रव—शस्त्रकर्म में अहित का आचरण ने से या व्यध दोष से नेत्र में लालिमा, शोफ, अर्बुद, चोष, बुद्-बुदाकार मांस का निर्गमन, शूकराक्षिता (नीचे की ओर दृष्टि का हो ना), अधिमन्थ तथा अन्य भी नेत्र रोग हो जाते हैं। इनका उपचार दोष एवं रोगानुसार करना चाहिये।

१. नेत्रगत पीडा या लालिमा के उपद्रवों को रोकने के लिये गेरू, रिवा, दूब, जौ इनको पीसकर घी और दूध मिला कर गुनगुना गरम के लेप करना चाहिये। इससे वेदना और राग की शान्ति होती है।

२. हल्की भुनी हुई तिल और सरसों को मिलाकर पीस कर किंचि-ण कर लेप करना भी हितकर होता है। इस कल्क को नीबू के रस बिजौरे) में पीस कर लेप करना अधिक लाभप्रद होता है।

३. अर्क पुष्पी या क्षीरकाकोली, सारिवा पत्र, मञ्जिष्ठा और मुलैठी द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर लेप करना पथ्य है।

४. द्राक्षा, मुलैठी, कूठ, सैन्धव या रोध्र, मुलैठी इनको बकरी दूध में पीस कर लेप या शृत क्षीर या घृत का सेक नेत्रगत पीडा, र लालिमा को दूर करता है।

५. मुलैठी, नीलोत्पल, कूठ, द्राक्षा, लाक्षा, चीनी और सेंधानमक शृत क्षीर का सेक नेत्रगत पीडा, स्राव आदि को नष्ट करता है।

६. शतावरी, पृथक् पर्णी, मोथा, आमलकी, पद्मकाष्ठ तथा दूध इन यों से शृत घृत नेत्रगत दाह और शूल को नष्ट करता है।

---

१. अष्टांगुलायता मध्ये सूत्रेण परिवेष्टिता।
अंगुष्ठपर्वसमिता वक्त्रयोर्मुकुलाकृतिः ।
ताम्रायसी शातकुम्भी शलाका स्यादनिन्दिता ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध क्षीर या काकोल्यादि प्रतीवाप से यथाविधि शृत घृत का सभी कर्मों या उपद्रवों में व्यवहार करना चाहिये।

८. यदि किसी प्रकार से या ऊपर के उपचारों से नेत्रगत शूल शान्त न हो सके तो स्नेहन, स्वेदन करके सिरा मोक्षण करना चाहिये। यदि इससे भी उपद्रव शान्त न हो तो शिरा का दाह करना चाहिये।[१]

प्रसादनाञ्जन—यदि शस्त्रकर्म सफल हो गया हो तो दस दिनों के बाद नेत्र का प्रसादन करने के लिये अञ्जनों का प्रयोग करना चाहिये। यथा—

१. मेषशृङ्गी, शिरीष, धव, चमेली इन सभी का फूल तथा मुक्ता और वैदूर्यमणि इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर ताम्र के बरतन में एक सप्ताह तक रखे। फिर इसकी वर्त्ति (लम्बी पतली गोली) बनावे और नेत्रों में अञ्जन करे।

२. सौवीराञ्जन (सफेद सुरमा), प्रवाल, समुद्रफेन, मैनशिल और मरिच इनको पीसकर, पूर्ववत् वर्ति बना लेना चाहिये। इस अञ्जन का नेत्रों में अञ्जन करे। इन प्रसादन अञ्जनों का उद्देश्य दृष्टिशक्ति की स्थिरता बनाये रखना है।

१७

तिमिर, लिङ्गनाश-काच-मोतियाबिन्दु
(Opacities of Lens or Cataract)

मोतियाबिन्दु का विकार भारतवर्ष में एक बहुत प्रचलित रोग है। इसकी चिकित्सा में व्यवहृत होने वाला शस्त्रकर्म भी बड़ा आम आपरेशन हो गया है। इस हेतु प्रत्येक नेत्र वैद्य को उसके निकालने में निष्णात होना पड़ता है। यूरोप, अमेरिका प्रभृति शीतल देश के नेत्र-

१. शाम्यत्येवं न चेच्छूलं स्निग्धस्विन्नस्य भेषजम्।
ततः सिरां दहेद्वापि मतिमान् कीर्तितं यथा ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चिकित्सकों से कई गुनी अधिक मात्रा में सामान्य भारतीय नेत्र वैद्य को यह शस्त्रकर्म करने का अवसर मिलता है। पूर्व के वर्णनों में प्राचीन आचार्यों की परिपाटी के अनुसार इस रोग की द्विविध चिकित्सा है १. औषध और २. शस्त्र, जिसका उल्लेख हो चुका है। यहाँ पर संक्षेप में आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार लिङ्गनाश के हेतु, लक्षण, चिकित्सा तथा शस्त्रकर्म का दिग्दर्शन इस पाठ का लक्ष्य है।

मोतियाबिन्दु की संज्ञा और प्रकार—जब काच बिन्दु पक जाता है तो वह पुतली के नीचे मोती जैसा दिखलाई पड़ता है और जब वह (दृष्टिमणि) बाहर निकाला जाता है तो मोती के रंग का और बिल्कुल चमकीला होता है, इसीलिये वह काच बिन्दु या मोतियाबिन्दु कहलाता है। भिन्न-भिन्न आधुनिक युग के नेत्र ग्रन्थों में इसके प्रकार, कथन या वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न शैलियाँ ग्रन्थकारों ने अपनाई हैं। यहाँ पर एक सरल विभाजन नीचे दिया जा रहा है।

मोतियाबिन्दु—लिङ्गनाश (Cataract)

- प्रधान (Primary)
  - पूर्ण लिङ्गनाश (Total)
    - १. सहज (Congenital)
    - २. शैशवीय (Infantile)
    - ३. युवावस्थागत (Jevenile)
    - ४. जरा लिङ्गनाश (Senile Cataract)
    - ५. आघातज (Traumatic)
    - ६. मधुमेह जनित (Diabetic)
    - ७. कृष्ण काच (Black Cataract)
  - अपूर्ण लिङ्गनाश (Partial)
    - १. पूर्वमध्यस्थ (Anterior Polar)
    - २. पश्चात् मध्यस्थ (Posterior Polar)
    - ३. चिह्नमय (Punctate)
    - ४. चक्राकार (Zonular Lamellar)
    - ५. पश्चाद्वर्ति या गर्भगत (Posterior Cortical)
- औपद्रविक (Secondary)
  - १. दृष्टिमणि आवरणगत लिङ्गनाश (Capsular opacity)
  - २. उपद्रुत लिङ्गनाश (Complicated Cataract)

जरावस्थागत लिङ्गनाश या जरा लिङ्गनाश (Senile)—उपर्युक्त लिङ्गनाश के भेदोपभेदों में सब से अधिक पाया जाने वाला रोग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृद्धावस्था में होने वाला लिङ्गनाश है। लिङ्गनाश के जितने रोगी भारतवर्ष में देखने को मिलते हैं उनमें ६६% इसी प्रकार से पीडित मिलते हैं। अतएव केवल इसी एक प्रकार के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख आवश्यक हो जाता है। साथ ही प्राचीन वर्णनों के साथ समन्वयात्मक अध्ययन भी एक ही के वर्णन से हो जाता है।

लक्षण और चिह्न—इसका एक ही लक्षण है तिमिर। रोगी की दृष्टि में क्रमशः न्यूनता लिङ्गनाश या मोतिया बिन्दु का प्रारम्भ दृष्टिमणि के जिस भाग में और जिस तरह होता है उसी के ऊपर दर्शन शक्ति या रूप ग्रहण की शक्ति की न्यूनता आधारित रहती है। यह न्यूनता दृष्टि-मणि की अपारदर्शकता के कारण होती है। इसी की प्राचीन संज्ञा दोषावस्थान भी सुश्रुत ने दी है। यथा—यदि अपार दर्शकता (दोषाव-स्थान) सूक्ष्म और अति मर्यादित हो तो दृष्टि शक्ति में विशेष बाधा नहीं आती। यदि अपारदर्शकता (दोषावस्थान) मध्य में हो तो दृष्टि को विशेष बाधा पहुँचती है। यदि अपारदर्शकता (दोषावस्थान) दृष्टि-मणि के परिधि प्रान्त में हो तो दृष्टि में विशेष न्यूनता नहीं आती, क्वचित् बिल्कुल बाधा नहीं पहुँचती।

दृष्टिमांद्य के अतिरिक्त मोतियाबिन्दु में पाया जाने वाला दूसरा लक्षण मिथ्यादर्शन भी है। जैसे दृष्टि के समक्ष स्थिर काले धब्बे का भासना। कई बार यदि मोतियाबिन्दु दृष्टि मण्डल के कुछ अंश में एक ओर हो और दृष्टि मणि का भाग स्वच्छ हो तो एक आँख से देखने पर रोगी को दो-दो भासता है। इस स्थिति को द्विधा दर्शन या एकाक्षि द्विधा दर्शन (Monocular Diplopia) कहते हैं।

अनेक मोतियाबिन्दु के रोगियों में प्रारंभिक अवस्था में यदि रोगी दूर दृष्टि वाला हो तो निकट दृष्टि हो जाती है। यदि रोगी की दृष्टि प्राकृतिक हो, पूरी दृष्टि वाली हो तो वह भी ह्रस्व दृष्टि वाला हो जाता है।

इन्हीं लक्षणों का विस्तृत वर्णन आचार्य सुश्रुत ने तिमिर नामक रोग से प्रथम, द्वितीय और तृतीय पटलाश्रित दोषावस्थानों में किया है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

था 'दृष्टि की विह्वलता' 'अव्यक्त रूप दर्शन', 'मक्षिका, मशक, केश, जालक, मण्डल, तम (अन्धकार) प्रभृति काली चीजों का भासना', दृष्टि इन्द्रिय का विभ्रम अर्थात् दूरस्थ को समीपस्थ और समीपस्थ को दूरस्थवत् देखना', 'ऊपर को देखना नीचे को न देख सकना', एक को द्विधा समझना', 'द्विधा को त्रिधा और बहुधा (अनेक) समझना' इत्यादि लक्षण लिङ्गनाश (Cataract) के पूर्वरूप में मिलते हैं।

मोतियाबिन्दु के बढ़ने से दृष्टि अधिकाधिक मंद होती जाती है। बाद में नेत्र के समक्ष वाले काले मण्डल, पदार्थ या धब्बे बिल्कुल नहीं भासते। द्विधा दर्शन (दो-दो की प्रतीति) भी दूर हो जाती है। शनैः शनैः मोतियाबिन्दु वाली दृष्टि बिल्कुल बन्द हो जाती है। फिर कोई भी वस्तु न प्रतीत होती और न दीखती है। रोगी मनुष्य को नहीं जान सकते या उसका आकार देख कर नहीं पहचान सकते। घर में भी चलते हुए उसे हाथ का सहारा लेना पड़ता है। केवल अन्धकार और प्रकाश का ही बोध शेष रह जाता है।

उपर्युक्त ठीक इसी अवस्था का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने अपने शब्दों में लिङ्गनाश की अवस्था में किया है। जब तिमिर वाला रोग बढ़ता हुआ चतुर्थ पटल में अवस्थित हो जाता है तो लिङ्गनाश की अवस्था उत्पन्न हो जाती है 'रोगी किसी भी बड़ी चीज को वस्त्र से ढके के समान देखता है।' 'कान, नाक, आँख को विकृत देखता है।' 'दृष्टि सर्वतो-भावेन रुद्ध हो जाती है।' 'रोगी अन्धकारमय हो जाता है।' यदि रोग अतिरूढ नहीं हो तो प्रकाश और चमकदार चीज का ज्ञान हो जाता है, जैसे 'चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, विद्युत् आदि का'।

लिङ्गनाश की आधुनिक परीक्षा विधियाँ—१. यह परीक्षा अन्धकारमय प्रकोष्ठ या अन्ध प्रकोष्ठ में करनी चाहिये। तारक प्रसारक औषधियों में एट्रोपीन कोकेन, यूफ्थैलमिन हाइड्रोक्लोराइड या एफ्रेड्रीन सल्फेट में से किसी एक के निक्षेप से तारक (Pupil) को प्रसारित कर लेना चाहिये। नेत्र दर्शक यन्त्र (Opthalmoscope) से दृष्टिमणि की परीक्षा रोगी को आसन पर बैठाकर डेढ़ फुट की दूरी से की जाती है। दीपक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का प्रकाश रोगी की तारक पर डाले। इससे तारक (प्युपिल) लाल भासेगा। यदि तारक बिल्कुल रक्त वर्ण और स्वच्छ प्रतीत हो तो रोगी को मोतियाबिन्दु नहीं है यह निश्चित हो जाता है। यदि उस प्रकाशित भाग में काला धब्बा या धब्बे प्रतीत हों तो तीन अवयवों में से किसी से अपारदर्शकता होनी चाहिये। १. कृष्णमण्डल २. दृष्टिमणि ३. सान्द्रद्रव (Vitreous Humaur) इन तीनों में से किसकी अपारदर्शकता है इसके निर्णय के लिये नेत्र वैद्य अपना सिर चलावे। यदि अपारदर्शकता चलती प्रतीत हो तो वह किस ओर गति करती है यह ठीक से देख ले। सिर के चलने के विपरीत दिशा में गति हो तो अपारदर्शकता कृष्ण मण्डल में, स्थिर रहे तो दृष्टिमणि के आवरण के हिस्से में और समानदिशा में या साथ साथ गति हो तो दृष्टिमणि के बीच में या पिछले हिस्से में माने। यदि अपारदर्शकता चल हो अर्थात् जल में तैरती सी भासती हो अर्थात् स्वस्थान बदलती रहे तो वह सान्द्रद्रव (V. H.) में रहती है। लिङ्गनाश के लिये थोड़े शब्दों में कहा जाय तो इस प्रकार कहना होगा कि नेत्र वैद्य का सिर जिस दिशा में चलेगा, अपारदर्शकता भी उसी दिशा में चलेगी। उक्त रीति के अतिरिक्त स्लीट लैम्प और कर्नियल लुप (कृष्णमण्डलेक्षण यन्त्र) से परीक्षा की जा सकती है। दृष्टिमणि अवस्थित सूक्ष्म अपारदर्शकता (दोषावस्था) विदित हो जाती है।

२. यदि दृष्टिमणि की अपारदर्शकता बहुत बढ़ी हुई अवस्था में हो, तो परीक्षा में बड़ी सरलता रहती है। खिड़की से आने वाले प्रकाश से परीक्षा करने पर तारक (Pupil) का रंग राख जैसा भासता है। अँधेरे कमरे (अन्ध प्रकोष्ठ) में तारक पर प्रकाश डालने से लिङ्गनाश का विन्दु साफ प्रतीत होता है। अपक्वावस्था में उसका वर्ण नीलवर्ण या काच जैसा भासता है और यदि लगभग पक गया हो तो तारक से सफेद भासेगा।

यदि मोतियाबिन्दु पकने के पश्चात् की स्थिति में होगा, तो वह देखने में परिवर्तनों के अनुसार होगा। यदि वह सफेद दूध जैसा हो तो उसे दूधिया मोतियाबिन्दु या श्लैष्मिक लिङ्गनाश (Milky Cataract)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहा जा सकता है, यदि पकने के पश्चात् वह सफेद न बना हो तो तारक पीताभ ही भासता है और मोतियाबिन्दु काले रंग का या नील वर्ण का (Black Cataract) हो जाता है। तारक पर प्रकाश डालने पर वह प्रकाशित नहीं होगी, बल्कि अपारदर्शक रहेगी।

३. तीसरी परीक्षा लिङ्गनाश की पक्वापक्व अवस्था निर्णय के लिये की जाती है। आचार्य सुश्रुत ने भी लाक्षणिक दृष्टि से लिङ्गनाश की त्रिविध अवस्थायें मानी हैं, अरूढ या नातिरूढ़ (Immature), रूढ़ (Matured) तथा अतिरूढ़ (Hyper matured)।

यह परीक्षा लिङ्गनाश की पर्याप्त बढ़ी हुई अवस्था में की जाती है। इसके लिये + २० बहिर्गोल काँच से एक ओर से दीपक का प्रकाश तारक पर डाला जाता है। यदि बिन्दु अपक्वावस्था में है तो जिस ओर से प्रकाश आता है उस ओर के तारक के भाग में अर्द्धचन्द्राकार छाया प्रतीत होगी। इस छाया को तारामण्डल का प्रतिबिम्ब (Iris shadow) कहते हैं। जब तक पक्वावस्था नहीं आ जाती तब तक यह छाया बनती रहेगी। इस चिह्न से पक्वापक्वावस्था का निर्णय हो जाता है।

४. तारक प्रतिक्रिया (Reaction of pupil)—प्रकाश के भावाभाव से आकुञ्चन एवं प्रसारण।

५. प्रकाश दर्शन—दीपक का प्रकाश रोगी के तारक पर डालने से उसका ज्ञान होता है या नहीं ?

६. प्रकाश प्रक्षेप (Light Projection)—दृष्टि वितान (Rteina) पर डाला हुआ प्रकाश ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर या पार्श्व से डालकर यह देखना कि रोगी को प्रकाश दिशा के ज्ञान की समर्थता है या नहीं।

जरालिङ्गनाश की विविध अवस्थायें—(4 Stages of Cataract)

१. प्रारंभिक अवस्था (Incipient stage) तिमिर (सुश्रुतीय संज्ञा)
२. अर्द्धपक्वावस्था (Intumescent cataract) नातिरूढ़ावस्था (,,)
३. पक्वावस्था (Mature cataract) रूढ़ावस्था (,,)
४. अतिपक्वावस्था (Hyper matured) अतिरूढ़ावस्था (,,)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपर्युक्त चार अवस्थाओं को यदि सुश्रुतोक्त चार पटलों के दोषों में मान लिया जाय तो सुश्रुताचार्य का वर्णन आधुनिक वर्णनों के साथ पूर्णतया संगत प्रतीत होता है।

१. प्रारम्भिक अवस्था के भीतर वैज्ञानिक भी तीन और अवस्थाओं को मानते हैं—जैसे त्रिकोणाकारापारदर्शकता—इसमें रोगी की दृष्टि को कोई विशेष हानि नहीं पहुँचती और दृष्टिमणि का वर्ण पीताभ या कृष्णाभ होता है। धूम सदृश अपारदर्शकता—इसमें रोगी मलमल के कपड़े से ढके के समान या कुहरे से आच्छन्न के समान रूप को देखता है। मध्याह्न में कम दिखलाई पड़ता है (दिवान्ध्य) और प्रातः सायं कुछ साफ देखता है। दृष्टिमणि का वर्ण काला दीखता है। मण्डलाकार अपारदर्शकता—इसमें काले रंग के चक्र की धुरी के आकार के किरण निकलते हैं—मकड़ी के जाल का आकार भासता है। अङ्गुली सदृश अपारदर्शकता—प्रकाश डालकर देखने पर नेत्रदर्शक यन्त्र से दो मुद्रिका जैसी अपारदर्शकता दीखती है।

२. अर्द्धपक्वावस्था—दृष्टिमणि फूलता और अपारदर्शक हो जाता है, दृष्टि अतिशय मंद हो जाती है। लिङ्गनाश श्वेताभ भासता है।

३. पक्वावस्था—इस अवस्था में पहुँचने पर दृष्टि लगभग बन्द हो जाती है, मनुष्य को देखकर उसका आकार नहीं जाना जा सकता। नेत्र के समीप हाथ हिलाने से रोगी को उसका बोध होता है। पूर्ण दृष्टिमणि अपारदर्शक हो जाता है, उसका वर्ण श्वेताभ या पीताभ भासता है। तारक आकुञ्चन और प्रसारण प्रकाश की प्रतिक्रिया के अनुरूप होता है। मोतियाबिन्दु की यही स्थिति शस्त्रक्रिया के योग्य मानी जाती है एवं शस्त्रकर्म करने पर पूर्ण सफलता मिलती है।

यह अवस्था सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक लिङ्गनाश से मिलती जुलती है और इसी अवस्था में आचार्य ने भी शस्त्रकर्म का उपदेश किया है। इतना ही नहीं, इसी अवस्था को साध्य भी बतलाया है।[1]

१. श्लैष्मिके लिङ्गनाशे तु कर्म वक्ष्यामि सिद्धये।
न चेदर्धेन्दुघर्माम्बुबिन्दुमुक्ताकृतिः स्थिरः ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अतिपक्वावस्था—यदि लिङ्गनाश न दूर किया जाय तो उसमें दिन प्रतिदिन परिवर्त्तन होता ही चलता है। यह परिवर्त्तन दृष्टिमणि के गर्भ-भाग (Cortex) में होता है। यदि उसके भीतर अवस्थित द्रव का शोषण होता चला जाय तो सब गर्भभाग दृष्टिमणि के केन्द्र के साथ मिलकर कठोर बन जाते हैं। साथ साथ बिन्दु भी छोटा हो जाता है। उसका रंग अधिक मलिन और पीत हो जाता है। जब मोतियाबिन्दु बहुत छोटा हो जाता है तो वह अपने बंधनों से मुक्त हो जाता है, जिससे काँपने लगता है। रोगी के ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर चलते मोतियाबिन्दु भी साथ साथ चलता रहता है। सुश्रुत ने इसी अवस्था का वर्णन 'चले दोषे स्थिरे वापि' शब्दों में किया है। अथवा 'चलत्पद्म-पलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः' शब्दों में किया है। यह शोषण क्रिया और आगे बढ़ती है, तो दृष्टिमणि का केन्द्र इतना छोटा हो जाता है कि सरक कर निम्न भाग में तारामण्डल के पीछे गिर जाता है। ऐसा होने पर दृष्टि पुनः खुल जाती है।

आचार्य सुश्रुत ने 'परिम्लायिकाच' का वर्णन ठीक इसी प्रकार का किया है—इसमें दृष्टिमण्डल म्लान और नील हो जाता है। इसमें कई बार दोष का क्षय होकर अपने आप रूप का दर्शन होने लगता है—'दोषक्षयात्स्वयं तत्र कदाचित्स्यात्तु दर्शनम्।'

यदि दृष्टिमणि का शोषण इतना अधिक न हो, अर्थात् सामान्य हो और मोतियाबिन्दु न निकाला जाय तो उसका पर्त्त आगे की ओर मोटा हो जाता है और कभी कभी उस पर सफेद बिन्दु उत्पन्न होते हैं। ये बिन्दु चूने जैसे क्षार से बनते हैं। बहुत से मोतियाबिन्दुओं में इस क्षार के स्थान पर मेदातु (Cholestrin) संचित होते हैं; इससे चमकीले कई वर्ण के बिन्दु काच में भासते हैं। इसी अवस्था का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने 'समस्तदोषप्रभवो विचित्रः' शब्दों में किया है।

यदि शोषण क्रिया न हो और पदार्थ द्रवरूप धारण कर ले तो वह

विषमो वा तनुर्मध्ये राजिमान् वा बहुप्रभः।
दृष्टिस्थो लक्ष्यते दोषः सरुजो वा सलोहितः ॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दिन प्रतिदिन गलने लगता है। फिर दृष्टिमणि के बीज के अतिरिक्त शेष कांच बिन्दु का भाग सफेद दूध जैसा प्रवाही बन जाता है। इस स्थिति में इसे दूधिया काँच या मार्गैनियन काँच (Milky or Marganian cataract) कहा जाता है। इस स्थिति में गर्भ पदार्थ दूध जैसे द्रव का रूप ले लेता है और उसके भीतर केन्द्र तैरता रहता है, रोगी नेत्र या सिर चलावे तो केन्द्र भी उसके साथ चलता है; यह नेत्र-वैद्य स्पष्ट देख सकता है।

इसी अवस्था का वर्णन सम्भवतः आचार्य सुश्रुत ने दोषानुसार राग-प्राप्त दृष्टिमण्डल के वर्णनों में किया है; उसमें उन्होंने लिखा है कि श्लेष्म दोष के कारण दृष्टि मणि का वर्ण 'शंख-कुन्देन्दुपाण्डुरं' हो जाता है। उसकी चंचलता इस प्रकार बढ़ जाती है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर रखे हुए अस्थिर जल की बूँद—'चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः' अथवा नेत्र में गति होने पर उसमें भी गति होती है—'मृद्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति।'

यदि इस दूधिया बिन्दु को रहने दें तो वह उसी स्थिति में रह जाता है या प्रवाही पदार्थ शोषित होने लगता है और फिर अन्त में बीज ही शेष रह जाता है। यह बीजस्थली के भीतर तारामण्डल के पीछे पड़ा रहता है। यदि बिन्दु का पत्त अपारदर्शक न बना हो तो इस स्थिति में रोगी बिना कोई चिकित्सा कराये अपने आप देखने लग जाता है। ऐसे बहुत से रोगी देखने को मिलते हैं।

हेतु—जरा अवस्थागत लिङ्गनाश के कारणों का अभी तक ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो पाया है तथापि निम्नलिखित छः कारण ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं—

१. वृद्धावस्था जनित दृष्टि मणि और उसके आवरण में होने वाले परिवर्त्तन।

२. वृद्धावस्था के कारण सजल द्रव (A. H.) के मौलिक द्रव्यों में परिवर्त्तन।

३. प्रकाशाधिक्य—यह रोग ही उष्णकटिबन्ध का है। सूर्य की किरणों में से नील लोहित (Ultra violet) नेत्र के लिये हानिकर है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. उष्णताधिक्य—इनमें रक्तातीत (Intfa red rays) हानिप्रद है। भट्ठी में काम करने वालों (Glass blowers cataract) में इसी प्रकार का लिङ्गनाश होता है।

५. देहपोषक जीवनीय तत्त्वों या जीवतिक्ति द्रव्यों की न्यूनता।

६. शारीरिक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्रावों की न्यूनता।

हेतुओं का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत ने दृष्टिगत रोगों में कई प्रकार के कारण बतलाये हैं। संक्षेप में नीचे कोष्ठकों में उनका उल्लेख किया जा रहा है।[1]

दृष्टिगत रोगोत्पादक या लिङ्गनाशोत्पादक कारण

- बाह्य
  - सनिमित्त
    1. शिरोभिताप
    2. विषसम्पर्क
    3. पुष्पसम्पर्क
    4. पुष्पगन्धसम्पर्क
    5. तेज वायु (इनमें अभिष्यन्दवत् लक्षण मिलेंगे और साध्य होंगे)
  - अनिमित्त (औपसर्गिक लिङ्गनाश)
    1. देवर्षि, गन्धर्व, महासर्प इत्यादि के दर्शन से।
    2. अत्यन्त चमकदार भास्वर पदार्थ के कारण (इसमें आँख बिल्कुल नैसर्गिक रहती है, वैदूर्य मणि के सदृश आभा रहती है, रोगी को आँख से दिखाई नहीं पड़ता, यह अवस्था असाध्य है। आजकल भी ऐसे लिङ्गनाश असाध्य बतलाये जाते हैं।
- अन्तः (दोषानुसार पटलों में अवस्थान के अनुसार) छः प्रकार
  1. वातिक
  2. पैत्तिक
  3. श्लैष्मिक
  4. रक्तज
  5. सन्निपातज (अभिघातज)[2]
  6. संसर्गज (पित्तरक्त)

---

१ बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च। निमित्ततस्तत्र शिरोभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनैश्च ॥ सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्वराणाम्। हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ॥ तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥

वाग्भट ने इसी अवस्था को औपसर्गिक लिङ्गनाश की संज्ञा दी है।

२. विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता तु दृष्टिः। (सु० उ० ७.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपचार—लिङ्गनाश (Cataract) में आधुनिक ग्रन्थों में दो प्रकार के उपचार बतलाये जाते हैं—

औषधोपचार

बाह्य या स्थानिक उपचार नेत्र में डालने या निक्षेप की औषधियाँ

१. एट्रोपीन (½-१ ग्रेन एक औंस स्रुत जल) चार-चार दिन के अन्तर से छोड़ना ।
२. पोटाश आयोडायड (४-८ ग्रेन एक औंस) निक्षेप
३. सिनेरिया मेरिटिमा (Cineria Meritima)
४. पलाशमूलार्क
५. डायोनीन आश्च्योतन
६. कुसीरोविडो आयडो कैल्शियम मलहर ।

आभ्यन्तर प्रयोग की औषधियाँ

१. पौष्टिक आहार
२. कोष्ठ शुद्धि
३. निदान परिवर्जन
४. आयोडीन के प्रयोग कोलोजल आयोडीन, सोडा आयोडायड, पोटाश आयोडायड
५. राइबो फ्लैविन
६. चक्षुष्य द्रव्यों में जीवतिक्ति 'ए. बीं. डी.' का प्रयोग ।

शस्त्रक्रिया (छः प्रकार की हैं ।)

१. दृष्टिमणि के आवरण का लेखन (Discission)
२. दृष्टिमणि के आवरण का भेदन कर काच का आहरण (Cataract extraction with capsulotomy)
३. आवरण सह काच विन्दु के आहरण (Intra capsular extraction of Cataract.) की चार पद्धतियाँ हैं-स्मिथ, नेप, ग्लशिग्र और बाराकर आविष्कारकों के नाम पर ये संज्ञायें दी गई हैं ।
४. जरमैक की पद्धति अथवा दृष्टिमणि का नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे से निकालना (Zermack's Sub conjuctival extraction of Lens)
५. काच को भीतर बैठाना या स्थानभ्रष्ट करना । (Couching of lens)
६. काच के आहरण के पश्चात् आवरण की शस्त्र क्रिया (Operation for Post operative Capsular opacity)
   अ. आवरण भेदन (Needling)
   आ. आवरण का आहरण (Removal of Capsule)

ऊपर लिखे कोष्ठक में आधुनिक नेत्र ग्रन्थों के आधार पर लिङ्गनाश की चिकित्सा लिखी गई है । यदि प्राचीनों के पूर्वकथित प्रतिषेधाध्याय पर ध्यान दिया जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि सिद्धान्ततः प्राचीन एवं अर्वाचीन चिकित्सा में मूलतः कोई भेद नहीं है । प्राचीनों ने भी पहले बाह्य और आभ्यन्तर उपचार और सफलता न मिलने पर शस्त्रोपचार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का साधन अपनाया है। शस्त्रोपचार के योग्य जो मोतियाबिन्दु की अवस्था वर्तमान पुस्तकों में मिलती है, वह अवस्था भी प्रायः सुश्रुतोक्त श्लैष्मिक लिङ्गनाश जैसी ही है—जिसमें शस्त्रकर्म का उल्लेख किया गया है।

सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म का विवेचन—लिङ्गनाश या Cataract में सुश्रुत ने जिस प्रकार के शस्त्रकर्म का उल्लेख किया है वह एक बहुत ही व्यावहारिक क्रिया है। सीमित शब्दों में कर्म की व्याख्या होने से कई लोगों ने इसके कई अर्थ लगाये हैं, फलतः इसकी तुलना भी विभिन्न वर्त्तमान ग्रन्थों के शस्त्रकर्मों से की है। कुछ लोग इस क्रिया को 'कोचिङ्ग आफ दी लेन्स' बतलाते हैं, दूसरे 'नीडलिङ्ग' कहते हैं और कई लोग तो इसको बिल्कुल वर्त्तमान शस्त्रकर्म 'इन्टाकैपस्यूलर एक्सट्रैक्शन आफ दी लेन्स' समझते हैं। अतः विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये पूर्वकथित पाठों का पुनः उल्लेख कर जो सबसे सम्मत ज्ञात होता है उसका उल्लेख किया जायगा। शस्त्रकर्म के दो अंग हैं—१. वेध २. लेखन।

'मतिमान् शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः।
उन्मील्य नयने सम्यक् सिराजालविवर्जिते ॥
नाधो नोर्ध्वं न पार्श्वाभ्यां छिद्रे दैवकृते ततः।
शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्रया ॥

वेधन—यवमुखी शलाका के द्वारा ठीक दैवकृत छिद्र में जहाँ पर सिराजाल (Blood vessels) नहीं है वहाँ वेध करे। यह दैवकृत छिद्र नेत्र में कहाँ है यह देखना है। 'शुक्लभागौ द्वौ कृष्णान्मुक्त्वा ह्यपाङ्गतः' में दो अपादानों का प्रयोग आता है 'अपाङ्गतः' और 'कृष्णात्'। इसमें पहले अपाङ्गतः का अर्थ डल्हणाचार्य के अनुसार अपाङ्ग के समीप में समझना चाहिये और 'कृष्णात्' का अर्थ कृष्णमण्डल से, वहाँ शुरू कर के शुक्ल भाग में अपाङ्ग (Outer canthus) की ओर चले दो भागों को छोड़ ठीक तीसरे भाग की सन्धि में वेध करे। सरल शब्दों में कहना हो तो ऐसा कहा जायगा कि अपाङ्ग से कृष्ण भाग तक की दूरी नाप कर उसके तीन भाग करें। अपाङ्ग से प्रारम्भ होने पर प्रथम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तृतीय (⅓) के अन्त और दूसरे तृतीय के प्रारम्भ स्थल या सन्धि स्थल पर वेध करे। यह वेधन न नीचे, न ऊपर हो और न पार्श्व में अर्थात् न कृष्ण भाग के अति समीप या न अपाङ्ग के अति समीप हो। इन दोनों अवस्थाओं में उपद्रव होते हैं और नेत्र को हानि पहुँचती है। इस प्रकार यह वेधन का कर्म नेत्र श्लेष्मावरण के अधोभाग (Sub conjuctiva) में होता है। आचार्य वाग्भट ने भी इसी मत का समर्थन किया है 'कृष्णादर्धाङ्गुलं मुक्त्वा तथाऽर्धार्धमपाङ्गतः' आँख के कृष्ण भाग से आधा अंगुल छोड़ कर और अपाङ्ग से चौथाई अङ्गुल बचाकर शुक्ल भाग में वेध करे।

कुछ विद्वानों ने इसका खींचा तानी कर 'प्युपिल' अथवा 'स्क्लेरो-कार्नियलजंकशन' अर्थ करके वेध का स्थान उन्हीं स्थानों पर कहा है। परन्तु मूल तथा टीका अथवा वाग्भट के अनुसार यह युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता।

लेखन—'शलाकाग्रेण ततो निर्लिखेद् दृष्टिमण्डलम्' दृष्टि मण्डल गत कफ का लेखन करे। इस लेखन का कार्य उसी वेध की हुई शलाका के अग्र से करना चाहिये। जब लेखन की क्रिया हो जाय तो उस कफदोष को निकाले। कुछ तो शलाका के निकालने के साथ ही निकल आयेगा और अवशिष्ट उच्छिङ्घन (जोर से नाक साफ करने) से निकल आयेगा। यह कर्म निश्चित रूप से दृष्टिमणि के ऊपर इकट्ठे हुए दोषों का निर्लेखन करता है। ठीक इसी प्रकार का एक शस्त्रकर्म का वर्णन आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में मिलता है, इसको कहते हैं दृष्टि मणि का लेखन (Dicis-ion of the lens) यह भी मोतियाबिन्दु का एक अच्छा शस्त्रोपचार माना जाता है।

इसका वर्णन इस प्रकार है। कृष्ण मण्डल की परिधि से शलाका का प्रवेश कराके उसकी नोक को दृष्टि मणि के आवरण में प्रवेश कराते हैं फिर आवरण का लेखन अच्छी तरह से हो जाय इसलिये नोक को ऊपर नीचे कई बार फिराते हैं। इस शस्त्र-क्रिया के परिणाम स्वरूप दृष्टि मणि सजल द्रव के पूर्व खण्ड में प्रविष्ट हो जाता है, और फिर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शनैः शनैः वह गल जाता है और कनीनिका बिल्कुल काली हो जाती है। रोगी की दृष्टि प्रायः अच्छी हो जाती है।

सम्भवतः प्राचीनों का लिङ्गनाश वेधन और लेखन यही कर्म रहा हो। अर्वाचीन पद्धति में अन्तर इतना ही है कि वेधन का कर्म कृष्ण मण्डल (Cornea) की परिधि से किया जाता है और सुश्रुत ने सन्धि-स्थल को मर्म माना है इसलिये कृष्ण शुक्लगत सन्धि से वेधन न करके नेत्रश्लेष्मावरण के नीचे (Sub conjunctival) से शलाका द्वारा वेधन करते हुए पूर्व कोष्ठ (Anterior chamber) में पहुँचा कर लेखन और जोर से नाक साफ करते हुए दोष को स्थानच्युत करने का विधान किया है।

इस प्रकार सुश्रुतोक्त लिङ्गनाश शस्त्रकर्म को अंग्रेजी में (Disoission of Lens by subconjunctival Puncture) कहा जा सकता है।

वर्तमान शस्त्र कर्मों में से एक और ऐसी पद्धति है जिससे सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म का बहुत कुछ मेल खाता है। वह है काच बिन्दु को हटाकर नेत्र श्लेष्मावरण से निकालना (Sub conjunctival extraction of Lens) इस शस्त्र क्रिया की खोज जरमैक नामक पाश्चात्य नेत्रवैद्य ने की थी। इस पद्धति में विधि पूर्वक श्लेष्मावरण में काट कर के एक कोटर जैसा (६ मि० मी० लम्बा और ४ मि० मी० चौड़ा) गर्त्त बना लिया जाता है, और फिर दृष्टि मणि के आवरणों को तोड़कर दो छोटे नाल यन्त्रों के सहारे एक से शुक्ल मण्डल के ऊर्ध्व किनारे पर दबाव डाल कर और दूसरे से निम्न किनारे पर दबाव डाल कर मोतियाबिन्दु के दाने को निकाल लेते हैं। पश्चात् नेत्र श्लेष्मावरण को ठीक करके यथास्थान बैठा देते हैं या एक दो टाँके लगा देते हैं।

इस क्रिया से श्लेष्मावरण का भेदन किया जाता है, वेधन (Puncture) नहीं। दूसरी बात यह है कि इस मार्ग से दृष्टि मणि सहज अच्छिछन्न क्रिया से नहीं निकल सकता। बल्कि दोष निर्हरण के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर्याप्त बल देकर यन्त्र की सहायता आहरण में अपेक्षित है। अत एव यह सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्म नहीं हो सकता।

वर्त्तमान युग में अधिक व्यवहार में आने वाले दो ही शस्त्रकर्म लिङ्गनाश में विशेष प्रचलित हैं। आवरण सह काच का आहरण तथा आवरणव्यतिरिक्त काच का आहरण। इन दोनों क्रियाओं का अति संक्षेप में उल्लेख कर देना प्रासंगिक है।

शस्त्रोपचार के योग्य रोगी—रोगी की शारीरिक स्थिति अच्छी हो, उसे कास, श्वास, प्रतिश्याय, पाण्डु नहीं होना चाहिये। शस्त्रकर्म के पूर्व उसके मूत्र की परीक्षा शुक्ली और शर्करा के लिये करा लेना चाहिये। शस्त्र कर्म के लिये मूत्र में उनकी अनुपस्थिति आवश्यक है। दांतों में पूय का स्थान, कर्णस्राव, गर्भाशय शोथ आदि की अवस्था हो तो पहले इनके दूरी करण का इन्तजाम होना चाहिये।

नेत्र की स्थिति—नेत्र उपाङ्गों में कोई जीर्ण शोथ का केन्द्र हो तो उसको दूर करना चाहिये। सरल मार्ग यह है, कि रोगी के नेत्र का स्रावहो या कीचड़ लेकर उसकी नैदानकीय परीक्षा (Pathological test) अणुवीक्षण यन्त्र से करा लेनी चाहिये। यदि उसमें पूयजनक जीवाणुओं का अभाव हो और कुछ कुछ दिनों के अन्तर से तीन बार तक नास्त्यात्मक ही परीक्षा फल मिलता हो तो शस्त्रकर्म करे अन्यथा नहीं।

इसके अतिरिक्त कई अन्य बातों की परीक्षा आवश्यक होती है—नेत्रान्तर्गत भार, दृष्टि शक्ति, तारक की प्रकाश प्रति क्रिया, प्रकाश किरण की दिशा का बोध प्रभृति का भी ज्ञान कर लेना चाहिये।

पूर्व कर्म—शस्त्रकर्म प्रातः काल में किया जाना चाहिये। रोगी को रात्रि में हल्का खाना देकर विरेचन देना चाहिये। प्रातः काल शस्त्र कर्म के पूर्व एक आस्थापन देकर कोष्ठ शुद्ध करा देना चाहिये। रोगी का मुख साबुन और गर्म जल से खूब साफ कर देना चाहिये। रोगी के नेत्र में मर्क्युरोक्रोम डाल कर तथा पक्ष्म काट कर स्थानिक नेत्र की सफाई भी कर देनी चाहिये।

नेत्र निमीलनी पेशी का स्तम्भन—रोगी को शस्त्रागार में ले जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर सूची वेध के द्वारा नोवोकेन दो प्रतिशत का घोल बनाकर उसमें एड्रेनैलीन मिलाकर हनु संधि में ½ इञ्च नीचे और ½ इञ्च ऊपर की ओर सुई का प्रवेश (आधा इञ्च गहराई तक) कराके दवा का एक सी. सी. डाल देना चाहिये। पश्चात् वहाँ पर स्प्रिट लगाकर मसल देना चाहिये। पाँच से दस मिनट के भीतर पेशी स्तम्भित हो जायगी, नेत्र का निमीलन बन्द हो जायगा।

शस्त्र कर्म—रोगी को फलक (Operation table) पर लेटाकर उसकी आँखों का जीवाणुघ्न घोल से प्रक्षालन करें। कोकेन और एड्रेनैलीन की बूँदें डालें। नेत्र वैद्य रोगी के सिर के पास ही खड़ा रहता है। ग्राफे के शस्त्र को या लिङ्ग नाश वृद्धि पत्र को दाहिनी आँख में कर्म करते समय दाहिने हाथ में, बायीं आँख में कर्म करते समय बायें हाथ में पकड़ना चाहिये। यदि ऐसा संभव न हो तो दाहिनी आँख में कर्म करते हुए दाहिनी तरफ, बायें में कर्म करते हुए बाईं तरफ खड़ा होना चाहिये।

फिर गोलक को स्थिरता से पकड़कर कृष्ण मण्डल के बाहरी किनारे से शस्त्र को सजल द्रव के पूर्वखण्ड में प्रवेश कराके शस्त्र की नोक को दूसरी तरफ निकाले। शनैः शनैः स्थिर हाथ में शस्त्र को ऊपर की ओर चलावे और कृष्णमण्डल को काटते हुए ऊपरी किनारे तक काट दे। फिर यथावश्यक दृष्टि मणि के आवरण का भेदन करके दृष्टि मणि को निकाले या आवरण सहित दृष्टि मणि को ताल यंत्र के सहारे पीड़न करते हुए शनैः शनैः निकाल ले। फिर मरक्यूरोक्रोम या पेन्सिलीन की बनी बूंदों का एक दो बूंद नेत्र में डालकर नेत्र पर कवलिका रख कर व्रण बंध कर दे।

पश्चात् कर्म—रोगी को फल और दूध पर रखे। चौबीस घंटे तक उत्तान शयन करावे। मल, मूत्र का त्याग भी रोगी को विस्तर पर लेटे ही लेटे करना चाहिये, इसके लिये वर्चः पात्र (Bed pan) और मूत्र पात्र रखना चाहिये।

चौबीस घंटे के बाद पट्टी को खोलकर नेत्र के उपाङ्गों की स्थिति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को देख कर एट्रोपीन और एड्रेनैलीन के बूंद छोड़े। फिर मर्क्युरोक्रोम की बूंद डाले। नेत्र की स्थिति संतोषजनक हो तो प्रतिदिन दिन में एक बार पट्टी खोलकर मर्क्युरोक्रोम की बूंद छोड़ना चाहिये। नौवें दिन पट्टी खोलकर हरी पट्टी या काला चश्मा देकर रोगी को छोड़ा जा सकता है।

शस्त्रक्रिया के २४ घंटे के बाद रोगी को एक करवट बदलने की अनुमति दी जा सकती है। ४८ घंटे के बाद दोनों ओर को करवट बदल सकता है। ७२ घंटे के बाद कुछ कुछ बैठे तो कोई क्षति नहीं होती। पाँचवें दिन रोगी कुछ कुछ चल फिर सकता है। भोजन में दो दिनों तक दूध, उसके बाद हलुआ, खिचड़ी, चावल आदि मुलायम चीजें दी जानी चाहिये।

एक डेढ़ मास के बाद रोगी को चश्मा देते हैं। यह एक संक्षेप में वर्त्तमान प्रचलित लिङ्गनाश के शस्त्रकर्म का उल्लेख है।

आचार्य सुश्रुत ने लिङ्गनाश के वेध में उपर्युक्त रीति से ही रोगी की परिचर्या या व्रणितोपासनीय आहार विहारों का उपक्रम किया है। दस दिनों तक निम्न प्रकार के नियमों का अनुष्ठान बरतना चाहिए—

१. घृत से नेत्रों का अभ्यंग करके वस्त्रपट्ट से बाँधना २. उत्तान शयन कराना ३. उद्गार, कास, क्षवथु, ष्ठीवन, उत्कम्पन आदि का परिहार करना ४. प्रति तीसरे दिन पट्टी खोलकर आश्च्योतन और स्वेदन करना।

आधुनिक ग्रंथों में दस दिन तक परिहार काल माना जाता है। शस्त्र कर्म के स्थल पर लालिमा रहती है वह धीरे धीरे अपने आप ठीक हो जाती है। परन्तु यदि उपद्रव उत्पन्न हुए तो अधिक समय लग जाता है और उनके (उपद्रवों के) उपचारों की भी आवश्यकता पड़ जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१८

दृष्टिगत अन्य रोग

(Other Defects of the Vision)

सुश्रुताचार्य ने दृष्टि के सम्बन्ध में होने वाले कुल बारह रोगों का ल्लेख किया है। उनमें छः प्रकार के लिङ्गनाशों का वर्णन हो चुका है। इस अध्याय में १. पित्तविदग्धदृष्टि २. श्लेष्मविदग्धदृष्टि ३. धूमदर्शी . ह्रस्वजाड्य ५. नकुलांध्य और ६. गम्भीरिका अवशिष्ट इन छः रोगों ा वर्णन प्रासंगिक है।

पित्त विदग्ध दृष्टि—(Day blindness) विकृत हुआ पित्त दृष्टि में हुंच कर दृष्टिमण्डल को पीत कर देता है, इस प्रकार का रोगी सभी दार्थ को पीला देखता है। यदि दोष का अवस्थान तृतीय पटल में आ तो रोगी को दिन में दिखलाई नहीं पड़ता, केवल रात्रि में खलाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि रात्रि में शीत के कारण त्त कम हो जाता है जिससे रोगी देख सकता है और दिन में पित्त ा आधिक्य हो जाता है अतः नहीं देखता।[1]

इस रोग को संक्षेप में दिवांध्य या दिवांधता कहा जा सकता है। िवान्धता (Day blindness) का तात्पर्य यह है कि रोगी के रूप-र्शन की शक्ति धूमिल एवं मन्द या मलिन प्रकाश में स्वस्थ तथा वच्छ और तीक्ष्ण प्रकाश में मंद पड़ जाती है।

इस प्रकार की अवस्था या लक्षण आधुनिक दृष्ट्या कई विकारों में ा सकती हैं जैसे—

---

१. पित्तेन दुष्टेन गतेन दृष्टिं पीता भवेद्यस्य नरस्य दृष्टिः।
पीतानि रूपाणि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः॥
प्राप्ते तृतीयं पटले तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि वीक्षते च।
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) दृष्टिमणि तथा कृष्णमण्डल की अपारदर्शकता-ऐसे रोगियों को धूमिल प्रकाश में अच्छा दीखता है, क्योंकि दृष्टिमणि के आवरण स्फीत होने से प्रकाश की किरणें उसके स्वच्छ भाग से प्रवेश करती हैं।

(२) जरालिङ्गनाश के धूमसदृश दृष्टिमणि की अपारदर्शिता प्रकार में भी इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं। रोगी को सभी चीजें कपड़े या ओस से ढके की भाँति दिखलाई पड़ती हैं। प्रातः सायं या ठंडे के समय में उसे ठीक दीख पड़ता है; परन्तु दोपहर को या अधिक प्रकाश में दृष्टि को प्रतिबंध मालूम पड़ता है।

(३) वर्ण बिन्दु सह दृष्टि वितान (Retinitis Pigmentosa) से पीड़ित रोगियों में पचास वर्ष की आयु के बाद मध्यस्थ मोतियाबिन्दु बनता है। ऐसे रोगी अधिक प्रकाश में कम देखते हैं। इन रोगियों में दो प्रकार को आपत्ति होती है—सायंकाल के बाद रात्रि में चलना कठिन होता है क्योंकि नक्तांध्य या रतौंधी होती है और दिन के अधिक प्रकाश में लिखने पढ़ने में कष्ट होता है क्योंकि दिवांध्य रहता है।

(४) दिवांध्य की अवस्था को यदि क्रमशः वर्द्धनशील अंधता मान लिया जाय तो इस वर्ग में विभिन्न प्रकार की अंधता (Amblyopia) का भी समावेश हो जायगा।[1] ये अंधतायें नेत्र की अज्ञात रोगजनित होती हैं।

श्लेष्मविदग्ध दृष्टि (नक्तांध्य) (Night Blindness)—'श्लेष्म दोष से विकृत हुई दृष्टि वाला व्यक्ति सभी चीजों को सफेद देखता है और जब दोष तीनों पटलों को व्याप्त कर लेता है तो नक्तांध्य या रात्र्यंधता की अवस्था उपस्थित हो जाती है—जिसमें सूर्यप्रकाश में या

---

१. अन्धता (Amblyopia) के भेद छद्म अंधता, मधुमेहज, सेन्द्रियविषज (Toxic); सहज, गर्भकालीनज, दन्तरोगज, मूत्रविषमयताजन्य, मस्तिष्कक्षोभज, वातक्षयज (Neurasthenic), अपतंत्रज तथा तिर्यक्दृष्टिजन्य कुल ग्यारह प्रकार वर्त्तमान ग्रन्थों में मिलते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाश में तो रोगी को दिखाई पड़ता है, परन्तु रात्रि या अन्धकार में उसको भी नहीं दिखलाई पड़ता ।[1]

आधुनिक दृष्टि से विचार करने पर नक्तांध्य को एक लक्षण मात्र कहा जा सकता है। दृष्टिवितान के अपक्रान्ति कारक रोगों (Degenerative Disease of Retina) में इस प्रकार की अवस्था का होना सम्भव है। खास कर दृष्टिवितानगत रङ्गबिन्दुओं के क्षय में यह होता है। परन्तु हमेशा यह होना आवश्यक नहीं है, कई बार यह रोग नेत्रगत परिवर्त्तनों के अभाव में भी हो सकता है । जैसे दृष्टिवितान की संज्ञाहीनता, पोषक पदार्थों की तथा जीवतिक्ति द्रव्यों (Vit. A, B & D) की कमी, रक्ताल्पता और पाण्डुरोग। ये सभी नक्तांध्य की उत्पत्ति में कारण होते हैं।

वर्त्तमान ग्रन्थों में अपक्रान्तिकर दृष्टिवितान के रोगों में चार रोग आते हैं।

१. वर्णबिन्दुसहदृष्टिवितानशोथ (Retinitis Pigmentosa)
२. श्वेतबिन्दुसहदृष्टिवितानशोथ (Retinitis punctata Albesceus)
३. अन्धतासहपारिवारिकमूढता (Amaurotic Family Idiocy)
४. मध्यस्थदृष्टिवितान अपक्रान्ति (Retinal Degeneration)

इन चारों अवस्थाओं में प्रथम और द्वितीय नक्तांध्य का एक प्रधान लक्षण है। इनमें वर्णविन्दुसहदृष्टिवितानशोथ एक पारिवारिक रोग है, नक्तांध्य कुटुम्ब के एकाधिक व्यक्तियों को होता है। इस रोग का प्रारम्भ प्रायः छोटी आयु में ही होता है जैसे जैसे आयु बढ़ती जाती है। वैसे वैसे दृष्टि कम होती जाती है। और रोग बढ़ता चलता है तथा धुन्धले प्रकाश में या सन्ध्या काल के बाद दृष्टि में सामान्य बाधा

१. तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि हि मन्यते तु। त्रिषु स्थितोल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य ॥ दिवा स सूर्यानुगृहीतचक्षुरीक्षेत रूपाणि कफाल्पभावात् । (सु. ए. ९.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहुँचने लगती है। रोग के बढ़ जाने पर रात्रि में बिल्कुल नहीं दिखलाई पड़ता। लगभग पैंतीस वर्ष की आयु में रोग इतना बढ़ जाता है कि रोगी रात्रि के समय बिल्कुल बाहर निकल ही नहीं सकता। क्रमशः बढ़ने से वृद्धावस्था में मोतियाबिन्दु हो जाने पर रोगी अन्धा हो जाता है।

हेतु—इस रोग का ठीक कारण अभी ज्ञात नहीं है–यह वंशज या पारिवारिक विकार है, माता पिता के रज–वीर्य दोष ही इसके कारण हो सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने दूसरा कारण सगोत्र सम्बन्ध बतलाया है परन्तु यह भी ठीक नहीं ज्ञात होता, क्यों कि भारतवर्ष की आर्य जाति में जिसमें सगोत्र विवाह होता ही नहीं उसमें भी यह रोग मिलता है अत एव इसका कोई ठीक कारण नहीं दिया जा सकता।

आचार्य वाग्भट ने प्रकोपक कारणों में 'गरमी से सन्तप्त होकर एक दम शीतल जल में अवगाहन करना' एक कारण बतलाया है जिससे शारीरिक ऊष्मा सिर पर चढ़ कर रतौंधी पैदा करता है।[1]

उपचार—इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा आधुनिक ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होती। सोडियम थायोसल्फेट ४% घोल का आधा सी० सी० नेत्रगोलक के पिछले हिस्से में प्रति सप्ताह सूचीवेध के द्वारा दिया जाता है।

यदि पोषण या जीवतिक्ति द्रव्यों की न्यूनता के कारण से नक्तांध्य होता है तो उसकी पूर्ति करने के लिये जीवतिक्ति 'ए' योगों का प्रयोग हितकर होता है। आजकल 'ग्लैक्सो कंपनी' का 'एडैक्सैलीन' मुख से देने पर तथा 'प्रिपेलीन' का पेशी मार्ग से सूचीवेध करने पर लाभ होता है। अन्य जीवतिक्ति 'ए' योग लाभप्रद रहते हैं। भोजन में दूध और अण्डे का व्यवहार करते हैं।

१. उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात्।
त्रिदोषरक्तसम्पृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वं ततोऽक्षिणि। (अ. उ. १२)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिवांध्य और नक्तांध्य का सुश्रुतोक्त प्रतिषेध—

सामान्य चिकित्सा—पित्तविदग्धदृष्टि में पित्तहर चिकित्सा और श्लेष्मविदग्ध दृष्टि में श्लेष्महर चिकित्सा करनी चाहिये। उन उन अधिकारों में पठित नस्य, सेक, अंजन, लेप, पुटपाक, तर्पण प्रभृति समग्र उपक्रमों का व्यवहार करना चाहिये; परन्तु सिरावेधविदग्ध दृष्टियों में नहीं करना चाहिये। इनमें पित्तविदग्ध दृष्टि में त्रिफला घृत का आभ्यन्तर प्रयोग, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि में त्रिवृत् घृत का प्रयोग और दोनों में तैल्वक घृत का प्रयोग पीने के लिये करना चाहिये। यदि यह घृत उपलब्ध न हो तो दोनों में केवल पुराण घृत का ही सेवन करावे। पश्चात् रोगी को वमन कराना चाहिये। इन उपचारों से विदग्ध पीड़ित रोगी का अन्तःपरिमार्जन होता है।[1]

बहिःपरिमार्जन के लिये—*गैरिकादि अंजन*—(गेरू, सैन्धव, पिप्पली, गोदन्त की कज्जली) या *गोमांसाद्यंजन*—(गोमांस, मरिच, शिरीष एवं मैनशिल से बने अंजन) या *वृन्ताञ्जन*—(कैंथ का वृन्त और मधुर से बना) या *स्वयंगुप्ताञ्जन*—(केवाँच के फल और मधु से बना अञ्जन) इन चारों अञ्जनों का दोनों अवस्थाओं में प्रयोग करना चाहिये।

कुब्जकाद्यंजन—कुब्जक (कूजा), अशोक, शाल, आम, प्रियंगु, रेणुका बीज, पिप्पली, हरीतकी, आमलकी इनसे बने चूर्ण को घृत और मधु में मिलाकर बांस की नाडी (चोंगे) में भर कर रखे। पित्त और श्लेष्म दोनों प्रकार की विदग्ध दृष्टियों में इसका अञ्जन करना लाभप्रद होता है।

हरेणुकाद्यंजन—रेणुका बीज को लेकर आम और जामुन के फूल के रस में भावित करके पीस कर उसमें घृत और मधु मिला कर अञ्जन

१. दृष्टौ पित्तविदग्धायां विदग्धायां कफेन च।
पित्तश्लेष्महरं कुर्याद्विधिं शस्त्रक्षताद्दते॥
नस्यसेकाञ्जनालेपपुटपाकैः सतर्पणैः।
आद्ये तु त्रैफलं पेयं सर्पिस्त्रैवृतमुत्तरे।
तैल्वकं चोभयोः पथ्यं केवलं जीर्णमेव वा॥ (सु. उ. १७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करना अथवा *नलिन्यंजन*—ईषद् रक्त कमल, नील कमल, केसर, गैरिक इन द्रव्यों को गाय के गोबर के रस में (या गाय के यकृद् के रस में) भावित कर अञ्जन करना दिवांध्य और रात्र्यंध दोनों में हितकर है।

विशिष्ट चिकित्सा—पित्तविदग्धदृष्टि या दिवांध्य में—

रसांजनाद्यंजन—रसांजन, चमेली के पत्ते का रस, मधु, तालीशपत्र, सुवर्ण गैरिक, को गोबर के रस में भावित कर अंजन करना।

काश्मर्याद्यंजन—गम्भारी का फूल, मुलैठी, रसौंत, लोध्र, देवदारु, इन द्रव्यों का मधु से अंजन करना।

सैन्धवाद्यंजन—सैन्धव, मूंग का बीज, त्रिकटु, अंजन, हल्दी, आमा हल्दी, गोयकृद्, चन्दन इन द्रव्यों से बनी गुटिका का अंजन दिन में न दिखलाई पड़ने वाले रोगियों में व्यवहार करे।

कर्पूराद्यञ्जन—कपूर और सौवीरांजन को पीस कर जानवरों और पक्षियों के मांस रस में भावित कर, कूर्म (कछुवे) या रोहित मछली के पित्त से भावना देकर अञ्जन बना कर रख ले। इस अञ्जन का नेत्रों में प्रयोग करना चाहिये।

रात्र्यन्ध के विशिष्ट योग—स्रोतोञ्जनादि—स्रोतोंजन, सैन्धव, पिप्पली, रेणुका इन द्रव्यों को अजामूत्र से पीस कर अञ्जन करना रात्र्यंधता (रतौंधी) में हितकर है।

तगराद्यञ्जन—तगर, पिप्पली, सोंठ, मुलैठी, तालीशपत्र, दोनों हल्दी, मुस्ता इन द्रव्यों को यकृद् रस में भावित कर वर्ति बना कर छाया में सुखा कर रख लेना चाहिये। इसका अञ्जन रतौंधी में हितकर है।

मनःशिलाद्यञ्जन—मैनशिल, हर्रे, त्रिकटु, बला, तगर, समुद्रफेन इन द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर वर्ति बना कर अञ्जन करना चाहिए।

क्षुद्रांजन या रसक्रियांजन—गोमूत्र, गोपित्त, मदिरा (पिष्टसुरा), यकृद् और धात्री रस को पीस कर गाढ़ा कर लेना अथवा यकृद् और त्रिफला काथ की बनी रसक्रिया अथवा गोमूत्र, गोघृत, समुद्रफेन, पिप्पली, कायफल, सैन्धव और मधु को एक में मिलाकर गाढ़ा करके रसक्रिया कर लेनी चाहिए। इन रसक्रियाञ्जनों को बाँस के बने गह्वर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में रखने का विधान है। इनमें से किसी एक का अञ्जन रतौंधी में लाभप्रद होता है।

अजामेदाञ्जन—बकरी की चरबी, घृत और कलेजी (तीनों चीजें बकरी की ही हों) इन द्रव्यों में आँवले का स्वरस डालकर रस क्रिया करके खैर की लकड़ी के बने बर्त्तन में रखना चाहिये। यथावश्यक रात्र्यंध के रोगियों को इसका अञ्जन करना चाहिये।

हरेण्वाद्यंजन—हरेणु, पिप्पली बीज, इलायची, यकृत् इन द्रव्यों को पीस कर यकृत् के रस में ही घिस कर नेत्रों में अञ्जन करना श्लेष्म-विदग्ध दृष्टि या नक्तांध्य में हितकर है।

गोधायकृदञ्जन—गोधा (गोह) का यकृत् लेकर उसको चीर कर उसके भीतर पिप्पली भर कर उस पर कपड़मिट्टी करके मन्द आंच पर पकावे (डल्हण के मत से तीन दिन तक पकावे) पुनः उस स्विन्न पिप्पली का अञ्जन करने से निश्चित रूप से नक्तांध्य चला जाता है—ऐसी सुश्रुत की मान्यता है।[1]

छागयकृदञ्जन—उपर्युक्त विधि से ही बकरी के यकृत् में स्विन्न पिप्पली का अञ्जन भी इसी प्रकार श्लेष्म विदग्ध दृष्टि या नक्तांध्य में लाभप्रद है।[2] इसके एक ही अञ्जन से रतौंधी नष्ट होती है।

यकृत्प्लीहाञ्जन—गोधा और बकरी दोनों के प्लीहा और यकृत् काट कर उसको घृत और तेल में चुपड़कर शूलपाक विधि से पाक करके रख ले। सर्षप तैल में घिस कर उसका अंजन करने से नक्तांध्य निश्चित रूप से नष्ट हो जाता है।

कुछ *मुष्टियोग*—१. पिप्पली को गाय के दधि में या गोमूत्र में या

---

१. विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना। निषेवितं तद्यकृदञ्जनेन निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥

२. तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्। प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं जयेत् क्षपान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥ (सु. उ. १७)

निराकरोति नक्तान्ध्यं सगोमयरसा कणा। यथा रतेन रमणी रमणस्य महाबलम् ॥ (वै. जी.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गोबर के रस में घिस कर अंजन करना २. अमावट खाना ३. नेनुआ की पत्ती का रस और धारोष्ण दूध का प्रातःकाल खाली पेट में सेवन करना।

धूमदर्शी (Glaucoma)—'शोक, ज्वर, आयास (परिश्रमाधिक्य), शिरोभिताप (शिरःशूल) प्रभृति कारणों से जिस व्यक्ति की दृष्टि अभिहत हुई है वह सभी पदार्थों को कुहरे से आच्छन्न या धूम से ढका हुआ देखता है। उस अवस्था को धूमदर्शी कहते हैं। यह साध्य पित्तज विकार है।'[1]

'धुवाँ जैसा देखना' यह एक ऐसा लक्षण है जो अनेक रोगों में मिल सकता है परन्तु अधिमन्थ या ग्लौकोमा के लक्षणों से यह बहुत कुछ मिलता जुलता है। 'ग्लौकोमा' की अवस्था में भी शिरःशूल (शिरोभिताप), दृष्टिमांद्य, नेत्रों के सामने बादल सा लगना इत्यादि लक्षण मिलते हैं—ठीक उपचार न होने पर अन्त में पूर्णान्धता भी आ जाती है।

वाग्भट ने अपनी संहिता में धूमदर्शी का वर्णन 'धूमर' नाम से किया है।

प्रतिषेध—पुराण घृत का पान, विरेचन तथा रक्तज और पित्तज अभिष्यंद या अधिमंथवत् सिराव्यध, सेक पुटपाक, आश्च्योतन, अंजन और नावन प्रभृति उपचारों और योगों को वरतना चाहिये। तथा अन्य भी पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा करनी चाहिये।[2]

अंजन—गोबर का रस, गोदूध, गाय के घी में बने स्वर्णगैरिक तालीशपत्र आदि की रसक्रिया द्वारा अंजन धूमर रोग में लाभप्रद है।

ह्रस्वजाड्य—(Night Blindness.) 'यह एक ऐसा विकार है जिसमें रोगी दिन में बड़ी कठिनाई से देखता है और प्रकृत वस्तु

१. शोकज्वरायासशिरोभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।
सधूमकान् पश्यति सर्वभावांस्तं धूमदर्शीति वदन्ति रोगम् ॥

२. युञ्ज्यात्सर्पिर्धूमदर्शी नरस्तु शेषं कुर्याद्रक्तपित्ते विधानम् ।
यच्चैवान्यत् पित्तहृच्चापि सर्वं यद्वीसर्पे पैत्तिके वै विधानम् ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आकार से उनको छोटा करके देखता है।'[1] विदेह के वचन से यह नक्तांध्य का ही एक भेद है क्योंकि इनका वचन है कि 'नक्तांध्य जो चार प्रकार के कहे गये हैं उनमें नकुल और ह्रस्वजाड्य दो असाध्य हैं।'[2] ऊपर के सूत्र का अर्थ इस प्रकार लगाया जाता है कि दिन में देखता है परन्तु रात में बिल्कुल ही नहीं देख पाता। दिन में तो ह्रस्व जाड्य का रोगी किसी भाँति कठिनाई से कुछ देख भी लेता है परन्तु रात में बिल्कुल ही नहीं देख पाता।

अनुमानतः यह रोग 'रेटिनाइटिस पिगमेण्टोजा' ही है जिसमें 'कैटरेट' या 'सेण्ट्रल ओपैसिटी' बन रही हो जिससे दिवांध्य और नक्तांध्य दोनों की ही संभावना रहती है।

प्रतिषेध—यह चतुर्थ पटलाश्रित पित्तज रोग है, और यह असाध्य है, अस्तु, प्राचीन ग्रंथों में इसकी चिकित्सा नहीं दी गई है।

नकुल दृष्टि या नकुलांध्य[3] (Night Blindness)—'दोषाभिपन्न (तीनों दोषों से व्याप्त) जिसकी दृष्टि नकुल के समान चमकती है और दिन में चित्र विचित्र रूपों को देखता है तथा रात को बिल्कुल नहीं देखता।' यह रोग भी नक्तांध्य का ही एक भेद है और त्रिदोषज होने से असाध्य माना जाता है। अतएव आचार्यों ने इसकी कोई चिकित्सा भी नहीं लिखी है।

गंभीरिका—(Paralysis of Sixth carnial Nerve) 'यह एक वातिक रोग है। वातोपसृष्ट नेत्र के होने से दृष्टि विरूप या विकृत हो जाती है—उसमें संकोच (छोटा होना) होता है और नेत्र भीतर को

---

१. यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रात् ह्रस्वाणि रूपाणि च येन पश्येत्।
(सु. उ. १७)

२. नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः।
तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च॥

३. विद्योतते येन नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत्।
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रविष्ट हो जाते हैं–इसमें नेत्र में बड़ी तीव्र पीड़ा होती है इस रोग को तज्ञ लोग गम्भीरिका कहते हैं।"[1]

इस प्रकार की अवस्था नेत्र की चालक पेशियों के स्तंभ या आक्षेप के कारण अथवा उनके नियामक नाड़ी सूत्रों के बंद हो जाने के कारण उत्पन्न हो सकती है। मस्तिष्कगत छठी नाड़ी बाह्या सरला पेशी से संबद्ध है अतः जब यह नाड़ी विकृत या व्याधिग्रस्त होती है तो पेशी स्तंभित हो जाती है। गोलक भीतर की ओर खिंचता है। रोगी को व्याकुलता बहुत रहती है चक्कर आता है। नेत्र गोलक के भीतर की ओर खिच जाने की अवस्था कई कारणों से हो सकती है—स्तंम्भ (Spasm of the muscle), आक्षेप (Convulsion of the muscle as in Tetanus or Meningitis etc) अथवा छठी मस्तिष्का नाड़ी का घात या वध (Paralysis) सुश्रुत ने संभवतः इस तीसरी स्थिति का ही वर्णन 'गम्भीरिका' नामक रोग से किया हो।

प्रतिषेध—प्राचीनों ने इसको असाध्य मानकर इसकी चिकित्सा नहीं दी है।

—ooXoo—

१९

नयनाभिघात तथा प्रतिषेध

(Injuries of the orbit and treatment)

परिचय—अभिघात शब्द का अर्थ होता है चोट लगने से वेदना प्रभृति उपद्रव। नेत्रों में ऐसा अभिघात दो कारणों से हो सकता है–मूर्त्त या रूपवान पदार्थ जैसे दण्ड के द्वारा और अमूर्त या रूपहीन पदार्थ भय शोक आदि के द्वारा। इन कारणों का संग्रह करते हुए विदेह ने लिखा है—'तीक्ष्णांजनों के प्रयोग, वायु, धूप, धूम, धूलि,

१. दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति।
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥ (सु. उ. ७)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ीट, मक्खी, मच्छर आदि के नेत्र में गिरजाने से या दण्डादि की चोट
ा रगड़ से, जलक्रीड़ा, जागरण, लंघन, कूदना प्रभृति अपचारों से
अथवा श्रम, क्लम, भय, शोक प्रभृति मानसिक कारणों से अथवा सूर्य,
अग्नि, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र प्रभृति अति प्रकाशयुक्त द्रव्यों के अति देखने
दुर्बल नेत्रों को अभिघात (चोट) पहुँचता है जिससे नेत्रों में दाह,
ाग, पाक, तोद, शोफ और घर्ष प्रभृति वेदनायें होती हैं।'

अमूर्त्त अभिघातों में सुश्रुत ने दिव्यपुरुष, देवर्षि, गंधर्व तथा
दिव्य सर्प, सूर्य, विद्युत् प्रभृति भास्वर द्रव्यों को भी नयनाभिघात का
तु माना है। इन कारणों से अनिमित्तज लिङ्ग नाश होकर दृष्टि सहसा
ष्ट हो जाती और मनुष्य अंधा हो जाता है। इनमें सहसा Maculo-
rebral Degeneration होकर दृष्टि नाश होता है।[1]

लक्षण—सामान्यतया सद्यः अभिघात होने से नेत्र में संरम्भ
शोफ), लालिमा (रक्ताधिक्य या रक्तस्राव) होती है और सभी प्रकार
अभिघातों में पीड़ा होती है। परन्तु अभिघात की मात्रा के अनुपात
इन लक्षणों की तीव्रता अधिक या कम हो सकती है। उदाहरण के
ये यदि चोट के कारण विकृति कम हुई हो अर्थात् किंचित् अभिघात
तो लक्षण अल्प होंगे और चिकित्सा भी सरल होगी। परन्तु यदि
भिघात सांघातिक हुआ और उसमें नेत्र गोलक कोटर के बाहर
कल आया (बहिर्निर्गतनयन) अथवा अक्षि कोटर में धँस गया
अति प्रविष्ट नेत्र) हो तो नेत्र की हानि अधिक होगी और चिकित्सा
कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जायगी।

आधुनिक प्रविचार—यदि उपर्युक्त नयनाभिघात के कारणों का विचार
या जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि नेत्रगृह के हानिप्रद दो कारण
ाये गये हैं—

१. भय, शोक, क्रोध आदि। जिनका प्रत्यक्षतया नयनाभिघात में
ई वश नहीं दीखता, अत एव इनके द्वारा नयनाभिघात (Injuries

१. सुरर्षिगंधर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि हि भास्वराणाम्। हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य
सलिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः। सु ३-७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

to orbit) जीर्ण स्वरूप का होगा। इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले नयनाभिघातों में अति प्रविष्ट नेत्र (Enopthalmos) वातनाड़ियों के घातजन्य (Paralysis of the III Cranial and sympathetic Nerves) समझना चाहिये तथा बहिर्निर्गतनयन (Exopthalmos), गोलक की वृद्धि, नेत्रगृह (Orbit) का संकीर्ण होना तथा नेत्रगृह के अर्बुद, नेत्रगृह में स्थानावरोध होना प्रभृति कारणों से हो सकता है।

२. दूसरे प्रकार का नयनाभिघात आकस्मिक कारणों से संभव है जिसमें यंत्र या शस्त्रों के द्वारा नेत्र पर चोट पहुँचाई जाय। इन प्रहारों का प्रत्यक्षतया नयनाभिघात में (Accidental injuries to the orbit) हाथ रहता है।

इस अवस्था में चोट की वजह से वर्त्म शोथ युक्त (संरम्भवान्) हो जाते हैं। दृष्टि बंद हो जाती है। इस प्रकार दृष्टि के बंद होने का कारण गोलक या दर्शन नाड़ी (Optic Nerve) को धक्का लगना ही होता है। कई बार दृष्टिनाड़ी जिस स्थान पर निकलती है वहाँ पर नेत्रगृह के भीतरी द्वार की अस्थि के टूटने पर भी दृष्टि बंद (हतदृक्) हो जाती है। बाहर की चोट से कई बार भ्रू के नीचे से निकलनेवाली वात नाड़ी के कट जाने से दृष्टि बन्द हो जाती है। इस प्रकार के अभिघात से नेत्रगृहगत मांस पेशियों को चोट लग जाने से वे स्तंभित या नष्ट होकर क्रियाहीन हो जाती हैं। कई बार अस्थि का भेदन होकर चोट मस्तिष्क तक पहुँचती है इसी से रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। कई बार अभिघातों में शल्य प्रवृष्ट हो जाते हैं और नेत्रगोलक को बाधा पहुँचाते हैं। इन अभिघातों के कारण नेत्र के यावतीय अवयव, अंग और उपाङ्ग नष्ट हो सकते हैं जिससे नेत्र पिच्चित, अवसन्न, च्युत या स्रस्त हो जाते हैं।

नेत्रगृह में रक्तस्राव (Haemorrhage in the orbit)—नेत्रगृह पर चोट लगने से या शस्त्र लगने से रक्तस्राव हो जाता है। इससे कुछ रक्त नेत्र श्लेष्मावरण के नीचे भी आता है, जिससे पूरा गोलक काले लाल रंग का हो जाता है। पलक के ऊपर शोथ होकर वह भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काला और लाल बन जाता है और तीव्र वेदना होती है तथा प्राचीनोक्त नयनाभिघात के सम्पूर्ण लक्षण उपस्थित हो जाते हैं।

नेत्रगृह में रक्तस्राव, अभिघात या आगन्तुक कारणों के अतिरिक्त कारणों से भी होता है। जैसे गलगण्ड, शीतला, रक्त का पतलापन, कुकास (Whooping Cough), वृद्धावस्था जन्य धमनी दार्ढ्य (दृढ़ता या कठिनता)।

इसी प्रकार आकस्मिक अभिघातों के कारण भी बहिर्निगत नेत्र और अति प्रविष्ट नेत्र प्रभृति उपद्रवों का होना सम्भव है।

नयनाभिघात प्रतिषेध—अभिघात में दो प्रकार की चिकित्सा का क्रम रखना आवश्यक है। १. तात्कालिक उपचार २. परवर्त्ती या उत्तरोपचार।

तात्कालिक—उपचारों में पित्त और रक्तदोषशामक अर्थात् शीतल उपचारों को नेत्राभिघात (Injuries to the orbit) में करना चाहिये। इसमें नस्य, लेप, परिषेक, तर्पण, प्रभृति स्थानिक तथा दृष्टि प्रसाद जनक आभ्यंतिरक उपचार तथा पथ्य रखना चाहिये। इसके लिये स्निग्ध, शीत तथा मधुर प्रयोगों को काम में लाना चाहिये। यह क्रम एक सप्ताह तक दोनों प्रकार के अभिघातों (मूर्त्त या अमूर्त्त) में रखना चाहिये।

इसके पश्चात् अर्थात् एक सप्ताह के बाद दोषों को विवेचना करके तदनुकूल अभिष्यन्द की चिकित्सा करनी चाहिये।[1]

ईषद् *नयनाभिभात की चिकित्सा*—यदि नेत्र पर मामूली चोट हो तो मुँह की भाप (आस्यवाष्प) के स्वेदन से ही अल्प काल में रोगी का नेत्र स्वस्थ हो जाता है।

अतिप्रविष्टनेत्र चिकित्सा—नेत्र यदि बाह्याभिघात से भीतर धँस गया

१. अभ्याहते तु नयने बहुधा नराणां संरम्भरागतुमुलासु रुजासु धीमान्।
नस्यास्यलेपपरिषेचनतर्पणाद्यमुक्तं पुनः क्षतजपित्तजशूलपथ्यम्॥
दृष्टिप्रसादजननं विधिमाशु कुर्यात् स्निग्धैर्हिमैश्च मधुरैश्च तथा प्रयोगैः।
स्वेदाग्निधूमभयशोकरुजाभिघातैरभ्याहतामपि तथैव भिषक् चिकित्सेत्।
सद्योहते नयन एष विधिस्तदूर्ध्वं स्यन्देरितो भवति दोषमवेक्ष्य कार्यः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(Enopthalmos) हो तो उसको यथा स्थान करने के लिये सांस का (प्राणायाम के द्वारा) रोकना, वमन करा, गले का रोध कर उसको ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

सशल्यनयनाभिघात—यदि अभिघात में शल्य हो तो उसको पहले दूर कर पश्चात् चिकित्सा करनी चाहिये ।

अतिनिर्गत नयन चिकित्सा (Exopthalmos)—यदि नेत्र बाह्याभिघात से अभिन्न होकर कोटर के बाहर निकल कर लटक रहा हो तो उच्छिङ्घन (नासास्राव को ऊपर सुरुकने की क्रिया) के द्वारा नेत्र को यथा स्थान लाकर उस पर शीतल जल का अवसिंचन करना चाहिये। इस अवस्था की विशेष चिकित्सा शल्यतन्त्र की पुस्तक में सद्योव्रण चिकित्सा के अध्याय में अथवा सुश्रुत में चिकित्सास्थान के द्वितीय अध्याय में मिलेगी ।[1]

नयनाभिघातों की साध्यासाध्यता—१. यदि एक पटल की गहराई तक ही अभिघात सीमित हो तो साध्य होता है–यदि दो पटलों तक अभिघात पहुँचा हो तो कृच्छ्रसाध्य और तृतीय पटल तक या उससे नीचे तक पहुँच गया हो तो असाध्य होता है ।

२. व्रणावस्था (Nature of wound) के अनुसार यदि नेत्र पिच्चित, अन्तःप्रविष्ट, शिथिल, च्युत, लटकता हुआ या दृष्टि नष्ट हो गई हो तो याप्य होता है ।

३. दृष्टि मण्डल विस्तीर्ण हो, ईषत् लालिमा युक्त हो और रोगी को ठीक न दिखलाई पड़ता हो तो याप्य तथा नेत्र यदि यथास्थान हो और देखने में किसी प्रकार की कमी न आई हो तो नेत्राभिघात साध्य होताहै।

कुकूणक—(Trachomatic lids or Opthalmia Neo-Natorum or Follicular conjunctivitis)

अब तक नेत्ररोग के अध्याय में सुश्रुत के अनुसार कुल ७६

१. भिन्नं नेत्रमकर्मण्यमभिन्नं लम्बते तु यत् । तन्निवेश्य यथास्थानमव्याविद्धसिरं शनैः। पीडयेत्पाणिना सम्यक् पद्मपत्रान्तरेण वा । ततोऽस्य तर्पणं कार्यं नस्यं चानेन सर्पिषा। अजाघृत का प्रयोग—विशेष वर्णन लेखक की 'सौश्रुती' में देखें ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोगों का वर्णन हो चुका है। ये रोग ऐसे हैं जो बालकों में या बड़ी अवस्था के आदमियों में समान भाव से होते हैं। आचार्य ने आगे चलकर बालरोगाधिकार में एक ऐसे रोग का वर्णन प्रारम्भ किया है जो केवल शिशुओं में ही होता है।

यह रोग छोटे बालकों में माता के दूध के दोष से, कफ, मारुत, पित्त और रक्त के प्रकोप से, उनके वर्त्म (Lids) में होता है।[1]

लक्षण तथा चिह्न—'रोग से पीड़ित बालक के नेत्र में अत्यन्त खुजली होती है, जिससे अक्षिकूट, नासा और ललाट को मसलता रहता है या रगड़ता रहता है। उसके वर्त्म अत्यन्त शोथयुक्त होते हैं जिससे वर्त्मों को खोल नहीं सकता, सूर्य के प्रकाश में वह देख नहीं सकता (प्रकाशासह्यता Photophobia) और नेत्र से अनवरत स्राव होता रहता है।[2] यह वर्त्म में होनेवाला विकार है ऐसा निर्देश प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है तथा अन्य खुजली आदि का होना अधिकतर वर्त्मगत पोथकी में ही संभव है परन्तु पोथकी का विकार तो बालक या युवक सभी में होता है—परन्तु कुकूणक नामक रोग तो केवल बालकों में ही होता है। इस आधार पर आधुनिक दृष्ट्या कुकूणक को 'आपथैल्मिया न्यूनैटोरम्' माना जा सकता है—क्योंकि यह विकार केवल शिशुओं में ही होता है। यह एक अभिष्यन्द की तीव्र अवस्था है जो पूयमेह से पीडित माता-पिता की सन्तानों में जन्म के दो तीन दिन बाद होता है।

---

१. स्तन्यप्रकोपकफमारुतरक्तपित्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कूकोणकोऽन्यः।

२ मृद्नाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम्।
सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रवद्धम (सु)।

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डुरं च स्रवेन्मुहुः॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षि भ्रूनासाद्यवघर्षणम्,
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न नेत्रोन्मीलनक्षमः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परन्तु आचार्यों के सूत्रों में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। आचार्यों ने इसे स्तनपायी के अतिरिक्त अन्न खाने वाले बच्चों में भी होते देखा था। अतएव कुकूणक रोग सम्भवतः वर्त्मगत पोथकी या 'फालीकुलार कञ्जंक्टिवाइटिस' ज्ञात होता है।

कुकूणकप्रतिषेध—१. वर्त्म का लेखन करके रुधिर विस्रावण, २. त्रिकटु एवं मधु से प्रतिसारण, ३. शिशु का (वमन के द्वारा) शोधन तथा ४. धात्रीक्षीर का शोधन करना चाहिये, ५. कषाय द्रव्यों से नेत्रों के सेक तथा आश्च्योतन और बाद में लेखनांजनों का प्रयोग करना चाहिये[1] एवं बालकों के नेत्ररोगों में श्लेष्मज अभिष्यन्द नाशक उपचार कराना चाहिये।[2]

वमन—वमन के लिये बच्चे को दूध पिलाकर मधु, सैन्धव और अपामार्गबीज दूध में पका कर देना या पिप्पली, लवण और मधु मिला कर दूध पिलाना अथवा केवल वच घिस कर देना चाहिये। अथवा यदि अन्न खाता हो तो खिलाने के बाद मैनफल का काढ़ा पिला कर वमन कराना चाहिये।

सेक—जामुन, आम, आँवला, अश्मन्तक, इन द्रव्यों के कषाय से सेक और अक्षिप्रक्षालन (Eyewash) करना चाहिये। ये सभी द्रव्य कषाय और संकोचक हैं।

आश्च्योतन (Drops)—अक्षिपूरण के लिये गुडूची या त्रिफला से पक्व घृत का प्रयोग करना चाहिये। अंजन, मैनशिल, मरिच, शङ्ख, रसाञ्जन, सेंधानमक, गुड़ का मिश्रित अञ्जन अथवा मूर्वा, मुलैठी और आम्र का अञ्जन और कृष्ण लौह के चूर्ण का अन्तर्धूम दाह करके

१. तस्याहरेद्रुधिरमाशु विनिर्लिखेच्च। क्षौद्रायुतैश्च कटुभिः प्रतिसारयेत्तु। माता शिशोरभिहितं च विधिं विदध्यात् (सु.)

२ स्यन्दे कफादभिहितं क्रममाचरेच्च, बालस्य रोगकुशलोऽक्षिगदं जिघांसुः। (सु. उ. १९)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसका चूर्णाञ्जन बनाकर घृत और मधु के साथ अञ्जन कुकूणक में हितकर हैं ।[1]

गुटिकाञ्जन—त्रिकटु, पलाण्डु, मुलैठी, सेंधानमक, लाक्षा, गैरिक (गेरू) निम्ब पत्र, दोनों हल्दी, ताम्र और लोध्र इन द्रव्यों के योग से गुटिका का निर्माण कर नेत्रों में अंजन करना कुकूणक में हितकर है।

शिशुओं के शुक्र रोग में अञ्जन—इस अंजन की कल्पना विदेह दर्शन तथा वैद्य परम्परा के अनुसार इस प्रकार की गई है। गाय के दही में शंख और सेंधानमक को पीसकर रसांजन पर अनेक बार लेप करे। यह लेप अर्द्ध पक्ष या साढ़े सात दिन तक चलावे। फिर इस स्रोतोंजन को पीस कर वर्ति बना ले। इस वर्ति का अंजन करने से शुक्र फट जाता है।[2]

धात्री स्तन्य शोधन प्रकार—कुकूणक रोग में हेतु मातृस्तन्य की विकृति रहती है, अस्तु दुष्ट स्तन्य के शोधन के लिये प्रयत्न करना चाहिये। स्तन्य शोधन के लिये माता को वमन कराना चाहिये। इसके लिये पिप्पली, मधु यष्टि, सरसों और सेंधानमक पानी में पीस कर पिलाना चाहिये। माता के विरेचन के लिये हरीत-पिप्पली और मुनक्के का सम भाग में बनाया चूर्ण या कषाय देना चाहिये। धात्री के स्तन पर नागरमोथा, हल्दी, दारु हल्दी और छोटी पीपल का लेप करने से भी स्तन्य (दूध) की शुद्धि होती है। स्तनों का धूपन—घृत और सर्षप को आग में जलाकर उसके धुँए से स्तनों का धूपन करने से स्तन्य शोधन होता है। इस प्रकार दूध पिलाने वाली धाय का वमन-विरेचन-स्तन लेप एवं धूपन के अनन्तर पटोल पत्र नागरमोथा, मुनक्का, गुडूची एवं त्रिफला का क्वाथ पिलाना चाहिये। इससे धात्री के स्तन्य की पूर्ण शुद्धि हो जाती है फलतः बालक जो उसके दूध के ऊपर जीवन धारण करता है, उसका रोग भी ठीक हो जाता है।

१. लौहचूर्णञ्च सर्पिश्च मधु क्षीरं च दाहयेत् ।
एतच्चूर्णाञ्जनं पिष्टं कुमाराणां कुकूणके ॥ (विदेह)

२. स्रोतोजशंखदधिसैन्धवमर्धपक्षं शुक्रं शिशोर्नुदति भावितमञ्जनेन ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बालक का भी शोधन अपेक्षित रहता है अस्तु उसके लिये भी वमन का कर्म करना आवश्यक होता है इसका उल्लेख ऊपर में हो चुका है।

शिशु-पूयमेह-नेत्रश्लेष्मावरण शोथ

(Opthalmia Neonatorum)

परिचय—यह बड़े भयङ्कर प्रकार का नवजात बालकों में होने वाला अभिष्यन्द है, जो हजारों नवजात शिशुओं के नेत्र को नष्ट कर अन्धा बना देता है।

कारण—पूयमेह से पीड़ित माता के अपत्यपथ के स्राव से नवजात शिशु के नेत्रों का उपसर्ग युक्त होना।

लक्षण तथा चिह्न—बालक क्रन्दन करता है. कानों को खींचता है। बालक के नेत्र जन्म के दूसरे या तीसरे दिन अकस्मात् सूज जाते हैं। उससे गाढ़े पूय का स्राव होने लगता है। वर्त्म शोथ इतना बढ़ जाता है कि शिशु नेत्र नहीं खोल सकता। पहले जो स्राव जल सदृश रहता है वह पूय युक्त हो जाता है। शिशु को ज्वर रहता है। कान के नीचे की रसायिनी ग्रन्थि शोथयुक्त हो जाती है। आँख को छूने पर भी शिशु रोता है।

यदि आक्रमण सामान्य हो तो एकाध सप्ताह के बाद लक्षणों का ह्रास होने लगता है; परन्तु यदि संक्रमण प्रबल हुआ तो कृष्ण मण्डल पक जाता है, उसमें बड़ा व्रण शुरू हो जाता है। यदि योग्य उपचार न हो तो 'कार्निया' गल कर नष्ट हो जाती है और नेत्र के भीतरी उपांग दृष्टिमणि आदि भी फूट कर निकल आते हैं तथा आँख में खड्ढ हो जाता है और दृष्टि जाती रहती है।

रोगविनिश्चय—विशिष्ट लक्षणों और चिह्नों के आधार पर तथा पूयमेय के जीवाणुओं के लिये नेत्र स्राव की अणुवीक्षणात्मक परीक्षा करके रोग का निदान स्थिर करना चाहिये।

उपचार—

(१) *अनागत बाधा प्रतिषेध*—१. यह क्रिया प्रसव के पूर्व की जा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकती है। यदि गर्भिणी इस रोग से पीडित रही हो तो इसको उत्तर बस्ति देकर योनि मार्ग का विशोधन करा लेना चाहिये। इसके लिये 'एक्रीफ्लैविन' या 'पारदधावन' या 'सल्फोनेमायड' के घोलों का व्यवहार किया जा सकता है।

२. प्रसव के बाद बच्चों के नेत्रों के पलकों को पारदधावन में भिगोये फिर पिचु से साफ कर स्थानिक विशोधन कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् 'सिल्वरनाइट्रेट' (शक्ति ५–१० ग्रेन १ औंस परिस्रुत सलिल में बने) द्रव का २, २ बूँद नेत्र में कई बार छोड़ देना चाहिये। 'सिल्वर नाइट्रेट के अभाव' में 'आर्जिराल घोल' ३०% का या 'प्रोटार्गल' १५-२०% तक का नेत्रों में छोड़ना चाहिये।

(२) *शामक उपचार*—१. अक्षि प्रक्षालन–'एक्रीफ्लैविन' के बने द्रव से (१–१०००) आधा-आधा घण्टे पर नेत्रों को धोते रहना चाहिये जिससे नेत्रगत पूयादि का निर्हरण होता रहे।

२. दूध का सूचीवेध के द्वारा पेशी (नितम्ब भाग) में १ से १½ सी. सी. तक देना चाहिये। यह क्रिया एक, दो दिन के अन्तर से चार-पाँच बार करनी चाहिये।

३. बच्चे को सह्य हो तो अल्प मात्रा में शुल्व वर्ग की (सल्फाग्रुप) ओषधियों को मुख द्वारा देना चाहिये।

४. उपर्युक्त वर्ग की बहुत सी ओषधियाँ स्थानिक प्रयोग में भी आती हैं। जैसे—'लोक्युलाड्राप' 'पेन्सिलीनड्राप' तथा 'पेन्सिलीन नेत्र मलहम' तथा 'एण्टीबायटिक ड्राप्स' आदि।

पिल्लरोग (Chronic Inflammatory Conditions of the Eyeball)—आचार्य वाग्भट ने अपनी संहिता में नेत्र रोगों में पिल्ल रोग का वर्णन किया है। वास्तव में यह कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है बल्कि कई एक नेत्र रोगों की जीर्णावस्थाद्योतक एक समुदायवाची संज्ञा है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'कफ, पित्त, रक्त और सन्निपात से होने वाले चार प्रकार के उत्क्लिष्ट, कुकूणक, पक्ष्मोपरोध, शुष्काक्षि-पाक, पूयालस, विस, पोथकी, अम्लाध्युषित, अल्पनेत्र-पाक, सभी अभिष्यन्द और अधिमन्थ (वातजन्य को छोड़ कर) प्रभृति अठारह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रोग 'पिल्लरोग' कहलाते हैं। ये सभी दीर्घ काल तक रहने वाले रोग हैं।[1]

चिकित्सा—स्निग्ध करके वमन तथा सिरावेध से रक्तविस्रावण कर विरेचन देकर शोधन होने तक पलक में लेखन करना चाहिये।[2]

वाग्भटोक्त पिल्लरोग के लेखनांजन

तुत्थादि—नीला थोथा १ पल और मरिच २०, को तीस पल कांजी के साथ पीस कर ताम्र पात्र में रख ले। इसके सेक से प्राचीन पिल्ल गत उपदेह (नेत्रमल), अश्रु, कण्डु और शोफ नष्ट होते हैं।

करञ्जादि—करञ्ज बीज, तुलसी और चमेली की कलियों को कूटकर जल में क्वाथ करे पश्चात् क्वाथ को छानकर रसक्रिया करे। इसका अञ्जन पिल्ल रोग को नष्ट करता है और पक्ष्म यदि झड़ गये हों तो उनको उत्पन्न करता है।

रसाञ्जनादि—रसौंत, राल, जस्ते का पुष्प, मैनशिल, समुद्रफेन, सैन्धव, गेरु और मरिच को मधु के साथ पीसकर अञ्जन करने से पिल्लगत क्लेद और कण्डु नष्ट होता है।

तगराञ्जन—तगर को हर्रे के क्वाथ में घिस कर आँजना और देवदारु को बकरे के मूत्र में भावित कर घी में मिलाकर अञ्जन करना पिल्ल में हितावह है।

कासीसादि—कासीस के पुष्प को ताम्रपात्र में तुलसी के स्वरस से दस दिन तक भावना दे। इसका अञ्जन पिल्ल और पक्ष्मशात नाशक है।

---

१. उत्क्लिष्टाः कफपित्तास्रनिचयोत्थाः कुकूणकः ।
पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसो बिसः ॥
पोथक्यम्लोषितोत्पाख्यः स्यन्दमन्था विनानिलात् ।
एतेऽष्टादश पिल्लाख्या दीर्घकालानुबन्धिनः ॥

२. स्निग्धस्यच च्छर्दिवतः सिराव्यधहृतासृजः ।
विरिक्तस्य च वर्त्मानु निर्लिखेदविशुद्धितः । (वा. उ. १६)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परिशिष्ट

शालाक्य रोगों में व्यवहृत होने वाले कुछ आधुनिक योग

नासारोगाध्याय

नासिकोत्तर वस्ति

(१) अनम्ल नासोत्तरवस्ति—

शुद्ध टङ्कण	६ धान्य (Grains)
सोडा बाई कार्बोनेट	,, ,,
द्रव कारबोलिक अम्ल	२ बूंद (Minims)
शर्करा	१० धा.
विस्रुत जल (Distilled water)	१ आ. (Ounce)

(२) परमैंगनेट नासिकोत्तर वस्ति—

पोटाश परमैंगनेट	$\frac{1}{4}$ धा.
लवण	१० धा.
जल	१ आ.

(३) शामक नासिकोत्तर वस्ति—

मेंथाल	५ धा.
कर्पूर	२ ,,
कोकेन	५ ,,
द्रवमधूच्छिष्ट (Liq. Paraffin)	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(४) हैज़लीन नासा वस्ति—

हैज़लीन	२० बूं.
टङ्कण	५ धा.
ग्लिसरीन	५ बूं.
जल	१ आ.

(५) नासिका प्रलेप—

मैंथाल	५ धा.
कर्पूर	५ ,,
सिनामान तैल	५ बूं.
पेरोलीन तैल	४ ड्रा.

(६)

यूक्लेप्टिसतैल	६ बूं.
मैंथाल	३ धा.
कर्पूर	२ ,,
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

यह योग नासिका में परिषेकार्थ उत्तेजक की भांति व्यवहृत होता है ।

मुखरोगाध्यायः

नासिका, कर्ण तथा गलरोगों में उपयोगी—

(१) कोकेनप्रलेप—१० प्र. श.

कोकेनहाइड्रोक्लोर	४५ धा.
वि. जल	१ आ.

(२) ताम्र (शुल्बेय) प्रलेप—

ताम्र सल्फेट	१० धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) आर्जिराल प्रलेप—

आर्जिराल	१०० धा.
वि. जल	१. आ.

(४) बोरो-ग्लिसरीन प्रलेप—

बोरोग्लिसरीन	४ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

(५) लौह-परक्लोर प्रलेप—

(क) लौह-पर क्लोर का टिंकचर	१५ बूं.
मधुरी (Glycerin)	४ ड्रा.
(ख) लौह क्लोराइड का घोल	२ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

(६) मेण्डल का प्रलेप—

आयोडीन	६ धा.
पोटाश आयोडाइट	२० ,,
कारबोलिक अम्ल,	१५ बूं.
पिपरमिंट तैल	५ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

(७) कारबोलिक अम्ल और आयोडीन का प्रलेप या परिष्कृत मेण्डल का प्रलेप—

आयोडीन	६ धा.
पोटाश आयोडाइड	२० ,,
कारबोलिक अम्ल	१५ बूं.
पिपरमिंट का तैल	५ ,,
ग्लिसरीन	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(८) सिलवर (रजत) नाइट्रेट प्रलेप—१ से ४ प्र. श.

(क) सिलवर नाइट्रेट	२½ घा.
विशुद्ध जल	१ आ.
	½%
(ख) सिलवर नाइट्रेट	४½ घा.
शु. जल	१ आ.
	१ प्र. श.

शक्ति बढ़ाने के लिये सिलवर नाइट्रेट की मात्रा बढ़ाता जाय।

(९) कुछ अन्य लाभकर प्रलेप—

फेनाल	८ घा.
रिसार्सीन	३० ”
मैंथी पिपरमिण्ट सत्त्व	१५ बूं.
ग्लिसरीन	१ आ.

इसका व्यवहार टांसिल शोथ या तुण्डिकेरी में करते हैं।

(१०)

सेलाल	१ ड्रा.
रेक्टीफाइडस्पिरिट	४ ”
ग्लिसरीन	६ ”

(११) टिंक्चर मिर्ह (Tr. Myrrooe) } समान मात्रा में
वेंजौन का सत्त्व }
दन्तमांसों में प्रलेपार्थ

(१२)

टिंक्चर आयोडीन	१२ बूं.
मेन्थाल	१२ घा.
क्लोरोफार्म	७५ बूं.
वत्सनाभ का टिंक्चर	१ आ.

दन्त मांस में प्रलेपार्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१३) दन्त शूल में प्रलेप—

लवङ्ग का तेल	१ भाग
सिनामोन का तेल	१ ”
कारबोलिक अम्ल	२ ”
मेथिल सेलिसिलेट	३ ”

(१४)

टैनिकाम्ल	३२० धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

कर्णरोगाध्याय

(१) क्षारीय प्रक्षेप या बिन्दु

सोडियम बाई कार्बोनेट	३० धा.
मधुरी (Glycerine)	२ ”
वि. जल	१ आ.

अथवा

सोडा बाई कार्बोनेट	१५ धा.
ग्लिसरीन	२ ड्रा.
वि. जल	” ”

कर्णमल विलयनार्थ प्रयुक्त होता है।

(२) बोरिकाम्ल तथा स्पिरिट प्रक्षेप—

(क) बोरिकाम्ल (टंकण)	२० धा.
परिष्कृत सुरा (६० प्र. श.)	२ ड्रा.
वि. जल	१ आ.
(ख) बोरिकाम्ल	१० धा.
परिष्कृत स्पिरिट	१ ड्रा.
वि. जल	$\frac{1}{2}$ आ.

(३) वोनेन का प्रक्षेप—

मेन्थाल	१ भाग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारबोलिक अम्ल	१ भाग
कोकेनहाइड्रोक्लोर	,, ,,

प्रत्येक सम भाग में पूर्ण सम्मिश्रित करके शस्त्र कर्म काल में कर्णपूरणार्थ एवं संज्ञाहरण के लिये प्रयुक्त होता है।

(४) बरोका प्रक्षेप—

लेड एसिटेट	२४ धा.
एल्यूमिनियम एसिटेटका घोल	१ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

(५) कारबोलिकाम्ल प्रक्षेप—

(क) कारबोलिकाम्ल	२४ धा.
मधुरी	१ आ.
(ख) ग्लिसरीन, (फेनालकी)	२ ड्रा.
मधुरी	६ ड्रा.

कर्णशूल में व्यवहार्य—

(६) कर्पूर क्लोरेटोन प्रक्षेप—

कारबोलिकाम्ल	१० बू.
कर्पूर	५ धा.
क्लोरोटोन	५ धा.
ग्लिसरीन	१ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

(७) कारबोलिकाम्ल तथा अहिफेन प्रक्षेप—

अहिफेन सत्त्व	२ ड्रा.
कारबोलिकाम्लकी ग्लिसरीन	२½ ड्रा.
मधुरी	२½ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(८) कारबोलिकाम्ल तथा सोडा प्रक्षेप—

(क) कारबोलिकाम्ल	१ धा.
सोडियम बाई कार्बोनेट	२० धा.
मधुरी	२ ड्रा.
वि. जल	१ आ.
(ख) सोडियम बाई कार्बोनेट	३० धा.
फेनाल	२ धा.
ग्लिसरीन	४ ड्रा.
वि. जल	१ आ.

(९) पिकरिकाम्ल प्रक्षेप—

पिकरिकाम्ल	१ धा.
७० प्र. श. अल्कोहोल	१०० सी. सी

(१०) प्रोटार्गोल प्रक्षेप—

प्रोटार्गोल	४८ धा.
वि. जल	१ आ.

(११) मेन्थाल प्रक्षेप—

मेन्थाल	५ धा.
पैराफिन द्रव (मधूच्छिष्ट द्रव)	१ आ.

(१२) मरक्यूरोक्रोम ड्राप—

(क) मरक्यूरोक्रोम	६ धा.
परिष्कृत स्पिरिट	३० बूं.
वि. जल	१ आ.
(ख) मरक्यूरोक्रोम	३ धा.
पूर्ण अल्कोहोल	२ ड्रा.
वि. जल	२ ड्रा.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्णस्राव की अवस्था में प्रक्षेपार्थ—

(१३) शामक कर्ण विन्दु—

कारबोलिकाम्ल	६ बूं.
अहिफेनसत्त्वज हाइड्रोक्लोर (Hydrochloride of morphia)	३ धा.
मधुरी	१ ड्रा.

(१४) पारद परक्लोराइड तथा स्पिरिट प्रक्षेप—

पारदक्लोराइड घोल (१:५००)	२ ड्रा.
मधुरी	२ ड्रा.
परिस्कृत स्पिरिट	१ आ.

(१५) कुछ अन्य उपयोगी प्रक्षेप तथा योग—

कारबोलिकाम्ल	५ धा.
कोकेन हाइड्रोक्लोइराड	,, ,,
ग्लिसरीन या जल	२ ड्रा.

तीव्र कर्णशूल में व्यवहार्य; यदि संज्ञाहर गुण बढ़ाना हो तो मेन्थाल ५ धान्य और मिश्रित कर दे।

(१६)

जिंक सल्फेट	४ धा.
हाइड्रोजनपरआक्साइड	४ ड्रा.
परिपूर्ण अल्कोहोल	१ आ.

(१७)

बोरिकाम्ल चूर्ण	१० धा.
परिष्कृत स्पिरिट	१ आ.

नेत्ररोगाधिकार

नेत्राऽऽश्च्योतन

(१) आर्जिराल प्रक्षेप—१ से ५ प्रतिशत

(क) आर्जिराल	४½ धान्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.
(ख) आर्जिराल	६ धा.
वि. जल	१ आ.
	२ प्र. श.

(२) एट्रोपीन प्रक्षेप ½ से १ प्र. श.

(क) एट्रोपीन सल्फेट	२½ धा.
विशुद्ध जल	१ आ.
	½ प्र. श.
(ख) एट्रोपीन सल्फेट	४½ धा.
वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.

(३) कोकेन प्रक्षेप—२ से ४ प्र. श.

(क) कोकेनहाइड्रोक्लोर	६ धा.
वि. जल	१ आ.
	२ प्र. श.
(ख) कोकेन हाइड्रोक्लोर	१८ धा.
वि. जल	१ आ.
	४ प्र. श.

(४) एट्रोपीन—कोकेन तथा तैल प्रक्षेप—

एट्रोपीन सल्फेट	४ धा.
कोकेनहाइड्रोक्लोर	" "
एरंड-स्नेह	१ आ.

(५) डायोनीन प्रक्षेप—१ से ५ प्रतिशत

(क) डायोनीन	४½ धा.
वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(ख) डायोनीन	२२½ ग्रे.
वि. जल	१ आ.
	५ प्र. श.

(६) ईसरीन प्रक्षेप या विन्दु—½ से १ प्र. श.

(क) ईसरीन सल्फेट या सेलीसिलेट	२¼ ग्रे.
वि. जल	१ आ.
	½ प्र. श.
(ख) ईसरीन सल्फेट या सेलीसिलेट	४½ ग्रे.
वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.

(७) फ्लोरीसीन प्रक्षेप—

फ्लोरीसीन	८ ग्रे.
सोडियम कार्बोनेट	१२ ग्रे.
वि. जल	१ आ.

(८) होमोएट्रोपीन प्रक्षेप—

(क) होमोएट्रोपीन	४½ ग्रे.
वि. जल	१ आ.
(ख) होमोएट्रोपीन हाइड्रोक्लोर	४½ ग्रे.
कोकेन हाइड्रोक्लोर	४½ ग्रे.
सेलीसिलिक अम्ल	¼ ग्रे.
वि. जल	१ आ.

(९) होमोएट्रोपीन-कोकेन तथा स्नेह प्रक्षेप—

होमोएट्रोपीन	४½ ग्रे.
कोकेन हाइड्रोक्लोर	४½ ग्रे.
वि. एरंड स्नेह	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१०) पाइलो कार्पीन प्रक्षेप—१ प्र. श.

पाइलो कार्पीन नाइट्रेट	४½ धा.
वि. जल	१ आ.

(११) प्रोटार्गल प्रक्षेप—

प्रोटार्गल	२०–४० धा.
वि. जल	१ आ.

(१२) आर्ग्टोचीन प्रक्षेप—

आर्ग्टोचीन	४½ धा.
वि. जल	१ आ.

(१३) मरक्यूरो क्रोम प्रक्षेप—

(क) मरक्यूरो क्रोम	४½ धा.
वि. जल	१ आ.
	१ प्र. श.
(ख) मरक्यूरो क्रोम	२ धा.
वि. जल	४ ड्राम.

पूययुक्त नेत्राभिष्यंद तथा पोथकी में प्रतिदिन दो बार सावधानी पूर्वक डालें।

(१४) सिलवर नाइट्रेट प्रक्षेप—

सिलवर नाइट्रेट	१ धा.
वि. जल	१ आ.
	½ प्रतिशत

(१५) जिंकसल्फेट तथा बोरिकाम्ल प्रक्षेप—

जिंक सल्फेट	२ धा.
बोरिकाम्ल	१० धा.
वि. जल	१ आ.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१६) कुछ अन्य प्रक्षेप तथा योग—

एट्रोपीन सल्फेट	१ धा.
डायोनीन	१ धा.
वि. जल	४ ड्राम

(१७) अव्रणशुक्र में डालने के लिये—

होमोएट्रोपीन हाइड्रो ब्रोमाइड	२ धा.
वि. जल	४ ड्रा.

(१८)

आर्जेन्टिनिक नाइट्रास	५ धा.
वि. जल	१ आ.

यदि चिरकालीन नेत्राभिष्यंद तथा पोथकी से बहुत स्राव निकल रहा हो तो पलकों पर प्रलेपार्थ उपयोग करे।

(१९)

तनु शुक्तिकाम्ल (Dil. Acetic acid)	३ बूंद,
वि. जल	१ आ.

क्षारदग्धनेत्र में व्यवहार्य

(२०) पोथकी में व्यवहार्य—

कापर सल्फेट	५ धा.
ग्लिसरीन	१ आ.

वर्त्म को उलटकर पोथकी में प्रलेपार्थ।

(२१)

कोकेनहाइड्रोक्लोर	१० धा.
वि. जल	४ ड्राम

नेत्रगत शस्त्र चिकित्सा में संज्ञानाशनार्थ व्यवहृत होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२२) कोकेनहाइड्रोक्लोर २५ धा.
वि. जल ४ ड्रा.
कर्ण, नासिका तथा गलरोगों के शस्त्रकर्म में व्यवहृत होता है।

(२३) हलोकेन हाइड्रोक्लोर २ धा.
वि. जल ४ ड्रा.
यदि नेत्र में अत्यधिक वेदना हो तो यह व्यवहार्य्य है।

(२४) पाइलो कार्पीन नाइट्रेट २ धा.
वि. जल ४ ड्रा.
(कनीनिका संकोचक)

(२५) एट्रोपीन युक्त पीतमलहर—
पारद की पीतभस्म $4\frac{1}{2}$ धा.
(Yellow oxide)
एट्रोपीन सल्फेट $4\frac{1}{2}$ धा.
मृदु पैराफिन १ आ.

(२६) कुछ अन्य उपयोगी मलहर—
पारदीय आक्सीडी फ्लवी २ धा.
(Hydragyri oxidi flavi)
डायोनीन " "
श्वेत वैसलीन ४ ड्रा.
अव्रणशुक्र तथा वर्त्म शोथ में रात्रि को सोते समय लगावे।

(२७) थायो सायमीन ३ धा.
डायोनीन २ "
उपरोक्त पारद का मलहर " "
पूर्ववत् लगावे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२८)	एट्रोपीन सल्फेट	१ धा.
	डायोनीन	२ ”
	श्वेत वैसलीन	४ ड्रा.
	कनीनिका विस्तारक है ।	
(२९)	पा. आ. फ्लैवी मलहर	२ धा.
	एट्रोपीन सल्फेट	” ”
	डायोनीन	” ”
	श्वेत वैसलीन	४ ड्रा.
	कृष्ण मण्डल शोथ (इंटरस्टीशियल केराडाइटिस) में	
(३०)	डायोनीन	२ धा.
	श्वेत वैसलीन	४ ड्रा.
	अव्रण शुक्र में लाभकर है ।	
(३१)	बोरिकाम्ल का चूर्ण	२० धा.
	श्वेत वैसलीन	४ ड्रा.
	साधारण जीवाणुविरोधी मलहर है ।	

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(२) परिशिष्ट

मलहर—शालाक्य रोगों में व्यवहृत

(१) एट्रोपीन मलहर—

एट्रोपीन सल्फेट	४ धा.
मृदु पैराफिन (मधूच्छिष्ट)	१ आ.

(२) कोकेन मलहर—

कोकेन हाइड्रोक्लोर	८ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(३) यूकेलिप्टस और मैंथाल मलहर—

मैंथाल	५ धा.
यूकेलिप्टस तैल	५ बू.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(४) मैंथाल मलहर—

मैंथाल	१० धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.

(५) पीत मलहर—

(क) पारद का पीत भस्म	२ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट	१ आ.
(ख) पारद की पीत आक्साइड	४½ धा.
मृदु मधूच्छिष्ट (पैराफिन)	१ आ.
	१%

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१) **बोरिकाम्ल द्रव—**

(क) बोरिकाम्ल	२०० धा.
पूत जल (Sterilized)	१ पा. (Pint)
(ख) बोरिकाम्ल	१०० धा.
कर्पूराम्बु	१ औं.
गुलाब जल	२ ,,
वि. जल	१६ ,,

(२) **पारद द्रव—**

पारद का परक्लोराइड	$\frac{१}{२}$ धा.
वि. जल	१० आ.
	१ : ८००० शक्तिक

प्रायः १ : ५००० या १ : १०, ००० शक्ति में इसका व्यवहार होता है ।

(३) **साधारण लवण जल—**

लवण	१$\frac{१}{२}$ ड्रा.
वि. जल	१ पा.

विभिन्न शक्तिक और प्रतिशत वाले द्रव का निर्माण कोष्ठक—

अभीष्ट प्र.श.	अभीष्ट शक्ति	धान्य प्रति औंस	धान्य प्रति पाइण्ट
$\frac{२}{१०}$ %	१ : ५०००	·०८ धा.	१·८ या १$\frac{३}{४}$ धा.
$\frac{१}{१०}$ या ·१%	१ : १०००	·४ ,,	८·८ ,, ८$\frac{३}{४}$,,
$\frac{१}{२}$ या ·५%	१ : २००	२·२ ,,	४३·८ ,, ४३$\frac{३}{४}$,,
१%	१ : १००	४·४ ,,	८७·५ ,, ८७$\frac{१}{२}$,,
५%	१ : २०	२२ ,,	४३७·५ ,, ५३७$\frac{१}{२}$,,
१०%	१ : १०	४४ ,,	८७५ धा.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द-सूची

शब्द	पृष्ठ
अञ्जन	४४५
अञ्जन नामिका	४७२
अञ्जन चूर्ण (Powders)	४६१
अञ्जनशलाका तथा पात्र	४४८
अन्तरावर्त्तन (Entropion)	४९३
अकरकरादि योग	२३५
अक्लिन्नवर्त्म	४७७
अक्षिधावन (Eyewash)	४५०
अक्षिपाकात्यय	५३०
अक्षिपाकात्यय (Hypopyon)	"
अक्षिपुटधारा की परस्पर संलग्नता (Ankyloblepharon)	५९२, ४७९
अगस्त्यहरीतकी	१४
अग्र भाग की संलग्नता (Ant. Synechia)	५२९
अग्रान्त (Ant. end)	५
अग्रिमा जलधानी (Anterior chamber)	३९४
अग्रिमाजलधानीपूयसंग्रह (Hypopyon)	४६९, ५२८
अग्रिमान्त और पश्चादन्त (Ant. & Post ends)	४
अजकाजात (Staphiloma)	४९३, ५२९
अजकाजात (Ant. Staphyloma)	५४३
अजामेदाञ्जन	६३७
अणुतैल	१६, ५७
अणुवायन (Ionization)	६२
अतिनिद्रानाशिनीवर्ति	४५५

शब्द	पृष्ठ
अतिनिद्राघ्न अञ्जन	४५६
अतिप्रविष्ट नेत्र (Enopthalmos)	६४२
अधः पुट, निम्नवर्त्मकोण (Inferior fornix)	३८५
अधः सुरङ्गा	५
अधिजिह्वा (Epiglotids)	२७५
अधिमन्थ (Acute Glaucoma)	५६०
— वातिक	५६१
— पैत्तिक	"
अधिमन्थ श्लैष्मिक	५६२
— रक्तज	"
अधिमांस (Impacted wisdom tooth)	२२७
अध्रुप (Palatitis)	२५२
अनन्तवात	१६६
अनागत बाधा प्रतिषेध (Profilaxis)	३७
अनुनासिकस्वर (Nasal Voice)	४६
अनूर्जता (Allergy)	९, २०
अनूर्जताजन्यपरिस्राव (Vaso-motor Rhinorhoea)	६०
अन्तःकर्ण	२८९
अन्य कर्णशल्य	३३९
अन्यतोवात	५६५, ५७७
अपकर्षण (Traction)	९९
अपक्रान्तिजन्य विकृति (Degenerative Processes)	४११
अपक्व पीनस	४९
अपाङ्ग (Outer Canthus)	८२, ४४९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
अपाङ्ग संधि	३८५
अपामार्गक्षार तैल	३१७, ३७१
अपामार्ग रसाञ्जन	५०३
अपीनस (Atrophic Rhinitis)	४२
अभिघातज ओष्ठगतरोग	२०२
अभिष्यन्द की सापेक्ष्य निश्चिति	५८१
अभिष्यन्द प्रकार	५४७, ५४८, ५४९
अभिष्यन्द या स्यन्द (Conjunctivitis)	५४५
अमृतधारा	१५८
अम्लमयता (Acidosis)	१०९
अम्लाध्युषित	५१८
अरुंषिका (Furunculosis)	२१
अरोचक (Anorexea)	२६५
अर्कादिनस्य	१३१
अर्जुन	५१८
अर्दित (Facial Parlysis)	३६४
अर्धनारीश्वर रस	११६
अर्द्धचन्द्रापरिखा (Hiatus seminularis)	५
अर्धावभेदक (Migraine)	१५१, १५६
अर्म (Pterygium)	५१०
— प्रस्तारि,	५११
— शुक्ल,	"
— लोहित,	"
— अधिमांसज,	"
— स्नायु	"
अर्शाङ्कुर (Warty Vegetation)	
अर्शोवर्त्म	५०१
अलास	२४५
अल्पस्रावी (Catarrhal)	३४९
अवचूर्णन (Insufflation or Dusting)	३६७
अवपीड	१११
अवलेप	१५१
अवश्याय	८
अव्रण शुक्ल (Opacities of cornea)	५३५
— अच्छघनानुकारी (नेबुला),	५३६
— गम्भीर (मैक्युला)	"
— सम्पूर्ण कृष्णगत (ल्यूकोमा)	"
अशोफनेत्रपाक (Thisis Bulbi)	५४६
अशोफनेत्रपाक (Pan opthalhmitis)	५७६
अश्मास्थिशोथ (Petrositis)	१६५, ३६४
अश्रुजनक पिण्ड (Lachrymal glands)	३९३
अश्रुद्वार (Punta Lachrymalis)	३९३
अश्रुद्वार का बाहर की ओर मुड़ना (Eversion of the Punctum)	४६७
अश्रुद्वार का सङ्कोच (Stenosis or occlusion)	४६७
अश्रुप्रपिका (Canalicula)	३९३
अश्रुवह नासा सुरंग (Nasal duct)	३९३
अश्रुवाहक प्रणालिका (Lachrymal duct)	३९३
अश्रवाशयशोथ (Dacryo cystitis)	४६७
अश्र्वाश्रय या अश्रुकुम्भिका (Lachrymal sac)	३९३
अस्थ्यावरण (Periosteum)	४
अस्थिमज्जपरिपाक (Osteomyelitis)	८८
अस्थिमय जवनिका च्युति (Bony-deviation)	२६
आगत बाधा प्रतिषेध (Curative measures)	३८
आगन्तुकक्षवथु (Sneezing)	५८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
आदिवल प्रवृत्त (Heriditary)	४०७
आर्द्र या स्निग्ध स्वेद (Wet fomentation)	४३२
आध्मान या तनाव (Tension)	५६३, ५६५
आनुनासिक रोहिणी	२५९
आमलकी रसाञ्जन	५०३
आमलक्यादि लेप	१२८
आमवात (Rheumatism)	२६५
आर्द्रसेंक (उष्णाम्बुक चैलिकस्वेद)	४३२
आवान्तरितशीर्षाम्बु (Intermitent Hydrocephalus)	१५४
आश्च्योतन और सेंक	४४२
इङ्गुदीवर्ति	१३
इन्दुवटी	३०२
इन्द्रियविकृति (Organic defect)	१६१
इरिमेदादि तैल	२४०
इष्ट्रीन चिकित्सा	५४
उत्तानपरिधिका व्रत (Keretitis superficialis)	४६९
उत्संगिनी	४७१
उपकुश	२२५
— चिकित्सा	”
उपजिह्वा (Ranula)	२४५
— चिकित्सा	२४६
उपनाह (Lacrymalcyst)	१५१, ४३५
उपपक्ष्मालाच्छेदन	५०६
उपपक्ष्मोत्पाटन (Epilation)	५०७
उपपक्ष्मोत्पाटनसंदंश (Cilia forcep)	”
उपशम की अवस्था (Stage of recovery)	३२

शब्द	पृष्ठ
उपशीर्षक	१७३
उष्णस्वेद (Hot packs)	८५
ऊनकी वर्त्ति (Wick of worsted)	३५९
ऊर्ध्वपुट, उर्ध्ववर्त्मकोण (Superior fornix)	३८५
ऊर्ध्व सुरंगा	४
ऊर्ध्वहन्वस्थि वायुविवर (Maxillary air sinuses)	७९
ऊर्ध्वाक्षिपुटनिमीलन यथार्थ, जन्मवल प्रवृत्त, मिथ्या, जन्मोत्तर	४८३
एकवृन्द	२७६
एण्ड्रिन ड्राप (Endrindrop)	२८
एरण्डादिधूम्र	१३१
ओष्ठगत रोग (Affections of the lips)	२००
ओष्ठगत रोग विवेचन	२०३
औपद्रविक स्वरूप (Secondry infection)	३३६
औषधोपचार (Collirium)	४३३
कंठशालूक (Adenoids)	२६२, ३५०
कंठशुण्डी चिकित्सा	२४८
कंठशूलक (Adenoids)	२६४
कक्षा (Herpes)	२१
करवीरादि तैल	६९
कच्छप या कूर्म (Adenoma of the palate)	२५०
कट्फलादि चूर्ण या कषाय	५६
कट्फलादिनस्य	१५८
कणाद्यचूर्ण	२०९
कण्टकार्यादि अंजन	५२१
कनीनिका (Pupil)	३८५
कनीनकगत सन्धि	”

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द पृष्ठ

कनीनिका (Inner Canthus) ४४९
कपालिका (Enamel Separation) २३६
— चिकित्सा "
कपालास्थिवायुविवर (Frontal sinus) ७९
कफज ओष्ठगत रोग २०२
कफजशिरारोग १२९
करञ्जवर्ति ४५५
कराल २३६
कर्ण कण्डु (Itching sensation in the ext. meatus) ३२२
कर्ण कण्डूयन २९८
कर्णक्ष्वेड (Tinitus) ३१३, ३१६
कर्ण दर्शक (Auroscope) २९१
कर्णनाद या प्रणाद (Noises in the Ear) ३१२
कर्ण पटह का सच्छिद्र होना (Perforation of the membrane) ३४२
कर्णपाक ३४६
कर्णपूरण (Eardrops or Injection) ३१०
कर्णप्रक्षालन (Syringing) ३६८
कर्णप्रतीनाह ३४०
कर्णबिन्दुतैल ३११
कर्णरक्तज ग्रंथि (Heamatoma auris) २९१
कर्णरोगहर रस ३०२
कर्ण रोगों में सामान्य चिकित्साक्रम २९९
कर्णरोहिणी २५९
कर्ण वस्ति (Syringing) ३३९
कर्णविट्क या कर्णगूथ ३१९, ३२०
कर्णविद्रधि (Furnculosis) ३२४
कर्णशारीर २८८

शब्द पृष्ठ

कर्णशलाका (Wax probe) ३२०
कर्णशल्य (Foreign body) २९३
कर्णशष्कुली (Auricle) ३२२
कर्णशूल (Otalgia or Earache) ३०४
कर्णशोथ ३४६
कर्ण संस्राव (Otorrhoea) ३४०
कर्णस्वस्तिक (Earforcep) ३२०
कर्पूराञ्जन ४५६, ६३६
कलिङ्गाद्यवपीड ५५
कवल तथा गण्डूष (Gargles) १९७
कर्णार्बुद (Ploypi) ३२९, ३६३
कर्णार्श (Granulation) ३३२, ३६३
" चिकित्सा ३६४
कांस्यपात्रस्वन (Metallic) ३७०
काकजंघा तैल ३७२
काच ५९१
कानीन संधि (Inner canthus) ४६५
कान्तरिक (Ethmoidol labryinth) ५
कान्तारकशोथ (Labrynthitis) ३०९
कालाक चूर्ण १८५
काश्मर्याद्यंजन ६३६
कासघ्न धूमपान १९६
कासघ्न धूम्रयोग ५९१
कास्यापमार्जनीवर्त्ति ४५४
क्लिन्नवर्त्म ४७७
क्लिष्ट वर्त्म ४७६
कीटाणुजन्य व्यथा (Parasitic Injection) ४१०
कुकास (Whooping Cough) ६४२
कुकूणक ६४४
कुब्जकाद्यंजन ६३५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
कुम्भीक पिडिका	४७२
कुष्ठादि चूर्ण	२३८
कुष्ठादि तैल	३०१
कुष्ठादि लेप	१२४
कुरंगघृत या जाङ्गल मांस घृत या तैल	४२
कृष्णगत रोग	५२४
कृत्रिमज्वर (Artificial fever)	४३०
कृत्रिमतारक करण	५४१
कृमिकर्ण या जन्तुकर्ण	३३४
कृमिग्रंथि	४७०
कृमिघ्न	४०
कृमिजशिरोरोग	१३९
कृमिदन्त	२३१
,, चिकित्सा	२३२
कृष्णदृष्टिगत सन्धि	३८५
कृष्ण मण्डल (Cornea)	३८२, ३९०, ३९४
कृष्ण मण्डल का कोथ (Necrosis of Cornea)	४३०
कृष्णमण्डलेक्षण यंत्र (Corneal loup)	५२७
कृष्ण मण्डल शोथ (Keretitis)	,,
—क्षत सहित, क्षत रहित	,,
—प्रधान	,,
—औपद्रविक	,,
कृष्णसर्पवसा रसक्रिया	४५८
कृष्णादिपुटपाक	५१२
कृष्णादिलेप	१३१
कृष्णादितैल	५४०
कोषाङ्कुर (Cilia)	६
कोषाङ्कुर क्रिया (Ciliary action)	६, १९
कोषाणुओं के निर्मोक (Cast of cells)	३५

शब्द	पृष्ठ
कोषाङ्कुर युक्त (Ciliated)	५३
क्षयजग्रंथि (Tuberculosis of the ear or lupus)	३३२
क्षयज शिरोरोग	१३५
क्षवथु	५८
क्षारमयता (Alkalosis)	१०९
क्षारांजन	५३८, ५५८
क्षारीय जल (Alkaline doushe)	३९
क्षुद्ररसांजन	६३६
क्षोभ (Irritation)	९
क्षौद्राद्यंजन	५३८
खदिरादि गुटिका	२८४
खदिरादिवटी	१८७
खदिरादि तैल	१८६
खर्राटा (Snore)	२६३
खुरण्ड या पुटक	५३
खुरण्डयुक्त (Scaly)	३३२
गंभीरिका	६३९
गंभीर परिधि का क्षत (Keretitis Profunda)	४३९
गर्त (Dimple)	३५३
गलविद्रधिः	२७७
गलशुण्डी (Uvula)	२४७
गलौघ	२७१
गिलायु	२६१
गुञ्जातैल	११७
गुटिकाञ्जन	६४७
गुडूचीरस क्रिया	४५७
गृहधूम तैल	६९
गोधायकृदञ्जन	६३७
गोल कोष (Round cells)	८५३
ग्रंथि या अर्बुदजन्य नेत्र विकार (Tumours)	४१२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
प्रसनिका भेदन (Tracheotomy)	२६०
ग्राहीयोग	७६
घनस्राव (Thick mucopurulene mucoid discharge)	
घातकार्बुद (Malignant)	७१
घ्राणेन्द्रिय	३
चंदनादि वटी	१५९
चंदनादि वर्त्ति	५३९
चक्राकारक्षत (Diciform Keritits)	४६९
चतुर्विध स्राव	४६५
चर्मकीलज (Lupoidal)	२५२
चलदन्त या दन्तचलन या चालन	२३८
— चिकित्सा	,,
चित्रक हरीतकी	१५, ६९, ३६८
चित्रकादि तैल	६९
चूर्णांजन	४५८, ५०३, ५०७
चेतनाहर (Anesthetic)	४६३
छागयकृदञ्जन	६३७
जतुकास्थि	५
जतुकास्थिवायुविवर (Sphenoidal air cells)	७९
जतुकास्थि विवरशूल	८२
जन्तुग्रन्थि	४७०
जन्मबल प्रवृत्त (Congenital defect)	४०७
जरालिङ्गनाश (Senile Cataract)	
१. प्रारम्भिक अवस्था	६१९
२. अर्द्धपक्वावस्था	,,
३. पक्वावस्था	,,
४. अतिपक्वावस्था	,,
जलक्रीडा	२९७

शब्द	पृष्ठ
जलीय (Thin and watery)	१९
जलीयाश्च्योतन विन्दु (Aqous) drops)	४६१
जाति पुष्पाञ्जन	५७७
जात्यादितैल	१८५, २३०
जिह्वकंटक (Chronic Superficial glossitis)	२४१
जिह्वागतरोग (Affection of the Tongue)	२४१
जिह्वानामक (Tongue depresser)	२७२
जिह्वाशोथ (Glossitis)	२४१
— लक्षण	२४३
— विवेचन	,,
— चिकित्सा	,,
— चिकित्सासूत्र	२४४
जीरकाद्यचूर्ण	२०९
जीर्ण नासाकलाशोथ	४५
जीर्णप्रतिश्याय (Hyper trophic Rhinitis)	६६, ७०
जीर्णप्रतिश्याय (Sub acute Rhinitis)	३५
जीर्णमध्यकर्णशोथ	३६१
जीवनीय उपनाह	१२४
जीवनीयघृत	१२८
जीवाणुविरोधी (Antiseptics)	७
झर्झरपटल (Cribriform plate)	५
झर्झरास्थि (Ethmoid)	४
झर्झरास्थिप्रवर्द्धन (Uncinate process)	५
झर्झरास्थि वायुकोष (Ethmoidal air cells)	७९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
झर्झरास्थि विवर अथवा पुरःकपाल विवर शोथ (Frontal and Ethmoidal)	२१
झर्झरीय स्फोट (Bulla Ethmoiditis)	५
तन्द्राघ्र अञ्जन	४५६
तगरादिलेप	१३०
तगराद्यञ्जन	६३६
तनु	१९
तनुस्राव (Thin and watery secretion or Copious watery secretion)	२०
तन्तुमय मण्डल या सन्धान वलयिका (Ciliary body)	३८५
तन्तुमय पुट सन्धान दर्शिका (Ciliary Processes)	„
तन्तुमय पेशी या सन्धान पेशिका (Ciliary muscles)	„
तन्तुसमूह संधान मन्डल (Ciliary body)	३९४
तरुणास्थिमय जवनिका (Cartilaginons deviation)	२६
तर्पण विधान	४३४
ताम्राद्यञ्जन	५३८
तारक प्रसारक (Mydriatics)	४६२
तारक प्रसारक योग	५३३
तारक संकोच (Miotics)	४६२
तारक संकोचक योग	५३३
तारामण्डल (Iris)	३८९
तारामण्डल का आंशिक छेदन (Iridectomy)	५४४
तालयन्त्र (Earscoope or Wax curette)	३२०

शब्द	पृष्ठ
तालुगतरोग	२४७
तालुपाक (Ulceration of the Palate)	२५१
तालुशोष	२५३
ताल्वर्बुद (Epithelioma of the Palate)	२५०
ताल्वस्थि (Palate bones)	६
तिमिर	५८८
तिमिरभेद	५९२
तीव्र उपसर्ग (Severe form of infection)	३७
तीव्र नासाकलाशोथ (Acute Rhinitis)	३८
तीव्र नेत्रगृहशोथ (Orbital Cellulitis)	५६५
तीव्र विवरकला शोथ चिकित्सा	८४
तीव्राधिमन्थ (Acute Congestive Glaucoma)	५७१
तुण्ड (रास्ट्रम)	४
तुण्डिकेरी (Tonsil)	२४९
तुण्डिकेरी (Acute tonsillitis)	२६५
तुत्थकाञ्जन	५०४
तुत्थादिरसक्रिया	४५६
तुलस्यादिघृत	१५८
तृणज्वर (Hay fever)	६०
तैल प्रक्षेप (Oil spray)	७०
तैलीय आश्च्योतन (Oily Drops)	४६१
तोद (Pricking sensation)	६०
त्रिदोषज शिरोरोग	१३२
त्रिदोषजन्य रोहिणी	२५४
त्रिधारा नाडीशूल-(Trigeminal Neuralgia)	१६७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
त्रिफलादि कल्क	१८५
त्रिफलारसाञ्जन	५३०
दन्तगत रोग (Affections of Teeth)	२३१
दन्तनाड़ी (Sinus of the Gums)	२२८
— चिकित्सा	,,
दन्तपुप्पुट (Gum boil)	२०६
— चिकित्सा	,,
दन्तभेद	२३८
—चिकित्सा	,,
दन्तमूलगत रोग	२०५
दन्तरोगाशनि चूर्ण	२३९
दन्तरोगों में पथ्य तथा कुछ सामान्य योग	२३८
दन्तविद्रधि (Alveolar Abscess)	२३०
— चिकित्सा	२३१
दन्तवेष्ट (Pyorrhoea Alveolaris)	२०६
— चिकित्सा	२०७
दन्तवेष्ट या पायोरिया एल्वीयोरिस	२१०
— निदान सम्प्राप्ति	२११
— पूर्वरूप	२१३
रूप या लक्षण	,,
—चिकित्सा	२१७
दन्तवैदर्भ	२२६
— चिकित्सा	,,
दन्त शर्करा (Tartar)	२३५
— चिकित्सा	,,
दन्तहर्ष (Odontitis)	२३३
— चिकित्सा	२३४
दन्तीवर्ति	६९
दन्तीप्रवाल योग	११९
दर्दुरमुख (Frogface)	६८

शब्द	पृष्ठ
दशन संस्कार चूर्ण	२३८
दशमूल तैल	११७, ३७२
दशमूली तैल या घृत	२०९
दार्व्यादि तैल	३०१
दार्व्यादि रसाञ्जन	४५७
दालन (Toothache or Odontodina)	२३१
दाह (Burning Irritation)	२०
दाहकर्म (Electro cuatery diathermy)	४७
दीप्त	२०
दीप्ति या दीप्तरोग (Severe burning Irritation In A. rhinitis)	४१
दीवाल की श्लैष्मिक कला Lining membrane)	३४९
दुष्ट प्रतिश्याय (Chronic hinitis)	४५
देवदार्वादि लेप	१३३
दृष्टि	५८३
दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले अङ्ग	३९४
दृष्टिनाड़ी (Optic Nerve)	,,
दृष्टिमणि (Lens)	४०९
— (Crystaline lens)	३९४
दृष्टिमण्डल	३८३
— की अपारदर्शिता (Opacity of Lens)	५९२
दृष्टिमण्डल की स्थान भ्रष्टता (Dislocation of Lens)	५९१
दृष्टिमण्डलधर कलाकोश–दृष्टिमणि आवरण (Lens Capsule)	३९४
दृष्टिवितान (Retina)	,,
—विच्छेद(Detachment of Retina)	५९१
द्विधा दर्शन (Monocular Diplopia)	६१
धान्यकपान	१५९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
धुस्तूर तैल	११७
धूम (Inhalation of Gases)	१११, ११३
धूमदर्शी	६३८
धूमनेत्र (Tube or pipe)	१९२
—तथा धूमवर्ति के बनाने के निधान	१९२
धूमपान काल	१९५
धूम प्रयोग (Inhalation of Gases)	८४
धूमवर्तिमान तथा द्रव्य	१९६
धूमोपयोग	१८९
— (Inhalation table) कोष्टक	१९७
धूमोप्रयोग का विधान Method of Inhalation through pipe)	१९३
धूम्रयोग (Inhalation)	१३
ध्मापन	१११
ध्मापन या शिरोविरेचन (Insufflation)	११३
नकुल दृष्टि	६३९
नकुलांध्य	"
नक्तांध्य	६३२
नक्तांध्यनाशिनीवर्त्ति	४५६
नयन बुद्बुद, नेत्र गोलक (Eeyball	३६६
नयनाभिघात	६४०
नलादिलेप	१२८
नवप्रतिश्याय (Acute Rhinitis)	३५, ६५
नस्तःकर्म	१११
नस्य (Snuffs)	११३
नस्य (Snuffs or Nasal Spray)	१३
नाक बजना (Snoring)	४६
नागरादि तैल	३७२
नाग शलाका	४५८
नाड़ी शूल (Neuralgia)	३०६

शब्द	पृष्ठ
नाडी संयोजन (Intubation)	२६०
नारदीय लक्ष्मी विलास रस	१५
नावन	१११
नावन या नस्यकर्म	१५०
नासा कोटर (Nasal Sinuses)	५३
नासागत रक्तपित्त	७३
— स्राव	१८
नासागूथ (नकटी Crust)	७
नासाप्रसनिक (Naso Pharynx)	७५, ३५०
नासा जवनिका (Septum)	३
— (Nasal Septum)	१८
— विमार्गगमन (Deviation)	२६
नासाछिद्र (Vestible)	२१
नासाछिद्र विदार (Fissures)	"
नासात्वक् शोफ (Dermitis of the Vestibule)	२४
नासानल संकोच (Stricture of the Nasal duct)	४६७
नासापश्चात् दर्शन (Post. Rhinos copy)	६७
नासा परिस्त्रव (Rhinorrhoea)	६५
नासा प्रक्षालन	६४
नासापाक या विद्रधि	२२
नासापिडिका	२४
नासा पुटक (Obstructive crust)	५२
नासा पुटक चिकित्सा	५७
नासार्बुद	७०
नासार्श (Nasal Polypus)	१८, ६७
नासावरोध (Nasal obstruction)	१८
नासावर्तिभरण	७४
नासाशल्य	७७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द पृष्ठ

नासा-शरीर २
नासाशोथ २२
नासाशोष १८, ५१
— एट्रोफिक राइनाटिस ५१
— या नासापरिशोष ५२
नासाश्रुवाही श्रोत (Naso Lacrymal duct) ५
नासा शोष चिकित्सा ५७
नासासहायक या नासासम्बन्धी विवर तथा उनका शोथ ७९
नासास्रोत (Fronto-Nasal duct) ५
नासिका नाडी (Nasal Catheter) ६४
नासिकापाक २१
नितरण ६
निदिग्धिकादि कषाय १४
निमेष ४८१
नियमन शक्ति (Acomodation) २५८
निघ्मापक (Insufflator)
निर्मूलन शंख प्रवर्द्धन शस्त्रकर्म (Radical Mastoid) ३१५
नीलकाच (Black Cataract) ६१९
नीलिका ५९१, ६१४
नेत्र (Nozzle) ३२१
नेत्रकलागत रोहिणी २५९
नेत्रकाच (Lens) ३८३
नेत्र के भाग ३६७
नेत्रगत विकार (Pathological conditons of the eyes) ३७६
नेत्रगुहा (Orbit) ३९३
नेत्र गोलक के चालक भाग ३९५
नेत्र गोलक के संरक्षक अवयवों की क्रिया ३९५

शब्द पृष्ठ

नेत्र गोलक आर्द्र रखने वाले भाग ३९५
नेत्रगोलक की आकृति और कठिनता के संरक्षक अंग „
नेत्रगृह में रक्तस्राव (Haemorrhage in the orbit) ६०८
नेत्र दर्पण—दृष्टिवितान (Retina) ३२४
नेत्रदर्शक यन्त्र (Opthalmoscope) ६१७
नेत्रप्रसादक आचार ४५९
नेत्र मध्य पटल (Choroid) ३९४
नेत्र मांस पेशियाँ ३९५
नेत्ररोग निदान (A. Etiology of Eye Diseases) ४०४
नेत्ररोग की सामान्य चिकित्सा ४१७
नेत्ररोगों की सामान्य संप्राप्ति ४१२
नेत्र—वर्त्म या नेत्रच्छद (Eye lids) ३९३
नेत्रवर्त्म निरुद्ध प्रकाश (Blepharo Phimosis) ४७९
नेत्रवाह्य पटल (Sclera) ३९४
„ „ शुक्लवृत्ति (Sclerotic Coat—Sclera) ३९५
नेत्र विन्दु ५५२
नेत्र श्लेष्मावरणाधः रक्तस्राव ५१९
नेत्रश्लेष्मावरण अथवा श्वेत मण्डल (Conjunctiva) ३९६
नेत्रस्नान (Eyebath) ५५०
नेत्रस्राव हरी वर्त्ति ४५६
नेत्रान्तर नाड़ी पटल (Nervous tunic) ३८७
नेत्राभिघात ६४२
नेत्र्य और चक्षुष्य ४२३
पंचामृतरस १५
पक्वपीनस ४९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
पक्ष्मकोष	४८४
पक्ष्ममण्डल	३८०
पक्ष्मवर्त्मगत संधि	३८४
पटल	३९२
पटल भेदन (Myringotomy)	
पटोलादि गण्डूष	१८४
पटोलादि घृत	५४०
पथच्युति या विमार्ग गमन (Deviation)	२६
पथ्यादि वर्ति	४५४
पथ्यादि लेप	१३१
पथ्यापडङ्ग क्वाथ	११८
पनसिका (Furnculosis)	३०५
परप्रत्ययज्ञेय (Objective)	९७
पराग (Pollen)	६२
परावर्तित शिरःशूल (Reflex Headache)	१४१; १४८
परिकोटर विद्रधि (Perisinus Abscess)	३६४
परिदर	२२५
,, चिकित्सा	,,
परिषेक (Spray)	२६४
परिस्रव	१९
पर्पट फाण्ट	१३५
पर्वणी अलजी	४६८
पलाश पुष्पांजन	५०३
पश्चिमा जलधानी (Posterior Chamber)	३९४
पाठादितैल	
पायरिया और शीताद	२२३
पारदजन्यमुखपाक (Murcurial gingivitis)	

शब्द	पृष्ठ
पार्श्वपुट–पार्श्ववर्त्मकोण (Lateral fornix)	३८५
पिण्डिका विधिः	४५४
पित्तकण्टक चिकित्सा	२४४
पित्तज ओष्ठगत रोग	२०२
पित्तजादि ओष्ठगत रोग चिकित्सा	२०२
पित्त विदग्ध दृष्टि (Day blindness)	६३
पिल्लघ्नांजन	४५०
पिल्लरोग	६४९
पिष्टक (Pinguecula)	५२०
पीतवर्ण का स्राव Yellow discharge)	६६
पीनस (Atrophic Rhinitis)	५३
पीनस या अपीनस (Atrophic Rhinitis)	५३
पीला चूचुक (Yellow nipple)	३५३
पुटक (Crusting)	५९
पुनर्नवा रसांजन	४५७
पुष्पवर्ति	४५६
पुष्पादि रसक्रिया	५१२
पूतिकर्ण	३४९
पूतिनस्य (Ozaena)	४२
पूतिनस्य चिकित्सा	५६
पूतिनास (Ozaena)	५०
पूयकर्ण(Suppuration in the ear)	३६३
पूयकोपाणु	२०
पूयरक्त (Ulcerative chronic Rhinitis)	४२
पूयशोणित (Lupus)	७१
पूयाभ (Purulent)	६८
पूयालस (Dacryo cystitis)	४६३
पूयाभ श्लेष्मलस्राव (Mucopurulent discharge)	१९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
पूयोत्पत्ति (Suppuration)	५३
पूरण (Instillation or drops)	३६५
पूरण (Injection)	३४५
पैत्तिक प्रतिश्याय	३३
पैत्तिक रोहिणी	२५४
पैत्तिक शिरःशूल या शिरारोग	१२६
पोथकी	४८६
पोथकी की क्रमिक अवस्थायें	४९२
प्रकाशासह्यता	६४५
प्रचलित विडालक	४५५
प्रतिनाह या नासानाह (Deviation of the Nasal septum)	२५
प्रतिमर्श (Nasal Lubricants)	११२
प्रतिश्याय नासाकलाशोथ (Acute Rhinitis Coryza, Common cold)	२८
प्रतिसारण (Paste or Paint)	१९९
प्रतिनाह	१८
प्रत्यक्ष (Direct)	३१४
प्रत्यंजन	५०३
प्रधमन (Nasal Inhalation)	६२
प्रबोधकांजन	४५७
प्रवाह (Drainage)	८४
प्रसादनांजन	६१४
प्रहर्षणकधातु (Erectiletissues)	४
प्रायोगिक धूम्रयोग	१९०
प्रायोगिक धूमपान	१९५
प्रोथ्राइसिन (Prothricine)	२८
फिरङ्गार्श (Condylomata)	
फुफ्फुस शोथ (Pneumonia)	४२
फुल्लिकाद्रव	५५२
बब्बूल रसक्रिया	४५७

शब्द	पृष्ठ
बहिर्मस्तिष्कावरण विद्रधि (Extra-dural Abscess)	२०९
बालमध्यकर्णशोथ	३५४
बाह्योत्थान (Exostosis)	३३०
बाह्यकर्ण शोथ (Otitis externa)	३२२, ३४२
बाह्यनेत्रकोण (कनीनक)	३८६
बाह्य वैरूप्य (External deformities)	२१
भंगुर (Friable)	२६४
भंजनक	२३४
— चिकित्सा	२३५
भद्रमुस्तादिवटी	२०८
भद्रोदय अंजन	४५३
भृशंखव	५८
भेषजजन्य नाडीबाधिर्य	३६९
भ्रंशथु (Mucoid discharge)	२०, ५८
भ्रम (Vertigo)	२९३
भ्रू (Eye brow)	३९३
मण्डल	३८०
मधुर विरेचन (Mild laxatives)	३९
मधुरादिनस्य	१५८
मधूच्छिष्टधूम	५५
मध्यकर्ण	२८१
मध्यकर्ण शोथ (Otitis media)	२६, २६५
मध्यस्थदृष्टि वितानापक्रान्ति (Retinal Degeneration)	५९९
मध्यपुट—मध्यवर्त्म कोण (Medial fornix)	३८५
मध्यमस्तिष्कावरण धमनी का रक्तस्राव	१६४
मध्यसुरंगा	४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
मनःशिलाद्यंजन	६३६
मनः शिलादिगुटिका	४५४
मयूराद्यघृत	११८
मरिचादि लेप	५१२
मर्यादित कान्तारक शोथ	३१५
मस्तिष्क विद्रधि (Abscess)	८८
मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis)	८८
महामायूराद्य घृत	११७
महारस	३०३
महालक्ष्मी विलासरस	१५, ११९
महासुगंध लेप	१६६
महौषधादि अंजन	५२१
महासौषिर	२२४
— चिकित्सा	२२५
मांसज ओष्ठकोप	२०३
मांसतान	२७८
मांससंघात (Epulis)	२५१
मागधी अवपीडन	६४
मानसिक नाडीवाधिर्य (Psychogenic)	३६९
मिथ्यायोग (Unwise use)	३५१
मुख गह्वर (Buccal cavity)	१७६
मुखधावन (Mouth wash)	
मुखप्रसारक (Doyen's mouth gag)	२७१
मुखरोग	१६७
मुखरोगों की साध्यासाध्यता	१८२
मुचुण्डी	५१४
मुद्गाद्यञ्जन	५३८
मुस्तादि कवल	४१
मुस्तादिसेक	५०२
— आश्च्योतन	”

शब्द	पृष्ठ
मूक-वाधिर्य (Deaf Mutuism or Nerve deafness)	३६९
मूक वाधिर्य (Deaf-mutuism)	३७०
मूर्छा (Syncope)	१६२
मूलिका तैल	३०२
मृणालादि लेप	१२८
मृदुतार की जाली (Soft wire snare)	३६३
मृद्वस्थि (Cartilage)	३
मृद्वस्थिछेदन (Excision of Tarsus)	५०९
मृद्वीकाचूर्ण	७७
मेदोज ओष्ठकोप	२०४
मेदोज ओष्ठकोप चिकित्सा	२०५
मोतियाविन्द (Cataract)	६१४
यन्त्र लेखन	४९५
यकृत का रक्ताधिक्य (Engorgement)	२५८
यकृत्प्लीहाञ्जन	६३७
यष्टयह्वाश्च्योतन	५३९
यथोचित वायुसंवन्ध (Proper aeration)	३५१
योनिगत रोहिणी	२५९
यान्त्रिक अभिघात (Mechanical injury)	४०८
यान्त्रिक (Mechnical)	२७
रक्तज ओष्ठगत रोग	२०२
रक्तज प्रतिश्याय	३३
रक्तज रोहिणी	२५५
रक्तज शिरोरोग	१३४
रक्तराजि (Pannus)	४९३
रक्तवाहिनीमय रञ्जित पटल (Vascular Pigment Tunic)	३८७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
रसकचूर्णाञ्जन	४५८
रस के योग	१८८
रसकोष (Plasma cells)	५३
रसक्रिया (नेत्रमलहर)	४६०
रसाञ्जनाद्यञ्जन	६३६
रसांञ्जनादि रसक्रिया	४५७
राइनाइटिस सिक्का (Rhinitis Sicca)	५१
रामबाण ओषधि (Chemotherapy)	३१५
रास्नादि गुग्गुल	३०३
रोगनिवारणक्षमता (Immunity)	९
रोपण	४४३
रोमकूप (Hair aud Follicle)	२४
रोमान्तिका (Measles)	२६५
रोहिणी (Diptheria)	२५३, २५७
लगण	४७२, ५००
लवङ्गादि चूर्ण	१४
लाक्षादि तैल	२५०
लामज्जकाद्यञ्जन	५३९
लिङ्गनाश	५९१
लिङ्गनाशवेधनी शलाका	,,
लिटल के क्षेत्र	७३
लेखन	४४३
लेखनयन्त्र (Curette)	३६३
लेख्यांजन	५३६
लौहादि गुग्गुल	५४०
वंशमूलरसाञ्जन	५०३
वंशाद्यञ्जन	५३८
वक्राञ्जन	४५४
वज्रदन्त मञ्जन	२०९
वधिरता	३५२
वर्णविन्दुसह नेत्र दर्पण प्रदाह (Retinitis Pigmentosa)	५९८

शब्द	पृष्ठ
वर्त्म (नेत्रच्छद या पलक)	३८५
वर्त्म अन्तरावर्त्तन (Entropion)	५०८
वर्त्म कर्दम	४७०
वर्त्मकोष (Palpebral sulcus)	४१३
वर्त्मगतरोग	४९६
वर्त्म मण्डल	३८१
वर्त्मबन्ध	४७६
वर्त्मशुक्लगत संधि	३८४
वर्त्मार्बुद	४८३
वर्त्मार्श (Warts)	४८३
वर्धन (Extra tooth)	२२७
वलास	२७६
वलादिलेप	१६६
वस्त्रावेष्टित एषणी (Dressed Probe)	३५९
वहलवर्त्म	४७६
बहिर्निर्गत नयन (Exopthalmos)	६४२
वातज ओष्ठगतरोग	२००
वातज ओष्ठगतरोग चिकित्सा	२०१
वातपर्याय	५७७
वातहत वर्त्म	४८१
वातिक प्रतिश्याय	३२
वातिक रोहिणी	२५४
वातिक शिरारोग	११५
वातिकशूल (Neuralgia)	१८२
वाधिर्य (Deafness)	३६१, ३७१
— चिकित्सा	,,
वामक धूमपान	
वामनीय धूम्रयोग	१९६
वायुविवर (Sinuses)	८
वायुविवर शोथ (Sinusitis)	४२, ३६०
वार्द्धक्य नाडीवाधिर्य	३६१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
वालोत्थ वाधिर्य या सवाधिर्य मूकता (Deaf Mustaism)	३७०
वाष्प या धूम्र का आध्मापन (Steem inhalation)	३८
वासक पुष्पयोग	११९
वाह्यकर्ण	२८८
वाह्यनासिका (Vestibule)	१६
वाह्यपटल शोथ (Soleritis)	५२१
— उत्तान, गंभीर	,,
वाह्यावर्तन (Ectropion)	४९३
विचर्चिका (Eczema)	२९१
विचर्चिका (Eczymatous erruptions)	२९१
विडङ्ग शष्कुली	५६
विडालक	४५४, ५५६
विदार (Fissures)	२४
विदारण (Boring)	१५५
विदारी	२७८
विदीर्णहोना (Rupture)	१६५
— ऊर्ध्वलम्बशिराकुल्या का	,,
— पार्श्वगत शिराकुल्या का	,,
— पार्श्वगत मस्तिष्क कोष्ठ का	,,
विद्युत् अंतःमस्तिष्काङ्कन (Electro Encaphelogram)	१५६
विद्युत्तापन (Radiant heat)	८५
विद्युद्दहन (Electric Cautery)	६३
विद्युद्दहन (Galvano cautery)	७२
विन्दु, निक्षेप या आश्च्योतन	५५१
विमार्ग गमन (Deviation)	१८
विम्बांकुरिका–सितविम्ब (Optic disc)	३९४
विरक्तिकर (Un-interesting)	३७०

शब्द	पृष्ठ
विल्वतैल	३७२
विवरशोथ (Sinitis)	६८
विवरशोथ के उपद्रव	८८
विषमयताजन्य नाडी वाधिर्य	३६९
विषम दृष्टि	५५५
विसग्रन्थि	५००
विसवर्त्म	४८४
विस्तृति (आध्मान, Distension)	९९
वृंद	२७६
वृक्कशोथ तथा गवीनी मुखशोथ (Nephritis and Pylitis)	२६५
वृद्धावस्थाजन्य श्वेत परिधि (Arcus senilis)	३८३
वेदनाहरयोग	१२०
वेधनकर्म (Proof puncture)	६२
वेधनवत् (Lancinating)	
वैकासिक (Developmental)	२१
वैरेचनिक धूमपान	१९६
वैरेचनिक धूम्रयोग	१९१
व्यवसाय जन्य नाड़ीवाधिर्य	३६९
व्याघ्री तैल	५७
व्योषादिवटी	१४
व्रणोत्पन्न रोहिणी	२५९
शंखक	१५९
शखकूटप्रदेश (Mastoid)	३२५
शंखकूटकोटर	३४९
शंखाद्यंजन	५३८
शठ्यादि चूर्ण	१४
शतघ्नी	२७६
शतधौत घृत	१२८
शतवर्यादिलेप	१२८
शतावरी लेप	१६६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2.

शब्द	पृष्ठ
शताह्वादि धूम	५५
शताह्वादि धूम्रपान	३९
शम्बूक तैल	३६६
शिखरी तैल	६९
शिग्रुतैल	५५
शिराजाल (Soleritis)	५२१
शिराहर्ष	५७९
शिरःशूल (Headache)	१०२
शिरोबस्ति	१२४, ४४४
शिरोत्पात (Hyperaemia)	५७९
शिशुपूयमेह श्लेष्मावरण शोथ (Opthalmia Neo-Natorum)	६१२
शीतल प्रयोग	४३२
शीताद (Bleeding or Spongy gums)	२०५
शीताद चिकित्सा	"
शीर्षक रोग	१६३
शुंठ्यादि घृत	६२
— लेप	१३१
— तैल	६२
शुक्तिका (Conchae or Turbinates)	४
शुक्तिका का पूर्ण अवरोध (Atresia)	१८
शुक्रघ्नारच्योतन	५४१
शुक्लगत रोग	५१०
शुक्ति (Albumin)	२५८, ५४३
शुल्वार्यधिकार (Sulpohnamide group)	३४४
शुल्वारियोग	१४८
शुष्क या रूक्ष स्वेद (Dry fomentation)	४३२

शब्द	पृष्ठ
शुष्कवर्त्म शोफ (Sqamous Blepharitis)	४७९
शुष्काक्षिपाक (Opthalmoplagia)	५७७
शुष्कार्श	५०१
श्रृंगाटकमर्म	५२, ५८
— क्षोभ (Sympathetic System Irritability)	६०
शोष	१८
शोषक (Scaks)	८५
शोष या ह्रास (Atrophy)	५३
श्यावदन्त	२३६
— चिकित्सा	२३७
श्यावर्त्म	४७७
श्रुतिपथ (Meatus)	३२१
श्रुतिमूल शोथ (Parotiditis)	३०६
श्रुति शलाका (Bougies)	३४५
श्रुतिसुरङ्गा (Eustachian Tube)	३४२, ३५०
श्रुतिसुरंगा का श्लैष्मिक शोथ (Catarrh)	३४४
श्रुतिसुरंगा का तीव्रावरोध (A. Obstruction of the U. Tube)	३४२
श्रुतिसुरंगा नाड़ी प्रवेश (Catheterization)	३४५
श्रेष्ठ चूर्णाञ्जन	५५२
श्लेष्म कंटक चिकित्सा	२४४
श्लेष्म विदग्ध दृष्टि (Night Blindness)	६३२
श्लेष्मा (Mucous)	६
श्वेतमंजन	२०८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
श्वेतमण्डल	३८२
श्लैष्मिक प्रतिश्याय	३३
— रोहिणी	२५४
— लिङ्गनाश (Milky Cataract)	५९६
षड्बिन्दु तैल	१२, ११६
— घृत	५७
संदंश (Forceps)	२४८
संधान मण्डल (Cilliary body)	३८७
संशामक (Palliative)	८५
संहनन (Consistancy)	६
सक्षम (Immune)	१५४
सद्रवग्रंथिरूप (Cystic swelling)	२५१
सन्धि	३८४
सन्निपातज ओष्ठगतरोग	२०२
संन्यास (Coma)	२५८
सप्तच्छदादि क्वाथ	१८४
समुद्रफेनादिवर्ति	
सरण (Flow)	६७
सरलादि लेप	१३०
सर्वसर रोग या मुखपाक (Stomatitis)	२७९
सलाई	३२०
सस्फोट पटहशोथ (Myringitis Bullosa)	३३३
सव्रण शुक्र (Corneal ulcer)	४२४
सव्रणवर्त्म शोफ (Ulcerative Blepharitis)	४७९
सशोफ अक्षिपाक	४३०
सशोफ नेत्रपाक	५७६

शब्द	पृष्ठ
सहचरादितैल	२०९
सहजसंकोच (Congenital narrowing)	१८
सान्द्रजल (Vitreous Humour)	३९४
सान्द्र द्रव (Vitreous Humour)	३९६
सान्निपातिक या त्रिदोषज प्रतिश्याय	३८
सामान्य मुखरोग चिकित्सा	१८३
सारिवादि वटी	३०२
सिक्थकादि धूम	६२
सिराज ग्रंथि (Annenrysm)	१६३
सिराज पिडिका (Deep scleritis)	५२२
सिराहर्ष	५७९
सिरोत्पातांजन	४५८
सीरिक नासिका तरुणास्थि (Vomor Nasal cartilage)	४
सीरिकास्थि (Vomer)	४
सुगम (Conservative)	३६२
सुरंगा (Meatus)	४
सुरसुराहट (Tick-ling)	३१
सुश्रुतानुसार नेत्रशारीर (Anatomy)	३७६
सुश्रुतोक्त लिङ्गनाश वेधन	६२५
— लेखन	६२६
सूक्ष्म पिंड (Zeis glands)	३८१
सूर्यावर्त्त	१४३
सूर्यावर्त्त विपर्यय	१४८
सैंधवाद्यञ्जन	६३६
सोम घोल (Ephedrine)	७, ३५६
सौत्रिक पटल (Fibrous Tunic)	३८७
सौवीरांजन	४५८
सौषिर	२२४
,, चिकित्सा	,,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शब्द	पृष्ठ
स्तंभाकार अपिस्तर (Stratified Epithelium)	५३
स्थानान्तरण (Displacement)	९९
स्नेहन (Nasal drops or oil drops)	१२, ४४३
स्नैहिक धूमपान	१९६
स्नैहिक धूम्रयोग	१९१
स्रोतस का संवृत (Blockage of the part of the meatus)	२६
स्वतंत्र नाड़ीमंडल के इड़ा भाग (Sympathetic system)	७
स्वप्रत्ययज्ञेय (Subjective)	९७
स्वयमाध्मापन (Self inflation)	३४४
स्वरघ्न	२७८
स्वरद्विशूल परीक्षा (Tuning fork Test)	३५३
स्वरयंत्रगत रोहिणी	२५९

शब्द	पृष्ठ
स्वर्जिकाक्षारीय जल (Saturated solution of Sodi, Bi carb)	३२०
हताधिमंथ	५६३, ५६५, ५७७
हनुमोक्ष (Dislocation of mandible or lock-jaw	२३७
—चिकित्सा	"
हन्वस्थि कंटक (Maxilary spine)	४
हयारि नस्य	१३१
हरिद्रादि तैल	२८३
हरेणुकाद्यंजन	६३५
हरेण्वाद्यञ्जन	६३७
हिंग्वादिक्षार तैल	३००
हिंग्वादितैल	१२
हिज्जल रसक्रिया	४५८
हिमदति (Ice bags)	८५
हिमांशु तैल	११७
ह्रस्वजाड्य	६३८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gran

ajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgao

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant
Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.